चौखम्बा अमरभारती ग्रन्थमाला
१८



महाकविजयदेवविरचितं

प्रसन्नराघवम्

'विभा' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

संस्कृतव्याख्याकारः
पं० रामनाथत्रिपाठी शास्त्री

हिन्दीव्याख्याकारः
डा० रमाकान्तत्रिपाठी
एम० ए०, पी-एच० डी०
(प्राध्यापक : स्वामी देवानन्द डिग्री कालेज, मठलार, देवरिया)



चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन
वाराणसी
१९७७

प्रकाशक : चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०५४
मूल्य :



के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० १३८, वाराणसी–२२१००१
(भारत)

अपर च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० ८, वाराणसी–२२१००१ (भारत)
फोन ६३१४५

CHAUKHAMBA AMARABHARATI GRANTHAMALA
18

PRASANNARĀGHAVA

OF

MAHĀKAVI JAYADEVA

WITH

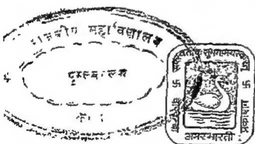
The "Vibha" Sanskrit and Hindi Commentaries

By

Pt. RĀMNĀTH TRĪPĀTHĪ S'ASTRĪ

And

Dr. RAMĀKANT TRIPĀTHI
M. A., Ph D.

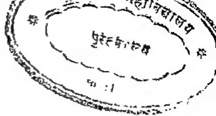


Chaukhamba Amarabharati Prakashan
VARANASI–221001
1977

Oriental Publishers & Book-Sellers
Post Box No 138
K. 37/118, Gopal Mandir Lane, Varanasi-221001
(INDIA).

First Edition
1987
Price Rs [illegible]-00

Also can be had of
The Chowkhamba Sanskrit Series Office
K 37/99, Gopal Mandir Lane
Post Box 8, Varanasi-221001 (India)
1987
Phone 63145



समर्पण

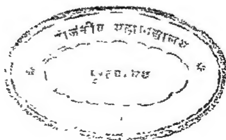
"समुत्पत्स्यामहे मातर्यस्यां यस्यां गतौ वयम् ।
तस्यां तस्यां प्रियसुते ! माता भूयास्त्वमेव नः ॥"

(नागानन्द ४।२०)

इस अभ्यर्थना के साथ

श्रद्धापूर्वक

वात्सल्यमूर्त्ति दिवंगता जननी
'सरयू देवी'
को



दो शब्द

प्रपञ्चात्मक जगत् की बड़ी-बड़ी बाधाओं एवं कठिनाइयों को जैसे-तैसे पार करने के बाद, बहुत दिनों में अपनी साध पूरी हुई. जो 'विभा' संस्कृत-व्याख्या तथा हिन्दी अनुवाद से संवलित 'प्रसन्नराघव' का यह अभिनव संस्करण संस्कृत पाठकों को अपेक्षाकृत समुचित सहायता करने के उद्देश्य से उनके हाथों में समर्पित कर मैं कृतकृत्य हो सका। मैंने, विद्वानों की चरणकमलसेवा से प्राप्त ज्ञान एवम् अपनी क्षमता के अनुसार, उक्त सदुद्देश्य को पूरा करने का ईमानदारी के साथ भरसक प्रयास किया है, किन्तु उसमें मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ, इसे तो पाठक ही आंक सकेंगे। यदि मेरे इस प्रयास से उन्हें कुछ भी सन्तोष मिला तो मुझे कृतार्थ होने के लिए वही पर्याप्त होगा।

मेरे चि० सुपुत्र डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी एम० ए०, पी-एच० डी० ने स्वयं हिन्दी अनुवाद और हिन्दी नोट्स (टिप्पणी) का सम्पादन कर मेरा कार्यभार जो हलका किया है, उसके लिए उन्हें शतशः आशीर्वचनों के अतिरिक्त क्या कहूँ, समझ नहीं पा रहा हूँ।

'प्रसन्नराघव' के इस संस्करण को वर्तमान रूप में तैयार करते समय पूर्ववर्ती अनेक संस्करणों से असाधारण सहायता मिली है। मूलपाठ, 'निर्णयसागर' प्रेस बम्बई से सन् १९२२ में प्रकाशित तृतीय संस्करण पर दृष्टि रखते हुए तैयार किया गया है। पूर्ववर्ती कतिपय विद्वानों की टीकाओं से भी बहुत कुछ समुचित प्रेरणा मिली है। भूमिका लिखने में भी कतिपय विद्वानों की कृतियों ने पथ प्रदर्शक का काम किया है। इन सभी मान्य विद्वानों के पादपद्मों में नतमस्तक हो आभार प्रकट करता हूँ।

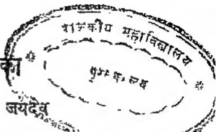
चौखम्भा अमरभारती के सञ्चालक एवं सहयोगी बन्धुजन भी धन्यवाद के पात्र हैं जिनके अनवरत प्रयास से यह संस्करण सहृदय पाठकों तक पहुँच पाया।

अन्त में अज्ञानवश अथवा प्रमादवश हुई सभी त्रुटियों एवं प्रूफ आदि की अशुद्धियों के लिए क्षमा-याचना करता हूँ। इति।

विद्वद्विधेय—

श्री रामनवमी   रामनाथ त्रिपाठी

वि० सं० २०३४



भूमिका

नाटककार जयदेव

संस्कृत-साहित्य के इतिहास में अनेक जयदेव नामक विद्वान् एवं कवि प्रतिष्ठामय उच्चस्थान पर आसीन दिखायी देते हैं, जैसे—(१) महाकवि जयदेव जिन्होंने गीत गोविन्द की रचना की है। (२) आचार्य जयदेव, जिन्होंने 'चन्द्रालोक' नामक अलङ्कार ग्रन्थ की रचना की है। (३) महाकवि जयदेव, जिनकी कृति प्रस्तुत 'प्रसन्नराघव' नाटक है। (४) तार्किकप्रवर जयदेव मिश्र, जिन्होंने 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थ के ऊपर 'तत्त्वचिन्तामण्यालोक' नामक टीका ग्रन्थ लिखा है। इनके एक दूसरे ग्रन्थ का नाम 'द्रव्यपदार्थालोक' है। न्याय के क्षेत्र में ये 'पक्षधर' उपनाम से प्रसिद्ध थे।

वैसे तो जर्मन विद्वान् ऑफ्रेक्ट ने अपने 'केटलग गोरस केटलग गोरम' नामक ग्रन्थ-सूची (कैटलाग) में कुल १५ जयदेव नामक लेखकों का उल्लेख किया है। उनमें से विद्वानों ने किन्हीं दो-दो को लेकर उनकी अभिन्नता सिद्ध करने का प्रयास किया है किन्तु उनका आधार प्रामाणिक न होने के कारण मान्य नहीं है।

चन्द्रालोकरचयिता जयदेव और प्रसन्नराघवकार जयदेव की अभिन्नता—'प्रसन्नराघव' में जयदेव ने सूत्रधार के द्वारा अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

'विलासो यद्वाचामसमरसनिष्यन्दमधुरः
कुरङ्गाक्षीबिम्बाधरमधुरभावं गमयति।
कवीन्द्रः कौण्डिन्यः स तव जयदेवः श्रवणयो-
रयासीदातिथ्यं न किमिह महादेवतनयः॥ १। १४॥

लक्ष्मणस्येव यस्यास्य सुमित्राकुक्षिजन्मनः।
रामचन्द्रपदाम्भोजे भ्रमद् भृङ्गायते मनः॥ १। १५॥

इन दो परिचयात्मक पद्यों से पता चलता है कि 'प्रसन्नराघव' के कर्ता जयदेव कुण्डिनगोत्रोत्पन्न (कौण्डिन्य) थे। उनके पिता का नाम महादेव और माता का नाम सुमित्रा था। वे राम के अनन्य भक्त थे।

इसी तरह 'चन्द्रालोक' में इसके रचयिता जयदेव ने भी प्रत्येक मयूख के अन्त में अपने पिता का नाम महादेव और माता का नाम सुमित्रा बताते हुए लिखा है—

> महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
> सुमित्रा यद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
> अनेनासावाद्यः सुकविजयदेवेन रचिते
> चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः॥ (१।१६)

अतः प्रसन्नराघवकर्ता जयदेव और चन्द्रालोककार एक ही हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। माता पिता और कर्ता के नाम साम्य के आधार पर यह पूर्णरूपेण निश्चय हो जाता है कि ये दोनों ग्रन्थ एक ही कवि की कृति हैं। इन्हीं जयदेव की वाणी के (प्रसन्नराघव में) अमृतरस (अप्रमरस) के मधुर प्रवाह विलास ने निश्चय ही चन्द्रालोक के रचनाकाल तक लोगों से इन्हें पीयूष वर्ष की उपाधि से विभूषित करा दिया होगा, जिसका उल्लेख इन्होंने चन्द्रालोक में स्वयं इस प्रकार से किया है—'चन्द्रालोकमयं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती" (१।२) शैली, भावा एवं कतिपय शब्दों की एकरूपता भी हमें उक्त दोनों कवियों की अभिन्नता तथा दोनों कृतियों की एककर्तृता मानने में प्रेरणा देती है।

इस तरह 'प्रसन्नराघव' और 'चन्द्रालोक' के रचयिता जयदेव की अभिन्नता सिद्ध हो जाने पर अब जयदेव के समय का निर्धारण करने में समुचित सुविधा हो जाने से पहिले इसी पर विचार कर लें तो अच्छा रहेगा। अन्य जयदेव नामक कवियों एवं लेखकों से इनकी भिन्नता पर बाद में विचार किया जायगा।

जयदेव का समय

अलङ्कारवादी जयदेव ने अपने ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' के काव्यलक्षण प्रस्ताव में—

> अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
> असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥' (१।८)

इस पद्य से काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मटकृत काव्य-लक्षण का व्यङ्ग्योक्तिपूर्वक खण्डन किया है। आचार्य मम्मट का स्थितिकाल ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इससे जयदेव का स्थिति काल ग्यारहवी शताब्दी के बाद ही होना चाहिए।

उत्तरवर्ती आलङ्कारिक नये-नये अलङ्कारों की उद्भावना कर उनकी संख्या में वृद्धि करते रहे हैं। मम्मट ने ६१, रुय्यक ने ७५ और जयदेव ने १०० अलङ्कार माने हैं। इसके अतिरिक्त प्रथम-प्रथम रुय्यक द्वारा उद्भावित 'विकल्प' और 'विचित्र' अलङ्कारों का जयदेव ने 'चन्द्रालोक' में शब्दशः उल्लेख किया है; अतः जयदेव रुय्यक के बाद के आलङ्कारिक हैं। रुय्यक का समय बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है, अतः जयदेव को १२ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बाद होना चाहिए।

जयदेव ने 'प्रसन्नराघव' की प्रस्तावना में "हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः" (१।२२) पद्यांश में 'नैषधीयचरित' के प्रणेता 'श्री हर्ष' का सादर स्मरण किया है जिनका सत्ताकाल बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। अतः जयदेव को बारहवीं शताब्दी के बाद होना चाहिए।

इस प्रकार जयदेव के स्थिति-काल की पूर्व सीमा बारहवीं शताब्दी निश्चित है। 'अलङ्कारशेखर' में 'प्रसन्नराघव' का "कदली कदली"—इत्यादि पद्य उद्धृत है। 'अलङ्कारशेखर' के रचयिता केशवमिश्र का सत्ताकाल १६ वीं शताब्दी है, अतः जयदेव को १६ वी शताब्दी के पूर्व होना चाहिए।

'चन्द्रालोक' की सबसे प्राचीन 'शरदागमा' टीका लिखने वाले प्रद्योतन भट्टाचार्य, रीवां नरेश श्री वीरभद्रदेव के आश्रित थे, ऐसा उक्त टीका के प्रारम्भ से पता चलता है। उक्त रीवां नरेश श्री वीरभद्रदेव ने 'कन्दर्पचूडामणि' ग्रन्थ लिखा था जिसका रचनाकाल विक्रम संवत् १६३३ अर्थात् १५७६ ई० या १५७७ ई० का आरम्भ काल है[१]। अतः जयदेव का सत्ताकाल १५७७ ई० के पूर्व ही होना चाहिए।

---

१. हरलोचनहरलोचनरसशशिभिर्विश्रुते समये।
फाल्गुनशुक्लप्रतिपदि पूर्णो ग्रन्थः स्मरस्मेरः ॥ (७।२।४९)

आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनि के उदाहरणरूप में 'प्रसन्नराघव' का—

'कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः ।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः ॥' (१।३७)

यह पद्य उद्धृत किया है। विश्वनाथ का सत्ताकाल विद्वानों ने अनेक प्रबल प्रमाणों से १३ वीं–१४ वीं शताब्दी निश्चित किया है। अतः जयदेव को इससे पूर्व ही होना चाहिए।

शार्ङ्गधर ने सन् १३६३ ई० में रचित अपने ग्रन्थ 'शार्ङ्गधरपद्धति' में 'प्रसन्नराघव' के बहुत से पद्यों को उद्धृत किया है। अतः जयदेव को १३६३ ई० से पूर्व होना चाहिए।

रसार्णव सुधाकर में उसके रचयिता शिङ्गभूपाल ने 'प्रसन्नराघव' के दो प्रसङ्गों को उद्धृत किया है।[१] शिङ्गभूपाल का सत्ताकाल १३३० ई० है। अतः जयदेव का स्थिति काल १२०० ई० और १३३० ई० के मध्य में होना चाहिए। अब हम उनकी प्रसिद्धि तथा आयु के लिए अपेक्षित कम से कम ८० वर्ष का ही समय दें तो १२५० ई० के लगभग उनका सत्ताकाल निश्चित मानना पड़ता है।

पीयूषवर्ष जयदेव और गीतगोविन्द

'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव, क्या वही हैं, जिन्होंने चन्द्रालोक एवं प्रसन्नराघव की रचना की है? इस विषय पर विचारक विद्वानों में मतभेद है। फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं, जिन पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गीतगोविन्द के जयदेव, प्रसन्नराघव और चन्द्रालोक के रचयिता जयदेव से सर्वथा भिन्न हैं।

---

१. यथा रावण —

कथय कथ रावन् कर्णान्तिनिवेदनीयगुणं कन्यारत्नं कार्मुकञ्च ।
प्रत्यग्रमङ्कुरितसर्वरसावतार नव्योल्लसत्कुसुमराजिविराजिबन्धम् ।
धर्मेतराशुभिव वक्तव्यतिरम्यं नाट्यप्रबन्धमतिमञ्जुलसंविधानम् ॥ (१।७)

(१) सबसे पहिले गीतगोविन्दकार के द्वारा दिया गया उनका अपना परिचय देखिए—

(क) श्री भोजदेवप्रभवस्य राधा देवी सुत श्री जयदेवकस्य ।
पराशरादिप्रियवर्गकण्ठे श्रीगीतगोविन्दकवित्वमस्तु ॥ (१२।५)

(ख) पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्ती । (१।२)

इससे स्पष्ट है कि गीतगोविन्दकार जयदेव के पिता का नाम भोजदेव और माता का नाम राधा देवी (अथवा रामा देवी) था। इनकी स्त्री का नाम पद्मावती था, जिसके अनुवर्तन में ये अपने को कृतार्थ समझते थे।

अतः ये जयदेव प्रसन्नराघव और चन्द्रालोक के रचयिता जयदेव से अभिन्न कैसे हो सकते हैं ?

कुछ लोगों का यह कहना कि माता-पिता का परिचायक यह श्लोक प्रक्षिप्त है अत एव प्रामाणिक नहीं है—वितण्डामात्र है। अथवा तुष्यतुदुर्जनन्यायेन उनकी इस बात को स्वीकार ही कर लें तो भी अन्य ऐसे प्रबल प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे गीतगोविन्दकार जयदेव, हमारे प्रस्तुत जयदेव से भिन्न ही ठहरते हैं। जैसे—

(२) हमारे प्रसन्नराघवकार जयदेव एकमात्र रामोपासक हैं। उनका चित्तचकोर रामचन्द्र में ही अत्यन्त आनन्द पाता है। उनका मन रामचन्द्र के चरणकमल का भृङ्ग है। (देखिये प्रसन्नराघव की प्रस्तावना) किन्तु गीत-गोविन्दकार जयदेव कृष्ण के ही अनन्य भक्त हैं।[1] अतः दोनों के दो इष्टदेव होने पर वे एक कैसे हो सकते हैं।

(३) गीतगोविन्दकार का समय ग्यारहवीं शताब्दी का अन्त और बारहवीं शताब्दी का आरम्भ है क्योंकि ये वङ्गदेशाधिपति लक्ष्मणसेन के सभारत्नों में थे। इन्होंने अपने अन्य साथियों को गीतगोविन्द में सादर स्मरण किया है। उक्त लक्ष्मणसेन ११ वीं शताब्दी में राज्य करते थे, यह बात गया के पास से प्राप्त शिलालेख से प्रमाणित हो चुकी है। गीतगोविन्दकार जयदेव का लक्ष्मणसेन के

---

१. तत्सर्वं जयदेवपण्डितकवेः कृष्णैकतानात्मनः ॥ (गीतगोविन्द १२।३)
हरिचरणशरणजयदेवकविभारती (गीतगोविन्द, ७।८)

आश्रम में रचना भी प्रमाणित एवं विख्यात है। इस प्रकार एक नामधारी उक्त दोनों कवियों के समय में लगभग १५० वर्ष का अन्तर पड़ता है तब कैसे दोनों को एक मान लिया जाय ?

(४) गीतगोविन्द के कर्ता जयदेव की जन्मभूमि (बंगाल के वीरभूमि जनपद का) किन्दुबिल्व ग्राम है। जैसाकि उन्होंने स्वयं गीतगोविन्द में निर्दिष्ट किया है।[१] फलतः आज भी उस किन्दुबिल्व (आधुनिक केंदुली) ग्राम में इस कृष्णभक्त कवि के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए साधुवृन्द एकत्रित होते हैं। परंतु प्रसन्नराघवकार का जन्मस्थान विदर्भ का कुण्डिन (अथवा कुण्डिनपुर) नगर है, जो कभी विदर्भदेश की राजधानी था। प्रसन्नराघव (१।१४) में आया हुआ कौण्डिन्य पद जहाँ उनके कौण्डिन्य गोत्र का निर्दिष्ट कर रहा है वहीं उनके जन्मस्थान 'कुण्डिन (अथवा कुण्डिनपुर) का भी परिलक्षित कर रहा है। ऐसी अवस्था में यही निष्कर्ष निकलता है कि गीतगोविन्द के रचयिता कवि जयदेव तथा प्रसन्नराघव एवं चन्द्रालोक के प्रणेता जयदेव सर्वथा भिन्न हैं। उनकी अभिन्नता किसी प्रकार से भी सिद्ध नहीं हो सकती है।

पक्षधरोपनामक जयदेवमिश्र और प्रसन्नराघवकार जयदेव

'प्रसन्नराघव' में कवि ने अपने को नट के मुख से 'न वयं प्रमाणप्रवीणाऽपि श्रुमः'—इस वाक्य के द्वारा प्रमाणप्रवीण (तर्कशास्त्र में निष्णात) कहलाया है और सूत्रधार के मुख से 'यया कोमलकान्यकौशलकलालोलावती भारती तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते ?'—यह वचन कहलवा कर अपना मत व्यक्त किया है कि कोमलकाव्यकौशलकला तथा कर्कशतर्कपूर्णवक्रवचनप्रकाशन की क्षमता दोनों ही एक साथ रह सकती हैं अर्थात कवि होने के साथ ही कोई भी विद्वान् तार्किक भी हो सकता है। उक्त स्थल को देख कर कतिपय विद्वानों की यह धारणा बन गयी कि मैथिल तार्किकप्रवर जयदेव मिश्र जो न्याय के क्षेत्र में 'पक्षधर' उपनाम से विख्यात थे, प्रसन्नराघवकार और चन्द्रालोक प्रणेता पीयूषवर्षोपनामक जयदेव से अभिन्न हैं।

---

१ वर्णितं जयदेवकेन हरेरिदं प्रणतेन।
किन्दुबिल्वसमुद्रसम्भवरोहिणीरमणेन (३।८)

इसमें भी दो भिन्न-भिन्न विचारधारा के लोग हैं। एक विचारधारा के लोगों का कहना है कि चन्द्रालोककार पीयूषवर्ष जयदेव के माता-पिता के नाम साम्य के कारण ही उन्हें 'प्रसन्नराघव' का भी कर्ता मान लेना महान् भूल है। उनका तर्क है कि उक्त दोनों ग्रन्थों के प्रणेताओं के माता पिता का नाम-साम्य, मात्र आकस्मिक बात ही मानी जानी चाहिए; क्योंकि यदि वे दोनों एक ही होते तो कवि जहाँ चन्द्रालोक में अपने जन्म-नाम की भी उपेक्षा कर अपनी प्रिय उपाधि 'पीयूषवर्ष' का सगर्व उल्लेख करता है, वहाँ 'प्रसन्नराघव' में भी उस उपाधि के उल्लेख का लोभ संवरण कैसे कर पाता? अतः चन्द्रालोककार और प्रसन्नराघवकर्ता एक नहीं है, बल्कि तार्किक प्रवर पक्षधरोपनामक जयदेवमिश्र और प्रसन्नराघवकर्त्ता जयदेव एक हैं।

उक्त तर्क पर ध्यान पूर्वक विचार करने से उसकी निःसारता स्पष्ट सामने आ जाती है। कवि तथा माता-पिता के नाम-साम्य को केवल इसलिए आकस्मिक कह कर टालना कि एक ग्रन्थ (चन्द्रालोक) में 'पीयूषवर्ष' का उल्लेख है, दूसरे (प्रसन्न राघव) में नहीं, परमार्थ के साथ घोर अन्याय है। जब कि यह बिल्कुल सिद्ध है कि कवि को 'पीयूषवर्ष' की उपाधि 'प्रसन्नराघव' की रचना के बाद और 'चन्द्रालोक' की रचना के पूर्व प्राप्त हुई तब वह उस उपाधि का उल्लेख 'प्रसन्नराघव' में कैसे करता? अतः उक्त दोनों ग्रन्थों के कवियों की अभिन्नता अक्षुण्ण बनी रह जाती है। केवल तार्किक होने के नाते 'पक्षधर' जयदेव को 'प्रसन्नराघव' का कर्ता मान लेना इतिहास का गला घोंटना है। 'प्रसन्नराघव' का कवि १२५० ई० के आसपास अवश्य विद्यमान था, ऐसा पहिले सिद्ध किया जा चुका है, जब कि 'पक्षधर' जयदेव उसके बहुत बाद (१५ वीं शताब्दी) के सिद्ध होते हैं, क्योंकि मिथिलानरेश भैरवसिंह का राज्य-काल ऐतिहासिक विद्वान् १५ वीं शताब्दी मानते हैं और उनके राज्यकाल में 'पक्षधर' जयदेवमिश्र विद्यमान थे, ऐसी लोगों की मान्यता है। इस मान्यता की पुष्टि 'पक्षधर' के हाथ की लिखी हुई 'विष्णुपुराण' की प्राप्त एक प्रति से होता है जिसका लिपि काल ३४५ लक्ष्मण संवत्सर है।[१] लक्ष्मण संवत्सर का प्रारम्भ

१—बाणैर्वेदयुतैः सशम्भुनयनैः संख्यां गते हायने।
श्रीमद्गौडमहीभृतो गुरुदिने मार्गे च पक्षे सिते॥

१११९ ई० में होने से पक्षधर जयदेव मिश्र (१११९+३४५) १४६४ ई० में स्थित थे, ऐसा प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। अतः 'पक्षधर' जयदेवमिश्र चन्द्रालोककार तथा प्रसन्नराघवकार जयदेव से सर्वथा भिन्न हैं।

दूसरी विचारधारा के लोग चन्द्रालोककार तथा प्रसन्नराघवकार को अभिन्न मानते हुए 'पक्षधर' जयदेव को चन्द्रालोक का कर्ता मान कर प्रसन्नराघवकार जयदेव से अभिन्न ठहराते हैं। उनकी इस मान्यता का कारण 'पक्षधर' जयदेवमिश्र की दो कृतियाँ हैं। उन्होंने गङ्गेशोपाध्याय विरचित 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थ पर टीका ग्रन्थ लिखा है जिसका नाम है 'तत्त्वचिन्तामण्यालोक'। उनके रचे हुए दूसरे ग्रन्थ का नाम है 'द्रव्यपदार्थालोक'। बस, दोनों ग्रन्थों के नाम के अन्त में 'आलोक' शब्द को देखकर 'चन्द्रालोक' में भी 'आलोक' शब्द होने से 'पक्षधर' जयदेवमिश्र को चन्द्रालोक का भी कर्ता मान कर उन्हें काव्यकार-जयदेव से अभिन्न मान लिया गया।

इस दूसरी विचारधारा के लोगों का ख्याल कितना बचकाना है स्पष्ट है। डा० रमाशंकर त्रिपाठी के शब्दों में यहाँ कहना पड़ता है कि तब तो इन लोगों के मत से ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन न होकर (वही) जयदेव ही होंगे क्योंकि इसमें भी 'आलोक' शब्द अन्त में लगा हुआ है। ऐसी स्थिति में प्रसन्नराघव के अतिरिक्त अनङ्गहर्ष का 'उदात्तराघव' तथा मुरारि का 'अनर्घराघव' तथा भास्कर का 'उन्मत्तराघव' भी जयदेव का ही नाटक होना चाहिए, क्योंकि इन सबके भी अन्त में 'राघव' शब्द लगा हुआ है। अतः ऐसे अस्थिर विचार को गम्भीर विचारक मान्यता नहीं प्रदान करेंगे—यही आशा है।

रही प्रसन्नराघवकार का प्रमाणप्रवीणता वाली बात। किसी भी कवि के लिए न्यायादि शास्त्रों का अच्छा ज्ञाता होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी होता है जिससे काव्य के क्षेत्र में प्रसङ्गवश तत्तच्छास्त्रविषयक कही हुई कोई बात उपहासास्पद न हो जाय। संस्कृत के कवि प्रायः अनेक शास्त्रों में पारङ्गत होते थे। जयदेव के लिए भी यह कोई विलक्षण बात नहीं, वे अन्य शास्त्रों के साथ साथ न्यायशास्त्र में भी पूर्ण अधिकार रखने वाले रहे होंगे। अन्यशास्त्रों की उपेक्षा कर अपने को उन्होंने 'प्रमाणप्रवीण' जो कहा, उससे यही द्योतित होता है कि उनके समय में संस्कृतक्षेत्र में मान्यविद्वान् होने के लिए न्यायशास्त्र का

पण्डित होना अनिवार्य था। अपने पाण्डित्य की मान्यता के लिए अपने को 'प्रमाण-प्रवीण' बतलाना, युग-भावना का अनुसरणमात्र है। उनकी इस 'प्रमाण-प्रवीण' उक्ति को लेकर तार्किक जयदेव के साथ उनकी अभिन्नता सिद्ध करना व्यर्थ आयासमात्र है।

प्रसन्नराघव पर एक दृष्टि

संस्कृत साहित्य में मर्यादापुरुषोत्तम अप्रतिम जननायक भगवान् श्रीरामचन्द्र के लोकोत्तर पावन चरित पर रचे गये नाटकों में यह सात अङ्कों का 'प्रसन्न-राघव' नाटक अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

वस्तुविन्यास पर दृष्टिपात करते ही आपाततः आभास होता है कि भवभूति के 'उत्तररामचरित' नाटक को मन में रखते हुए, जयदेव जी इस नाटक की रचना में प्रवृत्त हुए हैं। जैसे चित्रदर्शन द्वारा उत्तररामचरित में रामवनवास चरित प्रदर्शित किया गया है, ठीक वैसे ही चित्र का आलम्बन लेकर समुद्र तट पर स्थित कपिसैन्य, राम के द्वारा समुद्र का अनुनय, विभीषण को राम के द्वारा लंकाधीश बनाया जाना तथा सेतबन्ध आदि का प्रदर्शन कराया गया है। इसके अतिरिक्त उसी की अनुकृति पर गङ्गा-यमुना-सरयू के संवाद के रूप में रामवनगमन, दशरथमरण तथा बालि-सुग्रीव की कथा का निबन्धन हुआ है, रामचन्द्र द्वारा कनक मृग का अनुसरण हंस द्वारा वर्णित हुआ है, गोदावरी और सागर के संलाप के रूप में जानकी हरण, जटायु का मारा जाना और ऋष्यमूक पर्वत पर सीता के द्वारा नूपुर का गिराया जाना आदि कथा की सूचना दी गयी है। अधिकांश पद्यों में भी उत्तररामचरित के पद्यों के ही समान चमत्कार दिखायी देता है। उत्तर-रामचरित के समान ही इस नाटक में भी विदूषक की अवतारणा नहीं है। वहाँ यदि चन्द्रकेतु के वर्णन प्रसङ्ग में हास्यरस की झलक है तो यहाँ भी तृतीय अङ्क में वामनक और कुब्जक ने अपने संलाप द्वारा हास्य रस की सृष्टि की है।

प्रसन्नराघव में रसयोजना

हमारे यहाँ प्राचीन आचार्यों ने नाट्य तत्त्वों की चर्चा करते समय रस का भी उल्लेख किया है और भारतीय परम्परानुसार नाटकों में रस को ही मुख्यता प्रदान की है। रस का विवेचन पहले-पहल नाटकों के ही सम्बन्ध में किया

गया है। वस्तुत प्रत्येक नाटक में कोई न कोई रस प्रमुख रूप से रहता है और दूसरे रस उसके सहायक (अङ्ग) होते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से विचार करते समय हम देखते हैं कि 'नाट्य शास्त्र' में "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्ति" के अनुसार चार अवयवों के संयोग से रसनिष्पत्ति मानी गयी है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी पूर्ण सयोजना 'प्रसन्नराघव' में दिखायी देती है। प्रस्तुत नाटक के नायक श्रीरामचन्द्रजी दिव्यादिव्य (अर्थात् विष्णु के अवतार होते हुए भी अपने में मानव बुद्धि रखने वाले) धीरोदात्त हैं। सीताजी स्वीया मुग्धा नायिका हैं। इस प्रकार ये दोनों आलम्बन विभाव हैं, जिनमें 'रति' स्थायी भाव विद्यमान है जो चतुर्थ अंक तक के उदात्त चरित्रों में अत्यन्त उज्ज्वल हो चुका है। चन्द्र-चकोर-चक्रवाक नदी मधुप हंस पञ्चवटी आदि का दर्शन आदि उद्दीपनविभाव के अन्तर्गत आते हैं। विलाप, मोह आदि अनुभाव हैं। इसी प्रकार चिन्ता, उत्सुकता, आवेग, विषाद, ग्लानि आदि संचारी (अथवा व्यभिचारी) भावों का समावेश होता गया है। अत हम देखते हैं कि प्रस्तुत नाटक में विप्रलम्भ शृङ्गार के समस्त उपादानों का संयोग स्वत उपस्थित हो जाने से पूर्ण रसनिष्पत्ति हुई है। इस विप्रलम्भशृङ्गार रूप अङ्गी रस के अङ्ग (सहायक) रूप में वीर, अद्भुत, रौद्र आदि रसों की भी मनोहर अभिव्यञ्जना की गयी है।

प्रसन्नराघव की अभिनेयता

अभिनय नाटक का प्रधान तत्त्व है और समस्त कथावस्तु, चरित्र एवं भावों का प्रकाशन अभिनय द्वारा ही किया जाता है। कविता की दृष्टि से सर्वोत्तम होते हुए भी अभिनय की दृष्टि से इसमें तमाम त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे—

दृश्यविधानों को देखते हुए, मञ्चनिर्देशक के पर्याप्त परिश्रम करने पर भी अभिनय की सफलता में सन्देह ही है।

पद्यों की अधिकता रंगमञ्च की स्वाभाविकता की दृष्टि से व्यर्थ है। इसमें विस्तृत संवादों, स्वगतोक्तियों का बाहुल्य है और कहीं-कहीं कथोपकथन क्लिष्टतामय हैं जो साधारण जनकी समझ के बाहर हैं। इसमें तमाम अस्वाभा-विकताएँ एवम् अवास्तविकताएँ भरी पड़ी हैं। कहीं भौंरों, कहीं नदियों का

परस्पर वार्तालाप, कहीं पक्षियों की बात-चीत, कहीं इन्द्रजाल का आश्रयण, कहीं विद्याधर की आभिचारिकशक्ति का प्रयोग, अन्त में, सन्ध्या, चन्द्रोदय एवं सूर्योदय का अनावश्यक सविस्तार वर्णन आदि को देखते हुए रङ्गमञ्च की दृष्टि से चतुर्थ अङ्क को छोड़कर इस नाटक का कुछ भी मूल्याङ्कन नहीं किया जा सकता है।

उपर्युक्त कथन का आशय इतना ही समझा जाना चाहिए कि आज जो हमारे रङ्गमञ्च की साधन-सामग्री-न्यूनता रूप दुरवस्था है, अभिनयकलानिपुण अभिनेताओं एवं सुरुचिसम्पन्न सहृदय सामाजिकों का अभाव है, इन सब बातों को देखते हुए 'प्रसन्नराघव' का अभिनय दुःसाध्य है; अथवा अपनी ऐसी परिस्थिति में भी इस नाटक को अपने सर्वथा दीनहीन रङ्गमञ्च पर अभिनीत करना चाहें तो इसमें पर्याप्त काट-छाँट की आवश्यकता होगी।

प्रसन्नराघव ही क्यों, हमारे संस्कृत के उत्तररामचरित, अभिज्ञानशाकुन्तल, मुद्राराक्षस आदि नाटक आधुनिक रङ्गमञ्च की कुव्यवस्था में तथाकथित अभिनेताओं के द्वारा न कभी अभिनीत हो सकते हैं और न ही जनसाधारण के रसोद्रेक के कारण हो सकते हैं। वास्तविकता यह है कि इन नाटकों की काव्य प्रधानता ही अपने अभिनीत होने के लिए कुछ विशेषता की अपेक्षा रखती है। यदि अभिनयकला में निष्णात अभिनेता हों, इन नाटकों के अनुकूल रङ्गमंच की रचना हो, (यह स्मरणीय है कि रङ्गमञ्च के अनुसार नाटकों की नहीं, अपितु नाटकों के अनुसार रंगमञ्च की रचना होनी चाहिए,), सुरुचि-सम्पन्न सहृदय समाज हों तो ये संस्कृत के नाटक आज भी अभिनीत हो सकते हैं और अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं।

प्रसन्नराघव में पात्रों का चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण, नाटक का महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है। सारी नाटकीय कथा, घटनाएँ और परिस्थितियाँ जब तक चरित्र से सम्बद्ध नहीं होती हैं, तबतक वे नाटक को प्रभावशाली बनाने में अक्षम ही रह जाती हैं। चरित्र-चित्रण जितना ही उत्कृष्ट होता है, नाटक उतना ही सफल माना जाता है। अपने पात्रों के चरित्र के विषय में नाटककार अपनी ओर से कुछ कहने के लिए स्वतन्त्र नहीं

होता है। वह केवल कथोपकथन, स्वगतकथन और कार्यकलापों के सीमित साधना से ही नाटक के पात्रों के चरित्र का उद्घाटन करता है। इस दृष्टि से प्रसन्नराघव का देखने पर विदित होता है कि नाटककार नाटक के प्रमुखपात्रों के चरित्र चित्रण में पूर्ण रूपेण सफल हुआ है। इस प्रकार चरित्र चित्रण की कला से सजा सँवार कर प्रमुखपात्रों का निखरा हुआ जो स्वरूप नाटककार ने हमारे सामने प्रस्तुत किया है उसकी झाकी देखिए—

भगवान् राम—श्री रामचन्द्र जी, प्रसन्नराघव' के दिव्यादिव्य धीरोदात्त नायक है। सकलगुणों के आश्रय, वे समस्तजनो के चित्त को आह्लादित करने वाले है।[१] सरस्वती भी उनके गुणग्राम की प्रशंसारूप सुधामय वापी में अवगाहन करने पर ही, ब्रह्मलोक से भूलोक तक की लम्बी यात्रा की अपनी थकावट दूर कर पाती है।[२]

अधिकांश कविजन केवल इन्हीं 'रघुतिलक' श्रीरामचन्द्र जी को अपने काव्य का वर्ण्य विषय बनाते है। इस विषय में कवियों को क्या दोष दें, यह तो श्रीरामचन्द्र जी के गुणों का ही अवगुण (प्रभाव) है (इसके उत्तरदायी वे ही है)।[३] कवि बेचारे क्या करें? व विवश भी तो है। किसी किसी तरह जन्म जन्मान्तर के सञ्चित पुण्य के बीज से प्रज्ञा का नवीन अन्कुर प्रस्फुटित हुआ, क्रमश वह काव्यज्ञ विद्वज्जन के संसर्गरूप काण्ड (स्कन्ध) से भी युक्त हो चुका, कीर्ति के पुष्पस्तवक भी उसमें लग चुके। ऐसी स्थिति में वे क्या अपने सर्वथा सुसमृद्ध इस कवितातरु को 'रघुकुलावतंस' श्री रामचन्द्र जी गुणवर्णन के 'फल' से सुसम्पन्न न कर सदा के लिए निष्फल (बाँझ) बना दें?[४]

राम का सर्वप्रथम दर्शन द्वितीय अङ्क के अन्तर्गत राजा जनक के उपवन में होता है। भावुक हृदय के एक कवि की भाँति मधुमास की लक्ष्मी के दर्शन से मुग्ध होकर उसका सरस कवित्वमय एवं मनोहारी वर्णन करते हैं। टहलते टहलते चण्डिका मन्दिर को देख कर आस्तिकता के परिपालक वे अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिपूर्वक 'चन्द्रशेखररमणी' (चण्डिका) का अभिवन्दन करते हैं। इतने म

१ देखिए, (१।१०)। २ देखिए, (१।११)।
३. देखिए, (१।१२)। ४ देखिए, (१।१३)।

ही उन्हें दुर्गापूजन के निमित्त आती हुई किसी स्त्री के मणि-नूपुरों की झङ्कार सुनायी देती है। अपने रघुकुल की मर्यादा का सतत ध्यान रखने वाले वे तुरन्त सजग होकर कहते हैं—'इसलिए हमें इधर नहीं देखना चाहिए'। 'परायी स्त्री है क्या ?'—ऐसी शङ्का भी हम रघुवंशियों के सङ्कोच के लिए होती है। (तदलमस्माकमितोऽवलोकनेन, परस्त्रीति शङ्काऽपि सङ्कोचाय रघूणाम) । परन्तु जब उन्हें यह विदित हो जाता है कि यह स्त्री और कोई नहीं, स्वयं राजकुमारी (राजा जनक की कन्या, सीता) है, तब 'निर्दोषदर्शना हि कन्यका भवन्ति' वचन के अनुसार सङ्कोच छोड़कर सीता जी को छुक-छिपकर देखने लगते हैं। उस समय वे सीता के यौवन-सौंदर्य का कवित्वमय, शालीनता एवं शिष्टता से पूर्ण मनोहारी वर्णन प्रस्तुत करते हैं। सीता जी के चिरकालतक दर्शन करने से उत्पन्न पूर्वराग से युक्त हृदय हो वे सन्ध्या होते-होते सायंकालीन देवपूजन के निमित्त चुने गये पुष्पों को लिए हुए गुरु विश्वामित्र के पास लौट आते हैं।

इसके पश्चात् राम के उदात्त चरित्र का विकास चतुर्थ अंक में दिखायी देता है। गुरु विश्वामित्र की आज्ञा से शिवधनुप को हल्के हाथ से ही चढ़ाने का ज्यों ही वे प्रयत्न करते हैं, त्यों ही वह धनुप टूट जाता है। धनुप टूटते ही परशुरामजी पहुँच कर राम को धनुर्भञ्जक भली भाँति जान लेने पर कुपित होते है। रामचन्द्र जी नम्रता पूर्वक अपने निर्दोष होने की सफाई प्रस्तुत करते है—महाराज, मेरा कोई दोष नहीं। मैंने तो शिवधनुप को छुआ, अथवा छुआ भी नहीं था कि वह अपने-आप टूट गया, मैं क्या करूँ[१] ? किन्तु परशुराम जी को रामचन्द्र का यह अनुनयपूर्ण वचन भी 'चन्दनदिग्धनाराच'—सा ही मर्माहत करता है और वे रामचन्द्र के कण्ठ पर प्रहार करने के लिये परशु को ऊँचा कर, राम को मुकाबले में आ जाने के लिए ललकारते है। रामचन्द्र के धैर्य, ब्राह्मण-भक्तिरूप धर्म, एवं निर्भीकता की कड़ी परीक्षा की यह घड़ी प्रस्तुत हो गयी, तथापि वे अपने विनीत स्वभाव से च्युत नहीं हुए। वे स्थिर बुद्धि से परशुरामजी को अनुनय-विनय से शान्त करने की ही चेष्टा करते हैं—'हमारे कण्ठ में हार अथवा तीक्ष्णधारवाला परशु प्रवेश करे, हमारी स्त्रियों के नेत्रों में काजल रहे या आँसू, हमें इस लोक में चिरस्थायी आनन्द प्राप्त हो या यमराज का मुँह देखें;

१. देखिए (४।२१)

और भा जो हो वह हो परन्तु ब्राह्मणो के प्रति हम प्रवीर नही होंगे ।[१] किंतु परशुराम जी राम के अनुनय विनय का भी व्यङ्ग्य समझकर बिगड़ते ही जा रहे हैं । इधर लक्ष्मण के व्यङ्ग्यवचन उनके क्रोध को और उद्दीप्त करता जा रहा है । एक भाई चिढा रहा है दूसरा अनुनय विनय कर रहा है परशुराम को यह अच्छा नही लगा । व वहाँ समवत सकल क्षत्रियो को अपने बाणो का विषय बनाने के लिए तैयार हुए । भगवान् राम ने पुन नम्रता पूर्वक समझाया—अन्य क्षत्रियो को बलात् इसमे क्यों घसीटा जा रहा है ? धनुष तोडने का अपराध मुझसे हुआ है तो मैं आप के बाणो को अपने वक्ष स्थल पर झेलूँगा । राम की यह धृष्टता समझ कर व और अधिक उत्तेजित हो कहने लगे—तू क्या है ? मेरा गुरु विश्वामित्र भी मेरे बाणो को झेलने मे असमर्थ है । मेरे नाराचों के भय से ही उसने ब्रह्मा से ब्राह्मण शरीर की सादर याचना की थी ।[१]

य परशुराम, क्या गुरु की निंदा कर रहे है ? (क्व भगवन्त विश्वामित्र महिक्षितिपति ? इदत पर न सहिष्य) तो अब यह सहनशीलता से बाहर है—ऐसा सोचकर रामने समत कहा—अय जामदग्न्य ! वज्रसदृश धनुष टूट गया तो टूट गया, इससे क्या ? तुम्हारे हृदय में दु ख का शल्य गड गया तो गड गया रुदन से क्या ? चाहे वह शिव का धनुष हो अथवा नारायण का हो मेरा गर्वोद्धत बाहुविलास इसकी परवाह नही करता है[२] । परशुराम न अपने पास विद्यमान नारायण के धनुष को दिखाकर कहा—यह है नारायण का धनुष । इसे चढाओ या मेरे साथ युद्ध करो । भगवान् राम न ऐसी स्थिति में भी ब्राह्मण के साथ युद्ध करने के स्थान मे नारायण के धनुष का चढाने जैसे महान् काय को ही स्वीकार किया । अन्त मे जब पराजित होकर परशुराम राम की प्रशसा करने लगते है तब अविकत्थन (आत्मश्लाघा की भावना से रहित) क्षमाशील भगवान् राम अपनी की जाती प्रशसा से लज्जित होते हुए परशुराम के चरणो मे प्रणाम कर क्षमा मागते है यह है भगवान् राम का धीरोदात्तता ।

कैकयी ने दशरथ से दो वरदानो की माँग की—वन कौसल्यायो विगत, युवराजोऽस्तु भरत । राम वन को जाय और भरत युवराज हों । राजा दशरथ से कुछ कहते नही बन रहा था । उनकी गति बडी विषम थी । बुद्धि कुछ काम

---

१ देखिए (४।२३) २ देखिए (४।३७) । ३ देखिए (४।३९) ।

नहीं दे रही थी। राम परिस्थिति की गम्भीरता समझ गये।[1] इक्ष्वाकुल पिता के चरणों को प्रणाम कर वन को चले गये। राम की यह आदर्श पितृभक्ति है।

राम का आदर्श भ्रातृप्रेम भी लोकोत्तर है। राम के लाख समझाने बुझाने पर भी लक्ष्मण अयोध्या में रहना अस्वीकार कर राम के साथ ही वन में चले आये। चलते समय राम को कौसल्या ने लक्ष्मण की रक्षा के विषय में सावधान रहने की शिक्षा दी तो राम ने उत्तर दिया—'निजजीवितेऽपि दक्षिणेन भवितव्य-मित्यपि शिक्षणीयमेव' ? अपने जीवन की रक्षा के विषय में भी सावधान रहने की शिक्षा देने की आवश्यकता है क्या ? कहने की आवश्यकता नहीं, राम ने अपने इस वचन के अनुसार लक्ष्मण को अन्त तक अपने जीवन सा ही प्यारा समझा। रावण की शक्ति से लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर अपने जीवन को समाप्त कर देने का निश्चय कर लिया।[2] वे लक्ष्मण के बिना पुनः अयोध्या में प्रवेश करने की बात सोचना भी पाप समझते हैं।[3]

सीता ने भी यदि प्रेमाधिक्य और पातिव्रत धर्म के वश होकर अयोध्या छोड़कर राम के साथ वन रहना अङ्गीकार किया है तो राम के हृदय पर भी उनके इस प्रेम और त्याग की गहरी छाप है। सीता का हरण होने पर उनके वियोग में राम विक्षिप्त-से हो जाते हैं।[4] वे चन्द्र चकोर-भ्रमर आदि से उनका पता पूछते हैं। उन्हें सीता के बिना चन्द्र सूर्य के समान तीक्ष्ण किरण वाला, नूतन मेघ दावानल के समान, नदी-तरङ्ग का वायु कुपित सर्प के निःश्वासवायु के समान, नया वेली का फूल बर्छी के तुल्य, कमलों का वन भालों के जङ्गल के समान लगता है। जैसे सारा संसार ही विपरीत हो गया है।[5] यह है राम के प्रतिफलित उदात्त पतिधर्म की भावना। इसे सामान्य पुरुष की-सी स्त्री-लम्पटता समझना बड़ा भारी पाप होगा।

अन्त में सीता को ही रावण के चंगुल से मुक्त करने के लिए राम की ओर से सारा अध्यवसाय किया गया जिससे सीता की मुक्ति के साथ ही सुर-ललनाएँ भी रावण के बन्धन से मुक्त हुई एवं सुर-नर-नाग सभी ने रावण के आतङ्क से मुक्त हो सुख की साँस ली।

---

१. देखिए (५।४)। २. देखिए (७।३०)। ३. देखिए (७।३२)
४. देखिए (षष्ठ अंक आरम्भ) ५. देखिए (६।४३)।

इस प्रकार प्रसन्नराघव में राम मर्यादापुरुषोत्तम आदर्श पुत्र आदर्श भ्राता, आदर्श पति सभी कुछ हैं।

भगवती सीता—सीताजी प्रसन्न राघव की स्वीया मुग्धा नायिका हैं। ये लोकोत्तरगुण गण शालिनी पृथिवी से उत्पन्न होकर अयोनिजा कहलाती हैं। भगवान् विश्वामित्र के शब्दों में पृथिवीप्रसूत कन्या सीता के कारण ही राजा जनक पृथिवीरूप पत्नी से ■ दान लाभ करने से सचमुच पृथिवीपति हैं, अन्य तो भूपाल (पृथिवी का व्यर्थ पालन पोषण करने वाले) मात्र हैं।[१]

सीताजी का प्रथम दर्शन द्वितीय अङ्क में राजा जनक के उपवन में होता है। उपवन की रमणीयता देख कर वे मुग्ध हो जाती हैं और सखी से कहती हैं—आज यह उद्यान वसन्त को साथ लिए स्वयं कामदेव से अलङ्कृत सा रमणीय प्रतीत हो रहा है।' थोड़ी देर के बाद सीता का यह वचन सत्य सा प्रतीत हुआ जब उन्हें वसन्त (लक्ष्मण) को साथ लिए स्वयं कामदेव (राम) उपवन को अलङ्कृत करते हुए दिखाया पड़े। सीता जी गिरिजा गृह में जाकर उन्हें समुचित विशेषणों से सम्बोधित कर श्रद्धा भक्तिपूर्वक प्रणाम करती हैं। सीता की सयानी सखी उनकी प्रत्येक बात पर विनोदार्थ व्यङ्ग्य की मीठी चुटकी लेने से बाज नहीं आती। सीता जी और लक्ष्मण का साक्षात्कार होने पर अपने आप सीता जी के हृदय में लक्ष्मण के प्रति वात्सल्य भाव और लक्ष्मण के हृदय में सीता के प्रति मातृभाव का आविर्भाव होता है। सीता की सयानी सखी लक्ष्मण के ही मुख से यह पता लगा लेती है कि बड़े भाई भी यहीं कहीं उपवन में निकट ही हैं। वह इसकी सूचना सीता जी को देती है किन्तु सीता जी अपने शील, शालीनता एवम् शिष्टता से बँधी हुई घर के लिए चल पड़ती हैं। ■ त में राम के दर्शन की प्रबल उत्कण्ठा सीता जी को सहकारपादप और वासन्ती लता के दर्शन के व्याज से पुन: लौटा लेती है। वहीं सहकारपादप और वासन्तीलता के समीप स्थित राम का दर्शन सीता जी को हुआ तो उन्होंने मुग्ध होकर उत्कण्ठा के साथ कवित्वमयवाणी में राम के सौन्दर्य का वर्णन किया।[२]

---

१. देखिए (३।१३)।
२ देखिए (२।२१)।

सीता ने अपनी सखी से तरह-तरह से अपने मनोभाव को छिपाने का प्रयत्न किया किन्तु उस सयानी के आगे उनकी कोई चातुरी काम नहीं आयी। अन्त में राम के प्रति उत्पन्न पूर्वराग से युक्त हृदय हो, वे राज-सदन को लौट आयीं।

सीता जी के आदर्श नारी-स्वरूप का विकास, राम द्वारा धनुर्भङ्ग होने के फलस्वरूप श्रीरामचन्द्र की सहधर्मिणी बनने के पश्चात् रामवनवास की दुःखद एवं करुण परिस्थिति से प्रारम्भ होता है। वे राम की विषय-वासना की तृप्ति का साधन नहीं बल्कि उनके समस्त जीवन की सहयोगिनी हैं। वे भावुक हैं, कोमल भी हैं, विषयवासनाओं से निर्लिप्त अपने विशुद्ध प्रेम के लिए त्याग एवं बलिदान करना भी जानती हैं। राम ने वन जाते समय उन्हें यह सलाह दी कि तुम मेरी माताओं की सेवा करती हुई कुछ (चौदह) वर्षों को (यहीं अयोध्या में) बिताओ। राम के इतना ही कहते वे वज्राहत-सी हो मूर्च्छित हो गयी। विविध शीतोपचार उन्हें प्रबुद्ध करने में निष्फल हुआ। 'कमलनयने ! मयया मेरे साथ ही वन को आओ'—राम के इस वचनामृत से ही वे प्रबुद्ध हो सकीं।[१] वे तत्काल बड़ी प्रसन्नता से, चरण कमलों में गूँजने वाले नूपुरों की झङ्कार द्वारा नारी-जगत् को साध्वी सती स्त्री के आचरण की शिक्षा देती हुई राम के पीछे-पीछे वन को चल पड़ीं।[१]

सीता जी की, करुणा, प्रेम, नम्रता, त्याग, सौहार्द, क्षमाशीलता, उदारता, कष्टसहिष्णुता, आत्मसमर्पण आदि के उज्ज्वल एवं भव्यचित्र से वे अरण्यप्रदेश चिरकाल के लिए परम पवित्र, मनोरम एवम् आह्लादक बन गये। वनमार्ग में राम के धनुष को देख, बहेलिया के भ्रम से मृगों को भयभीत होते देखते ही करुणामयी सीता झट अपने वस्त्राञ्चल से पति के धनुष को ढक देती हैं, खेतों की सीमा में यव के छोटे-छोटे पौधों को कर्णभूषण बनाने के लिए बड़ी दया के साथ (कहीं उन्हें पीड़ा का अनुभव न हो) उखाड़ती हैं।[२]

तालाबों तथा नदियों के तटप्रदेश में, चक्रवाक का साथ क्षणभर भी न छोड़ने वाली चक्रवाकी को अपने ही समान नारी धर्म का पालन करती देखकर सीता जी को बड़ी प्रसन्नता होती है, किन्तु तत्काल ही रात में होने वाले उसके

१. देखिए (५।६)। २. देखिए (५।१३)। ३. देखिए (५।२३)।

प्रियवियोग को सोच कर दुःखी भी होती हैं। यह है सीता जी का सौहार्द।[१] राम के पीछे पीछे चलती हुई सीता प्रिय के नीलकमल के पत्तों की माला के समान श्याम अङ्ग को निर्निमेष दृष्टि से देखती हुई इस प्रकार तन्मय रहती हैं कि उनके कोमल अङ्ग प्रचण्ड किरणों से तपने पर भी धूप के स्पर्श का भी अनुभव नहीं करते हैं।[२]

सीता जी का चित्त राम के प्रेम से ऐसा आर्द्र एवं प्रकृष्ट धैर्यसम्पन्न है कि प्रचण्ड सूर्य की किरणों से तप्त मरुभूमि, जो कठोर शरीर वाले वनेचरों के लिए भी दुर्गम है, शीतल से शीतल मालूम होती है।[३] यह है सीता जी का आदर्श पतिप्रेम तथा कष्टसहिष्णुता।

सीता जी देखती हैं कि वह आवासस्थान निकट आ गया है, जहाँ रुकना है। तुरन्त लम्बे डग भर कर वहाँ राम लक्ष्मण से पहिले पहुँचकर उसे व्यवस्थित कर देती हैं। सानुज राम के पहुँचने पर हाथ से धनुष लेकर उसे समुचित स्थान पर ठिकाने से रख देती हैं और सानुज थके हुए राम को नूतन पल्लवों से हवा करती हुई सद्गृहिणी के कर्त्तव्य का बड़ी उदारता से पालन करती हैं।[४] यह है सीता जी की नम्रता एवम् उदारता से परिपूर्ण कर्त्तव्यपरायणता।

सीता जी श्रीरामचन्द्र जी को संसार का अद्वितीय शक्ति मानती हैं। एक तो वे उनके पति हैं, पति ही परमेश्वर है, दूसरे वे लोक के अद्वितीय शूर एवं रघुवंशधुरन्धर हैं। आवश्यकता पड़ने पर सीता को सम्भवतः उस लोकमान्य सर्वशक्तिमान् परमात्मा से भी वह सहायता नहीं मिल पाती जो उनके राम से मिल सकती है—ऐसा उनका दृढ़ एवं सच्चा विश्वास है। यही कारण है कि जब रावण उन्हें हर कर ले जाने लगा, ऐसी दारुण विपत्ति में अपने राम तक अपनी करुण पुकार पहुँचाने के लिए, करुणामय करुणभावनामयी वाणी में उन्हीं को उच्च स्वर में पुकारा—हा राम! हा रमण! हा जगदेकवीर!

हा नाथ! हा रघुपते! किमुपेक्षसे माम॥ (५।४५)

किन्तु सीता जी रावण द्वारा लङ्का के अशोक वन में पहुँचा दी ही गयीं। भला भवितव्यता को कौन मिटा सकता है?

---

१ देखिए (५।२४)। २ देखिए (५।२६)। ३ देखिए (५।२७)। ४ देखिए (५।२६)।

अशोक वन में सीता जी दिन-रात राम के ध्यान में ही निमग्न रहती हैं। अतएव उन्हें अपने शुभसूचक स्वप्न में भी विश्वास नहीं होता है। रामचन्द्र के बिना भी अपने को जीवित देखकर उनको विश्वास हो गया है कि इस संसार में असम्भाव्य भी सम्भाव्य है। वे अपनी उस करुण पुकार की निष्फलता पर भी अपने विश्वास से विचलित नहीं होती हैं। राम के विषय में उनकी उपेक्षा की बात सोचना शिव जी के शिरोभूषण चन्द्र में कलङ्क के आरोपण के समान है।

सीता जी का स्वाभिमान, भारतीय नारी की निर्भीकता, पातिव्रतधर्म की दृढनिष्ठा, आत्मबल, धर्म की रक्षा के लिए त्याग एवं बलिदान की भावना आदि उदात्त वृत्तियाँ उस समय देदीप्यमान हो उठती हैं, जब रावण सीता को आत्म-समर्पण के लिए राजी करने में अपनी सभी नीतियों का प्रयोग करता है। किन्तु उनका चित्त अपने मार्ग से तनिक भी नहीं हिलता। रावण की सारी बातों का जवाब एक छोटे से वाक्य में देती हैं—'अपि खद्योतभासापि समुन्मीलति पद्मिनी? (क्या जुगनू की चमक से कमलिनी भी खिलती है?)। वे उस दुराचारी राक्षस से अधिक बात करना भी पाप समझती हैं। अन्त में रावण सब प्रकार से हार कर अपने चन्द्रहास खड्ग से मारने की धमकी देता है तो सीता का आत्मबल हृदय से उमड़ पड़ता है और ओजपूर्ण शब्दों में रावण को तिरस्कारपूर्ण उत्तर मिलता है कि—

रे राक्षस, रुक, रुक। व्यर्थ बकवास से क्या? रे रावण! नीलकमल के समान श्यामवर्णवाले रामचन्द्र के भुजदण्ड अथवा निर्दय तेरे कृपाण के अलावा दूसरा मेरे कण्ठप्रदेश को छू नहीं सकता।[1] वे सहर्ष प्राणोत्सर्ग के उद्देश्य से स्वयं चन्द्रहास खड्ग से प्रार्थना करती हैं।[2]

संक्षेप में 'प्रसन्नराघव' की सीता, नायक राम के अनुरूप लोकोत्तर चरित की सुषमा से मण्डित, पतिव्रता नारी जाति की मूर्तिमती गरिमा है। उनका उदात्त चरित्र सदैव नारीजाति को अपने कर्त्तव्यपालन का प्रोत्साहन देता हुआ, मार्ग प्रदर्शन करता रहेगा।

लक्ष्मण—नाटक में लक्ष्मण का सर्वप्रथम दर्शन हमें राम के साथ द्वितीय अङ्क में ही होता है तथापि उनके चरित्र का विकास कथानक के बीच चतुर्थ अङ्क से

१. देखिए (६।३०)। २. देखिए (६।३३)।

प्रारम्भ होता है। उनका क्षत्रिययुवकोचित अदम्य साहस और पराक्रम प्रस्तुत नाटक का एक चमत्कार है। इसके अतिरिक्त उनका भाई के लिए त्याग और बलिदान उच्चकोटि का है जो उन्हें आदर्श बन्धु का गौरव प्रदान करता है।

जिस समय परशुराम के क्रोधानल से धधकते हुए तेजस्वी व्यक्तित्व के सामने बड़े बड़े क्षत्रिय वीर भयभीत हो मन ही मन अपनी खैरियत मना रहे थे उस समय लक्ष्मण परशुराम को चिढ़ाने के लिए उनकी बातों का ऐसा सटीक व्यंग्य एवं वक्रोक्ति पूर्ण उत्तर दे रहे थे कि परशुराम मर्माहत हो तिलमिला उठते थे। लक्ष्मण अपने निर्भीकतापूर्ण वचनों से परशुराम को सूचित कर देते हैं कि हम आप के परशु एवं बाणों की कोई परवाह नहीं करते उनकी वाक्चातुरी परशुराम को भी आश्चर्यचकित एवं प्रसन्न कर देती है—

अहो ! अन्य क्षत्रियबटोर्वाकपरिपाटीपाटवम् ।

वन जाने के लिए उद्यत राम ने लक्ष्मण को सलाह दी—'वत्स ! आँखें मूँद कर निमेष के समान कतिपय वर्षों तक अयोध्या में बिताओ और पवित्र चरित्र में सुशील तथा कल्याणधर्म में तत्पर भरत की भी मेरे समान सेवा करो।'[1]

लक्ष्मण-जैसा भ्रातृभक्त यह सलाह क्यों पसन्द करे ? उन्होंने उत्तर दिया—'आप के साथ मेरे लिए चारों युग भी चार प्रहर के समान हैं और आप के बिना चौदह वर्ष रहना भी मेरे लिए मन्वन्तर के तुल्य है।'[2]

सीता के वियोग से विक्षिप्त राम विवश-से हो वन, भ्रमर चकोर लता गुल्म आदि से सीता का पता पूछ रहे हैं। इन्द्रजाल के द्वारा लङ्का में स्थित सीता की अवस्था देखकर यथार्थ समझ आतुर हो उठते हैं। किन्तु लक्ष्मण भाई के ही समान दुःखी होकर भी अपना विवेक और धैर्य सँभाले हुए राम को आश्वासन दे रहे हैं उन्हें सँभाल रहे हैं। यह है लक्ष्मण का धैर्य।

लङ्का में भीषण सङ्ग्राम छिड़ा है। त्रैलोक्यविजयी रावण अपना रण कौशल दिखाने के लिए मैदान में उतर पड़ा है। बन्धुद्रोही विभीषण को देखते ही क्रुद्ध हो रावण ने उस पर शक्ति का प्रहार किया। लक्ष्मण ने सोचा कि हमारे रक्षित विभीषण मारा गया तो दुनिया में क्या मुँह दिखायेंगे ? हमारे बल

१ देखिए (५।७)। २ देखिए (५।८)।

भरोसे पर जिसने भाई का साथ छोड़ हमारा आश्रय ग्रहण किया, यदि उस विभीषण की रक्षा हम से नहीं होगी तो इस अपकीर्ति के उत्तरदायी हमीं तो होंगे। आर्य राम ने शरणागत विभीषण को अभयदान देते हुए लङ्का का आधिपत्य जो दिया है, वह सब मिथ्या सिद्ध होगा और इस प्रकार राम की मर्यादा ही नष्ट हो जायगी, बस, लक्ष्मण ने आगे बढ़कर हँसते-हँसते रावण की शक्ति को अपनी छाती पर झेल लिया'[1]। फलस्वरूप वे संज्ञाहीन हो गिर पड़े। उनकी वीरता और कर्त्तव्यपालन की भावना अतुलनीय एवं अनुकरणीय है।

परशुराम—परशुराम का आगमन नाटक के वस्तुविन्यास का वह झंझावात है जिसने धनुर्यज्ञ में उपस्थित महान् क्षत्रिय योद्धाओं को सहसा झकझोर डाला, उनके देदीप्यमान तेजोदीप को बुझा दिया। वे सब सहमे हुए कोने में दुबक गये। भगवान् परशुराम का परशु, दुष्ट एवं अभिमानी राजाओं के लिए 'यमपुरी का द्वार' है। पहले सङ्ग्राम में राजाओं का इक्कीस बार संहार करने के बाद भी दुर्मद राजाओं का दुबारा सात बार विनाश करने वाले क्रुद्ध परशुराम के तेजस्वी व्यक्तित्व के सामने क्या मजाल कि कोई योद्धा क्षण भर भी ठहर सके। उनको भगवान् शङ्कर से धनुर्विद्या सीखने का सौभाग्य प्राप्त है। अपने गुरु का तनिक भी अपमान उन्हें सह्य नहीं है। शिवधनुष को तोड़ने वाले या चढ़ाने वाले के साथ अपनी कन्या सीता के विवाह की प्रतिज्ञा जनक ने की है, यह सुनते ही परशुराम ने अपने गुरु शङ्कर का इसमें अपमान समझ कर क्रोधाभिभूत हो जनक के पास तत्काल सन्देश भेजा—'विदेहराज! किसी राजकुमार को अपनी कन्या दे दीजिए और लम्बी आयु प्राप्त कीजिए। हमारे लिए अप्रिय, शङ्कर के धनुष को खींचने की चर्चा के पाप से दूर जाइए। अन्यथा हमारे परशु का लक्ष्य बनकर तुम्हें उसका प्रायश्चित्त करना होगा।'[2] जनक परशुराम के सन्देश की उपेक्षा कर धनुर्यज्ञ के आयोजन से विरत नहीं हुए। परशुराम, क्रोध के कारण लाल दृष्टिपातों से अपने परशु की धार को सम्प्रति भी क्षत्रियों की रुधिर-सरिता में स्नान-सा कराते हुए, लोकोपद्रव-सूचक तीव्र निःश्वासों से युक्त, गर्जन करती हुई प्रत्यञ्चा वाले धनुष को लिए उस क्षत्रिय समुदाय में पहुँच गये।[3]

१. देखिए (७।२८)। २. देखिए (३।३८)। ३ देखिए (४।२)

शिवधनुष टूट चुका—ऐसा जान कर उनका क्रोध सीमा पार कर गया। राम के साथ बात करते हुए सभी उपस्थित क्षत्रिय राजाओं को उन्होंने ललकारा 'बाणान् रिपुप्राणहरान्मदीयान सर्वेऽपि यूयं सहिता सहध्वम्।' भगवान् राम ब्राह्मणजाति की स्तुति कर उन्हें शान्त करने के प्रयास में संलग्न हैं किन्तु दूसरी ओर लक्ष्मण अपने व्यङ्ग्यवचनों से उन्हें पीड़ित कर रहे हैं। परशुराम क्रोध में तिलमिला उठे। वे आवेग में विश्वामित्र की भी प्रतिष्ठा के विरुद्ध निन्दा-युक्त वचन कहने में नहीं हिचके। अन्त में यह विश्वास हो जाने पर कि राम नारायण के अवतार हैं वे प्रसन्न हो राम को पुनः पुनः अनेक आशीर्वाद देकर तपश्चरणार्थ निकल गये। परशुराम के स्वभाव में एक ओर जहाँ चण्डांशु की सी तीक्ष्णता है, वहीं दूसरी ओर शीतांशु की सी सौम्यता भी है। वस्तुतः दो विरोधी गुणों से समन्वित, वीर और शान्तरस के विकार परशुराम का चरित्र प्रस्तुत नाटक के वस्तुविन्यास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। आश्चर्यमय इस तेजःपुञ्ज के चरणों में राम का प्रणमन भी इसी तथ्य की ओर सङ्केत करता है।

रावण—नाटककार ने रावण को अपने नाटक में प्रतिनायक के रूप में चित्रित किया है। वह पुलस्त्य के विश्वविश्रुत उच्चतर एवं पवित्र कुल में जन्म लेकर भी अभिमान, छल कपट, दुराचार, आत्मप्रशंसा आदि की दुष्प्रवृत्तियों के कारण घोर राक्षस के रूप में विख्यात है। रावण का प्रथम दर्शन प्रथम अङ्क के धनुर्यज्ञ प्रसङ्ग में होता है। वहाँ वह कपटवेश में पहिले आता है और बाद में अपने वास्तविक रूप का भी प्रदर्शन करता है। वह शङ्कर के धनुष को उठाने की लाख लाख कोशिशें करने पर भी अन्त में हार मानकर, सीताप्राप्ति की अपूर्ण भावना हृदय में लिए हुए वहाँ से चला जाता है।

पञ्चम अङ्क में रावण अपनी राक्षसी दुष्प्रवृत्ति के अनुसार सीता हरण जैसा जघन्य दुष्कृत्य करने के लिए भिक्षु रूप में दिखायी पड़ता है। अपने प्रिय सुहृद मारीच के प्राणों की उपेक्षा कर वह उसे कपट-कुरङ्ग के रूप में पहले ही भेज देता है। अपने षड्यन्त्र में सफल हो वह सीता को बलात् लङ्का ले ही गया।

षष्ठ अङ्क में राक्षस रावण सीता को अनुकूल करने के लिए अपना सारा कौशल लगा देता है। वह सीता को अनुकूल बनाने के लिए मन्दोदरी का

परित्याग, आनन्दपूर्ण लङ्का के राज्य का सीता के चरणकमलों में समर्पण, यहाँ तक कि अपने सिरों का छेदन भी करने को तैयार है। सीता अपने दृढ़ निश्चय से तनिक भी विचलित नहीं होती,–ऐसा देख कर वह अपने चन्द्रहास खड्ग से सीता के सिर को काटने की धमकी देता है। इस प्रकार उसका साहस भी परा-काष्ठा पर पहुँचा हुआ दिखायी देता है।

सप्तम अङ्क में रावण का दूसरा योधा का रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है। वह त्रिभुवन का अद्वितीय वीर है। देवमण्डल उसके यहाँ भृत्य के समान सेवा करता है। उनकी स्त्रियाँ उसके कारागार में बन्द पड़ी रही हैं। उसका उत्साह एवं साहस उच्चकोटि का है। कुम्भकर्ण सरीखे योद्धा भाई और मेघनाद जैसे वीर पुत्र के मारे जाने पर भी वह निराश एवं हतोत्साह नहीं होता है। उसे अपने पराक्रम का पूरा भरोसा है। उसका राम के साथ युद्ध छिड़ जाता है। उसकी शक्ति के प्रहार से लक्ष्मण भी चेतनाशून्य हो गये। राम-रावण के युद्ध को देखकर कहा नहीं जा सकता कि किसकी विजय होगी—'तुलामिरोहः साम्प्रतं वीरलक्ष्म्याः, पश्याम रामरावणयोः समर इति।' रावण की वीरता के प्रति राम के भी हृदय में कितनी समादर की भावना है, उन्हीं के मुख से सुनिए—'अहो तदिदं विमानरत्नं यत्किल त्रिभुवनैकवीरः कुबेरादाजहार।' किन्तु 'त्रिभुवनैकवीर' होते हुए भी 'शक्तिः परेषां परिपीडनाय' के सिद्धान्त का वह दीवाना था। शिव जी को प्रसन्न कर उनसे प्राप्त वरदान का भी उसने दुरुपयोग ही किया। तत्परिणाम स्वरूप उसे उसकी अदम्य शक्ति, असंख्य बन्धुवर्ग, अपार वैभव आदि भी बचाने में असमर्थ रहा और रामचन्द्र के क्षणभर के लिए क्रुद्ध होने पर धूलिधूसर हो धराशायी होना पड़ा। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' का यह ज्वलन्त उदाहरण हो गया।

प्रसन्न राघव तथा कवि जयदेव का वैशिष्ट्य

संस्कृतवाङ्मय में मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी के लोकोत्तर पावन चरित्र से सम्बद्ध बहुत से नाटक हैं। जैसे—महावीरचरित, उत्तररामचरित, कुन्दमाला, अनर्घराघव, बालरामायण आदि। किन्तु प्रसन्नराघव उनमें अपना एक अलग ही वैशिष्ट्यपूर्ण स्थान रखता है। पाञ्चालीरीति प्रधान, प्रसादगुण पूर्ण 'प्रसन्नराघव' अपनी कोमलकान्तपदावली, सरल एवं सरस सूक्तियों, कमनीय-

वल्पनाकौशल, मनोहारी रसनिवेश आदि में सहृदयजनों का कण्ठहार बना हुआ है।

जयदेव के मूलत कवि के होने के कारण प्रसन्न राघव काव्य का वैभवपूर्ण भण्डार है। इसके समस्त अङ्ग कविता की सुरभि से ओत प्रोत हैं। कवित्वद्रुम की निष्पत्ति में तथा उसे फलभारावनत बनाने में कवि ने अपने पूरे कल्पनाकौशल का विनियोग किया है—

'वाज यस्य चिर जित सुचरितम इत्यादि। (१।१३)

कविताकामिनी को अलङ्कृत करने में कवि कोई कोर कसर नहीं रखता है—

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकर, कर्णपूरो मयूर इत्यादि। (१।२२)

कवि की सूक्तियों में सरलता और कोमलता के साथ साथ कहीं कहीं वक्रता और कठिनता सहृदयों के लिए मुक्तामाला के बीच बीच में मूँगे के दानों के समान कम हृदयावर्जक नहीं है। व कवि की सूक्ति वक्रता को शिव की वक्रचन्द्रकला के समान सिर माथे चढ़ाते हैं।[1] उसकी कठिनता सहृदयों को बाद में वैसे ही सरसता की अनुभूति कराती है, जैसे अमृतसागर के रस को पीकर उसे यदि मध आले के रूप में स्फटिकमणि की फर्श पर बरसाये तो वह ओले को कठिनता चूसने वाले को बाद में सरसता का अनुभव कराती है।[2]

जयदेव के नाटकीय पद्यों की अधिकता को व्यावहारिक दृष्टि से कुछ लोग भले ही अनुपयुक्त समझते हों उनकी वजह से कथा विकास में अवरोध तथा कार्य व्यापार में शैथिल्य का भी अनुभव करते हों किन्तु काव्यमाधुरी की दृष्टि से उनका महत्त्व सभी सहृदय स्वीकार करते हैं। जयदेव के नाटकीय पद्यों में उदात्त भाव सौन्दर्य कवि की प्रौढ़ कल्पना सहज एवं गम्भीर अनुभूति आदि सभी उत्कृष्ट गुण विद्यमान हैं।

जयदेव ने अपने नाटक का प्रारम्भ ऐसे प्रभावशाली और कलापूर्ण ढंग से किया है कि 'गुणाराम'—जैसे भरताधिराज के चरित से सम्पन्न आमुख दर्पण में नाटकीय कथा की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का प्रतिबिम्ब साफ साफ झलकता दिखायी देता है। उसी प्रकार नाटक की समाप्ति भी अपने मौलिक ढंग से की है।

---

१ (१।२०)। २ (१।२१)।

है। प्रायः सभी नाटकों में निर्वहणसन्धि के अन्तिम दो अङ्गों 'काव्यसंहार' और 'प्रशस्ति' की योजना नाटक के किसी पात्र (नट) के द्वारा की जाती देखी जाती है, इसी लिए प्रशस्तिपरक पद्य को 'भरतवाक्य' भी कहते हैं। किन्तु जयदेव ने यह काम रघुकुलप्रवर्तक सूर्यदेव से लिया है। इससे नाटककार की विशेषकला का परिचय मिलता है।

जयदेव ने अपनी कला और काव्यप्रतिभा से नाटकीय संवादों में एक अनूठी सजीवता-सी उत्पन्न कर दी है। चतुर्थ अङ्क में परशुराम-लक्ष्मण संवाद इसका भव्य निदर्शन है। वहाँ की व्यंग्यात्मक शैली बड़ी मोहक है। सर्वत्र संवाद, व्यवहारानुकूल एवं भावव्यंजक होने के साथ-साथ उत्तरपात्रों के चरित्र पर भी प्रकाश डालते हैं। जहाँ पात्र भावुकता में आकर (जैसे द्वितीय अङ्क में पुष्पवाटिका में राम) मनोभावों को व्यक्त करते हैं वहाँ प्रवाह एवं सरसता से पूर्ण भावात्मकशैली का दर्शन होता है। इसी प्रकार प्रस्तुत नाटक में अनेक स्थलों पर काव्यात्मकता के जो दर्शन होते हैं उसमें कवि की आलङ्कारिक शैली ही मुख्य कारण है।

महाकवि जयदेव जहाँ कविताकामिनी को सजाने-सँवारने वाले हैं, वसन्त के साथ कामदेव से अलङ्कृत उद्यान का, मधुमास-श्री से मिलन कराने में आत्मसन्तोष का अनुभव करने वाले हैं, वहीं वे मौञ्जी, मेखला, कुश और कमण्डलु धारण किये हुए मूर्तिमान् शान्तरस-से परशुराम को धनुष-बाण और परशु से सुसज्जित कर मूर्तिमान् वीररस-सा बना कर क्षत्रिय राजाओं के मध्य में ला खड़ा कर देते हैं; जिनका ब्रह्मक्षत्रवर्णात्मक चित्र-सा तेजस्वी व्यक्तित्व देख कर सभी क्षत्रियों का दिल दहल उठता है। त्रैलोक्यविजेता राक्षस रावण और सकललोकैकवीर राम के भीषण सङ्ग्राम का रोमाञ्चकारी दृश्य भी पूरी क्षमता से प्रस्तुत करने में दक्ष है, जो ऐसा काँटे का युद्ध है कि देवता भी हैरान हैं क्योंकि किस पक्ष की विजय होगी—इसका अनुमान कर लेना टेढ़ी खीर है। कालिदास के बाद शृङ्गार और वीररस पर समान भाव से अधिकार रखने वाला संस्कृत का कोई कवि है तो वह जयदेव ही है।

इस प्रकार प्रसन्नराघव कोमल, प्रसादपूर्ण, ललित एवम् अनुत्तम कृति है। शैथिल्य, भर्ती के शब्दों को बलात् बैठाना, कृत्रिमता आदि दोषों से सर्वथामुक्त,

शिव के मस्तक पर बालविधु के समान यह नाटक सहृदय समुदाय का अभिवन्दनीय एवं चित्ताह्लादक है।

'प्रसन्नराघव' का उत्तरवर्ती साहित्य पर प्रभाव

उत्तरकालीन कवियों एवम् आचार्यों को 'प्रसन्नराघव' ने कितना प्रभावित किया और इसे कितनी लोकप्रियता प्राप्त हुई, इसकी प्रतीति के लिए संक्षिप्त निम्ननिवेदन है—

विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि' के उदाहरणरूप में 'प्रसन्नराघव' का निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है—

'कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः ।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः ॥' (१।३७)

शार्ङ्गधर ने अपने 'शार्ङ्गधरपद्धति' में प्रसन्नराघव के प्रथम अङ्क के उन्नीसवें, तैंतीसवें, द्वितीय अङ्क के बाइसवें तथा सप्तम अङ्क के उनसठवें और साठवें पद्य को सादर उद्धृत किया है।

इसी प्रकार शिङ्गभूपाल ने अपने 'रसार्णवसुधाकर' ग्रन्थ में दो प्रसङ्गों को उद्धृत किया है—

'यथा प्रसन्नराघवे रावणः—कथय कथ तावत् कर्णान्तनिवेशनीयगुणं कस्यारत्नकार्मुकम् ।'

प्रत्यङ्कमङ्कुरितसर्वरसावतारं नव्योल्लसत्कुसुमराजिविराजितस्वम् ।
घर्मेतरांशुमिव वक्रतयाभिरम्यं नाट्यप्रबन्धमतिमञ्जुलसंविधानम् ॥
(प्रस० १।७)

गोस्वामी तुलसीदास ने प्रसन्नराघव के अनेक प्रसङ्गों (जैसे वाटिका में सीता-राम का मिलन, लक्ष्मण परशुराम संवाद, सीता के वियोग में राम का विलाप आदि) को 'रामचरितमानस' में ज्यों का त्यों ले लिया है। इसके अतिरिक्त 'प्रसन्न राघव' के बहुत से पद्यों का अक्षरशः अनुवाद दोहा और चौपाइयों में किया है—

(१) प्रसन्नराघव की प्रस्तावना में—

झटिति जगतीमागच्छन्त्याः पितामह विष्टपात्
महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत ।
अपि कथमसौ मुञ्चेदेनं न चेदवगाहते
रघुपतिगुणग्रामश्लाघा सुधामयदीर्घिकाम् ॥ (१।११)

रामचरितमानस की भूमिका में—

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई । सुमिरत सारद आवति धाई ॥
रामचरित सर बिनु अन्हवाएँ । सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ ॥

(२) प्रसन्नराघव (धनुर्यज्ञ) में बाणासुर द्वारा धनुष खींचे जाने के प्रसङ्ग में—

बाणस्य बाहुशिखरैः परिपीड्यमानं
नेदं धनुश्चलति किञ्चिदपीन्दुमौलेः ।
कामातुरस्य वचसामिव संविधानं
रम्यंयितं प्रकृतिचारु मनः सतीनाम् ॥ (१।५६)

रामचरितमानस में—

भूप सहस दस एकहि बारा । लगे उठावन टरइ न टारा ॥
डगइ न संभु सरासन कैसे । कामी बचन सती मन जैसे ॥

(३) प्रसन्नराघव में लक्ष्मण का वचन—

यस्मादेकगुणं शरासनमिदं सुव्यक्तमुर्वीभृता-
मस्माकं, भवतां पुनर्नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम् ॥

रामचरितमानस में राम का वचन—

देव एक गुन धनुष हमारे । नव गुन परम पुनीत तुम्हारे ॥

(४) प्रसन्नराघव में 'चन्द्रहास' खड्ग से सीता की अभ्यर्थना—

चन्द्रहास ! हर मे परितापं रामचन्द्र विरहानलजातम् ।
त्वं हि कान्तिजित मौक्तिकचूर्ण ! धारयावहसि शीतलमम्भः ॥

रामचरितमानस मे, उसी प्रसङ्ग मे—

चन्द्रहास हरु मम परिताप। रघुपति विरह अनल सजात॥
सीतल निसित बहसि वर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा॥

(५) 'प्रसन्नराघव' मे—

"उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते।
चतुर्थी चन्द्रलेखेव परस्त्रीभालपट्टिका॥" (७।१)

रामचरितमानस मे—

'सो पर नारि लिलार गोसाई। तजउ चौथ चन्दा की नाई॥'

(६) प्रसन्नराघव मे राम का सीता के प्रति सन्देश—

हिमांशुश्चण्डांशुर्नवजलधरो दावदहन,
सरिद्वीचीवात कुपितफणिनि श्वासपवन।
नवा मल्ली भल्ली, कुवलयवन कुन्तगहन,
मम त्वद्विश्लेषात्सुमुखि विपरीत जगदिदम्॥ (६।४३)
कस्याख्याय व्यतिकरमिम मुक्तदु ख भवेय,
को जानीते निभृतमुभयोरावयो स्नेहसारम्?
जानात्येक शशधर मुखि! प्रेमतत्त्व मनो मे,
त्वामेतच्चिरमनुगत तत् प्रिये! किं करोमि॥ (६।४४)

रामचरितमानस मे उसी प्रसङ्ग मे—

कहेउ राम वियोग तव सीता। मो कहुँ सकल भये विपरीता॥
नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू। कालनिसा सम निसि ससि भानू॥
कुवलय बिपिन कुन्त वन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा॥
जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिविध समीरा॥
कहेहू तें कछु दुख घटि होई। काहि कहौं यह जान न कोई॥
तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाही। जानु प्रीति रसु एतनेहि माही॥

इसी प्रकार आचार्य केशवदास ने भी अपनी 'रामचन्द्रिका' की रचना में 'प्रसन्नराघव' को उपजीव्य बनाकर कृतार्थता प्राप्त की है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१) प्रसन्नराघव में—

'अङ्गैरङ्गीकृता यत्र षड्भिः सप्तभिरष्टभिः।
त्रयी च राजलक्ष्मीश्च योगविद्या च दीव्यति ॥'

रामचन्द्रिका में—

अङ्ग छ सातक आठक सों भव तीनिहु लोक में सिद्ध भई है।
वेद त्रई अरु राजसिरी परि पूरनता सुभ जोग मई है ॥

(२) प्रसन्नराघव में—

छत्रच्छाया तिरयति न यद्यन्न स्रग्दुमीष्टे,
दृप्यद्गन्धद्विपमदमसी पङ्कनामा कलङ्कः।
लीला लोलः शमयति न यच्चामराणां समीरः,
स्फीतं ज्योतिः किमपि तदमी भूभुजः शीलयन्ति ॥ (३।१२)

रामचन्द्रिका में—

सब छत्रिन आदि दै काहू छुई न छुए बिजनादिक बात डगै।
न घटै न बढ़ै निसि बासर केशव लोकन को तमतेज भगै।
भवभूषण भूषित होत नहीं मदमत्त गजादि मसी न लगै।
जलहूँ थलहूँ परिपूरण श्रीनिमि के कुल अद्भुत ज्योति जगै ॥

(३) प्रसन्नराघव में—

'यः काञ्चनमिवात्मानं निक्षिप्याग्नौ तपोमये।
वर्णोत्कर्षं गतः सोऽयं विश्वामित्रो मुनीश्वरः' ॥ (३।८)

रामचन्द्रिका में—

जिन अपनो तन स्वर्ण, मेलि तपोमय अग्नि में।
कीन्हो उत्तम वर्ण, तेई विश्वामित्र ये ॥

(४) प्रसन्न राघव में—

> 'अवनिमवनिपाला सन्तु शं पालयन्ता-
> मवनिपतियशस्तु त्वां विना नापरस्य ।
> जनक ! जनक गौरी यत्प्रसूता तनूजा
> जगति दुहितृमन्त भूभृन्त वितेने' ॥ (३।१३)

रामचन्द्रिका में—

> आपने आपने ठौरनि तौ भुवपाल सबै भुव पालै सदाई ।
> केवल नामहि के भुवपाल कहावत हैं भुव पालि न जाई ।
> भूपति की तुमही धरि देहि विदेहन में कल कीरति गाई ।
> केशव भूषन की भवि भूषण भू तन तें तनया उपजाई ॥

(५) प्रसन्न राघव में—

> कान्ते नाथ प्रणयमधुरं किञ्चिदाचञ्चलेन
> श्रान्ता श्रान्ता जनकतनया वल्कलस्याञ्चलेन ।
> चक्रे वीतश्रमजलकणस्निग्धमुग्धाननश्री
> श्रान्तः श्रान्तः स पुनरनया लोचनस्याञ्चलेन ॥ (५।२८)

रामचन्द्रिका में—

> मग को श्रम श्रीपति दूर करैं सिय के, सुभ वाकल अंचल सो ।
> श्रम तेऊ हरैं तिनको कहि केशव चञ्चल चारु दृगंचल सो ॥

इस प्रकार महाकवि जयदेव के 'वदनेन्दुमण्डल से बहने वाले काव्यामृतसिन्धु की कतिपय बूँदों को पीकर कविरूप सुमन मेघों की माला बहुत दिनों तक वर्षा करती रही' ।

— ० —

पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र

सूत्रधार	प्रधान नट
नट	सूत्रधार का सहायक
राम	नाटक के नायक
लक्ष्मण	राम के लघुभ्राता, सुमित्रा के पुत्र
विश्वामित्र	महर्षि, राम-लक्ष्मण के गुरु
जनक	मिथिला के राजा, सीता के पिता
शतानन्द	जनक के पुरोहित
दाण्ड्यायन	याज्ञवल्क्य के शिष्य
शाण्ड्यायन	शतानन्द के शिष्य
परशुराम	महर्षि, जमदग्निपुत्र
मञ्जीरक, नूपुरक	स्तुतिपाठक
रावण	लङ्काधिपति, नाटक का प्रतिनायक
बाणासुर	दैत्यराज, बलि का पुत्र
सागर	नदीपति, समुद्र
रत्नशेखर	ऐन्द्रजालिक
सुग्रीव	वानराधिपति, राम का सखा (पीठमर्द)
हनूमान्	सुग्रीव का मन्त्री
माल्यवान्	रावण का मन्त्री, राक्षस

विभीषण	रावण का अनुज
करालक	माल्यवान् का सेवक
प्रहस्त	रावण का सचिव
विद्याधर	देवयोनि विशेष का व्यक्ति
तापस और भिक्षु	कपटवेषधारी, रावण के सेवक
कुब्जक और वामन	जनक के अन्तःपुर के सेवक

स्त्री–पात्र

सीता	जनक की पुत्री, नाटक की नायिका
गङ्गा	नदी
यमुना	नदी, सूर्यपुत्री
सरयू	नदी
गोदावरी	नदी
तुङ्गभद्रा	नदी
त्रिजटा	राक्षसी, सीता की सखी
मन्दोदरी	रावण की पत्नी
विद्याधरी	विद्याधर की पत्नी
सखी, चेटी आदि	

— • —

॥ श्री ॥

प्रसन्नराघवम्

'विभा' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमोऽङ्कः

चत्वारः प्रथयन्तु विद्रुमलतारक्ताङ्गुलिश्रेणयः,
श्रेयः शोणसरोजकोरकरुचस्ते शार्ङ्गिणः पाणयः ।
भालेष्वब्जभुवो लिखन्ति युगपद्ये पुण्यवर्णावलीः
कस्तूरीमकरीः पयोधरयुगे गण्डद्वये च श्रियः ॥ १ ॥

नमो रामाय देवाय जानकीपतये सदा ।
हरये रघुवीराय ब्रह्मण्याय नमो नमः ॥ १ ॥
जलजाक्षाय नाथाय नीरदाभाय विष्णवे ।
सीतया समवेताय शरण्याय नमो नमः ॥ २ ॥
'प्रसन्नराघवं' कुर्वे 'विभा'-व्याख्यासमन्वितम् ।
कृपया राघवस्येदं भूयात् पाठकशर्मणे ॥ ३ ॥

अथ निर्विघ्नं चिकीर्षितग्रन्थसमाप्तये, तस्य सानन्दाभिनयसम्पत्तये सामाजिकानामानुषङ्गिकमङ्गलसिद्धये च शिष्टाचारज्ञापितस्मृतिर्तकितश्रुतिबोधितकर्त्तव्यताकं द्वादशपदनान्दीरात्मकं मङ्गलं ग्रन्थतो निबध्नाति—**चत्वार** इति ।

अन्वयः—विद्रुमलतारक्ताङ्गुलिश्रेणयः, शोणसरोजकोरकरुचः, शार्ङ्गिणः, ते चत्वारः पाणयः श्रेयः प्रथयन्तु, ये युगपत् अब्जभुवः भालेषु पुण्यवर्णावलीः (तथा) श्रियः पयोधरयुगे गण्डद्वये च कस्तूरीमकरीः लिखन्ति ।

व्याख्या—विद्रुमलतारक्ताङ्गुलिश्रेणयः—विद्रुमस्य = प्रवालस्य, लता इव,

---

प्रवाल लता के समान लाल अंगुलियों से युक्त, रक्तकमलकली के समान

रक्ता = रक्तवर्णा अङ्गुलीना, श्रेणय = पावल्यो येषा ते तथाभूता । शोण-सरोजकोरकरुच शोणम् = रक्त, यत् सरोजम् = कमल, तस्य कोरक = कलिका, तस्येव रुक=कान्तिर्येषा ते तथोक्ता । शार्ङ्गिण —शार्ङ्गम्=तन्नाम धनु, शार्ङ्गमस्त्यस्येति शार्ङ्गी=विष्णु, तस्य (शार्ङ्ग शब्दात् 'अत इनि ठनौ' इति सूत्रेण इनि प्रत्यय)। ते चत्वार = चतु सङ्ख्याका, पाणय =हस्ता । (सामाजिकानाम्) श्रेय = श्रेयास, प्रथयन्तु = विस्तारयन्तु वर्द्धयन्त्विति यावत् । ये = विष्णो करा, युगपत् = समकालमेव, अब्जभुव = कमलयोनेर्ब्रह्मण, भालेषु = ललाटपटलेषु पुण्यवर्णावली —पुण्या = पवित्रा शुभफलद्योतिका इत्यर्थ, वर्णावली = अक्षरपटक्ती, (तथा) श्रिय लक्ष्म्या, पयोधरयुगे = स्तनद्वये, गण्डद्वये च = कपोलयुग्मे च कस्तूरीमकरी = कस्तूरीनिर्मिता विलासिसमुचिता मकरिकाकारा पत्ररचना, लिखन्ति = विरचयन्ति ।

अत्र समकालमेव ब्रह्मणश्चतुर्ष्वपि ललाटपटलेषु पुण्यवर्णावलिलेखनेन, लक्ष्म्या स्तनद्वये कुचयुग्मे च कस्तूरीमकरिकारचनेन च भगवतो विष्णोश्चतुर्णामपि कराणा सार्थकत्व द्योत्यते, यतस्तेषा चतुष्ट्वादेव युगपत्तत्र-तत्र तत्तत्कार्यकर्तृत्वसिद्धि । तथा च विष्णोस्तत्र-तत्र तत्तत्कार्यकर्तृत्वेन सर्वशक्तिमत्त्वं, भुवि 'राघव'रूपेण लीलावतार, तत्तदद्भुतकार्यसम्पादन, सीतया सह विवाहो विलासश्च सूच्यन्ते। कराणा ब्रह्मणो ललाटफलकेषु तादृशाक्षरलेखनसामर्थ्यद्योतनाय विद्रुमलतासादृश्य प्रतिपाद्य पुन कमलकोरकसादृश्य, लक्ष्म्यास्तत्तदङ्गेषु चित्ररचनोपयुक्तताद्योतनार्थं प्रतिपादित यतश्चित्ररचनाया करस्य मृदुत्व नितरामपेक्ष्यत इत्यवगन्तव्यम् । 'विद्रुमलतारक्ताङ्गुलिश्रेणय' इत्यत्र, 'शोणसरोजकोरकरुच' इत्यत्र चोपमालङ्कार. । 'शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ।

तल्लक्षण यथा—

'सूर्याश्वैर्मसजस्तता सगुरव शार्दूलविक्रीडितम्' । इति ॥ १ ॥

कान्तिवाले, भगवान् विष्णु के वे चार हाथ (सामाजिक जनके) कल्याण का विस्तार करें जो एक साथ ही पद्मयोनि (ब्रह्मा) के (चार) ललाट-पटलो पर शुभफलद्योतक वर्णावलियों को, और उसी प्रकार (एक साथ ही) लक्ष्मीजी के दोनों स्तनों एव दोनों कपोलों पर कस्तूरी से मकरिका (के आकार की पत्ररेखाओं) को लिखते हैं ॥ १ ॥

अपि च—

आकल्पं मुरजिन्मुखेन्दुमधुरोन्मीलन्मरुन्माधुरी-
धीरोदात्तमनोहरः सुखयतु त्वां पाञ्चजन्यध्वनिः।
लीलालङ्घितमेघनादविभवो यः कुम्भकर्णव्यथा-
दायी दानवदन्तिनां दशमुखं दिक्चक्रमाक्रामति ॥ २ ॥

प्रकारान्तरेण वर्त्तिष्यमाणां कथां सूचयञ्च्छङ्खवर्णनेनाङ्गिवर्णनस्य गतार्थत्वात् पाञ्चजन्यध्वनिं प्रार्थयते—आकल्पमिति।

अन्वयः—मुरजिन्मुखेन्दुमधुरोन्मीलन्मरुन्माधुरीधीरोदात्तमनोहरः, पाञ्चजन्यध्वनिः त्वाम् आकल्पं सुखयतु। लीलालङ्घितमेघनादविभवः, दानवदन्तिनां कुम्भकर्णव्यथादायी यः दशमुखं दिक्चक्रम् आक्रामति।

व्याख्या—मुरजिन्मुखेन्दुमधुरोन्मीलन्मरुन्माधुरीधीरोदात्तमनोहरः-मुरजित्= मुरनाम्नो दैत्यस्य जेता भगवान् विष्णुरित्यर्थः तस्य मुखमेवेन्दुः = चन्द्रस्ततो मधुरं यथा स्यात्तथा, उन्मीलन् = निःसरन् यो मरुत् = वायुः, तस्य माधुरी = माधुर्यम् (मधुरस्य भावः कर्मवेति माधुरी 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि चे'ति ष्यञ्, 'षिद्गौरादिभ्यश्चे'ति ङीप्, 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपः) तया धीरः = गम्भीरः, उदात्तः = सुन्दरः कर्णप्रिय इति यावदत एव मनोहरः = चित्तग्राही। पाञ्चजन्यध्वनिः पाञ्चजन्यः = तन्नामा विष्णुशङ्खः ('शङ्खो लक्ष्मीपतेः पाञ्चजन्य' इत्यमरः) तस्य ध्वनिः = शब्दः, त्वाम् = प्रत्येकं सामाजिकम्, आकल्पम् = प्रलयकालपर्यन्तम् ('प्रलयः कल्पः क्षयः' इत्यमरः) सुखयतु = सुखितं करोतु। लीलालङ्घितमेघनादविभवः—लीलया = अनायासेन क्रीडया वा लङ्घितः = तिरस्कृतः, मेघनादस्य = वारिदगर्जितस्य, विभवः = महत्त्वं, प्रभावो वा, येन तथोक्तः, पक्षान्तरे मेघनादस्य = तन्नाम्नो रावणपुत्रस्य विभवो येन तादृशः।

और भी—

भगवान् विष्णु के मुखचन्द्र से मधुरता के साथ निकलते हुए वायु की मधुरिमा से गम्भीर, सुन्दर (कर्णप्रिय) मनोहर पाञ्चजन्य शङ्ख की ध्वनि प्रत्येक सामाजिक को, कल्पपर्यन्त सुखी करे। लीलापूर्वक मेघनाद (१-मेघगर्जन २-मेघनादनामक राक्षस) के प्रभाव को तिरस्कृत करने वाली एवं दानवरूप

अन्यच्च—

नाभीपद्मवसच्चतुर्मुखमुखोद्गीतस्तवाकर्णन-
प्रोन्मीलत्कमनीयलोचनकलाखेलन्मुखेन्दुद्युति ।
सक्रोध मधुकैटभौ सकरुणस्नेह सुताम्बुधे
सोत्प्रासप्रणय सरोजवसतिं पश्यन् हरि पातु व ॥ ३ ॥

दानवदन्तिनाम्=दानवा एव दन्तिनो गजा, तेषा, कुम्भकर्णव्यथादायी—कुम्भाना= मस्तकाना, कर्णाना च व्यथादायी = पीडादायक, पक्षान्तरे तु कुम्भकर्णस्य = तन्नाम्नो रावणानुजस्य राक्षसस्य—व्यथादायी। य दशमुखम्—दशधाभिन्न दशसङ्ख्यकमित्यर्थ, पक्षान्तरे दशमुख रावणमित्यर्थ । दिक्चक्रम्=दिङ्मण्डलम्, आक्रामति = व्याप्नोति ।

अत्र 'धीरोदात्तमनोहर' इति पाञ्चजन्यध्वनिविशेषणेन प्रस्तुतनाटके धीरोदात्तो रामो नायक मेघनादकुम्भकर्णदशमुखशब्दाश्रितश्लेषमुखेन मेघनादकुम्भकर्णविनिपातपूर्वक प्रतिनायको रावणो रामेण निपातनीयश्चेति नाटकस्य वस्तुजात सूच्यते । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् । लक्षण तु प्रागेवोक्तम् ॥ २ ॥

अन्वय —नाभीपद्मवसच्चतुर्मुखमुखोद्गीतस्तवाकर्णनप्रोन्मीलत्कमनीयलोचनकलाखेलन्मुखेन्दुद्युति, मधुकैटभौ सक्रोध, अम्बुधे सुता सकरुणस्नेह, सरोजवसतिं सोत्प्रासप्रणय पश्यन् हरि व पातु।

व्याख्या—नाभीपद्म०—नाभ्याम् = नाभिकुहरे यत् पद्मम् = कमलम्, तत्र वसन् = वास कुर्वन् यश्चतुर्मुख = ब्रह्मा, तस्य मुखै, उद्गीत = गान्धारस्वरक्रमेण गीतो य स्तव = स्तोत्रम्, तस्य आकर्णनेन = श्रवणेन, प्रोन्मीलती = विकसती ये कमनीये = सुन्दरे, लोचने = नेत्रे तयो या कला = कान्ति, तया (सह) खेलन्ती = क्रीडन्ती, मुखेन्दो = मुखचन्द्रस्य द्युति कान्तिर्यस्य स,

हाथियों के कुम्भकर्ण (१–मस्तक और कर्ण, २–कुम्भकर्ण नामकराक्षस) को पीडा देने वाली जो (पाञ्चजन्य ध्वनि) दशमुख दिङ्मण्डल (१–दश दिशाओं, २–दशमुख रावण) को आक्रान्त करती है ॥ २ ॥

और भी—नाभिकमल में रहने वाले ब्रह्मा जी के (चारों) मुखों से उद्गीत स्तोत्र के सुनने से प्रफुल्लित कमनीय नेत्रों की कान्ति के साथ क्रीडा

(वक्ष्यमाणस्य हरि शब्दस्य विशेषणमेतत्) मधुकैटभौ = तन्नामानौ राक्षसौ, सक्रोधम् = सकोपम् यथा स्यात्तथा, अम्बुधेः = सागरस्य, सुताम् = पुत्रीं, लक्ष्मीमित्यर्थः, सकरुणस्नेहम् = दयास्नेहसहितं सरोजवसतिम्—सरोजे = विष्णोः नाभिकमले वसतिः = वासो यस्य तादृशं ब्रह्माणम्, सोत्प्रासप्रणयम्—अधिकहास्य-प्रीतिसहितं यथा स्यात्तथा, पश्यन् = वीक्षमाणः, हरिः = भगवान् विष्णुः, वः = युष्मान् (सामाजिकान्) पातु = रक्षतु ।

पुरा क्षीरसागरशायिनो विष्णोः कर्णमलान्मधुकैटभनामानावसुरौ सञ्जातौ । विष्णुनाभिकमलस्थितं ब्रह्माणं तौ हन्तुमुद्यतौ । तदा योगनिद्रां गतं विष्णुं जागरयितुं स योगनिद्रां तुष्टाव, तत उद्बुद्धश्च हरिस्तौ जघानेति मार्कण्डेय-पुराणस्थं वृत्तमिहानुसन्धेयम् ।

अत्र परस्परविरुद्धानां क्रोधकरुणास्नेहहास्यप्रणयानां युगपदाविर्भावेन विष्णो-रुत्कर्षः, पात्रभेदात् दर्शनभेदकथनेन यथोचितविचारशालिता च व्यज्यते । मुखेन्दुरित्यत्र रूपकालङ्कारः । एतस्मिन्नाटके पद्यद्वितयेन द्वादशपदात्मिका नान्दी प्रतिपादिता, श्लोकद्वयस्यैकैकपादस्यैकैकपदत्वात् श्लोकपादस्यापि पदशब्देन व्यवहारे नाट्यप्रदीपप्रतिपादितवाक्यं प्रमाणम् । तद्यथा—

'श्लोकपादः पदं केचित् सुप्तिङन्तमथा परे ।
परेऽवान्तरवाक्यैकस्वरूपं पदमूचिरे ॥' इति ।

उक्तञ्च नान्दीलक्षणं साहित्यदर्पणे—

'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥
माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी ।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥'

'नान्दी' इति पदस्य व्युत्पत्तिः—'नन्दयति देवादीन् स्तुत्वा, आनन्दयति च सभ्यान् स्तुतदेवप्रसादादिति नान्दी ।'—शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

करने वाली मुखचन्द्र की कान्ति से सम्पन्न हरि, मधु और कैटभ को क्रोधपूर्वक, लक्ष्मी जी को करुणा और स्नेह के साथ एवं ब्रह्मा जी को अधिक हास्य और प्रेम के साथ देखते हुए, आप लोगों की रक्षा करें ॥ ३ ॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधार —(परितो विलोक्य । सहर्षम्) अये, कथममी निजवदनशारदारविन्दनर्तितगिरिनन्दिनीनयनखञ्जनस्य निखिलमुनिजनहृदयरञ्जनस्य विकटजटापटलोत्सङ्गताण्डवितगङ्गातरङ्गनिकरस्य मन्दाकिनीचन्दनललाटिकायमानमुकुटोपनीतनूतनसुधाकरस्य त्रिभुवन-

नान्द्यन्त इति । नान्द्या अन्ते = समाप्तौ ।

सूत्रधार इति । सूत्रम् = अभिनेयसूचनं, धारयतीति सूत्रधारः = प्रधाननटः । अयमेव प्रथमं रङ्गभूमिं प्रविश्याभिनयं सूचयति । उक्तञ्च—

'नाट्यस्य यदनुष्ठानं तत् सूत्रं स्यात् सबीजकम् ।
रङ्गदैवतपूजाकृत् सूत्रधार उदीरितः ॥
वर्णनीयं कथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते ।
रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ।'

निजवदनेत्यादि । निजम् = स्वकीयम्, यद् वदनम् = आननम्, तदेव शारदारविन्दम् = शरत्कालीनकमलम्, तेन नर्तितौ = प्रवृत्तनृत्तौ कृतौ, गिरिनन्दिन्याः = पार्वत्याः नयने एव खञ्जनौ येन तस्य । निखिलमुनिजनहृदयरञ्जनस्य—निखिलाः = समग्रा ये मुनिजनास्तेषां हृदयरञ्जकस्य = हृदयाह्लादकस्य । विकटेत्यादि—विकटं = भयानकं, यत् जटापटलं = जटासमूहस्तस्य उत्सङ्गे = क्रोडे, मध्यभागे इत्यर्थः, ताण्डवितः = नर्तितः, गङ्गायाः तरङ्गाणां निकरः = समूहो येन तस्य । मन्दाकिनीत्यादि —मन्दाकिन्याः = जटापटलमध्यभागस्थायाः गङ्गायाः ललाटिका = ललाटभवोऽलङ्कारो ललाटिका (ललाटशब्दात् 'कर्णललाटात्कनलङ्कारे' इति कन् स्त्रीत्वविवक्षायां टापि, टकारोत्तर-

(नान्दी समाप्त होने पर)

सूत्रधार—(चारों ओर देखकर । हर्ष के साथ) अपने आननरूप शरत्कालीन कमल से गिरिजा के नेत्र-खञ्जनों को नचाने वाले (अर्थात् अपने मुख-कमल का दर्शन देकर पार्वती के नेत्रों को सुप्रसन्न करने वाले), सकल मुनिजनों के हृदय को आनन्दित करने वाले, (अपने) भयानक जटासमूह के मध्य में (आकाश से गिरी हुई) गङ्गा के तरङ्गसमूह का ताण्डव नृत्य कराने वाले

नलिननिर्माणनूतनबिसांकुरस्य भगवतः शङ्करस्य यात्रायां परिमिलिता एव पारिषदाः। तदेतानुपगम्य निजकलाविलोकनप्रसादाय तावदभ्यर्थयामि। (विमृश्य) अथवा किमभ्यर्थनया। यतः—

वर्तिन अकारस्येत्वम्) चन्दनरचिता ललाटिका इति चन्दनललाटिका (मध्यमपदलोपी समासः) चन्दनललाटिकावत् आचरन् इति चन्दनललाटिकायमानः ('कर्तुः क्यङ्सलोपश्च' इति क्यङ्, तदन्ताल्लटः शानच्) चन्दनललाटिकायमानो मुकुटे उपनीतः = प्रापितः, नूतनः = बालः, सुधाकरः = चन्द्रो येन तस्य। त्रिभुवननलिननिर्माणबिसाङ्कुरस्य—त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम् = लोकत्रयम्, तदेव नलिनं तस्य निर्माणे = रचनायां, नूतनबिसाङ्कुरस्य= नवीनमृणालाङ्कुरस्य, उपादानकारणस्येत्यर्थः, एतेन शिवस्य जगत्कर्तृत्वं च प्रत्याय्यते। भगवतः = ऐश्वर्यादिषड्विधशक्तिसम्पन्नस्य। तद्यथा—

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥'

शङ्करस्य, यात्रायाम् = पूजनोत्सवे ('यात्रा देवार्चनोत्सवे' इत्यमरः। पारिषदाः = परिषदि साधवः पारिषदाः = सभ्याः ('परिषद्' शब्दात् णः प्रत्ययः 'परिषदोण्यः' इत्यत्र 'परिषद' इति योगविभागात्।) परिमिलिता एव = सङ्गता एव। तत् = तस्माद्धेतोः (तदिति शब्दप्रतिरूपकमव्ययम्)। एतान् = पारिषदान्। उपगम्य, निजकलाविलोकनप्रसादाय—निजकला = स्वकीयाऽभिनयचातुरी तस्या विलोकने = दर्शने यः प्रसादः = अनुग्रहस्तस्मै। अभ्यर्थयामि = प्रार्थयामि।

(अर्थात् जटासमूह में गङ्गा के तरङ्गसमूह को इधर से उधर चारों ओर घुमते हुए चञ्चल बनाये रखने वाले), गङ्गा के, चन्दननिर्मितललाट-भूषण की तरह प्रतीयमान बालचन्द्रमा को मुकुट में रखने वाले, त्रिभुवन रूप कमल की उत्पत्ति में नवीन मृणाल के अङ्कुररूप (अर्थात् समस्त जगत् की उत्पत्ति के उपादान कारण) भगवान् शङ्कर के पूजनोत्सव में कैसे ये सभासद् मिल हो गये तो इन लोगों के पास जाकर अपनी अभिनय-कला को देखने का अनुग्रह करने के लिए प्रार्थना करता हूँ। (विचार कर) अथवा प्रार्थना की क्या आवश्यकता ? क्योंकि—

आकारेणैव चतुरास्तर्कयन्ति परेङ्गितम् ।
गर्भस्थं केतकीपुष्पमामोदेनेव षट्पदाः ॥ ४ ॥

(विलोक्य । सहर्षम्) नूनमेतदभिसन्धानादेव सामाजिक-समाजादितोऽभिवर्त्तते सखा मे रङ्गतरङ्गः

(प्रविश्य)

अन्वय —षट्पदा, आमोदेन, गर्भस्थं केतकीपुष्पम्, इव, चतुरा आकारेण एव परेङ्गितम् तर्कयन्ति ।

व्याख्या—षट्पदाः = भ्रमराः, आमोदेन = गन्धेन, गर्भस्थम् = कोशे स्थितं, नेत्रादृश्यमितिभावः । केतकीपुष्पमिव, चतुराः = निपुणाः, आकारेणैव = आकृत्यैव, परेङ्गितम् = परस्य = अन्यस्य, इङ्गितम् = आन्तरिकमभिप्रायम्, तर्कयन्ति = जानन्ति । यथा भ्रमराः सुगन्धेन कोशगतमपि केतकीकुसुममूहन्ति तथैव निपुणा जनाः (वचनमनपेक्ष्य) आकारेणैवान्यजनस्य हृदयगताभिप्राय जानन्तीति सरलार्थः । एते सामाजिका अपि अस्मदर्थना विनैवाभिनयप्रदर्शनविषयकविचारमवश्यमेव ज्ञास्यन्तीति सूत्रधारस्याभिप्रायः । अत्र दृष्टान्तोऽलङ्कारः । तल्लक्षणं साहित्यदर्पणे—'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्' इति । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ४ ॥

नूनमिति । नूनम्=निश्चयेन । एतदभिसन्धानात्—एतस्य = मदुक्तश्लोकार्थस्य, अभिसन्धानात् = ज्ञानात्, सामाजिकसमाजात्—सामाजिकानां समाजात् = सङ्घात् । अभिवर्त्तते = सम्मुखमागच्छति ।

जैसे भौंरे सुगन्ध से ही कोश में स्थित केतकी के कुसुम को (जान जाते हैं, ठीक वैसे ही) चतुर लोग आकार से ही दूसरों के मनोभाव को अनुमान से जान लेते हैं ॥ ४ ॥

(देखकर। हर्ष के साथ) निश्चय ही इसी बात को जानकर मेरा मित्र रङ्गतरङ्ग सामाजिकों के समाज से इधर आ रहा है।

(प्रवेश करके)

नटः—भाव ! इदं मन्मुखेनैव भवन्तमुदीरयन्ति सामाजिकाः। यत् किल 'अये भरताधिराज—' (इत्यर्धोक्ते।)

सूत्रधारः—(कर्णौ पिधाय) अहह ! असमञ्जसम्। असमञ्जसम्। भवतु। कार्यं तावदाकर्णयामि।

नटः—भाव ! अधुना ! मयैव भवत्सकाशादाकर्णनीयं किमिदमसमञ्जसमिति।

सूत्रधारः—नन्विदमेव। यत किल नन्दति ज्यायसि कनीयसि राज-

नट इति। नटः=अभिनेता। भाव = विद्वन् ('भावो विद्वान्' इत्यमरः)। नटस्य सूत्रधारं प्रति समुचितोक्तिरियम्। तथया साहित्यदर्पणे—'सूत्रधारं वदेद्-भाव इति वै पारिपार्श्विकः।' इति। इदम् = एतत् अये भरताधिराजेत्याकारकं वाक्यमिति भावः। मन्मुखेन = मम मुखेन, मद्द्वारेति भावः। उदीरयन्ति = कथयन्ति। अये भरताधिराज भरतानाम् = नटानामधिराजस्तत्सम्बुद्धौ ('भरता इत्यपि नटा इत्यमरः।)

'अये भरताधिराज' इति स्वप्रशंसामनुचितां मन्यमानः सूत्रधारस्ततोऽग्रे श्रोतुमनिच्छन्नभिक्षिपति—कर्णौ पिधायेति। पिधाय = आच्छाद्य। एतेन नटोक्तवाक्यस्याश्रवणीयत्वं द्योतितम्। अहह=खेदसूचकमव्ययपदमिदम्। असमञ्जसम् =अनुचितम्। सम्भ्रमे द्विरुक्तिः। सम्यक् अञ्जोऽस्येति समञ्जसम्, न समञ्जसमित्यसमञ्जसम्। 'अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः' इत्यत्र 'अच्' इति योगविभागादच्।

नट इति। आकर्णनीयम् = श्रोतव्यम्।

सूत्रधार इति। ननु = अवधारणार्थकमव्ययपदमिदम् ('प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः। ज्यायसि = ज्येष्ठे, नन्दति = जीवति, वर्तमाने

नट—भाव ! मेरे द्वारा सामाजिक लग आप से यह कह रहे हैं कि 'हे नटाधिराज!' (ऐसा आधा कहने पर)।

सूत्रधार—(कानों को ढककर) अहह ! अनुचित (है) अनुचित (है)। अच्छा, काम (तो) सुनूँ।

नट—भाव ! अब मुझे ही आप से सुनना है (कि) यह क्या अनुचित हो गया ?

सूत्रधार—अरे, यही कि ज्येष्ठ भ्राता के रहते हुए (मुझ) कनिष्ठ में

पदमुपन्यस्यते । अहं हि भरतमात्रक एव । मम पुनरग्रजन्मा गुणारामनामा राजपदभाजनम् ।

नट —कीदृग्गुणस्ते गुणारामः ?

सूत्रधार —ननु नाम्नैव दत्तोत्तरम् ।

नट —(विहस्य) कथं नाम्नैव गुणावगमः ?

सूत्रधार —अथ किम् ।

त्वा । 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सप्तमी । कनीयसि = अतिशयेन युवा अल्पो वेति कनीयान् तस्मिन् कनीयसि, मयीति शेषः । ईयसुनि प्रत्यये कृते 'युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्' इति कनादेशः । राजपदम् = भरताधिराजपदम् । उपन्यस्यते = प्रयुज्यते । मयि भरताधिराजपदं यत् प्रयुज्यते तदेवासमञ्जसमिति भावः । हि = यतः । अहं भरतमात्रक एव = अहं केवलं साधारणो नट एवास्मि । अग्रजन्मा = ज्येष्ठो भ्राता । राजपदभाजनम् = भरताधिराजपदस्य पात्रम् । तस्मिन्नेव भरताधिराजपदोपन्यासः उचितः इति भावः ।

नट इति । कीदृग्गुणः = कीदृशो गुणा यस्य स कीदृग्गुणः । तस्मिन् कीदृशा गुणाः सन्तीति नटप्रश्नस्याभिप्रायः ।

सूत्रधार इति । ननु = अवधारणार्थकमव्ययपदमिदम् । नाम्ना एव = गुणाराम इत्यभिधानेनैव दत्तोत्तरम्=उत्तरं दत्तम्, नाम्नैवोक्ता गुणा इति भावः ।

नट इति । कथम् = केन प्रकारेण । नाम्ना एव गुणावगमः = गुणानाम्, अवगमः =ज्ञानं (भवति) । सूत्रधारो गुणानां नामानुसारित्वं निर्दिशति–गुणेति ।

राजपद का प्रयोग किया जा रहा है । मैं तो (साधारण) नट मात्र ही (हूँ) । और मेरे ज्येष्ठ भ्राता गुणाराम नाम वाले राजपद के पात्र हैं ।

नट—(मैं भी तो जानूँ) आप के गुणाराम जो कैसे गुणवाले हैं ?

सूत्रधार—अरे, नाम ने ही उत्तर दे दिया है ।

नट—(हँस कर) कैसे नाम के द्वारा ही गुणों का ज्ञान होता है ?

सूत्रधार—और क्या ?

गुणग्रामाविसंवादि नामापि हि महात्मनाम् ।
यथा सुवर्णश्रीखण्डरत्नाकरसुधाकराः ॥ ५ ॥

अपि च । किमिदं गुणारामे कथं नाम्नैव गुणाद्गम इत्युच्यते ? यः खलु रतिजनकस्य राज्ञः सदसि हरचापारोपणं नाम रूपकमभिनीय

अन्वयः—हि महात्मनां नाम अपि गुणग्रामाविसंवादि, यथा सुवर्णश्रीखण्डरत्नाकरसुधाकराः ।

व्याख्या—हि = यतः, ('हि हेतावधारणे' इत्यमरः) महात्मनाम् = महान् आत्मा येषां तेषां, महासत्त्वानाम् नामापि = अभिधानमपि । गुणग्रामाविसंवादि–गुणानाम् दयादाक्षिण्यादीनां ग्रामाः समूहास्तेषामविसंवादि = अविरुद्धं (भवति) । तेषामभिधानेनैव एव गुणाः स्फुटं ज्ञायन्त इति भावः । उदाहरति–यथेति । यथा = येन प्रकारेण, सुवर्णश्रीखण्डरत्नाकरसुधाकराः–सुवर्णञ्च श्रीखण्डश्च रत्नाकरश्च सुधाकरश्चेति । सुवर्णश्रीखण्डरत्नाकरसुधाकराः (सन्ति) शोभनो वर्णो यस्य तत् सुवर्णमिति व्युत्पत्त्या सुवर्णमिति नाम काञ्चनस्य, श्रियः = शोभायाः खण्डः = अंश इति श्रीखण्ड इति व्युत्पत्त्या श्रीखण्ड इति नाम मलयचन्दनस्य, रत्नानामाकरः=आश्रय इति रत्नाकर इति व्युत्पत्त्या रत्नाकर इति नाम समुद्रस्य, सुधायुक्ताः कराः यस्य स सुधाकर इति व्युत्पत्त्या सुधाकर इति नाम चन्द्रस्य न विसंवादि (न विरुद्धम्) तद्वद् गुणानाम् आरामः = आरमणस्थानम् इति गुणाराम इति व्युत्पत्त्या गुणाराम इति नाम ममाग्रजस्य कृते न विसंवादि, तद्युक्तं 'नाम्नैव दत्तोत्तरम्' तत्साध्वेवेति भावः ॥ ५ ॥

गुणारामस्य नाम्नोऽन्वर्थत्वं प्रतिपादयति—यः खल्विति । यः = गुणारामः, रतिजनकस्य = तन्नाम्नो राज्ञः, सदसि = सभायाम्, हरचापारोपणं नाम–हरस्य=

क्योंकि महात्माओं का नाम भी गुणों के अविरुद्ध (ही) होता है । जैसे सुवर्ण (सोना), श्रीखण्ड (मलयचन्दन), रत्नाकर (समुद्र) और सुधाकर (चन्द्र नाम हैं) ॥ ५ ॥

और भी—

'नाम से ही कैसे गुणों का ज्ञान होता है' ?–गुणाराम के विषय में यह क्या कहते हो ? जिसने राजा रतिजनक की सभा में हरचापारोपण नामक नाटक का

परितुष्टेन राज्ञा समर्पितां रङ्गविद्याधराख्यातिं प्रियामिव समासादितवान् ।

नट—स पुनः सम्प्रति कं देशमभिनन्दयति ?

सूत्रधार—केनापि दाक्षिणात्येन नटापसदेन ममैवेदं गुणारामेति नामेति वदता रङ्गविद्याधराख्यातिरपहृता । तदाकर्ण्य गुणारामस्तामिव

शिवस्य चाप = धनुस्तस्य आरोपणम् = आनमनम् तदधिकृत्य कृत नाटकम्-भेदोपचारात् हरचापारोपण नाम, रूपकम् = नाटकविशेषम्, अभिनीय = प्रदर्श्य, परितुष्टेन = अभिनयकलाभि प्रसन्नेन, राज्ञा=भूपतिना रतिमनकेन, समर्पिताम्= प्रदत्ताम्, रङ्गविद्याधराख्यातिम्—धरतीति धर, रङ्गविद्याया = नाट्यविद्याया धर = ज्ञातेयर्थ इति रङ्गविद्याधर, तद्रूपा आख्याति =पदवी, ताम् । प्रियाम् = पत्नीमिव समासादितवान् = लब्धवान् ।

नट इति । अभिनन्दयति = आनन्दयति, अलङ्करोति, स गुणाराम इदानीं कुत्र वर्तते इति प्रश्नस्याशय ।

सूत्रधार इति । केनापि = अज्ञातनामधेयेन, दाक्षिणात्येन—दक्षिणा भव इति दाक्षिणात्यस्तेन (दक्षिणाशब्दात् 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्' इति त्यक्-प्रत्ययस्तस्य कित्वात् 'किति च' इत्यादेरचो वृद्धि) । नटापसदेन=नटाधमेन, रङ्गविद्याधराख्याति =रङ्गविद्याधर इति पदवी, अपहृता । अहमेव गुणारामोऽस्मीति विज्ञाप्य गुणारामेण लब्धा रङ्गविद्याधर इति पदवी स्वायत्तीकृतवानिति भाव । गायकेन = गानविद्याप्रवीणेन (सहेति पदयोगे 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति तृतीया) । मैत्रीम् = मित्रत्व, विधाय = कृत्वा, भूभुजाम् = भूपतीनाम् । रङ्गसङ्गरम्—रङ्गे=अभिनयविद्याया, सङ्गरम्=सङ्ग्राम स्पर्द्धामिति यावत् । उपसङ्क्रान्तवान्= प्रारब्धवान् ।

अभिनय कर, प्रसन्न हुए राजा के द्वारा प्रदत्त 'रङ्गविद्याधर' पदवी को प्रिया की भाँति प्राप्त किया है ।

नट—तो वे इस समय किस देश को अलङ्कृत कर रहे हैं ?

सूत्रधार—'गुणाराम' यह नाम मेरा ही है—ऐसा कहने वाले किसी दक्षिणी अधम नट ने 'रङ्गविद्याधर' इस पदवी का अपहरण कर लिया (अर्थात्

दिशं प्रचलितः। अधुना च श्रुतमस्माभिः यत् किल सुकण्ठनाम्ना गायकेन सह मैत्रीं विधाय दाक्षिणात्यानां भूभुजां सदसि तेन सह रङ्गसङ्गरमुपसङ्क्रान्तवानिति।

नटः—अहो! महानुपक्रमः।

सूत्रधारः—उचितमिदम्। यतः—

अत्र नटसूत्रधरवार्तालापे रतिजनकादिकतिपयपदविशेषैर्भरताधिराजस्य गुणारामस्य चरितेन च भाविकथासूचनं कृतम्। तदित्थम्—यथा गुणारामो रतिजनकस्य राज्ञः सदसि हरचापारोपणं नाम रूपकमभिनीय परितुष्टेन राज्ञा समर्पितां रङ्गविद्याधराख्यातिं लब्धवान्, प्रस्तुतनाटकेऽपि नायको रामो जनकस्य राज्ञः सदसि हरचापारोपणं विधाय परितुष्टेन राज्ञा समर्पितां प्रियां सीतां लप्स्यते। यथा कोऽपि दाक्षिणात्यो नटापसदो गुणारामस्य रङ्गविद्याधराख्यातिमपहृतवान् तथैव दाक्षिणात्यो रावणो रामस्य प्रियां सीतामपहरिष्यति। यथा गुणारामस्तामेव दिशं गत्वा सुकण्ठनाम्ना गायकेन सह मैत्रीं विधाय तेन नटापसदेन सह रङ्गसङ्गरमारब्धवान् तथैव नायको रामोऽपि तामेव दिशं गत्वाऽपहृतां स्वप्रियां सीतां पुनर्लब्धुं सुकण्ठेन (सुग्रीवेण) वानरराजेन सह मैत्रीं विधाय प्रतिनायकेन रावणेन सह रणक्षितौ सङ्गरं प्रारप्स्यत इति।

नट इति। अहो=विस्मयसूचकमव्ययपदमेतत्। महान्=दीर्घः, परिश्रमसाध्य इत्यर्थः। उपक्रमः = कार्यारम्भः।

'गुणाराम' नाम बताने से लोग उसी को 'रङ्गविद्याधर' कहने लगे)। यह सुनकर गुणाराम उसी दिशा की ओर चल पड़े और हमने सुना है कि इस समय सुकण्ठ नामक गायक से मित्रता कर दक्षिणी राजाओं की सभा में उस (अधम नट) के साथ उन्होंने रङ्गयुद्ध आरम्भ कर दिया है (अर्थात् अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित कर लोगों की भ्रान्ति दूर करने तथा उस दुष्ट को परास्त करने के लिए स्पर्द्धापूर्वक नाटकों का अभिनय-प्रदर्शन आरम्भ कर दिया है)।

नट—अहो! महान् श्रमसाध्य कार्य है!

सूत्रधार—यह उचित (ही) है; क्योंकि—

कीर्ति मृणालकमनीयभुजामनिन्द्र-
चन्द्रानना स्मितसरोरुहचारुनेत्राम् ।
ज्योत्स्नास्मितामपहृता दयितामिव स्वां,
लब्धु न क परमुपक्रममातनोति ॥ ६ ॥

अन्वय —मृणालकमनीयभुजाम्, अनिन्द्रचन्द्राननाम्, स्मितसरोरुहचारुनेत्रां स्वां दयितामिव परै अपहृता कीर्ति लब्धु क परम उपक्रमम् न आतनोति ।

गुणारामस्योपक्रम स्तौति-कीर्तिमिति ।

व्याख्या-मृणालकमनीयभुजाम्—मृणालौ = कमलदण्डौ, ताविव कमनीयौ = सुन्दरौ, भुजौ=बाहू यस्यास्तादृशीम । कीर्तिपक्षे (सकलभुवनव्यापित्वाद्) मृणालावेव कमनीयौ भुजौ यस्यास्तादृशीम । अनिन्द्रचन्द्राननाम्—अनिन्द्र =पूर्णप्रकाशश्चन्द्र इव आनन यस्यास्तथाभूताम् । कीर्तिपक्षे अनिन्द्र चन्द्र एवानन यस्यास्ताम् । स्मित-सरोरुहचारुनेत्राम्—स्मिते = विकसिते, सरोरुहे = कमले इव चारुणी = सुन्दरे नेत्रे यस्यास्ताम । कीर्तिपक्षे स्मिते सरोरुहे एव चारुणी नेत्रे यस्यास्ताम् । ज्योत्स्नास्मिताम्—ज्योत्स्ना = चन्द्रिका ('चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना' इत्यमर) तद्वत् स्मितम् = मन्दहासो यस्यास्ताम् । कीर्तिपक्षे, ज्योत्स्नैव स्मित यस्यास्ताम् । स्वाम् = स्वकीयाम् । दयिताम् = प्रियामिव, परै =अन्यै शत्रुभिर्वा, अपहृताम् = चोरिताम्, स्वायत्तीकृतामित्यर्थ । कीर्तिम् = ख्यातिम् । लब्धुम्=पुनरवाप्तुम् । क , परम् = उत्कृष्ट महान्तमिति यावत् । उपक्रमम् = प्रयासम् । न, आतनोति= विदधाति । सर्वो विदधात्येवेति भाव ।

अत्र दयिताऽपहरण प्रस्तुत्य भावि सीताहरण, परमुपक्रममितिपदेन सीता पुन प्रत्यावर्त्तयितु रामस्य महान् प्रयासश्च सूच्यते । प्रस्तावनाया भाविकथा-निर्देशस्याचार्यैरादिष्टत्वात् । तथा साहित्यदर्पणे—

'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिता सलाप यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यै स्वकार्योत्थै प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथ ।
आमुख तत्तु विज्ञेय नाम्ना प्रस्तावनापि सा' ॥ (६।३१-३२) '

मृणाल के समान कमनीय भुजाओं से युक्त, पूर्णचन्द्रसदृश मुखवाली, विकसित कमलों के समान सुन्दर नेत्रों से सुशोभित, चाँदनी के समान मुस्कान-वाली अपनी प्रिया के सदृश, दूसरों से अपहृत मृणालवत् कमनीय भुजाओं से

तत्कथय कार्यम् ।

नटः—इदमेव । यत् किल त्वयाभिनीयमानमवलोकयाम इति ।

प्रत्यङ्कमङ्कुरितसर्वरसावतार-
नव्योल्लसत्कुसुमराजिविराजिबन्धम् ।
धर्मेतरांशुमिव वक्रतयाऽतिरम्यं
नाट्यप्रबन्धमतिमञ्जुलसंविधानम् ॥ ७ ॥

अत्रोपमालङ्कारः । वसन्ततिलकावृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ ६ ॥

अथ प्रस्तुतनाट्यप्रबन्धं विशिनष्टि— प्रत्यङ्कमिति ।

अन्वयः—प्रत्यङ्कम् अङ्कुरितसर्वरसावतारम्, नव्योल्लसत्कुसुमराजिविराजिबन्धम्, धर्मेतरांशुमिव वक्रतया अतिरम्यम् अतिमञ्जुलसंविधानम्, नाट्यप्रबन्धम् (त्वया अभिनीयमानम् अवलोकयामः) ।

व्याख्या—प्रत्यङ्कम्—अङ्के अङ्के इति प्रत्यङ्कम् (वीप्सायामव्ययीभावः) अङ्कुरितसर्वरसावतारम्—अङ्कुरितः = प्ररूढः, सर्वेषाम् = नवानां, रसानाम् = शृङ्गारादीनां रसानाम्, अवतारः = आविर्भावो यत्र तम् । रसाभिराममिति पाठान्तरे तु अङ्कुरितैः सर्वैः रसैरभिरामं मनोहरमिति योजना । नव्योल्लसत्कुसुमराजिविराजिबन्धम्—नव्यानि = प्रत्यग्राणि, उल्लसन्ति = प्रफुल्लानि यानि कुसुमानि = पुष्पाणि तेषां राजयः = श्रेणयः, ता इव विराजिनः = शोभमानाः सुकुमारा ललिता अशिथिलाश्चेत्यर्थः बन्धाः = पदविन्यासा यस्मिन् तम् । धर्मेतरांशुमिव धर्मः = उष्णः, तदितरः = तद्भिन्नः, शीत इत्यर्थः, अंशुः = किरणो यस्य

युक्त, पूर्णचन्द्ररूप मुख वाली, विकसित कमलरूप नेत्रों से सुशोभित, चन्द्रिकारूप मुस्कान वाली कीर्त्ति को (पुनः) प्राप्त करने के लिए कौन महान् प्रयास नहीं करता (अर्थात् सब करते ही हैं) ॥ ६ ॥

तो काम बताइए ।

नट—यही कि—

प्रत्येक अङ्क में (शृङ्गारादि) सभी रसों की प्ररूढ अवतारणा से युक्त, अभिनव प्रसूनपङ्क्तियों के समान सुकुमार ललित एवम् अशिथिल पदविन्यास

सूत्रधार—तत् कथं पुनरवधारणीयं किन्नामधेयं नाटकमिति। (विमृश्य। सहर्षम्) अये कथमहं निजशिरःशेखरशयालुमपि नीलोत्पलं रत्नाकरचपलवीचिमालापरिसरे विचारयामि। नन्विहैव श्लोकेऽष्टपङ्क्तिक्रमालिखिते स्फुटमस्ति, 'प्रसन्नराघवं नाम' इति।

स घनतरांशुः = चन्द्रः, तमिव, वक्रतया = चन्द्रपक्षे कुटिलतया, नाट्यप्रबन्धपक्षे वक्रोक्तिभावनया, अतिरम्यम् = अतिशयमनोहरम्, अतिमञ्जुलसविधानम्—अतिमञ्जुलम् = अत्यन्तमनोज्ञम् ('मनोज्ञं मञ्जुलम्' इत्यमरः) सविधानम्=घटनाक्रमो यस्मिन् तम, नाट्यप्रबन्धम् = नाटकमित्यर्थः, त्वया अभिनीयमानमवलोकयाम इति पूर्वेण सम्बन्धः। प्रस्तुतनाटकस्य प्रशंसया अभिनयदर्शनाय सामाजिकानां प्रवृत्त्युन्मुखीकरणादयं श्लोकः प्ररोचना नाम भारतीवृत्तेरङ्गम्। तल्लक्षणं यथा—'अत्रोन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना'। अत्रोपमालङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ७ ॥

सूत्रधार इति। अवधारणीयम्=निश्चेयम्, ज्ञातव्यमित्यर्थः। किन्नामधेयम् किं नामधेयं यस्य तत्, किंनामकं नाटकम्। निजशिरःशेखरशयालु—निजशिरस = स्वकीयोत्तमाङ्गस्य यः शेखरः = पुष्पमाल्यम्, तस्मिन् शयालु = शयनमित्यर्थः। (शीधातोः 'शीङ्श्च' इत्यालुच्)। नीलोत्पलम् = नीलकमलम्। रत्नाकरचपलवीचिमालापरिसरे—रत्नाकरः = समुद्रः, तस्य चपलाः = चञ्चला या वीचयः = लहर्यस्तासां माला = पङ्क्तयस्तासां परिसरे = पर्यन्तभुवि ('पर्यन्तभूः परिसरः' इत्यमरः) स्वसमीपस्थितमपि दूरेऽन्विष्यामीत्यहो मे मूढता। इति भावः। नन्वित्यवधारणे। इहैव श्लोके=अस्मिन्नेव पद्ये, अष्टपङ्क्तिक्रमात् = सम्पूर्णे श्लोके समस्तवर्णानामष्टौ पङ्क्तयः, तासामाद्यवर्णग्रहणात् 'प्रसन्नराघवं नाम' इति स्फुटमस्ति। प्रसन्नराघवम्-प्रसन्नश्चासौ राघवः प्रसन्न-

वाले, चन्द्रमा के समान वक्रता (१—कुटिलता, २—वक्रोक्ति) से अत्यन्त रम्य, अत्यन्त मनोज्ञ कथानक से सम्पन्न नाटक को, आप के द्वारा अभिनीत होता, देखेंगे ॥७॥

सूत्रधार—तो फिर यह कैसे जाना जाय कि (अभिनेय) नाटक क्या है? (विचार कर। हर्ष के साथ) अरे, कैसे मैं अपने शिरोमाल्य में वर्तमान नीलकमल को भी सागर की चञ्चल लहरों की पङ्क्तियों के निकट (विद्यमान)

नटः—(तमेव श्लोकं पठित्वा। सहर्षम्) अहो! देव्याः कविकुलकुमुदविकासचन्द्रिकायाः प्रसादमहिमा सरस्वत्याः, यत्प्रसादादेवंविधाः कवीनां विचित्रमधुराः सूक्तयः समुल्लसन्ति।

सूत्रधारः—एवमेतत्। नन्वनेनैव कविनोक्तम्—

राघवः, अभेदोपचारात् नाटकमपि प्रसन्नराघवं नाम। अथवा प्रसन्नो राघवो यस्मिंस्तत्प्रसन्नराघवं नाम नाटकम्।

नट इति। कविकुलकुमुदविकासचन्द्रिकायाः—कवीनां कुलम् = समुदायस्तदेव कुमुदम् = कैरवम्, तस्य विकासे = प्रफुल्लतायां चन्द्रिकायाः = चन्द्रिकारूपायाः सरस्वत्याः प्रसादमहिमा—प्रसादः = अनुग्रहस्तस्य महिमा = महत्त्वम्। विचित्रमधुराः—विचित्राः = वैचित्र्यपूर्णाः, अष्टपङ्क्तिक्रमाल्लेखेन नाटकनामनिर्देशादिति भावः, मधुराः = माधुर्यगुणविशिष्टाः, पूर्वोक्तश्लोकरूपाः सूक्तयः समुल्लसन्ति = शोभन्ते, आविर्भवन्तीत्यर्थः।

सूत्रधार इति। नन्वित्यवधारणे। अनेनैव कविना = जयदेवेनैव, उक्तम् (अन्यत्र इति शेषः)।

सोच रहा हूँ। निश्चय ही इसी (प्रत्यङ्कमित्यादि) श्लोक में जो आठ पङ्क्तियों के क्रम से लिखित हैं, प्रसन्नराघवं नाम (नाटक) स्पष्ट है।

टिप्पणी—उक्त श्लोक के प्रत्येक पाद में चौदहवर्ण हैं। प्रत्येक पाद को दो समान भागों में विभक्त करने से सम्पूर्ण श्लोक सात-सात वर्णों से युक्त आठ पङ्क्तियों में बँट जाता है। क्रमशः प्रत्येक पङ्क्ति का प्रथम अक्षर लेकर क्रम से जोड़ने पर वह वर्णसमुदाय 'प्रसन्नराघवं नाम' हो जाता है।

नट—(उसी श्लोक को पढ़ कर। हर्ष के साथ) कवियों के समुदायरूपी कुमुदों के विकास में चन्द्रिकारूप सरस्वती देवी के अनुग्रह की महिमा आश्चर्यजनक है, जिस (सरस्वती) के अनुग्रह से कवियों की विचित्र एवं (साथ ही साथ) मधुर ऐसी सूक्तियाँ समुल्लसित होती हैं।

सूत्रधार—यह ऐसा ही है। इसी (जयदेव) कवि ने (अन्यत्र) कहा है—

वाणि ! त्वत्पदपद्मरेणुकणिका या स्वान्तभूमिं सता
सम्प्राप्ता, कवितालता परिणता सैवेयमुज्जृम्भते ।
त्वत्कर्णेऽपि चिराय यत्किसलयं सूक्तापदेशं शिरः-
कम्पभ्रंशितपारिजातकलिकागुच्छं विधत्ते पदम् ॥ ८ ॥

अन्वय — वाणि ! या त्वत्पदपद्मरेणुकणिका सतां स्वान्तभूमिं सम्प्राप्ता सा एव इयं कवितालता परिणता उज्जृम्भते । सूक्तापदेशं यत् किसलयं शिरःकम्पभ्रंशितपारिजातकलिकागुच्छं त्वत्कर्णेऽपि चिराय पदं धत्ते ।

व्याख्या — वाणि = सरस्वति ! या = अद्भुतप्रभावा त्वत्पदपद्मरेणुकणिका—तव पदे = चरणे एव पद्मे = कमले तयोः रेणुकणिका = परागकणिका सताम् = सज्जनानां सत्कवीनाम् स्वान्तभूमिम्—स्वान्तम् = हृदयम् तदेव भूमिस्ताम् = हृदयप्रदेशम् सम्प्राप्ता = गता सैव = त्वत्पदपद्मरेणुकणिकैव, इयम् = सम्प्रति विद्यमाना कवितालता—कवितैव लता कविताकलतारूपेणस्वयं परिणता-रूपान्तरं प्राप्ता सती उज्जृम्भते वृद्धिं गच्छति । सूक्तापदेशम्—सूक्तम्-सुभाषितमेव, अपदिश्यतेऽनेन अपदेशः — संज्ञा यस्य तत्, यत्किसलयम्—यस्याः = कवितालतायाः किसलयम् = नूतनपल्लवं शिरःकम्पभ्रंशितपारिजातकलिकागुच्छं—(सत्काव्यश्रवणानन्तरमभिनन्दनाय क्रियमाणः) शिरसः कम्पः-चालनम् तेन भ्रंशितः - नीचैः पातितः पारिजातस्य = सुरतरोः कलिकानाम् = कोरकाणाम् गुच्छः - स्तवको यस्मात्तस्मिन् त्वत्कर्णेऽपि = तव कर्णप्रदेशेऽपि चिराय = बहोः कालादारभ्य पदम् = स्थानम् विधत्ते कुरुते वसतीति भावः । आह्लादजनकं कविसूक्ति पारिजातकलिका गुच्छमप्यतिशेते इति ध्वन्यते पदपद्मयोः पदे पद्मत्वारोपाद्रूपकालङ्कारः । कवितायां लतात्वारोपस्य, सूक्तकिसलयत्वारोपस्य च प्रकृतार्थोपयोगित्वात्परिणामालङ्कारः । तल्लक्षणं यथा साहित्यदर्पणे—'विषयात्मतयारोप्य प्रकृतार्थोपयोगिनि । परिणामो भवेत् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८ ॥

सरस्वति ! आपके चरण कमलों की धूलि का कण जो सहृदयजनों के हृदय प्रदेश में पड़ी । वही कवितालता (के रूप में) रूपान्तरित हो बढ़ती है जिसका सूक्ति नामक किसलय सिर के कम्पन से जहाँ से पारिजात की कलियों का गुच्छा गिर गया है ऐसे आप के कान में बहुत दिनों से स्थान बनाये हुए है ॥ ८ ॥

(पुनर्विभाव्य) मम पुनः कविकमलसद्मनि मुनौ वल्मीकजन्मनि मनः कौतुकितं यस्यैकमपि वदनारविन्दमासाद्य चतुर्मुखकमलवनविहारविनोदमनुभवति भारती नाम राजहंसी।

नटः—एवमेतत्। त्रिभुवनाभोगेऽपि हि—

भास्वद्वंशवतंस-कीर्तिरमणी-रङ्गप्रसङ्गस्वनद्-
वादित्रप्रथमध्वनिर्विजयते वल्मीकजन्मा मुनिः।
पीत्वा यद्वदनेन्दुमण्डलगलत्काव्यामृताब्धेः किम-
प्याकल्पं कविनूतनाम्बुदमयी कादम्बिनी वर्षति ॥ ६ ॥

पुनर्विभाव्येति। विभाव्य = विचार्य। कविकमलसद्मनि—कमलमेव सद्म = गृहं वासस्थानमित्यर्थो यस्य स कमलसद्मा = ब्रह्मा, कवीनां कमलसद्मा, तस्मिन्। वल्मीकजन्मनि—वल्मीकात् जन्म यस्य तस्मिन्, वाल्मीकाविरयर्थः। कौतुकितम् = सञ्जातकौतुकम्। यस्य = वाल्मीकेः। भारती = सरस्वती। चतुर्मुखकमलवनविहारविनोदम्—चत्वारि मुखानि एव कमलानि तेषां वनेः=समुदाये इत्यर्थः, यो विहारः = क्रीडा, तस्य विनोदम् = आनन्दम्। अनेन ब्रह्मापेक्षया वाल्मीकेरुत्कर्षातिशयः सूच्यते।

नट इति। त्रिभुवनाभोगे = त्रयाणां भुवनानां समाहार इति त्रिभुवनम्, तस्य आभोगः = विस्तारः, परिधिरित्यर्थः, तस्मिन्।

वाल्मीकिं स्तौति—भास्वद्वंशेति।

अन्वयः—भास्वद्वंशवतंसकीर्तिरमणीरङ्गप्रसङ्गस्वनद्वादित्रप्रथमध्वनिः, वल्मीकजन्मा मुनिः विजयते। यद्वदनेन्दुमण्डलगलत्काव्यामृताब्धेः किमपि पीत्वा कविनूतनाम्बुदमयी कादम्बिनी आकल्पं वर्षति।

व्याख्या—भास्वद्वंशेत्यादिः—भास्वान्=सूर्यः, तस्य वंशे=कुले, वतंसः=अवतंसः,

(पुनः विचार कर) मेरे मन को तो कवियों के ब्रह्मा (अर्थात् उपजीव्य होने के कारण निर्माता) वाल्मीकि जी के विषय में कौतूहल है जिनके केवल एक मुखकमल को प्राप्त कर सरस्वती राजहंसी ब्रह्मा जी के चार मुखकमलों के उपवन में विहार करने के आनन्द का अनुभव करती है।

नट—यह ऐसा ही है। क्योंकि समस्त त्रिभुवन में भी—

भानुकुलभूषण (श्रीरामचन्द्र जी) की कीर्ति-नटी के नृत्यारम्भ में

(विमृश्य) मम तु रामचन्द्र एव निर्भरमानन्दितोऽयं चित्तचकोर। यत्कीर्त्तिचन्द्रिकाचुम्बितोऽयं वाल्मीकेरपि सारस्वतसागर समुल्ललास।

भूषणभूतो रामचन्द्र ('वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो ' इति 'वतंस' इत्यत्रा- वेत्युपसर्गगताद्यवर्णस्य 'वकारस्य' लोपो ज्ञेय) तस्य या कीर्त्ति , सैव रमणी = नटीत्यर्थ , तस्या यो रङ्गप्रसङ्ग = नृत्यारम्भ , तस्मिन् स्वनत = शब्दायमान यत् वादित्रम = मृदङ्गादिवाद्यम, तस्य प्रथमध्वनि = आद्यशब्द , लक्षणयाऽद्य- शब्दभूत , वल्मीकजन्मा-वल्मीकात् जन्म=प्रादुर्भावो यस्य स , मुनि =वाल्मीकि- रित्यर्थ , विजयते = सर्वोत्कर्षेण वर्तते ('विपराभ्या जे ' इत्यात्मनेपदम्) । यद्वदनेन्दुमण्डलगलत्काव्यामृताब्धे —यस्य = वाल्मीके , वदनम् = मुखमेव, इन्दुमण्डलम् = चन्द्रमण्डलम, तस्मात गलत = प्रस्रवत् यत काव्यमेवा- मृतम्, तस्याब्धि = समुद्र , तस्य किमपि = स्वल्पतम भाग, बिन्दुमात्रमित्यर्थ , पीत्वा, कविनूतनाम्बुदमया—कवय एव नूतना अम्बुदा = मेघास्तन्मयी=तत्स्व- रूपा, कादम्बिनी = मेघमाला ('कादम्बिनी मेघमाला' इत्यमर), आकल्पम् = कल्पपर्यन्तम्, (कल्पात आ 'आङ्मर्यादाभिविध्यो ' इत्यव्ययीभावसमास) वर्षति = वृष्टि करोति । यथा मेघा समुद्राज्जलमुद्धृत्य तद्वर्षन्ति, तथैव नूतना कवयो वाल्मीकिकृतरामायणमाधारीकृत्य काव्य निर्माणानन्दवृष्टि कुर्वन्तीति भाव । रूपकालङ्कार , शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ९ ॥

विमृश्येति । मम तु अय चित्तचकोर —चित्तमेव चकोर , रामचन्द्रे— राम एव चन्द्रस्तस्मिन्नेव, निर्भरम् = अत्यन्तम्, आनन्दित = मुदित । यथा चकोरश्चन्द्रे तथैव ममेदं चित्त रामचन्द्रे प्रमोदमनुभवति । यत्कीर्तिचन्द्रिका- चुम्बित —यस्य = रामस्य, कीर्तिरेव चन्द्रिका तया चुम्बित =सस्पृष्ट , वाल्मीके अपि अय सारस्वतसागर —सरस्वत्या इदमिति सारस्वतम् ('तस्येदम्' इत्यण्) =वाङ्मयम्, तदेव सागर , समुल्ललास = वृद्धि जगाम । यथा चन्द्रस्य चन्द्रिकया

शब्दायमान वाद्य के आद्यशब्दभूत वाल्मीकि मुनि सर्वोत्कृष्ट हैं जिनके मुखचन्द्र से बहने वाले काव्यामृतसागर की कुछ बूँद मात्र पीकर कवियों की नवीनमेघमाला प्रलयकाल तक वर्षा करती है ॥ ९ ॥

(विचार कर) मेरा चित्तचकोर तो रामरूपी चन्द्र में ही अत्यन्त आनन्द

सूत्रधारः—इत्यमिदम् ।

चन्द्रे च रामचन्द्रे च नारीणां च दृगञ्चले ।
नीलोत्पलसुहृत्कान्तौ कस्य नाऽऽमोदते मनः ॥ १० ॥

अपि च—झटिति जगतीमागच्छन्त्याः पितामहविष्टपात्
महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत ।
अपि कथमसौ मुञ्चेदेनं न चेदवगाहते
रघुपतिगुणग्रामश्लाघासुधामयदीर्घिकाम् ॥ ११ ॥

संस्पृष्टः सागरो वर्धते तथैव रामचन्द्रस्य कीर्त्याः संसर्गेण (वर्णनेन) वाल्मीकेः सत्काव्यं चरमोत्कर्षं गतमिति भावः ।

अन्वयः—नीलोत्पलसुहृत्कान्तौ चन्द्रे च रामचन्द्रे च नारीणां दृगञ्चले च कस्य मनः न आमोदते ।

व्याख्या—नीलोत्पलसुहृत्कान्तौ—नीलं च यत् उत्पलं=कमलं, तस्य सुहृत्=मित्रं सूर्य इत्यर्थः, तस्मात्कान्तिः = प्रभा यस्य तस्मिन् चन्द्रे, रामचन्द्रपक्षे—नीलोत्पलस्य सुहृत् = सदृशीत्यर्थः, कान्तिर्यस्य तस्मिन् रामचन्द्रे, नारीणां दृगञ्चलपक्षेऽप्येवमेव बोध्यम्, तादृशे कामिनीनां कटाक्षे च कस्य = कस्य जनस्य, मनः न आमोदते = हृष्यति, सर्वेषामेव मन आमोदत इति भावः । अत्र प्रस्तुतस्य रामचन्द्रस्य, अप्रस्तुतयोश्चन्द्रनारीदृगञ्चलयोश्च हर्षजनकत्वरूपैकधर्माभिसम्बन्धाद् दीपकालङ्कारः, तल्लक्षणं यथा—'अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते' इति ॥१०॥

अन्वयः—पितामहविष्टपात् झटिति जगतीम् आगच्छन्त्याः वाचः देव्याः महति पथि यः श्रमः समजायत, असौ रघुपतिगुणग्रामश्लाघासुधामयदीर्घिकाम् न अवगाहते चेत्, अपि एनं कथम् मुञ्चेत् ।

व्याख्या—पितामहविष्टपात्—पितामहः ब्रह्मा, तस्य विष्टपम् = लोकः,

पाता है, जिसकी कीर्तिचन्द्रिका के संसर्ग से यह वाल्मीकि का भी वाङ्मयसिन्धु वृद्धि को प्राप्त हुआ (अर्थात् विश्वविश्रुत हो गया) ।

सूत्रधार—ठीक ही है यह ।

नीलोत्पलसुहृत् (सूर्य) से प्रकाशित होने वाले चन्द्र में, नीलकमल के सदृश कान्ति वाले रामचन्द्र तथा कामिनियों के कटाक्ष में किसका मन आनन्दित नहीं होता है ? (अर्थात् सभी के मन को आनन्द मिलता है) ॥ १० ॥

और भी—ब्रह्मलोक से शीघ्र मर्त्यलोक को आती हुई सरस्वती देवी को

नट —कथं पुनरमी कवयः सर्वे रामचन्द्रमेव वर्णयन्ति ।

सूत्रधार —नाऽयं कवीनां दोषः । यतः—

स्वसूक्तीनां पात्रं रघुतिलकमेकं कलयतां
कवीनां को दोषः ? स तु गुणगणानामवगुणः ।
यदेतैर्निःशेषैरपरगुणलुब्धैरिव जग-
त्यसावेकश्चक्रे सततसुखसंवासवसतिः ॥ १२ ॥

तस्मात् ('लोको विष्टप भुवन जगत्' इत्यमरः)' झटिति = शीघ्रम्, जगतीम् = मर्त्यलोकम् आगच्छन्त्या वाचः = सरस्वत्या देव्या, महति = विस्तीर्णे पथि= मार्गे, यः श्रमः = परिश्रान्तिः, समजायत, असौ= सरस्वती देवी, रघुपतिगुण-ग्रामश्लाघासुधामयदीर्घिकाम्, रघूणां पतिः रघुपतिः = श्रीरामचन्द्रः, तस्य गुणानां ग्रामः = समुदायः, तस्य श्लाघा = वर्णनम्, सा एव सुधा = अमृतम्, तन्मयी या दीर्घिका = वापी ('वापी तु दीर्घिका' इत्यमरः) ताम्, न अवगाहते = प्रविशति, विलोडयतीत्यर्थः, चेत् = यदि, तर्हीति शेषः, अपीति शङ्कायाम् ('शङ्कासम्भावनास्वपि' इत्यमरः) एनम् = मार्गजातं श्रमम्, कथम् = केन प्रकारेण, मुञ्चेत् = अपनयेत् । अन्योऽपि श्रान्तो जनः सरसि स्नात्वा स्वपरि-श्रान्तिं दूरीकरोति । सरस्वती देवी रघुपतिगुणग्रामवर्णनेन विश्रान्तिं लभत इति भावः । अत्र रूपकालङ्कारः । हरिणीवृत्तं तल्लक्षणं यथा—'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' । इति ॥ ११ ॥

अन्वय —स्वसूक्तीनां पात्रम् एकम् रघुकुलतिलकं कलयतां कवीनां कः दोषः ? स तु अवगुणः गुणगणानाम्, यत् जगति निःशेषैः एतैः अपरगुणलुब्धैः इव एकः असौ सततसुखसंवासवसतिः चक्रे ।

व्याख्या—स्वसूक्तीनाम्=स्वसन्दर्भाणाम्, पात्रम् = भाजनम्, वर्ण्यविषय-

लम्बा मार्ग तय करने में जो श्रम हुआ, वे (सरस्वती देवी) यदि श्रीरामचन्द्रजी के गुणग्राम की प्रशंसारूप अमृतमयी बावली में स्नान न करतीं तो उस (श्रम) को कैसे दूर करतीं ॥ ११ ॥

नट—तो ये सभी कवि रामचन्द्र का ही क्यों वर्णन करते हैं ?

सूत्रधार—यह कवियों का दोष नहीं क्योंकि—

अपनी सूक्तियों का पात्र (वर्ण्य विषय) केवल श्रीरामचन्द्रजी को बनाने

अपि च। भोः!

बीजं यस्य चिरार्जितं सुचरितं, प्रज्ञा नवीनोऽङ्कुरः,
काण्डः पण्डितमण्डलीपरिचयः, काव्यं नवः पल्लवः।
कीर्त्तिः पुष्पपरम्परा, परिणतः सोऽयं कवित्वद्रुमः
किं वन्ध्यः क्रियते विना रघुकुलोत्तंसप्रशंसाफलम्॥ १३॥

मिति यावत्, एकम् = केवलम्, रघुकुलतिलकम् = रघुकुलश्रेष्ठं श्रीरामचन्द्रम्, कलयताम् = जानताम्, कुर्वतामित्यर्थः, कवीनां कः दोषः = अपराधः, न कोऽपीति भावः। स तु = सर्वेऽपि कवयः श्रीरामचन्द्रमेव वर्णयन्तीत्येवंरूपस्तु, अवगुणः, गुणगणानाम्—गुणानां गणाः तेषाम्, = दयादाक्षिण्यादीनां गुणानाम् (अस्ति इति शेषः) यत्=यस्मात्, जगति=संसारे, निश्शेषैः=समस्तैः, एतैः = दयादाक्षिण्यादिगुणैः, अपरगुणलुब्धैः अपरेषु = स्वस्मादन्येषु गुणेषु लुब्धैः एकैकशः स्वस्मादन्यैः गुणैः सह संवासे लोलुपैरित्यर्थः, एकः=अद्वितीयः, असौ=रामचन्द्रः, सततसुखसंवासवसतिः—सततम् = निरन्तरं सुखेन यः संवासः = सहवासः, तस्य वसतिः = स्थानम्, चक्रे = कृतः। एवं सकलगुणा राममेवाश्रयन्ति, कवयश्च गुणिनमेव स्वकाव्यवर्ण्यविषयं कुर्वन्तीति न हि कवीनां दोषः, अपि तु गुणगणानामेवावगुणः, श्रीरामचन्द्रवर्णने कवीनां प्रेरकत्वादिति भावः। 'अपरगुणलुब्धैरिव' इत्यत्र हेतूत्प्रेक्षाऽलङ्कारः। शिखरिणीवृत्तं, तल्लक्षणं यथा—रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी'। इति। १२॥

पूर्वोक्तमेव प्रकारान्तरेण द्रढयति—बीजमिति।

अन्वयः—चिरार्जितम् सुचरितं यस्य बीजम्, प्रज्ञा यस्य नवीनः अङ्कुरः पण्डितमण्डलीपरिचयः यस्य काण्डः, काव्यम् यस्य नवः पल्लवः, कीर्तिः यस्य पुष्पपरम्परा; परिणतः सः अयम् कवित्वद्रुमः, रघुकुलोत्संसप्रशंसाफलं विना किम् वन्ध्यः क्रियते?

व्याख्या—चिरार्जितम् = चिरकालोपार्जितम्, अनेकजन्मपरम्परासञ्चित-

---

वाले कवियों का क्या दोष है? वह अवगुण तो गुणों का है जो जगत् में समस्तगुणों ने (अपने से) अतिरिक्त गुणों के सहवास में लुब्ध-से होकर एकमात्र श्रीरामचन्द्रजी को निरन्तर सुख पूर्वक रहने का स्थान बना लिया॥ १२॥

और भी, अरे!

अनेक जन्मों का सञ्चित पुण्य, जिसका बीज (है), प्रज्ञा (नव नवोन्मेष-

नट—क पुनरस्य कवि ?

सूत्रधार —(सप्रणयकोपम्)

मित्यर्थ , सुचरितम्=सुकृत, पुण्यमित्यर्थ , यस्य=कवित्वद्रुमस्य, वीजम् = कारणम् अनेकजन्मोपार्जितपुण्यैनैव काव्ये कस्यचित् प्रवृत्तिर्भवतीति सुचरितमेव कवित्वद्रुमस्य वीजमुक्तम्, प्रज्ञा = नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा, यस्य नवीन = नूतन प्रत्यग्र, अङ्कुर = प्ररोह , पण्डितमण्डलीपरिचय —पण्डितानाम् = काव्यकोविदानाम् मण्डली = समुदाय , तस्या परिचय = सङ्गति , काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति भाव , यस्य काण्ड = स्कन्ध , वाग्यम् = रसात्मकवाक्यकदम्बकम्, यस्य नव = नूतन , पल्लव = किसलयम्, कीर्ति = सत्काव्यरचनाजन्ययश यस्य पुष्प-परम्परा=प्रसूनपङ्क्ति , परिणत = सर्वथा समृद्धि प्राप्त , स अय कवित्वद्रुम = कविकर्मवृक्ष , रघुकुलोत्तमप्रशसाफलम्–रघुकुलस्य उत्तम = भूषण श्रीरामचन्द्र इत्यर्थ , तस्य प्रशसा = गुणवर्णनम, सैव फलम, तद्विना, किमिति प्रश्ने, वन्ध्य = निष्फल क्रियते। सर्वथा समृद्धे कवित्वतरौ श्रीरामवर्णनमेव फलम्, श्रीरामगुणवर्णन विना सर्वथा समृद्धमपि काव्य निष्फलमेवेति भाव । चिरार्जित-पुण्य प्रज्ञा च पण्डितमण्डलीपरिचयश्चेतिकाव्योद्भवे हेतुरिति नाटकस्यास्य महाकवि-जयदेवस्य मतम्। *काव्यप्रकाशकारेणाचार्यमम्मटेनाप्युक्तम्—'शक्तिर्निपुणतालोक-*काव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्। काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे' इति ॥ रूप-काल्ङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम्। तल्लक्षण यथा–'सूर्याश्वैर्यदि म सजौ सततगा शार्दूलविक्रीडितम्' ॥ १३॥

शालिनी प्रतिभा) जिसका नवीन अङ्कुर (है), काव्यमर्मज्ञविद्वत्समूह का ससर्ग जिसका स्कन्ध (है), वाव्य नूतन किसलय है, कीर्ति पुष्पसमृद्धि है, सर्वथा समृद्ध वह यह कवित्व–(कविकर्म) रूपी तरु रामचन्द्रजी के गुणवर्णनरूप फल के विना क्या निष्फल किया जाता है ॥ १३ ॥

नट—तो इस (प्रसन्नराघव नामक नाटक) का कवि कौन है ?

सूत्रधार–(प्रणयमिश्रित कोप के साथ)

विलासो यद्वाचामसमरसनिष्यन्दमधुरः
कुरङ्गाक्षीबिम्बाधरमधुरभावं गमयति ।
कवीन्द्रः कौण्डिन्यः स तव जयदेवः श्रवणयो-
रयासीदातिथ्यं न किमिह महादेवतनयः ॥ १४ ॥

अन्वयः—असमरसनिष्यन्दमधुरः, यद्वाचाम् विलासः, कुरङ्गाक्षीबिम्बाधरमधुरभावं गमयति, कवीन्द्रः कौण्डिन्यः, महादेवतनयः, सः जयदेवः इह तव श्रवणयोः आतिथ्यम् किम् न अयासीत् ?

व्याख्या—असमरसनिष्यन्दमधुरः—असमाः = अनुपमाः, ये रसाः = शृङ्गारादयः, तेषां निष्यन्देन = प्रवाहेण मधुरः, यद्वाचाम्—यस्य=महाकविजयदेवस्य वाचाम् = वाणीनाम्, विलासः = विभ्रमः, आस्वाद इत्यर्थः, कुरङ्गाक्षीबिम्बाधरमधुरभावम्—कुरङ्गस्य = मृगस्येवाक्षिणी = नेत्रे यस्याः सा कुरङ्गाक्षी सुन्दरीत्यर्थः, तस्याः बिम्बम् = बिम्बफलमिव अधरः = ओष्ठः, तस्य मधुरभावम् = माधुर्यम्, गमयति = अनुभावयति । 'कुरङ्गाक्षीबिम्बाधरमधरभावम्' इति पाठान्तरे तु कुरङ्गाक्षीबिम्बाधरम् अधरभावम् = न्यूनत्वम्, गमयति = प्रापयति इत्यर्थोऽवगन्तव्यः । कवीन्द्रः = कविश्रेष्ठः, कौण्डिन्यः = कुण्डिनगोत्रोत्पन्नः, सः= विश्रुतः, महादेवतनयः = महादेवस्य पुत्रः, जयदेवः = तन्नामा कविः, इह = अस्मिन् देशे, तव श्रवणयोः = कर्णयोः, आतिथ्यम् = अतिथिभावम्, किं न अयासीत् = किं न प्राप्तवान्, अद्यावधि त्वया कर्णाभ्यां जयदेवस्य महाकवेर्नाम न श्रुतं किम् ? इति भावः । नाटकस्यादौ कविपरिचयस्यौचित्याद् गोत्रनामनिबन्धमत्र कृतं, नाट्यशास्त्रस्याप्यस्मिन् विषये निर्देशः 'गोत्रं नाम च बध्नीयात्' इति । शिखरिणीवृत्तम् ॥ १४ ॥

जिनकी वाणियों का, अनुपम (शृङ्गारादि) रसों के प्रवाह से मधुर विलास, सुन्दरी के बिम्बफलसदृश अधर के माधुर्य का अनुभव कराता है, कविश्रेष्ठ कौण्डिन्य (कुण्डिनगोत्रोत्पन्न) महादेव के पुत्र वे जयदेव जी यहाँ तुम्हारे कर्णों के आतिथ्य को क्या प्राप्त नहीं हुए (अर्थात् क्या तुमने जयदेव को नहीं सुना है) ? ॥ १४ ॥

अपि च—लक्ष्मणस्येव यस्यास्य सुमित्राकुक्षिजन्मन ।
रामचन्द्रपदाम्भोजे भ्रमद् भृङ्गायते मन ॥ १५ ॥

नट —कथमविदितचन्द्रमसश्चकोरकिशोरकस्य चरितमनुसृतोऽस्मि । तेन हि मम हस्ते निजनाटकमर्पयित्वेदमुक्तोऽस्मि—'रक्षणीयमिदं सूक्तिरत्नं चोरेभ्य.' इति । स च मया सविनयमिदमुक्त —

अन्वय —लक्ष्मणस्येव सुमित्राकुक्षिजन्मन यस्य अस्य मन रामचन्द्रपदाम्भोजे भ्रमत् भृङ्गायते ।

व्याख्या—लक्ष्मणस्येव सुमित्राकुक्षिजन्मन –सुमित्राया = दशरथपत्न्या, कविपक्षे महादेवपत्न्या, कुक्षे = गर्भात् जन्म यस्य तस्य, यस्य अस्य = महाकवेर्जयदेवस्य, मन, रामचन्द्रपदाम्भोजे–रामचन्द्रस्य पदम् = चरण एव अम्भोजम् = कमलम्, तस्मिन्, भ्रमत् = विहरत्, भृङ्गायते = भृङ्गवदाचरति (भृङ्गशब्दात् 'कर्तु क्यङ् सलोपश्च' इति क्यङ्, ङित्त्वादात्मनेपदम्) । यथा सुमित्रातनयो लक्ष्मणो रामचन्द्रचरणानुरागी तथैवास्य नाटकस्य रचयिता सुमित्राकुक्षिसम्भवो जयदेवोऽपि रामचन्द्रचरणकमलमधुप इति भाव । अत्रोपमालङ्कार । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १५ ॥

कथमिति । अविदितचन्द्रमस –न विदितश्चन्द्रमा येन तस्य, चकोरकिशोरकस्य–चकोर = चकोरनाम्ना प्रसिद्ध पक्षी, तस्य किशोरक = शावक तस्य, चरितम् अनुसृतोऽस्मि = आचरितोऽस्मि । यथा चकोरशावक स्वहृदयाह्लादक चन्द्रमस न जानाति, तथैवाहमपि स्वप्रिय कविमेकपदे विस्मृतवान्, तस्य चन्द्रविषयकमज्ञान तु बाल्यान्न हि हास्यास्पद मत्कृत कविविस्मरण हास्यजनकमेवेति भाव । सूक्तिरत्नम् = एतन्नाटकरूप सुभाषितरत्नम् ।

और भी—लक्ष्मण के समान सुमित्रा की कोख से जन्म लेने वाले जिन इन (जयदेव जी) का मन श्रीरामचन्द्र के चरणकमल में विहार करता भृङ्ग के समान आचरण करता है ॥ १५ ॥

नट—मैंने (भी) कैसे चन्द्रमा को न जानने वाले चकोरशावक के चरित्र का अनुसरण किया। उन (महाकवि जयदेव) ने मेरे हाथ में अपना नाटक अर्पित कर मुझसे कहा है कि इस सूक्तिरत्न की चोरों से रक्षा करना। तदनन्तर मैंने उनसे सविनय यह कहा—

कर्णे निधाय च पिधाय च कण्ठपीठे
धृत्वा च मूर्धनि नते हृदये च कृत्वा।
चौरापहारचकितेन चिरं मयैष
त्वत्सूक्तिमौक्तिकगणः परिरक्षणीयः॥ १६॥

अन्वयः—चौरापहारचकितेन मया एषः त्वत्सूक्तिमौक्तिकगणः कर्णे निधाय च कण्ठपीठे पिधाय च मूर्धनि धृत्वा च नते हृदये च कृत्वा चिरम् परिरक्षणीयः।

व्याख्या—चौरापहारचकितेन—चौराः = काव्यचौरा ये अन्यकृतं काव्यं स्वरचितमिति प्रथयन्ति, मौक्तिकपक्षे धनचौराः, तैः योऽपहारः = अपहरणम्, तस्माच्चकितेन=सावधानेन, मया=नटेन, एषः=मदीयहस्ते त्वया दत्तः, त्वत्सूक्तिमौक्तिकगणः = तव सूक्तय एव मौक्तिकानि तेषां गणः = राशिः, कर्णे = श्रोत्रे, निधाय=सूक्तिपक्षे श्रुत्वा संस्थाप्य, मौक्तिकपक्षे कर्णभूषणत्वेन धृत्वा च, कण्ठपीठे= कण्ठस्थाने पिधाय = सूक्तिपक्षे सङ्गोप्य, कस्याप्यग्रे प्रकाशितमकृत्वा इति भावः, मौक्तिकपक्षे हाररूपेण धृत्वा, मूर्धनि = शिरसि धृत्वा = संस्थाप्य, सूक्तिपक्षे शिरोधारणपूर्वकं समादरं कृत्वा, मौक्तिकपक्षे भूषणरूपेण शिरसि परिधाय, नते = नम्रीभूते, हृदये कृत्वा = सूक्तिपक्षे हृदये संस्थाप्य, मौक्तिकपक्षे भूषणत्वेन वक्षःस्थले धृत्वा, चिरम् = बहुकालपर्यन्तम्, परिरक्षणीयः। यथा कश्चिज्जनो मौक्तिकादि बहुमूल्यं वस्तु बहुषु स्थानेषु निधाय सावधानो भूत्वा चौरेभ्यो रक्षति तथैवाहमपि भवतो नाटकरूपं सूक्तिरत्नं बहुषु स्थानेषु निधाय काव्यचौरेभ्यो रक्षिष्यामीति भावः। समासोक्तिरलङ्कारः, तल्लक्षणं यथा—

'समासोक्तिर्समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः॥' इति।

वसन्ततिलका वृत्तं, तल्लक्षणं यथा—

'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।' इति॥ १६॥

चोरों के द्वारा (किये जाने वाले) अपहरण से सावधान मैं आप के इस सूक्तिरूप मौक्तिक समूह को कान में रख कर, कण्ठस्थान में छिपाकर, सिर पर धारण कर और विनम्र हृदय में रख कर (सर्वथा) चिरकाल तक सुरक्षित रखूंगा॥ १६॥

सूत्रधार —केयमलीकशङ्का तस्य कवे ?

सुललितवदनामुदारवृत्ता कृतिमथवा युवतिं परस्य हृत्वा।
तटमपि परमर्णवस्य गत्वा वद कतरः सुखभाजनं जनः स्यात् ॥ १७ ॥

नट —एवमेतत्। नन्वयं प्रमाणप्रवीणोऽपि श्रूयते। तदिह चन्द्रिका-

सूत्रधार इति। अलीकशङ्का = मिथ्यासन्देह, चौरभयमित्यर्थः।

अन्वयः —सुललितवदनाम् उदारवृत्ताम् परस्य कृतिम् अथवा युवतिं हृत्वा अर्णवस्य परम् तटम् अपि गत्वा कतरः जनः सुखभाजनं स्यात् ? वद।

व्याख्या—सुललितवदनाम—सुललितम्=मनोहरम्, वदनम्=मुखम् आमुखमित्यर्थः, युवतिपक्षे वदनम् = मुखं यस्यास्ताम्, 'सुललितवचनाम्' इति पाठान्तरे सुललितवाक्ययुक्ताम्, युवतिपक्षे मधुरभाषिणीमित्यर्थः। उदारवृत्ताम्—उदारम् = प्रशस्तगुणयुक्तम्, वृत्तम् = चरित्रं कथाभाग इत्यर्थः, यस्यास्ताम्, युवतिपक्षे, उदारम् = प्रशस्तम्, वृत्तम्=चरित्रं यस्यास्ताम्, परस्य=अन्यस्य, कृतिम्=रचनाम्, अथवा युवतिम् = रमणीम्, हृत्वा, अर्णवस्य = समुद्रस्य, परम् = अन्यम्, तटमपि गत्वा, कतरः = को जनः, सुखभाजनम् = सुखस्य भाजनम् = पात्रम्, सुखीत्यर्थः, स्यात् = भवेत्, वद = कथय। अनेन पद्येन रावणकर्तृकसीताहरणरूपस्य तन्मरणरूपस्य च भाविनो वृत्तस्योपक्षेपः कृत अत इदं पताकास्थानकम्। तल्लक्षणं यथा—

'यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत्' ॥ (साहित्यदर्पणे) इति।

'सुललितवदनाम्' इत्यत्र 'उदारवृत्ताम्' इत्यत्र च श्लेषालङ्कारः। 'पुष्पिताग्रा वृत्तं तल्लक्षणं यथा—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो, युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।' इति ॥ १७ ॥

नट इति। अयम् = महाकविर्जयदेवः। प्रमाणप्रवीणः—प्रमाणे=न्यायशास्त्रे,

सूत्रधार—उस कवि को (भी) यह कैसी मिथ्या शङ्का है ? क्योंकि—

मनोहर वदन (१—आमुख, २—मुख) वाली और उदार वृत्त (१—कथावस्तु, २—चरित्र) वाली दूसरे की कृति अथवा रमणी को हर कर समुद्र के परवर्ती तट पर भी जाकर कौन पुरुष सुखी रह सकेगा ? (अर्थात् कोई भी नहीं) ॥१७॥

नट—यह ऐसा ही है। ये महाकवि न्यायशास्त्र में भी प्रवीण सुने जाते हैं,

चण्डातपयोरिव कवितातार्किकत्वयोरेकाधिकरणतामालोक्य विस्मितोऽस्मि ।

सूत्रधारः—क इह विस्मयः ?

येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते ? ।
यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता-
स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः ? ॥१८॥

प्रवीणः = पटुः, तार्किकश्रेष्ठ इत्यर्थः । तत् = तस्मात् । इह = अस्मिन् जयदेवे महाकवौ । चन्द्रिकाचण्डातपयोरिव—चण्डः = तीक्ष्णः, चासावातपो घर्मः, इति चण्डातपः, चन्द्रिका = ज्योत्स्ना च चण्डातपश्चेति चन्द्रिकाचण्डातपौ तयोरिव । कवितातार्किकत्वयोः = कवित्वनैयायिकत्वयोः । एकाधिकरणताम्—एकम् अधिकरणम् = आधारो ययोस्तयोर्भाव एकाधिकरणता, ताम् । यथा चन्द्रिका तीव्रणातपश्चैकस्मिन्नेव काले नावतिष्ठेते तथैव कोमलताविशिष्टकवितायाः कर्कशताप्रधानस्य तार्किकत्वस्य चैकत्रावस्थितिर्न दृश्यते, परमस्मिन् विद्वत्प्रवरे जयदेवे द्वयोरेकत्रावस्थित्या विस्मयं गतोऽस्मीति भावः ।

सूत्रधारो नटस्य पूर्वोक्तं तमेव विस्मयं निराकरोति येषामित्यादिना ।

अन्वयः—येषाम् भारती कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती, तेषाम् कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारे अपि किम् हीयते ? यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दम् आरोपिताः तैः मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे शराः किम् न आरोपणीयाः ?

व्याख्या—येषाम्=जयदेवसदृशकवीनाम्, भारती=वाणी, कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती—कोमलम् = माधुर्यप्रसादादिगुणसमन्वितम्, काव्यम् = कवित्वम्, तस्मिन् या कौशलकला = नैपुण्यकला, तस्यां लीलावती = विलासवती (अस्ति),

तो इनमें, चन्द्रिका और प्रचण्ड आतप के समान, कविता और तार्किकता की एक एकत्र उपस्थिति देख कर विस्मित हूँ ।

सूत्रधार—इसमें कौन-सा विस्मय (है) ?

जिन (कवियों) की वाणी कोमलकाव्यविषयक नैपुण्य कला में विलासवती है, उन (कवियों) की कर्कशतर्कशास्त्र के वक्र (दुर्वेद्य) वचनों के प्रकाशन में

नट—अपि नाम स्वयमेव कविताकोविदा पारिषदा अस्य सूक्तिभिर्विनोदयिष्यन्ते ?

तेषाम् = तादृशानां कवीनाम्, कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारे—कर्कश = कठिनं, माधुर्यप्रसादादिगुणविरहितं, यस्तर्कः = प्रमाणशास्त्रम्, तस्य वक्रम् = भङ्ग्यन्तरेण कुटिलं दुर्बोधमित्यर्थः, वचनम् = वाक्यम्, तस्योद्गारे = प्रकटीकरणे अपि, किं हीयते = न कापि हानिरित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तं प्रतिपादयति—यैः = यैः जनैरित्यर्थः, कान्ताकुचमण्डले = कान्तानाम् = सुन्दरीणां, कुचयोः = स्तनयोर्मण्डलं तस्मिन्, कररुहाः = नखाः (पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री' इत्यमरः) सानन्दम् = सहर्षं यथा स्यात्तथा, आरोपिताः = स्थापिताः, तैः मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे—मत्ताः = मदसम्पन्नाः, ये करीन्द्राः = गजेन्द्राः तेषां कुम्भः = मस्तकम्, तस्य शिखरे = उपरितने भागे, किमिति प्रश्ने, शराः = बाणाः, न आरोपणीयाः = न प्रक्षेपणीयाः, काकुवशादवश्यमेव प्रक्षेपणीया इति ध्वनिः।

यथा प्रियाकुचमण्डले नखक्षतकारका जना मत्तगजेन्द्रकुम्भशिखरे शरानप्यारोपयन्ति तथैव कोमलकान्तपदावलीविरचनकुशला महाकवयः कर्कशतर्कवक्रवाक्यान्यपि विरचयितुं समर्था भवन्तीति भावः। अत्र दृष्टान्तोऽलङ्कारः तल्लक्षणं यथा—'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।' इति। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १८ ॥

नट इति। अपीति प्रश्ने, नामेति सम्भावनायाम्। कविता कोविदा—कवितायां कोविदाः = कवयः, कविताकर्तारो जना इत्यर्थः, ('सुधी कोविदो बुधः। धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः सङ्ख्यावान् पण्डितः कविः।' इत्यमरः)। पारिषदाः = सामाजिकाः।

भी कौन सी हानि है? (अर्थात् कोई हानि नहीं) जिन्होंने प्रिया के (कोमल) स्तनमण्डल में सानन्द नखक्षत किया वे (ही) मत्त गजेन्द्र के (कठोर) कुम्भस्थल पर क्या बाण नहीं छोड़ते? (अर्थात् छोड़ते हैं) ॥ १८ ॥

नट—क्या यह सम्भव है कि स्वयं ही कविता करने वाले सामाजिक जन इस (कवि) की सूक्तियों से विनोद करेंगे?

सूत्रधारः—नन्वनेनैवोक्तम्—

अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः।
निजघन-मकरन्द-स्यन्द-पूर्णालवालः
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः ? ॥ १९ ॥

नटः—अहो ! अस्य कवेः सूक्तीनां सरलता कोमलता च।

अन्वयः—स्वकीयैः वाग्विलासैः मुदम् उपयान्तः अपि कियन्तः सन्तः परभणितिषु तोषं यान्ति; निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः रसालः किम् कलशसलिलसेकम्, न ईहते ?

व्याख्या—स्वकीयैः, वाग्विलासैः-वाचाम्=वाणीनां विलासैः, कवितामिरित्यर्थः। मुदम् = हर्षम्, उपयान्तः = लभमाना अपि, कियन्तः सन्तः = कतिपये सहृदयाः, परभणितिषु—परेषाम् = अन्येषाम्, भणितिषु = सूक्तिषु, तोषम् = हर्षं, यान्ति= लभन्ते। निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः—निजः = स्वकीयो यो घनः = सान्द्रः, मकरन्दः = पुष्परसः, तस्य स्यन्देन = प्रवाहेण पूर्णम् = सम्भृतम्, आलवालम् = आवापो यस्य तथाभूतः, ('स्यादालवालमावालमावापः' इत्यमरः) रसालः = आम्रवृक्षः, कलशसलिलसेकम्—कलशस्य सलिलम्=जलम्, तस्य सेकम्=सिञ्चनम्, किमिति प्रश्ने, न ईहते = वाञ्छति ? वाञ्छत्येवेति काक्वा ध्वन्यते। यथा स्वकीयसातिशयमकरन्दपूरितेऽप्यालवाले रसालवृक्षो घटजलसेचनं वाञ्छति तथैव स्वकीयवाग्विलासैः सन्तर्पितहृदया अपि कतिपये सहृदयाः परभणितिष्वानन्दमनुभवन्तीति भावः। अत्र उधर्मवस्तुप्रतिबिम्बनाद् दृष्टान्तालङ्कारः। मालिनीवृत्तम्। तल्लक्षणं यथा—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति ॥ १९ ॥

सूत्रधार—अरे, इसी (कवि) ने कहा है—

अपने वाग्विलासों (कविताओं) से हर्ष का अनुभव करने वाले भी कतिपय सहृदय जन दूसरों की सूक्तियों में आनन्द पाते हैं। अपने अत्यधिक मकरन्द के प्रवाह से भरा हुआ आलवाल (थाला) वाला आम का वृक्ष क्या घड़े के जल से सींचे जाने की वाञ्छा नहीं करता है ? (अर्थात् वाञ्छा करता है) ॥१९॥

नट—इस कवि की सूक्तियों की सरलता और कोमलता विस्मयजननी है।

सूत्रधार —क्वचिद्वक्रता कठिनता च ।
नट —कथमेते अपि रमणीये ?
सूत्रधार —अथ किम्—

निन्द्यन्ते यदि नाम मन्दमतिभिर्वक्रा कवीना गिर
स्तूयन्ते न च नीरसैर्मृगदृशा वक्रा कटाक्षच्छटा ।
तद्वैदग्ध्यवता सतामपि मन किं नेहते वक्रता ?
धत्ते किं न हर किरीटशिखरे वक्रा कलामैन्दवीम् ॥ २० ॥

सूत्रधार —इति । वक्रता = कौटिल्यम्, लक्षणायत्व व्यञ्जनायत्व चेति भाव । कठिनता = कठोरत्वम्, दीर्घसमासत्वमिति भाव ।

सूत्रधारो वक्रताया कठिनतायाश्च रमणीयत्वमुपपादयति—**निन्द्यन्त** इत्यादिना ।

अन्वय —यदि नाम मन्दमतिभि कवीना वक्रा गिर निन्द्यन्ते, नीरसै मृगदृशाम् वक्रा कटाक्षच्छटा न स्तूयन्ते, तत् अपि वैदग्ध्यवताम् सताम् मन किम् वक्रताम् न ईहते ? किम हर किरीटशिखरे वक्राम् ऐन्दवीम् कला न धत्ते ?

व्याख्या—यदि नामेति सम्भावनायाम्, मन्दमतिभि =मूर्खै , कवीना वक्रा = कुटिला , गिर = वाच , रचना इति यावत, निन्द्यन्ते, नीरसै = अरसिकै , मृगदृशाम् = मृगस्य = हरिणस्येव दृशौ = नेत्रे यासा तासाम्, मृगाक्षीणाम्, वक्रा = कुटिला , कटाक्षच्छटा = कटाक्षदर्शनशोभा , न, स्तूयन्ते = प्रशस्यन्ते, तदपि = तथापि, वैदग्ध्यवताम्–विदग्धस्य भावो वैदग्ध्यम्, तदस्त्येषामिति वैदग्ध्यवन्तस्तेषाम्, काव्यमर्मज्ञानामित्यर्थ , सताम् = सहृदयानाम्, मन , किमिति प्रश्ने, वक्रताम् = कुटिलताम्, भङ्ग्यन्तरेण लक्षणया व्यञ्जनया चार्थप्रकाशनपरिपाटीमित्यर्थ । न ईहते=वाञ्छति । किमिति प्रश्ने, हर = शिव , किरीटशिखरे– किरीटस्य = मुकुटस्य शिखरे = उपरितने भागे, वक्राम् = कुटिलाम्, ऐन्दवीम्–

सूत्रधार—कहीं-कहीं वक्रता (कुटिलता) और कठिनता (भी) है ?
नट—क्या ये (वक्रता और कठिनता) भी रमणीय होती हैं ?
सूत्रधार—और क्या—

भले ही मन्दबुद्धि लोग कवियों की वक्र रचनाओं की निन्दा करें और अरसिक जन मृगनयनियों के कुटिल कटाक्षों के सौन्दर्य की प्रशंसा न करें,

अपि च—

अमृतजलधेः पायंपायं पयांसि पयोधरः
किरति करकास्ताराकारा यदि स्फटिकावनौ ।
तदिह तुलनामानीयन्ते क्षणं कठिनाः पुनः
सततममृतस्यन्दोद्गारा गिरः प्रतिभावताम् ॥ २१ ॥

इन्दोरियमैन्दवी ताम्, चन्द्रसम्बन्धिनीम्, इन्दुशब्दात् 'तस्येदम्' इत्यण्, 'ओर्गुणः' इति गुणः, 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादिवृद्धिश्च 'टिड्ढाणञ्०' इति ङीप् । कलाम् रेखाम्, न धत्ते = धारयति, धारयत्येवेति भावः । यथा हरो वक्रामपि चन्द्रकलां किरीटशिखरे धत्ते तथैव सहृदया जनाः वक्रामपि परकीयां सूक्तिमाद्रियन्त इति भावः । अत्र निदर्शनाऽलङ्कारः, तल्लक्षणं यथा—

'सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित् ।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना ॥' इति ।

शार्दूलविक्रीडितं वृत्तं, लक्षणं तु प्रागेवोक्तम् ॥ २० ॥

अन्वयः—अमृतजलधेः पयांसि पायम् पायम् पयोधरः स्फटिकावनौ ताराकाराः करकाः किरति यदि तत् इह क्षणम् कठिनाः पुनः सततम् अमृतस्यन्दोद्गाराः प्रतिभावताम् गिरः तुलनाम् आनीयन्ते ।

व्याख्या—अमृतजलधेः=सुधासमुद्रस्य, पयांसि=अमृतानि ('पयः कीलालममृतम्' इत्यमरः) सुधासमुद्रे जलं कुतः ? तस्मादत्र पयश्शब्देनामृतमेव ग्राह्यं तेन 'अमृतस्यन्दोद्गाराः' इति पदमपि सङ्गच्छते । पायम्पायम् = पुनः पुनः पीत्वा आभीक्ष्ण्ये णमुल्) पयोधरः = मेघः, स्फटिकावनौ=स्फटिकमयभूमौ ताराकाराः =

तथापि काव्यकलामर्मज्ञ सहृदयजनों का मन क्या वक्रता को नहीं चाहता ? (अर्थात् चाहता ही है) । क्या शिव जी (अपने) मुकुट के अग्रभाग पर चन्द्रमा की वक्र कला को नहीं धारण करते हैं ? (अर्थात् धारण करते ही हैं) ॥ २० ॥

और भी—

यदि अमृतसिन्धु के अमृत (तद्रूप जल) को बारम्बार पीकर मेघ स्फटिकमय भूमि पर ताराओं के आकार के ओलों की वृष्टि करे तो इस (काव्य) में

ताराङ्गना करका = वर्षोपलान् किरति = वपति यदि = चेत् तत् = तर्हि, इह = अत्र विषय क्षणम = किञ्चित्कालम कठिना = असुगमा, पुन = भूय अवधानपूर्वक विवचन कृत सत्यात्य, सततम् = निरन्तरम्, अमृतस्यन्दोद्गारा - अमृतस्य स्यन्द - प्रवाह इव उद्गार = अभिप्रायो यासा ता पीयूषवर्षिण्य इत्यर्थ, प्रतिभावताम = प्रतिभा = नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा साऽस्त्येषामिति प्रतिभावन्तस्तेषाम, कवित्वशक्तिमतामित्यर्थ, गिर = वाण्य, सूक्तय इत्यर्थ, तुलनाम = सादृश्यम आनायन्त = प्राप्यन्त। यथा प्राक्कठोरा अपि वर्षोपला स्फटिकभमौ पतितवाद्रवन्ति तथैव प्रतिभाशालिना कवीना कठिना अपि सूक्तय सहृदयहृदय प्राप्य परमानन्दमनुभावयन्ति इति भाव। सम्भावनालङ्कार। तल्लक्षणमुदाहरणञ्च यथास्यैव महाकवश्चन्द्रालोके—

सभावन यदीत्थ स्यादित्यूहोऽन्यप्रसिद्धय।
सिक्त स्फटिककुम्भान्त स्थितिश्वेतीकृतैर्जले॥
मौक्तिक चल्लता सूते तत्पुष्पैस्ते सम यश। इति

साहित्यदर्पणकारदृष्ट्या त्वत्रासम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिरलङ्कार। यत स्तेनोक्तम्—असम्बन्ध सम्बन्धो यथा—

यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम्।
तदोपमीयते तस्या वदन चारुलोचनम॥
अत्र यद्यर्थबलादाहृतन सम्बन्धेन सम्भाव्यया सम्बन्ध' इति।

थोडे समय तक कठोर (प्रतीत होने वाली) फिर निरन्तर अमृत की वर्षा करने वाली, प्रतिभाशाली कवियों की वाणियां (अर्थात रचनाएँ) उपमा को प्राप्त करायी जा सकती है।

विमर्श—कवि के कहने का अभिप्राय यह है कि यदि अमृतबिन्दु के अमृत रूप जल को बारम्बार पाकर मेघ उन ओलों के रूप में बरसाये तो उस समय थोड़ी देर तक तो वे (ओले) दमन में कठोर अवश्य प्रतीत होंगे किन्तु जब वे पिघलने लगेंगे उस समय उन्हें चखने वाले को निस्सन्देह अमृत का ही स्वाद मिलेगा। ठीक यही स्थिति प्रतिभाशाली कवियों की रचनाओं की भी है। प्रथम दृष्टि में तो कठोर अवश्य प्रतीत होती हैं किन्तु थोड़ी देर तक अवधान-

नटः—नूनमस्य कवेः किमपि कौतुकप्रमोदमेदुरमन्तःकरणं, यदेवंविधाः सरसशीतलाः सूक्तयः समुल्लसन्ति ।

सूत्रधारः—उचितमिदम् ।

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः, कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः, कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः ।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः,
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय ॥ २२ ॥

हरिणीवृत्तं तल्लक्षणं यथा—'रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी मता' इति ॥ २१ ॥

नट इति । नूनम् = अवश्यमेव । किमपि = अनिर्वचनीयम् । कौतुकप्रमोदमेदुरम्—कौतुकम् = कुतूहलम्, प्रमोदः = हर्षश्च, ताभ्यां मेदुरम् = परिपूर्णम् । सरसशीतलाः = सरसाः = मधुराः, शीतलाः = हृदयाह्लादिकाश्च । समुल्लसन्ति = प्रादुर्भवन्ति यस्या इति ।

अन्वयः—यस्याः चोरः चिकुरनिकुरः, मयूरः कर्णपूरः, भासः हासः, कविकुलगुरुः कालिदासः विलासः, हर्षः हर्षः, बाणः हृदयवसतिः पञ्चबाणः (अस्ति) कथय, एषा कविताकामिनी केषाम् कौतुकाय न (भवति) ।

व्याख्या—यस्याः = कविताकामिन्याः, चोरः = चोराभिधेयश्चौरपञ्चाशिकासंज्ञकखण्डकाव्यरचयिता कविः, चिकुरनिकरः = केशपाशः, मयूरः =

पूर्वक विवेचन एवं मनन करने पर जब उनका अर्थावबोध होने लगता है तब पाठक को काव्यामृत का निरन्तर आनन्द मिलता है ॥ २१ ॥

नट—निस्सन्देह इस कवि का, कुतूहल एवं हर्ष से भरा हुआ अनिर्वचनीय (विलक्षण) हृदय है, जो (इनकी) ऐसी सरस एवम् हृदय को प्रसन्न करने वाली सूक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं ।

सूत्रधार—यह उचित (ही) है ।

जिस (कविता कामिनी) के (चौरपञ्चाशिका काव्य के प्रणेता, सुन्दरोपनामक महाकवि) चोर केशपाश, (सूर्यशतक के रचयिता महाकवि) मयूरभट्ट कर्णभूषण, (स्वप्नवासवदत्तादि तेरह नाटकों के कर्ता प्रसिद्ध

अपि च—

न ब्रह्मविद्या न च राजलक्ष्मी-
स्तथा यथेयं कविता कवीनाम्।
लोकोत्तरे पुंसि निवेश्यमाना
पुत्रीव हर्षं हृदये करोति॥ २३॥

मयूरनामा सूर्यशतकमिति स्तोत्रग्रन्थस्य कर्ता कविः, कर्णपूरः = कर्णभूषणम्, भासः = भासनामा महाकविः हासः = स्मितम्, कविकुलगुरुः = कवीनां कुलस्य = समुदायस्य गुरुः, कविश्रेष्ठ इत्यर्थः, कालिदासः = रघुवंशाद्यनेकग्रन्थकर्ता विश्वविश्रुतो महाकविः, विलासः = विभ्रमः, हर्षः = श्रीहर्षो नाम कविः, नैषधीयचरितमिति महाकाव्यस्य प्रणेता, हर्षः = हसितम्, बाणः = बाणभट्टनामा महाकविः कादम्बर्यादिरचयिता, हृदयवसतिः–हृदये = मनसि वसतिः = वासो यस्य सः, पञ्चबाणः = पञ्च बाणा यस्य सः, काम इत्यर्थः (अस्ति) कथय = वद, एषा = एतादृशी कविताकामिनी केषाम् = सहृदयजनानाम्, कौतुकाय = कौतूहलाय, मनोविनोदाय न (भवति) अपि तु सर्वेषां मनोविनोदाय भवति। अत्र रूपकालङ्कारः। मन्दाक्रान्ता वृत्तं, तल्लक्षणं यथा–'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्'। इति॥ २२॥

अन्वय—कवीनाम् इयम् कविता लोकोत्तरे पुंसि निवेश्यमाना यथा पुत्रीव हृदये हर्षं करोति तथा न ब्रह्मविद्या न च राजलक्ष्मी (हर्षं करोति)।

व्याख्या—कवीनाम् इयं कविता लोकोत्तरे = असाधारणे रामादाविषये,

नाटककार) माघ हास, कविकुलगुरु (रघुवंशादि ग्रन्थों के प्रणेता विश्वश्रुत) कालिदास विलास, (नैषधीयचरित नामक महाकाव्य के रचयिता) श्री हर्ष हर्ष, मन में बसने वाले (कादम्बर्यादिग्रन्थनिर्माता महाकवि) बाणभट्ट काम हैं, (भला) कहो ऐसी कविताकामिनी किन (सहृदयों) के कौतुक (मनोविनोद) के लिए नहीं (होती है)? (अर्थात् सभी सहृदयों के कौतुक के लिए होती है)॥ २२॥

और भी—

कवियों की यह कविता असाधारण पुरुष (श्रीरामचन्द्रादि) में प्रयुक्त की

(नेपथ्ये)

साधु भोः ! कुशीलवोत्तंस ! साधु ।

पुंसि =पुरुषे निवेश्यमाना = सयुज्यमाना (सती) यथा=येन प्रकारेण पुत्रीव = स्वकीयकन्येव हृदये हर्षम् = आनन्दम्, करोति = विदधाति जनयतीत्यर्थः, तथा= तेन प्रकारेण न ब्रह्मविद्या = अध्यात्मविद्या, वेदान्तरूपं ब्रह्मप्रतिपादकशास्त्रम, न च राजलक्ष्मीः (हृदये हर्षं करोति) यथा सत्पात्राय दत्ता कन्या पितुर्हृदय हर्षं जनयति तथैव असाधारणपुरुषवर्णने संयुज्यमाना कवीनामियं कविता तेषा हृदये यथाऽऽनन्दं करोति तथा न ब्रह्मविद्या न च राजलक्ष्मीः (हृदये हर्षं करोति) इति भावः । अनेन जनककृतं कन्यादानायोजनं सूचितं भवति । नाटकस्येदं मुख्यफलप्रथमहेतुरूपं बीजम् । उक्तञ्च साहित्यदर्पणकारेण–'अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति । फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजमित्यभिधीयते ॥' इति अत्रोपमा-लङ्कारः। प्रथमतृतीयचतुर्थचरणेष्विन्द्रवज्रावृत्तं तल्लक्षणं यथा—'स्यादिन्द्र-वज्रा यदितौ जगौगः' । इति । द्वितीयेचरण उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' । इति । द्वयोर्मिथः सम्मिश्रणा-दुपजातिवृत्तम् ॥ २३ ॥

नेपथ्ये = वेशरचनास्थाने । 'रङ्गभूमेर्बहिःस्थानं यत्तन्नेपथ्यमुच्यते' । इति भरतः । कुशीलवोत्तंस–कुशीलवाः = नटा , तेषामुत्तंसः = मुकुटमणिस्तत्सम्बुद्धौ, नटश्रेष्ठ ! सूत्रधार इति । याज्ञवल्क्यस्य = तन्नाम्नो महर्षेः । अन्तेवासी = छात्रः, शिष्य इत्यर्थः, (छात्रान्तेवासिनौ' इत्यमरः), अनवलोकनीयचतुर्थवर्णस्य— अनवलोकनीयः = द्रष्टुमनर्हः, चतुर्थो वर्णः = शूद्र इत्यर्थः यस्य तस्य । परतः = अन्यत्र ।

जाने पर पुत्री के समान हृदय में जैसा हर्ष उत्पन्न करती है, वैसा न (तो) वेदान्तरूप ब्रह्मप्रतिपादकशास्त्र और न राजलक्ष्मी ही हर्ष उत्पन्न करती है। (अर्थात् जैसे सत्पात्र वर को सौंपी गयी कन्या पिता के हृदय में हर्ष उत्पन्न करती है वैसे ही श्रीरामचन्द्रादि श्रेष्ठ पुरुषों के वर्णन मे प्रयुक्त कविता कवि के हृदय में प्रसन्नता उत्पन्न करती है।) ॥ २३ ॥

(नेपथ्य में)

नटशिरोमणे ! बहुत खूब ! बहुत खूब !

सूत्रधार —कथमय भगवतो याज्ञवल्क्यस्य प्रियोऽन्तेवासी दाल्भ्यायन इत एवाभिवर्त्तते। तदस्याऽनवलोकनीयचतुर्थवर्णस्य पुरतः स्थातुमनुचितमस्माकम्। तदेहि। परतो गच्छाव। (इति निष्क्रान्तौ)

इति प्रस्तावना

(प्रविश्य)

दाल्भ्यायन —(तमेव श्लोकं पठित्वा) (साकूतम्) साधूक्तमनेन।

प्रस्तावना = नाटकस्य भागविशेषो यत्र नटी, विदूषको वा पारिपार्श्विको (सूत्रधारस्य सहायको नटः) वा सूत्रधारेण सहैतादृशैः स्वस्वाभिप्रायसूचकैर्विचित्रविचित्रवाक्यैः सलापं कुरुते यैः प्रस्तुताभिनयस्याक्षेपो भवति। उक्तं च साहित्यदर्पणे विश्वनाथकविराजेन—

'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः सलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥' इति।

प्रस्तावना पञ्चविधा, तत्रेयं कथोद्घातो नाम द्वितीया प्रस्तावना, सूत्रधारवचनश्रवणानन्तरमेव पात्रप्रवेशात्। तल्लक्षणं यथा—

'सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमेव वा।
भवेत्पात्रप्रवेशश्चेत्कथोद्घातः स उच्यते॥' इति।

दाल्भ्यायन इति। तमेव श्लोकम् = सूत्रधारपठितं 'न ब्रह्मविद्या न च राजलक्ष्मीरित्यादिश्लोकम्। सकलेत्यादि—सकला = समस्ता ये

सूत्रधार—क्या ये भगवान् याज्ञवल्क्य के प्रियशिष्य दाल्भ्यायन इसी ओर आ रहे हैं ? तो शूद्र को न देखने वाले इनके सामने हम लोगों का रहना उचित नहीं, अतः आओ दूसरी ओर चलें। (इस तरह दोनों चले गये)

(प्रस्तावना समाप्त)

(प्रवेश कर)

दाल्भ्यायन —(उसी श्लोक को पढ़कर) (अभिप्रायपूर्वक) इस (सूत्रधार) ने ठीक (ही) कहा है। जैसे कि–इन महाराज जनक ने भी

तथाहि—भूपतिरयं जनकोऽपि सकललोकलोचनारविन्दे क्वचिदपि पुरुषप्रकाण्डे निजां कन्यां समर्पयितुकामोऽस्मद्गुरूपदिष्टायां ब्रह्मविद्यायां कुलक्रमागतायां राजलक्ष्म्यां च शिथिलादरः संवृत्तः। (पुनः कर्णं दत्वा) कथमयमाकाशे वीणाध्वनिः श्रूयते। तन्नूनमस्मद्गुरुसमभ्यागच्छता समीरसंघट्टनकलक्वणद्वल्लकीगुणेन देवर्षिणा नारदेन भवितव्यम् (विलोक्य) कथं ध्वनिसादृश्येन प्रतारितोऽस्मि। नन्वयं गगनतलावलम्बिनोर्मधुकरयोरेव ध्वनिराकर्ण्यते ! (पुनः कर्णं दत्वा, सहर्षविस्मयम्) अहो ! भगवतो योगीश्वरस्य प्रसादमहिमा, येनाऽहमेवं-

लोकाः = जनाः, तेषां लोचनानाम् अरविन्दे = कमले, कमलवदाह्लादक इति भावः। 'सकललोकलोचनारविन्दमार्तण्डे' इति पाठान्तरे सकललोकलोचनान्येवारविन्दानि तेषां मार्तण्डे = सूर्ये, सकललोकलोचनानन्ददायके इत्यर्थः। पुरुषप्रकाण्डे = नरश्रेष्ठे, निजाम् = स्वकीयाम्, कन्याम् = सीतामित्यर्थः, समर्पयितुकामः—समर्पयितुं कामः = इच्छा यस्य सः, (तुं काममनसोरपि' इति मलोप) अस्मद्गुरूपदिष्टायाम् = अस्माकं गुरुः = आचार्यः, याज्ञवल्क्य इत्यर्थः, तेनोपदिष्टायाम्, ब्रह्मविद्यायाम् = वेदान्तरूपे ब्रह्मप्रतिपादके शास्त्रे. कुलक्रमागतायाम्—वंशपरम्परया प्राप्तायाम्, शिथिलादरः = शिथिलः = मन्दः, आदरो यस्य सः, संवृत्तः = जातः। कन्योद्वाहसम्पादने व्यापृतो जनको ब्रह्मविद्यायां राजलक्ष्म्यां चौदासीन्यं गतः सम्प्रतीति भावः। समीरसंघट्टनकलक्वणद्वल्लकीगुणेन—समीरः = वायुस्तस्य संघट्टनम् = सङ्घर्षणम्, तेन कलम् मधुरं यथा स्यात्तथा-

सकलजनों के नेत्रों के कमलस्वरूप (अर्थात् आह्लादक) किसी पुरुषश्रेष्ठ (के हाथों) में अपनी कन्या (सीता) को सौंप देने की इच्छा से हमारे गुरु (याज्ञवल्क्य जी) के द्वारा उपदिष्ट ब्रह्मविद्या तथा कुल परम्परा से चली आई हुई राजलक्ष्मी के विषय में आदर कम कर दिया है (फिर कान लगाकर) यह आकाश में कैसे वीणा की ध्वनि सुनाई पड़ रही है। तो अवश्य ही हमारे गुरु जी के पास आते हुए, वायु के झोंकों के धक्के से मधुर झङ्कार करने वाले तारों वाली वीणा से युक्त देवर्षि नारद को होना चाहिए। (देखकर) ध्वनि की समानता से कैसे मैं धोखा खा गया। निश्चय यह आकाश में उड़ने वाले दो

विधानामपि वचनावबोधमधुरां सिद्धिमासादितवानस्मि । तदाकर्णयामि किमेतावालपतः ? (कर्णं दत्त्वा) एकः किमाह—सखे कलालाप ! कुत आगतोऽसि ? अपरः किमाह—वयस्य ! मधुरप्रिय ! सन्ततविकस्वराच्चन्द्रमौलिमन्दाकिनीकुमुदकाननात् अहो । अनयोश्चतुरालापपेशलता रुचिरनामधेयता च । (पुनः कर्णं दत्त्वा) किमाह—मधुरप्रिय—अस्ति नवीनः कोऽपि वृत्तान्तः ? किमाह कलालापः—अस्ति । अचिरमेव कदापि खलु बलिनन्दनो बाणासुरः कमलमालया भगवन्तमिन्दुमौलिमभ्यर्च्य सविनयमिदमूचिवान् । यत् किम् भगवन्—

क्वणन्ती = शब्दायमाना, वल्लक्या = वीणायाः गुणाः = तन्तवः, तन्त्य इत्यर्थः यस्य तेन, प्रतारितः = वञ्चितः । योगीश्वरस्य = याज्ञवल्क्यस्येत्यर्थः, प्रसादमहिमा = अनुग्रहमाहात्म्यम् । एवंविधानामपि = खगादीनामित्यर्थः, वचनावबोधमधुराम् = वचनस्य अवबोधः = ज्ञानम् तेन मधुराम् = रुचिराम्, आसादितवान् = प्राप्तवान् । सन्ततविकस्वरात्—सन्ततम्-निरन्तरम्, विकस्वरात्= विकासशीलात्, चन्द्रमौलिमन्दाकिनीकुमुदकाननात्—चन्द्रः मौलौ यस्य स चन्द्रमौलिः—शिव इत्यर्थः, तस्य या मन्दाकिनी = गङ्गा, तस्याः कुमुदकाननात्= कैरवाणां वनात् (शिवस्य मौलौ चन्द्रस्य सत्त्वात्कुमुदकाननस्य सन्ततविकस्वरत्वमित्यभिप्रायेण । 'चन्द्रमौली'ति पदस्य विन्यास इति बोध्यम् ।) चतुरालापपेशलता—चतुरः = चातुर्यपूर्णो यः आलापः = सम्भाषणम् तस्मिन् पेशलता =

भौंरों की ही ध्वनि सुनाई पड़ रही है । (पुनः कान लगाकर, हर्ष और विस्मय के साथ) भगवान् योगीश्वर (याज्ञवल्क्य) की कृपा की कैसी आश्चर्यजनक महिमा है जिससे मैंने इस तरह के (प्राणियों के) भी वचनों से (अभिप्राय) समझने की स्पृहणीय सिद्धि प्राप्त की है । तो सुनता हूँ कि ये दोनों क्या बातचीत कर रहे हैं । (कान लगाकर) एक ने क्या कहा—'मित्र कलालाप ! कहाँ से आये हो ?' दूसरे ने क्या कहा—'मित्र मधुरप्रिय ! सतत खिले रहने वाले शिव की गङ्गा के कुमुदवन से (आया हूँ) ।' इन दोनों की चातुर्यपूर्ण बातचीत की दक्षता और स्पृहणीय नामधेयता (संज्ञा अर्थात् नाम) कितनी अच्छी है ! (फिर कान लगाकर) मधुरप्रिय ने क्या कहा—कोई नवीन समाचार है ?

कैलासाधिकसारं किमस्ति वस्तु महीतले ।
यस्मिन्सफलतामेति मम दोर्दण्डमण्डलम् ॥ २४ ॥

ततश्च विहस्येदमाह च भगवानिन्दुमौलिः—

अस्ति मे कार्मुकं दिव्यं न्यस्तं जनकभूभुजि ।
यस्य बाणानले तिस्रः पुरः प्राप्ताः पतङ्गताम् ॥ २५ ॥

दक्षता (दक्षे तु चतुरपेशलपटवः' इत्यमरः) रुचिरनामधेयता—नामधेयस्य भावो नामधेयता, रुचिरा चासौ नामधेयतेति रुचिरनामधेयता = स्पृहणीयाभिधानता । ऊचिवान् = अवोचत् ।

अन्वयः—महीतले कैलासाधिकसारम् किम् वस्तु अस्ति यस्मिन् मम दोर्दण्डमण्डलम् सफलताम् एति ।

व्याख्या—महीतले = भूतले, कैलासाधिकसारम्—कैलासः=रावणेनानाया समुत्तोलितः=कैलासपर्वतः, तस्मादधिकः सारः=भारो यस्य तत्, किं वस्तु, अस्ति= विद्यते, यस्मिन्=यस्योत्तोलनयेति भावः, मम, दोर्दण्डमण्डलम् — दोषः=बाहव एव दण्डाः, तेषां मण्डलम् = समुदायः, सफलतामेति = सार्थक्यं प्राप्नोति । विंशति-भुजेन रावणेनानायासमुत्तोलितात् कैलासादधिकसारवस्तु समुत्तोलनेनैव मदीय-भुजसहस्रस्य सार्थक्यसम्भावनेति भावः ॥ २४ ॥

अन्वयः—जनकभूभुजि न्यस्तम् मे दिव्यम् कार्मुकम् अस्ति, यस्य बाणानले तिस्रः पुरः पतङ्गताम् प्राप्ताः ।

व्याख्या जनकभूभुजि—भुवं भुनक्तीति भूभुक्, जनकश्चासौ भूभुक् = नृपः, तस्मिन्, जनकस्य सदनेत्यर्थः, न्यस्तम्=स्थापितम्, मे=मम, दिव्यम्=अलौकिकम्, कार्मुकम् = धनुः ('धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्' इत्यमरः) कैलासा-

कलालाप ने क्या कहा—'है । अभी कुछ पहिले ही किसी समय बलि के पुत्र बाणासुर ने कमलों की माला से भगवान् शङ्कर की पूजा कर सविनय यह कहा कि भगवन्—

भूतल पर कैलास (पर्वत) से भी अधिकतर भार वाली कौन सी वस्तु है जिसमें (अर्थात् जिसे उठाकर) मेरा भुजमण्डल सफलता प्राप्त करे ॥ २४ ॥

और उस पर भगवान् शंकर ने हँसकर यह कहा—

राजा जनक के यहाँ रखा हुआ मेरा दिव्य धनुष (कैलास से भी गुरुतर)

तदाकर्ण्य च तत्कार्मुकं विलोकयितुं स तत्र गतः । अहमिहागतः । कुतः पुनस्त्वमिह ? कथय, कीदृशो वा तत्र नवीनो वृत्तान्तः ? इति । किमाह मधुरप्रियः—अहमागतोऽस्मि नन्दनवनात् । अथ च तत्र मया लङ्केश्वरानुचरस्य गर्जितमाकर्णितम्—आः कथं रे नन्दनवनस्य रक्षिणः ! अनर्चितचन्द्रचूडः एव निशाचरचक्रवर्तिनि लूनसकलप्रसूनं नन्दनवनमिति । ततस्तैरिदमुक्तो निशाचरः—श्रूयतामेतत् । अद्य हि जनकराजकन्यकावीरस्वयंवरविलोकनकुतुकिनः सकलसुरलोकाविमान-

---

धिकमारमिति नाप, अस्ति = विद्यते यस्य = मदीयकार्मुकस्य बाणानल = बाण एवानल = अग्नि तस्मिन् निखं = निखिलानि पुरं = नगराणि (अत्र 'पुर' इति पद पुरशब्दस्य प्रथमाबहुवचन रूप बोध्यम ।) पतङ्गता=पतङ्गभावम प्राप्ता = गता, यथाऽग्निनाऽनायासं शलभा दह्यन्ते तथैव मदीयतत्कार्मुकप्रक्षिप्तेन शरेण त्रिपुरासुरस्य त्रीण्यपि नगराणि विनष्टानि इति भाव । अनुष्टुब्वृत्तम ॥२५॥

तदाकर्ण्येति—स = बाणासुर । नन्दनवनात् = इन्द्रस्योपवनात् । लङ्केश्वरानुचरस्य—लङ्केश्वर = लङ्काधिपति रावण इत्यर्थ तस्यानुचर = सेवक, तस्य । निशाचरचक्रवर्तिनि—निशाचराणाम = राक्षसाना चक्रवर्ती = सम्राट् तस्मिन रावण इति भाव । अनर्चितचन्द्रचूडे— न अर्चित = पूजितश्चन्द्रचूड = चन्द्रशेखर शिव इत्यर्थ येन तस्मिन (यस्य च भावेन भावलक्षणम् इति सप्तमी) । लूनसकलप्रसूनम—लूनानि = छिन्नानि सकलानि = समग्राणि प्रसूनानि = पुष्पाणि यस्य तत । जनकराजेत्यादि—जनकराजस्य या कन्यका = सीता तस्या वीरस्वयंवर = स्वयंकृतवीरपतिवरणम, तस्य विलोकन = दर्शन कुतुकिन - समुत्सुका सकला सुरलोका = देवगणा, तथा विमानानि=

है जिसके शरानल में (त्रिपुर नामक राक्षस के) तीनो पुर शलभ भाव को प्राप्त हो गये (अर्थात शलभो के समान जल कर नष्ट हो गये) ॥ २५ ॥

यह सुनकर उस धनुष को देखने वह (बाणासुर) वहाँ (जनकपुर) चला गया । मैं यहाँ आ गया । अच्छा तुम यहाँ कहाँ से (आये हो) ? और कहो, वहाँ कैसा नवीन समाचार है ? मधुरप्रिय ने क्या कहा —"मैं नन्दन वन से आया हूँ, और वहाँ मैंने लङ्केश्वर (रावण) के अनुचर की गर्जना सुनी—

मण्डनाय महान् कुसुमोपयोगः'। तदाकर्ण्य चेममेव वृत्तान्तमुपायनीकरोमि लङ्केश्वरस्येति प्रचलितो निशाचरः। अहमपि कौतुकादिहागतोऽस्मि। (सविषादम्) अहो! महाननर्थाङ्कुरोद्भेदो यदयं बाणरावणयोः कर्णान्तिकमपि विश्रान्तः सीतास्वयंवरवृत्तान्तः। अथवा। अलमतिकातरतया। भ्रमारोपिता अपि भ्रमरोक्तयः संभवन्ति। (विमृश्य) कुतो वा भ्रमरसम्भावना।

व्योमयानानि, तेषां मण्डनाय = अलङ्करणाय महान् कुसुमोपयोगः = पुष्पाणां पर्याप्त उपयोगः कृत इति भावः। लङ्केश्वरस्य = रावणस्य। उपायनीकरोमि = उपायनम् = उपहारः ('उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः) अनुपायनमुपायनं सम्पद्यमानं करोमीत्युपायनीकरोमि = उपहारीकरोमि, निवेदयामीति भावः। ('कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरिच्विः' इति च्विः, 'अस्य च्वौ' इत्यवर्णस्येत्वम्) अनर्थाङ्कुरोद्भेदः—अनर्थः = अनिष्ट एवाङ्कुरः, तस्योद्भेदः = उत्पत्तिः। कर्णान्तिकम् = श्रवणसमीपम्, विश्रान्तः = गतः, महानयमनर्थो जातो यदयं सीतास्वयंवरवृत्तान्तो बाणरावणाभ्यां श्रुतः तौ बलादपहृत्य सीतां नेतुं प्रयतिष्येते इत्यनर्थसम्भावनेति भावः। अतिकातरतया = अतिभयेन, अलंपदेन योगे तृतीया भ्रमारोपिताः—भ्रमेण = भ्रान्त्याऽऽरोपिताः = कृतारोपाः। भ्रमरोक्तयः=भ्रमरवचनानि, भ्रमरवचनानि भ्रान्तिपूर्णान्यपि भवितुं शक्यानीति भावः।

अरे क्यों रे नन्दन वन के रखवालो! निशाचर सम्राट् (रावण) के, शङ्कर की पूजा (नन्दनवन के पुष्पों से) किये बिना ही नन्दन वन के समस्त पुष्प तोड़ लिये गये? तदनन्तर उन (रखवालों) ने (उस) राक्षस से कहा—इसे क्षमा किया जाय। राजा जनक जी के वीर-स्वयंवर को देखने के लिए समुत्सुक समस्त देवों के विमानों को सजाने के लिए पर्याप्त पुष्पों का उपयोग हुआ है यह सुनकर 'इसी वृत्तान्त को लङ्केश्वर (रावण) से निवेदन करता हूँ'। ऐसा कहकर (वह) राक्षस चल पड़ा। मैं भी कौतुक-वश यहाँ चला आया हूँ।' (विषाद के साथ) खेद है, महान् अनर्थ का अङ्कुर प्रकट हुआ है जो सीतास्वयंवर का यह वृत्तान्त बाणासुर और रावण के कान तक भी पहुँच गया है अथवा अधिक कातर होना नहीं चाहिए। भौंरों की बातें भ्रम से भी आरोपित (अर्थात् भ्रमपूर्ण) भी हो सकती हैं। (विचार कर) अथवा भ्रमर की सम्भावना कैसे हो सकती है?

मकरन्दरसस्यन्द-सुन्दरोदगारधारिणौ ।
श्रवणानन्दिनावेतौ वन्दिनाविव राजतः ॥ २६ ॥

(नेपथ्ये)

साधु भगवन् ! विज्ञातं, वन्दिनावेव खल्वावां, नानादिगन्तसमागत-नृपतिचक्रवर्णनाय जनकेन समादिष्टौ ।

दालभ्यायन अहो ! घुणाक्षरन्यायो यदिदं भ्रमरद्वयं प्रति मयोक्तं

अन्वयः—मकरन्दरसस्यन्दसुन्दरोदगारधारिणौ श्रवणानन्दिनौ एतौ वन्दिनौ इव राजतः ।

व्याख्या—मकरन्दस्य=पुष्परसस्य स्यन्दः=प्रस्रवणम्, स इव सुन्दरः=मधुरः, उद्गारः=शब्दः, तं धारयतः इति तयोक्तौ । अत्र मकरन्दशब्देन पुष्परसाभिव्यक्ता-वपि सामान्यरसाभिप्रायेण रसपदस्य ग्रहणमिति न पुनरुक्तिदोषः इति बोध्यम् । श्रवणाऽऽनन्दिनौ = कर्णानन्ददायिनौ । एतौ = भ्रमरौ, वन्दिनाविव=चारणाविव राजतः = शोभेते । उपमालङ्कारः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २६ ॥

नेपथ्य इति । नानादिगन्तसमागतनृपतिचक्रवर्णनाय—नानादिगन्तेभ्यः = विभिन्नदिग्भ्यः, समागताः = सीतास्वयंवरे समायाताः ये नृपतयः = राजानः, तेषां चक्रम् = समुदायः, तस्य वर्णनाय = वैशिष्ट्यज्ञापनाय ।

दालभ्यायन इति । घुणाक्षरन्यायः = काष्ठखण्डे घुणैर्भक्षणे प्रारब्धे स्वयं-भूता रेखा संयोगेन वर्णाकारा दृश्यन्ते, तथैव संयोगेन यदान्यार्थं क्रियमाणे

मकरन्द रस के प्रवाह के समान सुन्दर वचनों को धारण करने वाले, कानों को आनन्द देने वाले ये दोनों (भौंरे) चारणों के समान सुशोभित हो रहे हैं ॥ २६ ॥

(नेपथ्य में)

भगवन् ! आप ने ठीक जाना, हम दोनों चारण ही हैं, नाना दिशाओं से आये हुए नृपति-समुदाय का वर्णन करने के लिए महाराज ने हमें आदेश दिया है ।

दालभ्यायन—अहो ! यह घुणाक्षरन्याय है, जो इन दो भौंरों के प्रति मेरे द्वारा कहा गया वचन (संयोग से) दो चारणों के प्रति घटित हुआ ।

वन्दिद्वयं प्रति फलितं वचः । भवतु । तदिमं भ्रमरवृत्तान्तमस्मद्गुरवे निवेदयामि । (इति निष्क्रान्ताः)

इति विष्कम्भकः

(ततः प्रविशति वन्दिद्वयम्)

एकः—वयस्य मञ्जीरक ! पश्य पश्य । गजेन्द्रदशनस्निग्धशलाकासहस्रनिर्मितेषु मञ्चेष्वासीना इमे कुङ्कुमकृताङ्गरागा राजानोऽमलस्फटिकप्रासादशिखरासङ्गिनः कनकसिंहा इव राजन्ते, अमुग्धदुग्धसागरलहरीशिखरावलम्बिनोऽभिनवोद्गच्छन्निशाकरबिम्बप्रतिबिम्बा इव शोभन्ते । (वअस्स मञ्जीरअ, पेक्ख पेक्ख । गइन्द-दसण-सिणिद्ध

यत्रैकस्मादन्यकार्यं सम्पद्यते तत्रास्य न्यायस्य प्रयोगः क्रियते । यथाऽत्र घुणाक्षरन्यायेन भ्रमरद्वयं प्रति शालम्यायनोक्तं वचो वन्दिद्वयं प्रतिफलितम् ।

विष्कम्भकः—नाट्यशास्त्रे पञ्चार्थोपक्षेपकाः (अङ्केष्वनिबन्धनीयेतिवृत्तस्य सूचनार्थमुपायविशेषाः) प्रतिपादिताः सन्ति तेषु विष्कम्भकोऽन्यतमः । तल्लक्षणं यथा—

'वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥
मध्यमेन मध्यमाभ्यां पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात्स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥' इति ।

अयत्यो विष्कम्भकः शुद्धो ज्ञेयो मध्यमपात्रेण संस्कृतेन च प्रयोजितत्वात् ।

एक इति । गजेन्द्रदशनस्निग्धशलाकासहस्रनिर्मितेषु—गजेन्द्राणाम् = श्रेष्ठकुञ्जराणां ये दशनाः = दन्तास्तेषां स्निग्धाः = चिक्कणा याः शलाकाः = खण्डाः, तासां सहस्रम् = दशशती, समुदाय इत्यर्थः, तेन निर्मितेषु = रचितेषु । कुङ्कुमकृताङ्गरागाः = कुङ्कुमेन कृतः = विहितः, अङ्गरागो यैस्ते । अमलस्फटिकप्रासादशिखरासङ्गिनः = अमलैः = धौतैः, स्फटिकैः निर्मितो यः प्रासादः तस्य

अच्छा, तो (चलकर) इस भ्रमर वृत्तान्त को अपने गुरु (याज्ञवल्क्य) से निवेदन करता हूँ । (इस प्रकार सब चले जाते हैं)

इति विष्कम्भक

(तदनन्तर दो चारण प्रवेश करते हैं)

एक—मित्र मञ्जीरक ! देखो, देखो । हाथी-दाँतों के चिकने हजारों टुकड़ों से

नूपुरक—वयस्य मञ्जरीक ! कोऽयं सीताकरग्रहवासनावसन्तलक्ष्मीविलसत्पुलकमुकुलजालमण्डित निजभुजसहकारशाखियुगल विलोकयस्तिष्ठति ? (वअस्स मञ्जीरअ, को इमो सीताकरग्गहवासनावसन्तलच्छीविलसन्तपुलअमउलजालमण्डिद णिअभुअसहआरसाहिजुअल पुलोअन्तो चिट्ठदि ?)

यानि सूत्राणि = सञ्चालनरज्जव , तेषामग्रेषु= अग्रभागेषु लग्ना = सम्बद्धा , या द्विपानाम् = गजानाम्, दशना = दन्तास्तेषा शलाका = खण्डा , ताभिर्निर्मिता ये मञ्चास्तद्रूपा या पाञ्चालिका=पुत्तलिका, त्रिपुरमथनचापारोपणोत्कण्ठितानाम्—त्रिपुरमथन =शिव , तस्य यो चाप =धनु , तस्यारोपणे=उत्तालने उत्कण्ठितानाम्= समुत्सुकानाम्, क्ष्माभृताम्—क्ष्माम् = पृथिवीम्, बिभ्रति = पालयन्तीति क्ष्माभृतस्तेषाम् = राज्ञाम्, अतिरभसवती = अतिवेगवती, त्वरया चञ्चलेति यावत्, चित्तवृत्ति = मनोवृत्तिरिव नटति = नृत्यति । सीतास्वयंवरे रज्जुसञ्चालितमञ्चव्यवस्थाऽऽसीदिति ज्ञेयम् । यथा यथा राजपुरुषकरगतसूत्रसम्बद्धा मञ्चरूपा पुत्तलिका नृत्यति तथा तथा हरचापारोपणोत्कण्ठया मञ्चस्थाना नृपाणा चित्तवृत्तिस्त्वरमाणा चञ्चला सती नृत्यतीति भाव । पूर्वार्द्धे, मञ्चे पुत्तलिकारोपाद्रूपकालङ्कार , उत्तरार्द्धे चोपमालङ्कारस्तया च द्वयोरङ्गाङ्गिभावेन सवलनात् सङ्कर । मालिनी वृत्तम् ॥ २८ ॥

नूपुरक इति । सीताकरग्रहवासनावसन्तलक्ष्मीविलसत्पुलकमुकुलजालमण्डितम्—सीताया करग्रह = पाणिग्रहस्तया सह विवाह इत्ययस्तस्य वासना = रुचिरेव वसन्तलक्ष्मी = वसन्तर्तुशोभा, तया विलसन्त = शोभमाना विकसन्त इत्यर्थ, ये पुलका = रोमाञ्चा एव मुकुला = कुड्मलास्तेषा जालम् = समुदायस्तेन

हाथी-दाँतों के टुकड़ों से निर्मित मञ्चरूप यह कठपुतली शिव के धनुष को चढाने के लिए समुत्सुक नृपों की अतिवेगवती (अर्थात् चञ्चल) मनोवृत्ति के समान नाच रही है ॥ २८ ॥

नूपुरक—मित्र मञ्जीरक ! सीता के पाणिग्रहण की वासनारूप वसन्त (ऋतु) की शोभा के कारण विकसित रोमाञ्चरूप कलियों के समूह से सुशोभित

मञ्जीरकः—स एष निजयशःपरिमलप्रमोदितचारणचञ्चरीकचय-कोलाहलमुखरितदिक्चक्रवालः क्ष्मापालकुन्तलालङ्कारो मल्लिका-पीडो नाम।

नूपुरकः—अयं पुनः कतमो यः किल दूरापसारितकटकप्रकटितधनुर्गुणकर्षणकिणलेखामण्डले भुजदण्डे विलोकयँस्तिष्ठति? (इमो उण कदमो जो किल दूरावसारिअकडअप्पअडिअधणुग्गुणकसकिणलेहामण्डले भुअदण्डे पुलोअन्तो चिट्ठदि?)

मण्डितम् = सुशोभितम्। निजभुजसहकारशाखियुगलम्—निजौ=स्वकीयौ, भुजावेव सहकारशाखिनौ = आम्रतरू, तयोर्युगलम् = युग्मम्। विलोकयन् = पश्यन्।

मञ्जीरक इति। निजयशःपरिमलप्रमोदितचारणचञ्चरीकचयकोलाहल-मुखरितदिक्चक्रवालः—निजयश एव परिमलः = सौरभम्, तेन प्रमोदिताः = प्रसन्नीकृता ये चारणाः = यशोगायका एव चञ्चरीकाः = भृङ्गास्तेषां चयः = समुदायस्तस्य कोलाहलेन = यशोगानकृतकलकलध्वनिना मुखरितम् = शब्दाय-मानम्, दिशां चक्रवालम् = मण्डलं येन सः। क्ष्मापालकुन्तलालङ्कारः—(१) क्ष्मापालानाम् = भूपालानाम्, कुन्तलालङ्कारः = केशभूषणम् (२) क्ष्मापालः = भूपतिः, कुन्तलदेशस्यालङ्कारः = कुन्तलदेशाधिपतिरित्यर्थः, अत्र श्लेषालङ्कारः।

नूपुरक इति। दूरापसारितकटकप्रकटितधनुर्गुणकर्षणकिणलेखामण्डले—दूरम्-अपसारितः=किणस्यैव वीरबाहुशोभाऽऽधायकत्वात् पृथक्कृतः, यः कटकः = वलयः, ('आवापकः पारिहार्यः कटको वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः) तेन प्रकटितः= प्रत्यक्षीकृतो यो धनुषः=चापस्य गुणः = मौर्वी, तस्य कर्षणेन = घर्षणेन किणः= कठोरमांसग्रन्थिः, तस्य लेखामण्डलम् = रेखामण्डलं ययोस्ते। भुजदण्डे = भुजावेव

आम के दो वृक्षों के समान अपनी दोनों भुजाओं को देखने वाला यह कौन (राजा) स्थित है?

मञ्जीरक—अपने यशरूप सुगन्ध से प्रसन्न किये गये चारणरूप भौरों की कलकलध्वनि से दिशाओं को मुखरित करने वाले नृपकेशभूषण वे ये मल्लीका-पीड नामक (राजा) हैं।

नूपुरक—और यह कौन (राजा) है? जो कि वलय को दूर हटा देने

मञ्जीरक —सोऽयं कुबेरदिगङ्गनाललाटतटविलासलम्पटः काश्मीर-तिलकः ।

नूपुरक —अथ पुनः को निजप्रतापदिनकरोद्गमपूर्वगिरिशिखर-सहचरं दक्षिणभुजदण्डमुन्नमय्य वर्तते ? (इमो उण को णिअपडावदिणअरुग्गमपुव्वगिरिसिहरसहअरं दक्खिणभुअदण्डमुन्नमिअ वट्टदि ?)

मञ्जीरक —स एष निजप्रतापप्रभापटलपिञ्जरितमलयाचलनितम्ब-तटः काञ्चीमण्डनो वीरमाणिक्यनामा नृपतिः ।

दण्डे (अत्र कर्मणि द्वितीया, दण्डशब्दस्य नपुंसकलिङ्गत्वाद्द्वितीयाविभक्ति-द्विवचने रूपम्) ।

मञ्जीरक इति । कुबेरदिगङ्गनाललाटतटविलासलम्पटः काश्मीरतिलकः—(१) कुबेरस्य या दिक् = उत्तरा दिक्, सैवाङ्गना=रमणी, तस्याः ललाटतटस्य= भालपटलस्य, विलासलम्पटः = शोभाधायक इत्यर्थः, काश्मीरतिलकः = केसरवर-कृततिलकः (२) कुबेरदिगङ्गनाया ललाटतटस्य = पर्यन्तप्रदेशस्य विलासलम्पटः = उपभोगरसिकः, काश्मीरतिलकः = काश्मीरदेशस्य तिलकभूतः, काश्मीराधिपति-रित्यर्थः । अत्र श्लेषालङ्कारः ।

नूपुरक इति । निजप्रतापदिनकरोद्गमपूर्वगिरिशिखरसहचरम्—निजः = स्वकीयो यः प्रतापः एव दिनकरः = सूर्यस्तस्योद्गमाय = उदयाय पूर्वगिरेः = उदयाचलस्य शिखरसहचरम् = शिखरसदृशम् । दक्षिणभुजदण्डम् = वामेतर-बाहुदण्डम् । उन्नमय्य = उत्थाप्य (उद् + √नम् + णिच् + ल्यप्) ।

मञ्जीरक इति । निजप्रतापप्रभापटलपिञ्जरितमलयाचलनितम्बतटः निजः =

से स्पष्ट देख पड़ने वाले, धनुष की डोरी की रगड़ से (उत्पन्न) घट्ठा के रेखामण्डल से सुशोभित दोनों भुजदण्डों को देख रहा है ।

मञ्जीरक—ये कुबेर की (उत्तर) दिशारूप रमणी के ललाटतट के शोभाधायक केसरनिर्मित तिलक स्वरूप तथा उत्तरदिशा की उत्तरी सीमा (ललाटतट) के उपभोग के रसिक काश्मीर नरेश हैं ।

नूपुरक—और ये कौन हैं ! (जो) अपने प्रतापरूप सूर्य के उदय के लिए उदयाचल के शिखरसदृश दायें भुजदण्ड को उठाकर स्थित हैं ।

मञ्जीरक—वे ये अपने प्रताप की दीप्ति से मलयाचल की उपत्यका को

नूपुरकः—कोऽयं हर्षोल्लसत्पुलकविसंष्ठुलकपोलस्थलचलितकुण्डलसदृशनिवेशनापदेशेन प्रकटितहरशरासनकर्णपूरमनोरथो राजते ? (को इमो हरसुल्लसन्तपुलअविसंठुलकपोलत्थलचलकुण्डलसरिसनिवेसणावदेसेण पअडिअहरसरासणकण्णऊरमनोरहो रहेदि ?)

मञ्जीरकः—सोऽयमसमरणमहार्णवैकमकरो मत्स्यराजः ।

स्वकीयो यः प्रतापः तस्य प्रभापटलेन = दीप्तिसमूहेन पिञ्जरितम् = पिशङ्गीकृतम्, मलयाचलस्य नितम्बतटम् = अधोभागो येन सः । काञ्चीमण्डनः = काञ्चीदेशस्य शोभाऽऽधायकः, काञ्चीदेशाधिपतिरित्यर्थः ।

नूपुरक इति । हर्षोल्लसत्पुलकविसंष्ठुलकपोलस्थलचलितकुण्डलसदृशनिवेशनापदेशेनहर्षेणोल्लसन्तः = उद्गच्छन्तो ये पुलकाः = रोमाञ्चास्तैर्विसंष्ठुलम् = अस्थिरम्, यत् कपोलस्थलम्, तत्र चलितम्, = चञ्चलं यत् कुण्डलं तस्य सदृशे = उचितस्थाने यत् निवेशनम् = स्थानम्, तस्य अपदेशेन = व्याजेन । प्रकटितहरशरासनकर्णपूरमनोरथः—प्रकटितः = व्यक्तीकृतः, हरस्य = शिवस्य शरासनम् = धनुरेव कर्णपूरः = कर्णभूषणम् तस्मिन् मनोरथः = अभिप्रायो येन स तथाभूतः, कर्णान्तिमाकृष्य हरशरासनं कर्णपूरं करोमीति स्वाभिप्रायश्चलितकुण्डलस्योचितस्थाने स्थापयता व्यक्तीकृत इति भावः ।

मञ्जीरक इति । असमरणमहार्णवैकमकरः—असमः असदृशः अनुपम इत्यर्थः, रण एव महार्णवः = महासागरः, तत्र एकः = अद्वितीयः, मकरः = नक्रः, मत्स्यराजः = मत्स्यदेशाधिपतिः ।

पीला करने वाले काञ्ची नगरी के भूषणरूप वीरमाणिक्य नामक राजा हैं ।

नूपुरक—यह कौन (राजा) सुशोभित है ? जिसने (सीता के पाने के) हर्ष से (उत्पन्न) रोमाञ्च से अस्थिर कपोलों पर चञ्चल कुण्डल को उचित स्थान पर रखने के बहाने से शिवधनुष को (कान तक खींच कर) कर्णभूषण (बनाने) का मनोरथ प्रकट किया है ।

मञ्जीरक—वे ये अनुपमयुद्धरूप महासिन्धु के एकमात्र ग्राहरूप मत्स्यराज हैं ।

नूपुरक —अय पुन कोऽमलमलयजरसधवलितभुजदण्डविडम्बित-भुजगराजश्री शिरीषकुसुमसुकुमार माररिपुशरासन कलयन् विस्फुरति?
(इमो उण कोअमलमलयजरसधवलिअभुअदण्डविडम्बिअभुअगरायसिरी सिरीस-कुसुमसुउमार माररिपुसरासण कलअन्तो विप्फुरदि ?)

मञ्जीरक —स एष विमलमुक्तावलीविराजमानवक्षःस्थलतटतुङ्गभुज-तरङ्ग सिंधुराज । तदलमनेन प्रकृत तावदुपक्रमामहे । (परिक्रम्य उच्चै)।

नूपुरक इति । अमलमलयजरसधवलितभुजदण्डविडम्बितभुजगराजश्री — अमल = अत्यन्तस्वच्छो यो मलयजरस = मलयचन्दनद्रवस्तेन धवलितौ = शुभ्रीकृतौ यौ भुजदण्डौ, ताभ्या विडम्बिता = अनुकृता, भुजगराजस्य=शेषनागस्य श्री शोभा येन तथाभूत । शिरीषकुसुमसुकुमारम्—शिरीषकुसुममिव सुकुमारम्= कोमलम् । माररिपुशरासनम्—मार = कामदेवस्तस्य रिपु = शत्रु , शङ्कर इत्यर्थस्तस्य शरासनम् = धनु. । कलयन् = विचारयन् । विस्फुरति = उच्छलति हर्षातिरेकादित्यर्थ. ।

मञ्जीरक इति । विमलमुक्तावलीविराजमानवक्षस्तटतुङ्गभुजतरङ्ग.— विमला = स्वच्छा या मुक्तावली = मुक्तामाला तया विराजमानम् = शोभमान वक्षस्तटम् = वक्ष.स्थलं पक्षान्तरे अन्त प्रदेशो यस्य तथाभूत पुनश्च तुङ्गौ = उन्नतौ भुजावेव तरङ्गौ यस्य तादृशश्च । सिन्धुराज = सिन्धुदेशाधिपतिरूप सिन्धुराजः = महासागर । तदलमनेन = अनेन राजवर्णनेन साध्य नास्तीत्यर्थ परित्यजेम प्रसङ्गमिति भाव । प्रकृतम् = प्रस्तुतम् । उपक्रमामहे = आरभामहे । आकर्णयत = शृणुत ।

नूपुरक—अच्छा, यह कौन (राजा) है ? जो स्वच्छ मलयचन्दन के रस से शुभ्र किये गये भुजदण्डों से शेषनाग की शोभा का अनुकरण करने वाला, शिवधनुष को शिरीषपुष्प के समान कोमल समझता हुआ (हर्षातिरेक से) उछल रहा है ।

मञ्जीरक—वह यह, स्वच्छ मौक्तिक समूह से सुशोभित आभ्यन्तर भाग वाले महा समुद्र के समान स्वच्छ मौक्तिकमाला से सुशोभित वक्ष स्थल वाला सिन्धुदेशाधिपति है । तो राजाओं का वर्णन समाप्त करो अब हम प्रस्तुत (विषय) का प्रारम्भ करते हैं । (घूम कर उच्च स्वर से) राजा लोगो ! सुनिये, सुनिये ।

अहो राजानः ! आकर्णयताकर्णयत ।

आकर्णान्तं त्रिपुरमथनोद्दण्डकोदण्डनद्धां
मौर्वीमुर्वीवलयतिलकः कोऽपि यः कर्षतीह ।
तस्याऽऽयान्ती परिसरभुवं राजपुत्री भवित्री
कूजत्काञ्चीमुखरजघना श्रोत्रनेत्रोत्सवाय ॥ २९ ॥

जनकराजप्रतिज्ञां घोषयति—आकर्णान्तमिति ।

अन्वयः—इह यः कोऽपि उर्वीवलयतिलकः त्रिपुरमथनोद्दण्डकोदण्डनद्धाम् मौर्वीम् आकर्णान्तं कर्षति तस्य परिसरभुवम् आयान्ती कूजत्काञ्चीमुखरजघना राजपुत्री श्रोत्रनेत्रोत्सवाय भवित्री ।

व्याख्या—इह = अस्यां सभायाम्, यः कोऽपि = यः कश्चनापि, उर्वीवलयतिलकः = उर्वीवलयः = भूमण्डलं तस्य तिलक = अलङ्कार इत्यर्थः' त्रिपुरमथनोद्दण्डकोदण्डनद्धाम्—त्रिपुरः = तन्नामकोऽसुरस्तं मथ्नाति = हन्तीत्यर्थः, इति त्रिपुरमथनः शिव इत्यर्थः तस्योद्दण्डम् = महाभयानकं विशालमित्यर्थः, कोदण्डम्= धनुस्तस्मिन् नद्धाम् = बद्धाम् मौर्वीम् = ज्याम् ('मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः) आकर्णान्तम् = कर्णप्रदेशपर्यन्तम्, कर्षति = आकर्षति, तस्य = शिवधनुर्गुणाकर्षकस्य, परिसरभुवम् = समीपम्, आयान्ती = आगच्छन्ती, कूजत्काञ्चीमुखरजघना—कूजन्ती=शब्दायमाना या काञ्ची = रशना, तया मुखरम् = शब्दायमानं जघनम् = कटिपुरो भागो यस्याः सा ('स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः' इत्यमरः) राजपुत्री = जनकराजपुत्री सीता, श्रोत्रनेत्रोत्सवाय—श्रोत्रयोः = कर्णयोर्नेत्रयोश्चोत्सवाय = हर्षाय, भवित्री=भविष्यतीत्यर्थः । राजपुत्री तस्य वीरस्य समीपमागत्य रशनाझङ्कृत्या कर्णयो रूपसौन्दर्यादिभिर्नयनयोश्चानन्दप्रदायिनी भविष्यतीति भावः । अत्र कूजत्काञ्चीमुखरजघनेति विशेषणपदस्य साभिप्रायत्वात् परिकरालङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—'उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः' । इति । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ २९ ॥

जो कोई भी भूमण्डलभूषण (राजा) इस (सभा) में शिव के धनुष में बँधी प्रत्यञ्चा को कान तक खींचेगा; उसके समीप आती हुई शब्दायमान रशना से मुखर जघन वाली राजकन्या (सीता) उसके कानों और नेत्रों के हर्ष के लिए होगी (अर्थात् उसका वरण करेगी) ॥ २९ ॥

(पुन सकौतुकम्) सखे ! दृश्यतामनी—

कामारिकार्मुकविकर्षणकौतुकोर्मि-
रोमाञ्चितद्विगुणपीवरबाहुदण्डा ।
सीताकरग्रहमिलत्कुतुकातिमात्र-
विस्तीर्यमाणहृदया परितो नरेन्द्रा ॥ ३० ॥

(पुन सहर्षम्) अये ! कथमुच्चलितमेव समसमयसञ्चरणमिलत्कपोलतलसङ्घट्टमसृणरणन्मणिकुण्डलेन राजमण्डलेन ।

अन्वय —कामारिकार्मुकविकर्षणकौतुकोर्मिरोमाञ्चितद्विगुणपीवरबाहुदण्डा सीताकरग्रहमिलत्कुतुकातिमात्रविस्तीर्यमाणहृदया नरेन्द्रा परित (सन्ति) ।

व्याख्या—कामारिकार्मुकेत्यादि —कामस्य-कामदेवस्यारि = शम्भु, शिव इत्यर्थस्तस्य कार्मुकम = धनुस्तस्य विकर्षणे = आरोपण इत्यर्थं, यत् कौतुकम = कुतूहलम्, तस्यामय = लहयस्तै रोमाञ्चितौ द्विगुणपीवरौ = द्विगुणपीनौ बाहुदण्डौ यथा तथाभूता, सीताकरग्रहमिलत्कुतुकातिमात्रविस्तीर्यमाणहृदया — सीताया करग्रह = पाणिग्रहणम विवाह इत्यर्थ, तस्मिन् मिलत = लभ्यमान यत् कुतुकम् = कौतूहलम्, तेनातिमात्रम् = अत्यधिकम, विस्तीर्यमाणम् विस्तार गच्छत् स्फीतमिति भाव, हृदय यथा तथाभूता, नरेन्द्रा = राजान, परित = रङ्गभूमिं परित इत्यर्थ (सन्ति) । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ३० ॥

पुनरिति । समसमयसञ्चरणमिलत्कपोलतलसङ्घट्टमसृणरणन्मणिकुण्डलेन— समसमयम = युगपत्, सञ्चरणेन = चलनेन मिलताम् = सङ्गच्छमानानाम, कपोलतलानाम = गण्डस्थलानाम, सङ्घट्टेन = परस्परघर्षणेन मसृणम = मधुरम्,

---

(फिर कौतुक के साथ) मित्र ! देखो ये—

शिव के धनुष को खीचने (चढाने) के कौतूहल की तरङ्गो से रोमाञ्चित एव दूना फूले हुए भुजदण्डवाले, सीता के पाणिग्रहण में प्राप्त होते कौतूहल से अत्यन्त फूले हुए वक्षस्थल वाले राजा लोग (रङ्गशाला में) चारो ओर (विराजमान है) ॥ ३० ॥

(फिर हर्ष के साथ) अरे ! कैसे एक साथ ही (धनुष चढाने के लिए)

नूपुरकः—विलोकय विलोकय, एषामन्योन्यसङ्घट्टमानकेयूरसमुच्चलत्कनककणमिषेण प्रतापाग्नेर्विस्फुलिङ्गा इव दृश्यन्ते। (पुलोवेहि पुलोवेहि, इमाणं अण्णोण्णसङ्घट्टन्तकेयूरसमुच्चलन्तकणअकणमिसेण पआवग्गिणो विप्फुलिङ्गा विअ दीसन्ति।

मञ्जीरकः—(विहस्य)

पश्य पश्य सुभटैः स्फुटभावं भक्तिरेव गमिता न तु शक्तिः।
अञ्जलिर्विरचितो न तु मुष्टिर्मौलिरेव नमितो न तु चापः ॥३१॥

रणन्ति = ध्वनिं कुर्वन्ति, मणिकुण्डलानि = मणिखचितकर्णभूषणानि यस्य तेन। राजमण्डलेन = राज्ञां मण्डलम् = समूहस्तेन।

नूपुरक इति। एषाम् = नृपाणाम् अन्योन्यसङ्घट्टमानकेयूरसमुच्चलत्कनककणमिषेण—अन्योन्यम् = परस्परम्, सङ्घट्टमानानि = घृष्यमाणानि यानि केयूराणि = अङ्गदानि ('केयूरमङ्गदम्' इत्यमरः) तेभ्यः समुच्चलन्तः=समुत्पद्यमानाः, कनककणाः = स्वर्णकणाः, तेषां मिषेण = व्याजेन। प्रतापाग्नेः—प्रताप एवाग्निस्तस्य। स्फुलिङ्गाः = कणाः, इव दृश्यन्ते।

धनुरुत्तोलनाय राज्ञां प्रयासस्य वैयर्थ्यं प्रतिपादयति—पश्य पश्येति।

अन्वयः—पश्य पश्य, सुभटैः भक्तिः एव स्फुटभावं गमिता, शक्तिः तु न। अञ्जलिः (एव) विरचितः, मुष्टिः तु न। मौलिः एव नमितः, चापः तु न।

व्याख्या—पश्य पश्य = विलोकय, विलोकय (सम्भ्रमे द्विर्वचनम्)। सुभटैः = वीरैः, भक्तिः एव = शिवधनुपि श्रद्धैव, स्फुटभावं गमिता = प्रकाशतां प्रापिता, प्रकटीकृतेति भावः, शक्तिस्तु न = स्वसामर्थ्यं न प्रदर्शितम्। अञ्जलिः = प्रणाममुद्राविशेषः (एव) विरचितः = कृतः, मुष्टिस्तु न = धनुराकर्षणमुद्रा-

चलने से मिलते हुए कपोलों के (परस्पर) टकराने से मधुर शब्द करते हुए मणिखचित कुण्डल वाले राजाओं का समूह चल पड़ा?

नूपुरक देखो, देखो! इन (राजाओं) के परस्पर टकराते हुए केयूरों से निकलते हुए स्वर्ण कणों के बहाने मानों (इनके) प्रतापरूप अग्नि की चिनगारियाँ (निकलती हुई) दिखायी दे रही हैं।

मञ्जीरक—(हँस कर)

देखो देखो—वीरों ने (शिव के धनुष) में भक्ति ही व्यक्त की, शक्ति

नूपुरक —कथमारम्भरमणीय एव एषा सरम्भः। (कह आरम्भरमणिज्जो जेव इमाण सरंभ)

मञ्जीरक —(सविषादम्)

द्वीपात् परतोऽप्यमी नृपतयः सर्वे समभ्यागता
कन्येयं कलधौतकोमलरुचि, कीर्त्तिश्च लाभास्पदम्।
नाकृष्टं, न च टाङ्कितं न नमितं स्थानाच्च न स्पर्शितं
केनापीदमहो धनुः, किमधुना निर्वीरमुर्वीतलम् ॥ ३२ ॥

विशेषस्तु न विरचित । मौलिरेव = स्वशिर एव, नमित = नम्रीकृत, लज्जयेति भाव, चाप तु न = धनुस्तु न नमितम्। स्वागतावृत्तम्। तल्लक्षण यथा—'स्वागतेति रनभाद् गुरुयुग्मम्' इति ॥ ३१ ॥

नूपुरक इति। एषाम् = धनुरुद्यमनप्रयत्नशीलाना नृपाणाम्। सरम्भ = उत्साह आरम्भरमणीय एव-आरम्भे = धनुरुत्तोलनोपक्रमे एव रमणीय = सुन्दर, न तु परिणामे इति भाव ।

अन्वय —परत अपि द्वीपात् आ अमी सर्वे नृपतय समभ्यागता । इयम् कन्या कलधौतकोमलरुचि । कीर्ति च लाभास्पदम्। केन अपि इदम् धनु न

व्याख्या—परतोऽपि = (जम्बूद्वीपात्) अन्यस्मादपि, द्वीपात्, आ =

नहीं। अञ्जलि (ही) बाँधी (धनुष उठाने के लिए) मुट्ठी नहीं। (लज्जा से) सिर ही झुकाया धनुष को नहीं।

(कवि का अभिप्राय यह है कि वीरों ने धनुष उठाने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी किन्तु वह टस से मस नहीं हुआ, ऐसा लगता है कि जैसे उन लोगों ने शक्ति का प्रदर्शन ही नहीं किया, बल्कि शिव जी के धनुष के प्रति श्रद्धा व्यक्त की। इसी प्रकार धनुष उठाने के लिए मुट्ठी नहीं, बाँधी गयी बल्कि प्रणाम करने के लिये अञ्जलि बाँधी, धनुष को तो झुका नहीं सके लज्जा से सिर अलबत्ता झुका लिया, मानो धनुष को नतमस्तक होकर प्रणाम कर रहे हैं) ॥ ३१ ॥

नूपुरक—इन राजाओं का उत्साह कैसे आरम्भ में ही रमणीय रहा (परिणाम में नहीं)

मञ्जीरक—(विषाद के साथ)

(जम्बू द्वीप के अतिरिक्त) अन्य द्वीपों से भी ये सब राजा आये हैं।

(नेपथ्ये)

आः ! कोऽयमलीकवैतालिको धनुर्मात्रकेऽपि नमयितव्ये निर्वीर-मुर्वीतलमुपदिशति ?

आकृष्टम्, न च टाल्कृतम्, न नमितम्, स्थानात् च न त्याजितम् । अहो ! अधुना उर्वीतलम् किम् निर्वीरम् ?

आरम्य, आङ् मर्यादायामत्र, अन्यस्मादपि द्वीपादित्यर्थः, अमी = एते, सर्वे नृपतयः = राजानः, समभ्यागताः = समायाताः । इयम् = समीपवर्तिनी, कन्या कलधौतकोमलरुचिः = कलधौतम् = सुवर्णम् ('कलधौतं सुवर्णे स्याद्रजते च नपुंसकम्' इति मेदिनी) तस्येव कोमला = मृदुला रमणीयेत्यर्थः, रुचिः = कान्तिर्यस्याः सा, कीर्तिश्च लाभास्पदम् = शिवधनुरुद्यमनजन्ययशश्च लब्धव्य-मित्यर्थः । (तथापि) केनापि = केनापि नृपतिवीरेण, इदम् = पुरोवर्ति, धनुः न आकृष्टम् = न आरोपितम्, न टाल्कृतम् = न वा शब्दायितम्, न नमितम् = न वा नम्रीकृतम्, स्थानात् च न त्याजितम् = न वा तत्स्थानात् चालितम् । अहो आश्चर्यसूचकमव्ययमिदम्, अधुना उर्वीतलम् = भूतलम्, किम्, निर्वीरम् = वीरविहीनम् (अस्ति) ? 'कलधौतकोमलरुचि' इत्यत्रोपमालङ्कारः । शार्दूल-विक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३२ ॥

आः कोऽयमिति । अलीकवैतालिकः—मिथ्यावैतालिकः, अयथार्थकथना-दितिभावः । उपदिशति = कथयति ।

सुवर्ण के समान रमणीय कान्ति वाली यह कन्या और (शैव के धनुष चढ़ाने से) यश (भी) प्राप्त होने वाला है; तथापि किसी ने भी न (तो) धनुष चढ़ाया, न ही धनुष की डोर खींचकर) टङ्कारित किया, न ही झुकाया और न ही स्थान से हटाया । अहो ! क्या अब पृथ्वीतल वीरों से रहित हो गया है ? ॥ ३२ ॥

(नेपथ्य में)

अरे ! यह कौन झूठ-मूठ वैतालिक (कहाने वाला) केवल धनुष को झुकाने भर के लिए भूतल को वीर-विहीन कह रहा है ?

नूपुरक—वयस्य ! कस्याऽयं महीतलचलद्राहुरथचक्ररवकर्कशः कण्ठध्वनिः श्रूयते । (वअस्स, कस्स इमो महीअलचलन्तराहुरहचक्करव-कक्कसो कण्ठज्झुणी सुणीअदि ?)

मञ्जीरव—मयाऽप्ययमपरिचितः । तदेनं पृच्छामि तावत् । (परिक्रम्य) अहो ! क खलु भवान्, यः सकलदेशदर्शिनो ममाऽपि न विख्यातः ?

(प्रविश्य)

पुरुष—(साटोपं परिक्रम्य) (सक्रोधम्) आः पाप ! वैतालिकापसद ! कतिपयग्रामटिकापर्यटनदुर्विदग्ध ! कथं मामपि वक्तुं—(इत्यर्धोक्ते स्वगतम् ।) कथं संवरणीयं विवरितुमुपक्रान्तोऽस्मि । भवतु । इदमेव तावन्निर्वाहयामि । कथं मामपि दशदिग्विलासिनीकर्णपूरीकृतकीर्ति-

नूपुरक इति । महीतलचलद्राहुरथचक्ररवकर्कशः -महीतले=भूतले चलन् राहो रथस्तस्य रवः =शब्दः स इव कर्कशः = कठोर, श्रवणोत्पीडक इत्यर्थः ।

पुरुष इति । साटोपम् = साभिमानम् । वैतालिकापसद = वैतालिकाधम ! कतिपयग्रामटिकापर्यटनदुर्विदग्ध = कतिपया = अल्पसंख्याका, या ग्रामटिका = क्षुद्रा ग्रामा, तासु पर्यटनेन = भ्रमणेन दुर्विदग्ध = मिथ्याभिमानी, तत्सम्बुद्धौ संवरणीयम् = गोपनीयम्, विवरितुम् = प्रकाशयितुम्, उपक्रान्त = कृतोपक्रम, निर्वाहयामि = सङ्गतं करामि । दशदिग्विलासिनीकर्णपूरीकृतकीर्तिलवम्— दश = दशसंख्याका दिश एव विलासिन्यः = रमण्यः, तासां कर्णपूरीकृतम् =

नूपुरक—सखे ! किस की यह भूतल पर चलते हुए राहु के रथचक्र की ध्वनि के समान कर्कश (कर्णकटु और भयङ्कर) कण्ठध्वनि सुनायी पड़ रही है ?

मञ्जीरव—मैं भी इसे नहीं पहचानता, तो पहले इससे पूछता हूँ । (घूमकर) अहो ! आप कौन हैं ? जो समस्त देशों में घूमने वाले मुझे भी ज्ञात नहीं है ।

(प्रवेशकर)

पुरुष—(गर्व के साथ घूमकर क्रोध के साथ) अरे ! पापी ! अधम वैतालिक ! छोटे छोटे कतिपय गांवों में घूमने से अपने को निपुण समझने वाला !

पल्लवं त्रिभुवनवीरनामधेयं कूपमण्डूक इव सागरमविख्यातमपदिशसि। तत्कथय, क्व तावत्कर्णान्तिकनिशम्यगुणं कन्यारत्नं कार्मुकं च?

मञ्जीरकः—इदं तावत्कार्मुकम्, कन्या तु चरमं लोचनपथमवतरिष्यति।

पुरुषः—(ससंरम्भम्) धिङ् मूर्ख! कथं रे! राशिनक्षत्रपाठकानां गोष्ठीं न दृष्टवानसि? तेऽपि कन्यामेव प्रथमं प्रकटयन्ति, चरमं धनुः।

कर्णभूषणत्वेनाङ्गीकृतम्, कीर्तिरेव पल्लवम् = किसलयं यस्य तम्, त्रिभुवनवीरनामधेयम्—त्रिभुवने वीर इति नामधेयम् = नाम यस्य तम्, कर्णान्तिनिशमनीयगुणम्-कर्णान्तिकेन = श्रोत्रप्रान्तेन निशम्याः = श्राव्या इत्यर्थः, गुणाः = रूपसौन्दर्यादयो गुणा यस्य तत्, कार्मुकपक्षे कर्णान्तिके = कर्णप्रदेशं यावत्, निशम्य: = प्राप्यः, गुणः = मौर्वी यस्य तत्।

मञ्जीरक इति। चरमम् = पश्चात्, धनुरुद्यमनानन्तरम्। लोचनपथम् = लोचनयोः पन्था इति लोचनपथः, तम्। अवतरिष्यति = समागमिष्यति।

पुरुष इति। ससंरम्भम् = सक्रोधम्। राशिनक्षत्रपाठकानाम्—ज्योतिःशास्त्रज्ञानाम् = इत्यर्थः, गोष्ठीम् = सभाम्। कन्यामेव प्रथमं प्रकटयन्ति = राशिगणनाप्रसङ्गे कन्याराशिं प्रथममानयन्ति।

कैसे मुझ दशा—(ऐसा आधा कहने पर मन ही मन) कैसे गोपनीय बात को मैं प्रकाशित करने लगा? अच्छा, तो इसका ही निर्वाह करूँगा (अर्थात् इसी प्रारम्भ किये गये वाक्य को पूरा करूँगा) कैसे, दसों दिशारूपी सुन्दरियों ने जिसके कीर्ति किसलय को कर्ण भूषण बनाया है (सब दिशाओं में प्रसिद्ध) ऐसे 'त्रिभुवनवीर' नाम वाले मुझे भी, समुद्र को कूपमण्डूक के समान तू अप्रसिद्ध बता रहा है? तो कह कान के द्वारा सुनने योग्य गुणों वाली श्रेष्ठ कन्या और कान के पास तक खींचकर ले आने योग्य डोर वाला धनुष कहाँ है?

मञ्जीरक—धनुष तो यह (है) परन्तु कन्या (धनुष चढ़ाने के) पश्चात् नेत्रों के सामने आयेगी।

पुरुष—(क्रोध के साथ) मूर्ख! (तुझे) धिक्कार (है)। क्यों रे, राशि एवं नक्षत्र पढ़ाने वाले (ज्योतिषियों) की सभा (तूने) नहीं देखी? वे भी कन्या (राशि) को पहिले प्रकट करते हैं और धनु (राशि) को बाद में।

मञ्जीरक —(स्वगतम्) कथमय वाचाटत प्रकटयति। भवतु। अनयैव तावदेन निवारयामि । (प्रकाशम्) अये ! एतावति वीरमण्डले त्वमेव नक्षत्रविद्याकुशल ।

पुरुष —(सक्रोधम्) आ ! कथ रे ! अहमेव क्षत्रविद्यायामकुशल ?

मञ्जीरक —तत्कथ कार्मुकमन्तरेणैव कन्याविलोकनायोत्कण्ठसे।

पुरुष —(साटोपम्, परिक्रम्य) कथ ममापि चापारोपणे सशय ?

मञ्जीरक —अथ किम् ?

मञ्जीरक इति । स्वगतम् = आत्मगतम् । तल्लक्षण यथा—'अश्राव्य खलु यद् वस्तु तदिह स्वगत मतम्' इति । वाचाटताम् = वाचालताम्, वचनकौशलमित्यर्थ । अनयैव = वाचाटतयैव । एनम्=इमम्, आगत पुरुषम् । निवारयामि= मूकं करोमि । नक्षत्रविद्याकुशल —नक्षत्रविद्यायाम् = ज्योतिःशास्त्रे, कुशल = प्रवीण । पक्षान्तरे नेति पृथक् कृते न क्षत्रविद्यायाम् = शस्त्रविद्यायां न कुशल इति व्यङ्ग्योक्ति ।

मञ्जीरक इति । तत् = तर्हि । कार्मुकमन्तरेणैव = कार्मुकम् = धनु, धनुरुद्यमनमित्यर्थ । अन्तरेण एव = विनैव । 'अन्तरान्तरेण युक्ते' इति सूत्रेण द्वितीया ।

मञ्जीरक—(मन ही मन) कैसे यह वाचालता प्रकट कर रहा है। अच्छा, इसी (वाचालता) से ही इसका निवारण करता हूँ (अर्थात् इसका मुँह बन्द करता हूँ)। (प्रकट रूप में) इतने वीरों के समुदाय में तुम्हीं नक्षत्रविद्या में कुशल (हो) (क्षत्रविद्या अर्थात् शस्त्रविद्या में कुशल नहीं हो—यह तिरस्कार सूचक व्यङ्ग्य अर्थ है)

पुरुष—(क्रोधपूर्वक) आ ! क्यों रे ! मैं ही क्षत्रविद्या में कुशल नहीं हूँ ?

मञ्जरीक—तो कैसे धनुष के (उठाये) विना ही कन्या को देखने के लिए उत्कण्ठित हो रहे हो ?

पुरुष—(गर्व के साथ घूमकर) क्यों, मेरे भी धनुष उठाने में सन्देह है ?

मञ्जीरक—और क्या ?

पुरुषः—तदेषममाभिसंभाव्यते, यदि—

विनैवाम्भोवाहं बहुलरुचिलिप्ताम्बरतलात्
तडिल्लेखा हेमद्युतिविततिरम्या विलसति ॥

यदि वा—

विनैव स्वर्गङ्गां नभसि रभसोन्मुद्रशफरी-
परीवर्त्तैः साकं स्फुरति नवनीलोत्पलवनम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अम्भोवाहं विनैव बहुलरुचिलिप्ताम्बरतलात् हेमद्युतिविततिरम्या तडिल्लेखा विलसति ।

व्याख्या—अम्भोवाहम् = मेघम्, विनैव (अम्भोवाहमित्यत्र विनेति पदेन योगे द्वितीया) बहुलरुचिलिप्ताम्बरतलात्—बहुलाभिः रुचिभिः = कान्तिभिः, ग्रहनक्षत्रादीनां प्रचुरप्रकाशैरित्यर्थः, लिप्तम् = व्याप्तम्, अम्बरतलात् = व्योमतलम्, तस्मात्, हेमद्युतिविततिरम्या—हेम्नः = सुवर्णस्य द्युतिः = कान्तिस्तस्या विततिः = विस्तारः, तद्वत् रम्या = रमणीया, तडिल्लेखा = विद्युद्रेखा, विलसति = उद्दीप्यते चेत्, मेघं विनैव नभस्तलाद् विद्युद्रेखोद्दीप्यते चेत्तर्हि ममापि चापारोपणे संशयो भवेदिति भावः ।

सम्भावनान्तरं प्रतिपादयति—यदि वेति ।

अन्वयः—स्वर्गङ्गाम् विनैव नभसि रभसोन्मुद्रशफरीपरिवर्त्तैः साकम् नवनीलोत्पलवनं स्फुरति (यदि) ।

व्याख्या—स्वर्गङ्गाम् = आकाशगङ्गां विनैव, नभसि = आकाशे, रभसोन्मुद्रशफरीपरीवर्त्तैः साकम्—रभसेन = वेगेन उन्मुद्राः = चञ्चला याः शफर्यः = क्षुद्रमत्स्याः, तासां परीवर्त्तैः = प्रचलनैः साकम्, साकमितिपदेन योगे तृतीया । नवनीलोत्पलवनम्—नवानि = नूतनानि = यानि नीलोत्पलानि = नीलकमलानि तेषां वनम् = समुदायः, स्फुरति = विकसति चेत्, आकाशगङ्गारूपमाधारं

पुरुष—तो यह मेरे विषय में तभी सम्भव है यदि—बादल के बिना ही विभिन्न (ग्रह-नक्षत्रादि के) प्रकाशों से व्याप्त आकाश से सुवर्ण की कान्ति के विस्तार के समान रमणीय विद्युद्रेखा चमके ।

अथवा यदि—

आकाश गङ्गा के बिना ही आकाश में वेग से चञ्चल मछलियों के इधर

(विलोक्य, सविषादम्) कथमस्मत्प्रतिज्ञाभङ्गाय विपरीत सृष्टिनैपुण्य प्रणीतवान विधि । नन्विद तथैव पश्यामि । (विमृश्य) क एष विधि रपि मद्विरोधाय ?

मयि क्षीरोदन्वन्निभृतमुरजिन्नाभिनलिनीं
निजक्रीडावापीजलकमलिनीं कर्तुमनसि ।
पदच्युताशङ्की मधुरमधुरालापचतुर-
श्चतुर्भि स्वैर्वक्त्रैरनुनयपरोऽभूदयमपि ॥ ३४ ॥

विनैवाकाशे चञ्चला शफर्यो वर्गेनवस्ततश्चलन्ति नीलोत्पलसमूहश्च विकसति चेतर्हि ममापि हरचापारोपण मनाय स्यादिति भाव । असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिर लङ्कार । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३३ ॥

विलोक्येति । विलोक्य = दृष्ट्वा प्रासादाग्रभागेऽवस्थिता सातामित्यर्थ । विपरीतम = असम्भवमित्यर्थ, सृष्टिनैपुणम = रचनाकौशलम, प्रणीतवान् = कृतवान । नन्विद तथैव पश्यामि —खमध्ये विनैवाकाशे चञ्चलशफरीप्रचलन नवनीलोत्पलविकास च पश्यामीति भाव । मद्विरोधाय = मम विरोध कर्तुम ।

अन्वय –मयि क्षीरोदन्वन्निभृतमुरजिन्नाभिनलिनी निजक्रीडावापीजलकमलिनी कर्तुमनसि पदच्युताशङ्की अयम अपि चतुर्भि स्वै वक्त्रै अनुनयपर अभूत ।

व्याख्या—मयि = रावणे, क्षीरोदन्वन्निभृतमुरजिन्नाभिनलिनीम—क्षीरोदन्वान = क्षीरसागर, तत्र निभृत = स्थिर सुप्त इत्यर्थ, मुरजित = मुरारि,

इधर चलन के साथ नूतन नील कमलों का समूह विकसित हो ॥ ३३ ॥

(देखकर, विषाद के साथ) कैसे हमारी प्रतिज्ञा का भङ्ग करने के लिए विधाता ने विपरीत (अर्थात् असम्भव) सृष्टिनैपुण्य का प्रणयन किया । निश्चय यह वैसा ही देख रहा हूँ (अर्थात बादल के बिना ही आकाश में बिजली का चमकना, आकाशगङ्गा के बिना ही आकाश में चञ्चल मछलियों का तैरना और नीलकमल का विकसित होना देख रहा हूँ) । (विचार कर) मेरा विरोध करने के लिए यह ब्रह्मा भी कौन है ?

क्षीर सागर में शान्त (अर्थात् प्रसुप्त) विष्णु की नाभिकमलिनी को जब मैंने अपनी क्रीडावापी की जलकमलिनी बनाना चाहा था, (उस समय) अपने

(पुनर्निपुणं निरूप्य) अये ! सादृश्येन प्रतारितोऽस्मि ।

तडिल्लेखा नेयं विलसति परं सौधशिखरे
वसन्त्याः कस्याश्चित् कनकरुचिरा गात्रलतिका ।
अपीदं नोन्मज्जत् कुवलयवनं मीनतरलं
परं तस्या एव स्फुरति नयनालोकललितम् ॥ ३५ ॥

विष्णुरित्यर्थः, तस्य नाभिनलिनीम् = नाभिकमलिनीम्, निजक्रीडावापीजलकमलिनीम्—निजस्य = स्वस्य या क्रीडावापी तस्याः जलकमलिनीम्, कर्तुमनसि—कर्तुं मनो यस्य तस्मिन् ('यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सप्तमी) पदभ्रंशाशङ्की—पदस्य = आधारस्थानस्य भ्रंशम् = च्युतिम्, विनाशमित्यर्थः आशङ्कते तच्छीलः, अयमपि = विधिरपि, मधुरमधुरालापचतुरैः—मधुरमधुराः = सातिशयमधुरा ये आलापाः = सम्भाषणानि, तेषु चतुरैः, चतुर्भिः = चतुःसङ्ख्याकैः, स्वैः = निजैः, वक्त्रैः = मुखैः, अनुनयपरः = प्रार्थनापरः, अभूत् । एतादृशस्य ममानुनयपरस्तादृशोविधिर्विरोधेन किं करिष्यतीति भावः । 'शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—इयम् तडिल्लेखा न विलसति, परं सौधशिखरे वसन्त्याः कस्याश्चित् कनकरुचिरा गात्रलतिका । इदमपि उन्मज्जत् मीनतरलम् कुवलयवनम् न, परम् तस्याः एव नयनालोकललितम् स्फुरति ।

व्याख्या—इयम्=सौधशिखरे दृश्यमाना तडिल्लेखा=विद्युद्रेखा न विलसति=उद्दीप्यते, परम् = परन्तु सौधशिखरे = प्रासादोपरि वसन्त्याः = स्थितायाः, कस्याश्चित् = अपरिचितरमण्याः, कनकरुचिरा=सुवर्णवत् रमणीया, गात्रलतिका=कायवल्लरी (विलसति) । इदमपि = एतदपरमपि उन्मज्जत् = निःसरत्, मीनतरलम् = मत्स्यचञ्चलम्, कुवलयवनम् = नीलकमलवनम् न (अस्ति)

आधार (उस नाभिकमलिनी) के विनाश की आशङ्का करने वाला यह (ब्रह्मा) भी अत्यन्त मधुर भाषण में चतुर अपने चारों मुखों से (मेरे) अनुनय में तत्पर हुआ था ॥ ३४ ॥

(फिर भली-भाँति देखकर) अरे ! सादृश्य के कारण मैं धोखा खा गया ।

यह विद्युद्रेखा नहीं, बल्कि प्रासाद के अग्रभाग पर अवस्थित, किसी रमणी की, सोने की-सी रमणीय कान्ति वाली गात्रलतिका विलसित हो रही है । और

(विमाव्य) नून तदेव सीताभिधान कन्यारत्नम् ।

(पुन सहर्षम्)

राजीव ! जीवसि मुघा, न सुधाकर ! त्व-
मस्या सम पदनखस्य, कुतो मुखस्य ?
अग्रे दृशोर्मृगदृश कतम. कुरङ्ग-
स्तत्खञ्जन ! त्वमपि किं जनरञ्जनाय ॥ ३६ ॥

परम् = किन्तु तस्या एव=तस्या ललनाया एव, नयनालोकललितम्—नयनयो = नेत्रयो आलोकस्य = दर्शनस्य ललितम् = विलास , स्फुरति = प्रकाशते । विद्युल्लेखयेव गात्रलतिकया, शफरीविभ्रमशालिभ्या नलकमललोचनाभ्या चोपलक्षिता कनकरुचिरा काचिल्ललना सौधशिखरे विलसतीति भाव । अत्र निश्चयान्त सन्देहालङ्कार, त लक्षण यथा–'स देहप्रकृतेऽन्यस्य सशय प्रतिभोत्थित । शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा' । इति । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३५ ॥

सीता सौन्दर्यं वर्णयति—राजीवेति ।

अन्वय —राजीव ! मुघा जीवसि, सुधाकर ! त्वम् अस्या पदनखस्य सम न, मुखस्य कुत. ? मृगदृश दृशो अग्रे कुरङ्ग कतम ? तत् खञ्जन ! त्वमपि किं जनरञ्जनाय ?

व्याख्या—राजीव = कमल ! मुधा = व्यर्थमेव, जीवसि=प्राणान् धारयसि, सीता-मुखसादृश्यमलभमानस्य तव सत्ता मुधैवेति भाव । सुधाकर=चन्द्र, त्वम्, अस्या = सीताया पदनखस्य = चरणनखरस्य, सम = तुल्य , न (असि) मुखस्य कुत = कस्माद्धेतो (सम असि) ? ते मुखसादृश्यकथा तु दूरे तिष्ठतु, सीतायाश्चरणकमलनखसादृश्यमपि न लभसे इति भाव । मृगदृश –मृगस्येव

यह दिखायी पडता मछलियो स तरल नीलकमल का वन भी नही है बल्कि उसी (रमणी) के नेत्रों की दृष्टि का विलास स्फुरित हो रहा है ॥ ३५ ॥

(विचार कर) अवश्य वही सीतानामक कन्यारत्न है ।

(फिर हर्ष के साथ)

कमल ! तू व्यर्थ जी रहा है । सुधाकर ! तू इस (सीता) के चरणनख के (भी) समान नही (है) मुख के समान कैसे (होगा) ? मृगाक्षी (सीता)

(पुनः सरभसम्)

कदली कदली, करभः करभः,
करिराजकरः करिराजकरः ।
भुवनत्रितयेऽपि विभर्त्ति तुला-
मिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः ॥ ३७ ॥

दृशौ = नेत्रे यस्यास्तस्याः, मृगाक्ष्याः सीतायाः दृशोः = नेत्रयोः अग्रे = पुरः तुलनायामिति भावः, कुरङ्गः = मृग', कतमः = न कोऽप्पीत्यर्थः। तत्=तस्मात् (कमलचन्द्रमृगादीनभिभूतान् दृष्ट्वा) खञ्जन = खञ्जरीट ! त्वमपि, किमिति प्रश्ने, जनरञ्जनाय = लोकमनोविनोदाय, त्वमपि जनरञ्जनाय नासीति भावः। नन्वत्र यस्या दृशोरग्रे मृगस्य पराभवः प्रतिपादितस्तस्या एव सीताया मृगदृक्पदेन नेत्र-सौन्दर्यप्रतिपादनाद् व्याहतत्वं नाम दोष इति चेन्न, सीतारूपविलोकनमुग्धस्य रावणस्योक्तेः। 'त्वमस्याः पदनखस्य समो न, मुखस्य कुतः ?' इत्यत्र 'अर्थापत्तिर-लंकारः'। प्रसिद्धोपमानानां निष्फलत्वाभिधानेन 'प्रतीपा'लङ्कारश्च। द्वयो-रङ्गाङ्गिभावेन संवलनात् सङ्करः। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ३६ ॥

पुनरिति। सरभसम् = सहर्षम्।

सीताया ऊरू वर्णयन्नाह—कदलीति।

अन्वयः—कदली कदली, करभः, करभः, करिराजकरः करिराजकरः, चमूरुदृशः इदम् ऊरुयुगम् भुवनत्रितयेऽपि तुलाम् न विभर्ति।

व्याख्या—कदली = रम्भापादपः, कदली = शैत्यातिशयविशिष्टकदलीवृक्षः अतो नावहति समशीतोष्णस्योरुयुगलस्य सादृश्यमिति भावः। करभः = मणि-बन्धादारभ्य कनिष्ठिकापर्यन्तं हस्तभागः (मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो

के नेत्रों के आगे (अर्थात् तुलना में) मृग क्या है ? (अर्थात् कुछ भी नहीं है) ! तो खञ्जन ! तू भी क्या लोगों के मनोरञ्जन के लिए है ? (अर्थात् जब कमल, चन्द्र और मृग निष्फल सिद्ध हो चुके तो खञ्जन ! तू क्या सीता के नेत्रों की तुलना में लोकमनोरञ्जक सिद्ध हो सकेगा) ॥ ३६ ॥

(पुनः हर्ष के साथ)

कदली (तो) कदली (शीतल एवं जड) है, करभ (हथेली का पार्श्व,

मञ्जीरक —सखे नूपुरक ! किमेतत् । कस्याश्चिदपि हस्तादादाय सानन्दमालोकयत्यन्त पुरिको जन ?

नूपुरक —सखे ईदृश सम्भावयामि यत्किल गुरुभवनादागतया चन्दनिकया समर्पित चित्रपट विलोकयतीति (सह एरिस सभावेमि ज किर गुरुभवणादो आगदाए चन्दणिआए समप्पिद चित्तपड विलोवेदि त्ति)

वहि), करभ = नितान्तमशोभनो हस्तभाग , अत सोऽपि शोभमानोरुयुगलस्य सादृश्य न भजते इति भाव । करिराजकर = करिराजस्य = गजश्रेष्ठस्य कर = शुण्डादण्ड , करिराजकर = सातिशयकठोरो गजश्रेष्ठस्य शुण्डादण्ड एवास्ते । एव सोऽपि नितान्तमृदुलस्य तस्या ऊरुयुग्मस्य सादृश्य नावहति । चमूरुदृश = चमूरु = मृग (चमूरुश्चेति हरिणा अमी' इत्यमर) तस्येव दृशौ=नयने यस्यास्तस्या , हरिणलोचनाया इत्यर्थ , इदम् ऊरुयुग्मम्, भुवनत्रितयेऽपि=त्रैलोक्येऽपि, तुलाम्=सादृश्यम्, न बिभर्ति=न धारयति । लोकत्रयेऽपि प्रसिद्धानि उपमानानि ऊरुयुगलसादृश्यं नावहन्तीति भाव । अत्र द्वितीयकदल्यादिशब्दा पौनरुक्त्यभिया सामान्यकदल्यादिरूपे मुख्यार्थे बाधिता आत्म्य द्विगुणविशिष्टकदल्यादिरूपमर्थं बोधयन्ति । जाड्याद्यतिशयश्च व्यङ्ग्य । तस्मादर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिरत्र । इति साहित्यदर्पणकार । तोटकवृत्तम् । तल्लक्षण यथा—'वद तोटकमब्धिसकारयुतम्' इति ॥ ३७ ॥

मञ्जीरक इति—कस्याश्चित् = अन्त पुरपरिचारिकाया अपि । अन्त पुरिको जन = अन्त पुरनिवासिलोक ।

नूपुरक इति—सम्भावयामि = मन्ये ।

भाग) करभ (तुच्छ) है, गजराज का सूँड, गजराज का सूँड (अर्थात् अत्यन्त कठोर) है, मृगनयनी (सीता) के दोनो ऊरु (जघो के ऊपर वाले भाग) त्रिभुवन में (अपनी) समता नही रखते है ॥ ३७ ॥

मञ्जीरक—सखे नूपुरक ! अन्त पुर के लोग किसी (परिचारिका) के हाथ से यह क्या लेकर आनन्द के साथ देख रहे हैं ?

नूपुरक—मैं ऐसा समझता हूँ कि गुरुगृह से लौटी हुई चन्दनिका द्वारा समर्पित चित्रपट लोग देख रहे हैं।

मञ्जीरकः—स त्वया दृष्टश्चित्रपटः ?

नूपुरकः—भर्तृदारिका तावदन्यश्च कोऽपि नीलोत्पलदामश्यामलः कुसुमशरसदृशरूपः कुण्डलीकृतहरचापश्चक्रवर्त्तिकुमारः। (भट्टदारिआ दाव अण्णच्च को वि णीलुप्पलदामसामलओ कुसुमसरसरिसरूओ कुण्डलीकिदहरचाओ चक्कवट्टिकुमारो)

मञ्जीरकः—अहह! मुग्धः खल्वबलाजनः। यदेवमपि कठोरप्रतिज्ञे राजनि किशोरवयसं जामातरमाशंसति। सखे! जानासि केन लिखितं चित्रमिति ?

नूपुरकः—जानामि महर्षेर्जनकस्य दुहित्रा धर्मचारिण्या। (जाणामि, महेसिणो जणकस्स दुहिआए धम्मआरिणीए)

नूपुरक इति। भर्तृदारिका = स्वामिकन्या, सीतेत्यर्थः। नीलोत्पलदामश्यामल.—नीलोत्पलानाम् = नीलकमलानां दाम = माला तद्वत् श्यामलः = श्यामवर्णः। कुसुमशरसदृशरूपः-कुसुमशरः = कामदेवस्तेन सदृशं रूपं यस्य सः। कुण्डलीकृतहरचाप.—कुण्डलीकृतः = कर्णभूषणीकृतः, कर्णान्तपर्यन्तमाकृष्ट इति भावः, हरस्य = शिवस्य चापः = धनुर्येन सः।

मञ्जीरक इति। मुग्धः = मूढः, विवेकहीन इत्यर्थः। राजनि = जनके। कठोरप्रतिज्ञे = कठोरा प्रतिज्ञा यस्य तस्मिन्। किशोरवयसम् = किशोरावस्थम्, अप्राप्तयौवनमिति भावः। आशंसति = कामयते।

नूपुरक इति। दुहित्रा = कन्यया।

मञ्जीरक—वह चित्रपट तुमने देखा है ?

नूपुरक—राजकुमारी सीता और दूसरा नीलकमलमालासदृशश्यामवर्ण, कामदेव के समान सुन्दर, शिवधनुष को कान तक खींचकर कुण्डल बनाये हुए एक सम्राट्कुमार (उसमें चित्रित हैं)।

मञ्जीरक—अहह! स्त्रीजाति विवेकहीन होती हैं जो इस प्रकार राजा (जनक) के कठोर प्रतिज्ञा करने पर भी किशोर अवस्था के जामाता की कामना करती है। मित्र! जानते हो, किसने वह चित्र लिखा है ?

नूपुरक—जानता हूँ, महर्षि जनक की पुत्री धर्मचारिणी ने (लिखा है)

मञ्जीरकः—इदानीमुद्भिन्नो मम मनोरथाङ्कुरः । देवी मैत्रेयी सिद्धयोगिनी कालत्रयदर्शिनी सा नालीकमालिखति ।

नूपुरकः—सर्वं सम्भाव्यते यद्ययं जरठाङ्ग इतोऽपसरति । (सव्वं सम्भावीयदि जइ इमो जरठङ्गो इदो ओसरदि)

मञ्जीरकः—आः, कोऽयम्? किमिदम्? एनमपसारयामि । अये! किमितस्ततो विलोकयसे? नन्विदं शाम्भवं धनुस्तदिहैव दीयतां दृष्टिः ।

पुरुषः—आः किमुच्यते दृष्टिरिति, नन्वियं मुष्टिरपि दीयते ।

(परिक्रम्य, शेखरभ्रंशमभिनीय सविषादं विलोकयति)

मञ्जीरक इति । मनोरथाङ्कुरः—अभिलाषप्ररोहः । उद्भिन्नः = उद्गतः । अलीकम् = मिथ्या ।

नूपुरक इति । जरठाङ्गः—जरठानि = जीर्णानि, अङ्गानि = शरीरावयवाः यस्य तथाभूतः, वृद्ध इत्यर्थः ।

मञ्जीरक इति । किमिदम् = अपसारणं तु सुकरमेवेति भावः । शाम्भवम्= शम्भोरिदं शाम्भवम् = शिवसम्बन्धि ।

पुरुष इति । शेखरभ्रंशम्—शेखरस्य = शिरोभूषणस्य, मुकुटस्येत्यर्थः, भ्रंशम् = पतनम् ।

मञ्जीरक—(हर्ष के साथ) अब मेरा मनोरथरूप अङ्कुर उग आया (अर्थात् मनोरथ पूर्ण होने की आशा बलवती हो गयी) (क्योंकि) देवी मैत्रेयी त्रिकालदर्शिनी सिद्धयोगिनी (हैं)। वे मिथ्या (चित्र) नहीं लिख सकती हैं।

नूपुरक—सब कुछ सम्भव हो सकता है, यदि यह बूढ़ा यहाँ से हट जाय।

मञ्जीरक—यह कौन (है)? यह क्या (बड़ी बात) है? इसे हटाता हूँ। अरे! क्या इधर-उधर देख रहे हो? यह शिव का धनुष है, तो इसी पर दृष्टि दो।

पुरुष—आः, दृष्टि की बात क्या कहते हो? यह मुष्टि भी देता हूँ।

(घूमकर, मुकुट के गिरने का अभिनय कर, विषाद के साथ (उसी मुकुट को) देखता है)

मञ्जीरकः—

अये लङ्केश विस्रस्तशेखरालोकनेन ते।
समयो याति, तत्तूर्णं गृहाण हरकार्मुकम् ॥ ३८ ॥

पुरुषः—(स्वगतम्) कथमनेन विदितोऽस्मि (विमृश्य) घुणाक्षर-न्यायगतं शब्दसादृश्यमेतत् (प्रकाशम् । ससंरम्भम्)

अन्वयः—अये ! ते केशविस्रस्तशेखरालोकनेन अलम्। समयो याति। तत्तूर्णं हरकार्मुकम् गृहाण।

व्याख्या—अये इति सम्बोधने। ते=तव, केशविस्रस्तशेखरालोकनेन अलम्—केशात् = मूर्द्धजात्, शिरस इत्यर्थः, विस्रस्तस्य = पतितस्य, शेखरस्य = मुकुटस्य आलोकनेन = दर्शनेन अलम् = किञ्चित्साध्यं नास्ति। समयः याति—वृथा कालो गच्छति तत् तूर्णम् = शीघ्रम्। हरकार्मुकम् = शिवस्य धनुः, गृहाण।

'लङ्केश' इति पदच्छेदे-अये = हे, लङ्केश, ते = तव, विस्रस्तशेखरालोकनेन विस्रस्तः = भूतले पतितो यः शेखरः = मुकुटस्तस्य आलोकनेन = दर्शनेन अलम् शेषं पूर्ववत्। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ३८ ॥

पुरुष इति। विदितः = ज्ञातः, रावणोऽयमिति ज्ञात इत्यर्थः। रावणेन लङ्केशेति पदच्छेदवशादेव चिन्तितमिति ज्ञेयम्। घुणाक्षरन्यायगतम् = संयोगवशात् सञ्जातमित्यर्थः। ससंरम्भम् = सक्रोधम्।

मञ्जीरक—(१) अरे ! तुम्हें केशों से गिरे हुए मुकुट को देखने से क्या मिलेगा ? समय (व्यर्थ) जा रहा है, तो शीघ्र शिवधनुष को (उठाने के लिए) पकड़ो।

(२) अरे लङ्केश ! (भूमि पर) गिरे हुए मुकुट को देखने से तुम्हें क्या मिलेगा ? समय (व्यर्थ) जा रहा है, तो शीघ्र शिवधनुष को (उठाने के लिए) पकड़ो ॥ ३८ ॥

पुरुष—(मन ही मन) इसने मुझे कैसे जान लिया ? (विचार कर) घुणाक्षरन्याय से प्राप्त (अर्थात् संयोगवश होने वाला) यह शब्दसादृश्यमात्र है। (प्रकट रूप में। क्रोध के साथ)

सावलेपकमनीयमुदस्य क्रीडयैव विनिबध्य च मौर्वीम् ।
कृष्टमेव हरकार्मुकमेतद् दृश्यमत्र सुदृशो हृदयञ्च ॥ ३९ ॥

(धनुषि हस्तमर्पयित्वा । स्वगतम्) कथ न चलत्यपि । भवतु । (प्रकाशम्) अये ! धनुरिति वक्र पन्था । तत्सरलेन करवालधारापथेन सीतामानयामि ।

मञ्जीरक —कथमतिप्रगल्भसे । न विलोकयसि ।

अन्वय —सावलेपकमनीयम् उदस्य मौर्वीम् च क्रीडया विनिबध्य एतत् हरकार्मुकम् कृष्टम् एव अत्र सुदृश = दृश्यम् हृदयम् च (कृष्टमेव)

व्याख्या—सावलेपकमनीयम्–अवलेपेन = दर्पेण सहितमतएव कमनीयम् = सुन्दर यथा स्यात्तथा उदस्य = उत्थाप्य हरकार्मुकमिति भाव मौर्वीम् = प्रत्यञ्चा च क्रीडया = लीलया अनायासेनैवेति भाव, विनिबध्य = आरोप्य, एतत् = पुरोवर्त्ति हरकार्मुकम् = शिवधनु, कृष्टमेव = आकृष्टमेव, नास्मिन् सन्देह इति भाव । अत्र = इह । दृश्यम् = मनोहरम्, सुदृश = शोभनलोचनाया सीताया इत्यर्थ हृदयम् = मनश्च कृष्टमेव = आकृष्टमेव । मम पराक्रम दृष्ट्वा सीताऽपि प्रसन्नता यास्यतीति भाव । स्वागता वृत्त तल्लक्षण यथा–स्वागतेति रनभाद् गुरुयुग्मम् इति ॥ ३९ ॥

धनुरीति– वक्र पन्था = कुटिल मार्ग समयापन्नात्यथ । तत् = तस्मात् सरलेन – निर्गतेन, अकुटिलेन च । करवालधारापथेन करवालस्य = खड्गस्य धारा एव पन्था तेन, खड्गेन युद्ध करिष्यति भाव ।

गर्व के साथ सुन्दर ढग से उठाकर डोर को भी लीलापूर्वक (अनायास) चढाकर यह शिवधनुष खींच ही लिया गया । यहाँ शोभन नेत्रो वाली सीता का मनोहर हृदय भी (आकृष्ट कर) ही लिया गया इसमे तनिक भी सन्देह नही है) ॥ ३९ ॥

(धनुष में हाथ लगाकर । मन ही मन) क्यो हिल भी नही रहा है ? अच्छा, (प्रकट रूप में) अरे ! धनुष तो टेढा मार्ग है (इसमें समय लगेगा) अत सीधे तलवार की धार के मार्ग से (अर्थात् तलवार के बल पर) सीता को ले आता हूँ ।

मञ्जीरक– क्यों अधिक धृष्टता कर रहे हो ?

रोषारुणीकृतविलोचनकान्तिभिन्न-
भ्रूभङ्गभीमघटितभ्रुकुटीविटङ्कम्।
उत्खातलोलकरवाललताकराल-
दोर्दण्डचण्डचरितं नरवीरचक्रम् ॥ ४० ॥

पुरुषः—(कृपाणमुद्यम्य) (परितो विलोक्य) पश्यत पश्यत।

अन्वयः—रोषारुणीकृतविलोचनकान्तिभिन्नभ्रूभङ्गभीमघटितभ्रुकुटीविटङ्कम् उत्खातलोलकरवाललताकरालदोर्दण्डचण्डचरितम् नरवीरचक्रम् (न विलोकयसि)

व्याख्या—रोषारुणीकृतेत्यादिः—रोषेण = रावणकृतात्मश्लाघाजनितेन क्रोधेन अरुणीकृते = रक्तवर्णीकृते ये विलोचने = नेत्रे, तयोः कान्तिः = आभा, तया भिन्नौ = संश्लिष्टौ भ्रूभङ्गौ = भ्रूकौटिल्ये, ताभ्यां भीमम् = भयानकं यथा स्यात्तथा घटितः = कृतः भ्रुकुटीविटङ्कः = भ्रुकुट्याः उन्नतः प्रदेशो यस्य तत्, उत्खातलोलकरवाललताकरालदोर्दण्डचण्डचरितम्—उत्खाताः = कोशात् हठात् निःसारिताः, लोलाः = चञ्चलाः करवाललताः = खड्गलता, ताभिः करालाः = भयानकाः, दोर्दण्डाः = भुजदण्डास्तैः चण्डम् = उग्रम्, चरितं यस्य तत्, नरवीरचक्रम्–नरवीराणाम् = नरेन्द्राणां चक्रम् = समुदायं न विलोकयसि ? बलात् सीतामानयतस्तव विरोधे एते सर्वेऽपि नरवीरास्तत्परा भविष्यन्तीतिभावः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ४० ॥

क्रोध से रक्तवर्ण नेत्रों की कान्ति से संश्लिष्ट भ्रूभङ्गों से भयानक भ्रुकुटी के उन्नत प्रदेश वाले, (म्यान से) निकाली गयी चञ्चल खड्ग-लता से भयङ्कर भुजदण्डों के द्वारा उग्र आचरण करने वाले राजाओं के समुदाय को क्या नहीं देख रहे हो ? (बलात् सीता को ले आने पर तुम्हारे विरोध में ये सभी राजा तत्पर होंगे) ॥ ४० ॥

पुरुष—(खड्ग उठा कर। चारों ओर देखकर) देखो-देखो,

निर्भिन्नवैरिकरिकुम्भतटीविमुक्त-
मुक्ताफलप्रकरतारकिताम्बरश्री ।
य कालरात्रिरिव भाति रणे स एव
रे रे नृपा मम कृपाकृपण कृपाण ॥ ४१ ॥

(आकाशे कर्णं दत्त्वा) किं ब्रूथ ?

एक कथ बहुतरैं सुभटैं करोमि,
सग्रामडम्बरमिति त्यज रे विषादम ।
य मन्यसे सुलभमत्र, सहैव तेन
चेतो निधेहि समरे समरेखयैव ॥ ४२ ॥

अन्वय —रे र नृपा निर्भिन्नवैरिकरिकुम्भतटीविमुक्तमुक्ताफलप्रकरतारकिताम्बरश्री , य रणे कालरात्रिरिव स एव कृपाकृपण मम कृपाण भाति ।

व्याख्या—'र र इत्यनादरद्योतनाय । नृपा -राजान । निर्भिन्नेत्यादि—निर्भिना = विदारिता , वैरिकरिणाम = शत्रुगजाना कुम्भतट्य = शिरोभागा , ताभ्यो विमुक्तानि = विकीर्णानि यानि मुक्ताफलानि = मौक्तिकानि तेषा प्रकरेण= समूहेन तारकिता=सनक्षत्रीकृता अम्बरश्री -आकाशशोभा यन स । य (कृपाण) रणे = युद्धे, कालरात्रिरिव = प्रलयकालरात्रिरिव, शत्रुमहासंहारत्वादिनिमाव । स एव कृपाकृपण -कृपाया कृपण , निदय इत्यथ मम कृपाण भाति स्फुरति । कृपाकृपणमतिभीषण मम कृपाण विलोक्य निमूनभवद्भिस्तदर्थं भाव्यमिति रावणस्याभिप्राय । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कार , वसन्ततिलकावृत्तम ॥ ४१ ॥

आकाशभाषित प्रत्याह—एक कथमिति ।

अन्वय —र एक बहुतरै सुभटै कथ सङ्ग्रामडम्बर करोमि इति विषाद त्यज । अत्र य सुलभ मन्यस, तन सहैव समर समरेखया एव चेत निधेहि ।

व्याख्या— र इति स्वप्रधानकसम्बोधनम । एक = एकाकी, सहायकरहित

र र राजा लोगो ! शत्रुओ के गजों के विदीर्ण किये गये कुम्भस्थल से विकीर्ण मोतियों के द्वारा आकाश की शोभा को ताराओ से युक्त सी करने वाला और युद्ध में जो महाप्रलय की रात्रि क समान है, वही मेरा कृपा करने में कृपण (अर्थात कृपा न करने वाला) कृपाण स्फुरित हो रहा है ॥ ४१ ॥

(आकाश में कान लगा कर) क्या कह रहे हो ?

रे ! मैं अकेला बहुत से वीरो के साथ सङ्ग्राम का आडम्बर कैसे करूँगा—

अहो ! धृष्टता मनुष्यकीटानाम् । तदेतान्निजमूर्त्यैव भीषयामि । (साटोपं निष्क्रान्तः) ।

(नेपथ्ये)

मन्दाकिनी-कनकपद्म-बिसाङ्कुराणां
किञ्चोग्रदिग्गजलसद्दशनाङ्कुराणाम् ।
उन्मूलनैरलमनीयत शैशवं यै-
स्तेऽमी भुजा मम निजाः प्रकटीभवन्तु ॥ ४३ ॥

इत्यर्थः, बहुतरैः = बहुभिः संख्यायाम्, सुभटैः = महावीरैः, कथम् = केन प्रकारेण सङ्ग्रामडम्बरम्–युद्धाडम्बरम्, करोमि इति = एतादृशम्, विषादम् = खेदम्, त्यज = जहिहि । अत्र = इह स्थाने, यम् = यं माम्, सुलभम् = सुखेन जेयम्, मन्यसे = जानासि, तेन = तादृशेन मया, सहैव = सार्धमेव, समरे = सङ्ग्रामे, समरेखया एव = समा = तुल्या, रेखा = तुल्यतेत्यर्थः, तथा एव, चेतः = मनः, निधेहि = स्थापय । सर्वे सम्भूय मया सह युद्धं कुर्वन्तु । अहमेवाकी सर्वेभ्योऽलमित्यभिप्रायो दशकण्ठस्य । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—मन्दाकिनीकनकपद्मबिसाङ्कुराणाम् किञ्च उग्रदिग्गजलसद्दशनाङ्कुराणाम् उन्मूलनैः यैः शैशवम् अलम् अनीयत, ते अमी मम निजाः भुजाः प्रकटीभवन्तु ।

व्याख्या—मन्दाकिनीकनकपद्मबिसाङ्कुराणाम्–मन्दाकिनी=स्वर्गङ्गा, तस्याः कनकपद्मानाम् = स्वर्णकमलानाम् बिसाङ्कुराः=मृणालदण्डप्ररोहास्तेषाम्, किञ्च= अथ च, उग्रदिग्गजलसद्दशनाङ्कुराणाम्–उग्राः = भयङ्करा ये दिग्गजाः = ऐराव-

इस खेद को तू छोड़ । यहाँ जिस (मुझको) सुलभ (सुजेय) समझ रहा है, उसी के साथ तुल्यता-भाव से ही युद्ध में मन लगा (अर्थात् दत्त-चित्त होकर युद्ध कर) ॥ ४२ ॥

मनुष्य कीटों की (भी) कैसी धृष्टता है ! अतः इन्हें अपने (वास्तविक) शरीर से ही डराता हूँ । (गर्व के साथ निकल गया) ।

(नेपथ्य में)

जिन मेरे बाहुओं ने आकाशगङ्गा के, स्वर्णकमलों के मृणालाङ्कुरों तथा उग्र

(ततः प्रविशति निजरूपेण दशकण्ठः)

नूपुरक —वयस्य ! पश्य पश्य कौतूहलं यदेकस्यापि मानुषस्य दश मस्तकानि । (वअस्स ! पेक्ख पेक्ख कोदूहलं ज एक्कस्स वि माणुसस्स दस मत्थआइ)

मञ्जीरक —नैष मानुषः राक्षसराजः खल्वसौ दशकण्ठः ।

नूपुरक —तत्परित्रायतां मां वयस्य । नूनं राक्षसमात्र एव सम्मुखपतितं मानुषं चर्वयति किं पुना राक्षसराजः । (ता परित्ताअदु मं वअस्सो, ण रक्खसमत्तो जव्व समुप्पडिदं माणसं चव्वइ किं उण रक्खसराओ)

मञ्जीरक —अलं कातरतया । सकलवीरवृन्दवन्दनीया हि वन्दिजातिः । नतः कथमस्मद्विषेषु सकलभुवनैकवीरो विपरीतं वर्तिष्यते दशकण्ठः ।

दाददस्तेषां लसन्त = शोभमाना दन्ताङ्कुराः -दन्तप्ररोहाः, नूनना दन्ता इत्यर्थः, तेषाम् उन्मूलने – उत्पाटने ये = मम भुजे, शैशवम् = बाल्यम्, अलम = पूर्णरूपेण अनीयत = अयाप्यत, ते अमी मम निजा = स्वकीया, भुजा प्रकटीभवन्तु-प्रकाशा या तु । शैशव स्वगङ्गाक्नस्पर्शदिशाङ्कुरोत्पाटनेन शैशवेऽपि रावणस्याप्र देवानामकिञ्चित्करत्व दिग्गजाना दन्तोत्पाटनेन शक्तिशालित्व च सूचितम् । वसन्ततिलकावृत्तम ॥ ४३ ॥

नपुरक इति । कौतूहलम् = कौतुकम ।

मञ्जीरक इति—कातरतया अलम = कातर =भीरुस्तस्य भाव कातरता

दिग्गजों के शोभन दन्त प्ररोहों के उखाडन में सुखारुढ स बाल्यकाल व्यतीत किया व य मेरे अपने बाहु प्रकट हो ॥ ४३ ॥

(तदनन्तर अपने रूप में रावण प्रवेश करता है)

नपुरक—मित्र यह देखो (यह) तमाशा देखो जो कि एक ही मनुष्य के दस सिर (हैं)।

मञ्जीरक—यह मनुष्य नहीं यह राक्षसराज रावण है ।

नपुरक—तो मित्र मेरी रक्षा करे। राक्षस मात्र ही, सामने पड गये मनुष्य को चबा जाता है तो फिर राक्षसराज की क्या बात ?

मञ्जीरक—डरने की आवश्यकता नहीं (हम) वन्दी की जाति सकल

नूपुरकः—(सहर्षम्) यदीदृशं तर्हि किमप्येनं निःशङ्कं प्रेक्ष्यामि। (उपसृत्य) अये ! किमितीयन्ति मस्तकान्युह्यन्ते किमिति वैकं रक्षित्वा पुनरपराणि यत्रकुत्रचिन्न निक्षिप्यन्ते। (जइ एरिसं ता किंपि इमं णीसङ्को पुच्छिस्सं अये, किंत्ति एत्तिआइं मत्थआइं उव्वहीअन्ति, किंति वा एकं रक्खिअ उण अवराइं जत्तकुत्तवि ण णिक्खिप्पन्ति)

रावणः—आः पाप ! कथमस्थाने शिरश्छेदवार्त्तयाऽमङ्गलमावेदयसि। तदेष वैतालिक इत्युपेक्ष्यः।

मञ्जीरकः—(विहस्य) स्थाने शिरश्छेदवार्त्तापि भवतो मङ्गलाय ?

रावणः—अथ किम ? ननु रे—

तथा अलम्, भयं न कार्यमित्यर्थः। वन्दिजातिः = वन्दिनाम् = स्तुतिपाठकानां जातिः। सकलवीरवृन्दवन्दनीया—सकलानाम् = समग्राणा वीराणां वृन्देन = समूहेन वन्दनीया = सम्माननीया अस्मद्विधेषु = अस्मादृशेषु। दशकण्ठः=रावणः। तत्कथं विपरीतम् = नीतिविरुद्धम्। वर्त्तिष्यते = आचरणं करिष्यति।

नूपुरक इति। उह्यन्ते = धार्यन्ते।

रावण इति। वैतालिकः = स्तुतिपाठकः। उपेक्ष्यः = उपेक्षणीयः, न हन्तव्य इत्यर्थः।

वीरों के लिए आदरणीय है, तो सकल भुवन में अद्वितीय वीर रावण हम-जैसों के प्रति (नीति के) विरुद्ध वर्ताव क्यों कर करेगा ?

नूपुरक—(हर्ष के साथ) यदि ऐसा (है) तो निःशङ्क होकर इससे कुछ पूछूँगा। (समीप जाकर) क्यों इतने सिरों को धारण करते हो अथवा एक (सिर) को रखकर औरों को क्यों नहीं जहाँ कहीं (दूसरी जगह) डाल देते ?

रावण—आः पापिन् ! (ऐसे) अनुपयुक्त अवसर पर सिर काटने की बात कहकर अमङ्गल क्यों सूचित करता है ? अच्छा यह (तू) वन्दी है इसलिए उपेक्षणीय है (अर्थात् छोड़ दिया जा रहा है)

मञ्जीरक—(हँसकर) उपयुक्त अवसर पर (अर्थात् शङ्कर के पूजन में) सिर काटने की बात भी आप के मङ्गल के लिए है ?

रावण—और क्या ? रे ! निश्चय ही—

विद्याधरप्रणयिनी-करपल्लवाग्र-
लीलाविमुक्त कुसुम-प्रकरावकीर्णे ।
श्रीचन्द्रचूडचरणे च रणे च कामं
छिन्नोऽपि मस्तकगणो मम मङ्गलाय ॥ ४४ ॥

नूपुरक —यदीदृशस्त्वं तर्हि किमिति निजरूपं संगोप्य चोर इव प्रविष्टोऽसि ? (जदि एरिसो तुमं ता किंत्ति णिअरूअं चोराव्व संगोविअ पविट्ठोसि)

रावण —धिङ मूर्ख न जानासि रे—

अन्वय –विद्याधरप्रणयिनीकरपल्लवाग्रलीलाविमुक्तकुसुमप्रकरावकीर्णे श्रीचन्द्रचूडचरणे रणे च कामम् छिन्न अपि मम मस्तकगण मङ्गलाय (जायते) ।

व्याख्या–विद्याधरेत्यादि –विद्याधराणाम=देवयोनिविशेषाणा प्रणयिन्य = प्रेयस्य , तासा करपल्लवाग्रे = करकिसलयाग्रभागे लीलया = विलासेन विमुक्तानि = पातितानि यानि कुसुमानि = पुष्पाणि तेषा प्रकरै = समूहै , अवकीर्णे = व्याप्ते श्रीचन्द्रचूडचरणे—श्रिया = ऐश्वर्येण, युक्त चन्द्रचूड = शिवस्तस्य चरणे, रणे च, कामम् = यथेच्छम्, छिन्न अपि मम मस्तकगण , मङ्गलाय (जायते) यथा पूर्वं शिवचरणपूजने मच्छिन्नानि शिरासि मङ्गलायाभवन् तथैव रणेऽपि छिद्यमानान्यपि परमकल्याणाय भविष्यन्तीति भाव । एतेन भावि रावणशिरश्छेदन सूचितम् । करपल्लवेत्यत्र रूपकालङ्कार । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ४४ ॥

नूपुरक इति—यदि = चेत् । ईदृश = एतादृशो वीर । किमिति = कस्माद्धेतो । निजरूपम् = स्वरूपम्, संगोप्य = प्रच्छाद्य । एतेन रावणकर्तृक भावि सीताहरण सूचितम् ।

विद्याधरों की अङ्गनाओं के करकिसलयों के अग्रभाग से छोड़े गये पुष्प-समूह से व्याप्त श्रीशिवजी के चरणों में तथा रण में भी यथेच्छरूप से कटा हुआ भी मेरा मस्तक-समूह मङ्गल के लिए है । ४४ ॥

नूपुरक—यदि ऐसा है तो आप अपना (वास्तविक) रूप छिपा कर चोर की तरह क्यों (यहाँ) प्रविष्ट हुए ?

रावण— मूर्ख ? तुझे धिक्कार है । अरे ! तू नहीं जानता ?

ये चन्द्रचूडाचलचालनैकचातुर्यचिन्तामणयो भुजा मे।
तैरेव भूयिष्ठतरैः प्रवृत्तश्चापाधिरोपाय कथं न लज्जे॥ ४५॥
तत्कथय कुत्र जानकीति ?
मञ्जीरकः—(सविषादम्)
यस्याः स्वयं कुलगुरुः किल याज्ञवल्क्य-
स्तातः स एष जनको जननी धरित्री।
साऽपि त्वमद्य बत ? दुर्विधिवैशसेन
वत्से ! निशाचरकराङ्कगता भवित्री॥ ४६॥

अन्वयः—ये मे भुजाः चन्द्रचूडाचलचालनैकचातुर्यचिन्तामणयः, भूयिष्ठतरैः तैः एव चापाधिरोपाय च प्रवृत्तः कथं न लज्जे।

व्याख्या—ये मे भुजाः = विंशतिसंख्यका बाहवः, चन्द्रचूडाचलचालनैकचातुर्यचिन्तामणयः—चन्द्रचूडः = शिवस्तस्य अचलः पर्वतः कैलास इत्यर्थः, तस्य चालने = तत्स्थानादुत्सारणे, एकम् = अद्वितीयं यच्चातुर्यम् = कौशलम्, तस्मिन् चिन्तामणयः = चिन्तामणिसदृशा इत्यर्थः सन्तीति शेषः। भूयिष्ठतरैः = बहुतरैः, तैरेव भुजैः, चापाधिरोपाय = शिवधनुरुत्तोलनाय प्रवृत्तः = तत्परः, (अहम्) कथम् = केन प्रकारेण न लज्जे = लज्जितो न भवामि। यैर्भुजैः कैलासमुत्सारितवानहं तैरेव क्षुद्रधनुरुत्तोलनाय प्रवृत्तः कथं लज्जां नानुभवामीति भावः। इन्द्रवज्रा वृत्तं, तल्लक्षणं यथा—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' इति॥ ४५॥

अन्वयः-वत्से ! यस्याः कुलगुरुः स्वयम् याज्ञवल्क्यः किल, तातः स एष जनकः, जननी धरित्री, सा अपि त्वम् अद्य बत, दुर्विधिवैशसेन निशाचरकराङ्कगता भवित्री।

व्याख्या—वत्से ! यस्याः ते कुलगुरुः = वंशपरम्परागत आचार्यः, स्वयम्=

जो मेरी भुजाएँ शिवजी के पर्वत (कैलास) को (उसके स्थान से) हटाने के एकमात्र चातुर्य में चिन्तामणि हैं (अर्थात् मेरी कैलास को उठाने की इच्छा को तत्काल पूरी करने वाली हैं) उन्हीं बहुत सी भुजाओं से एक धनुष उठाने के लिए प्रवृत्त होता हुआ मैं क्यों लज्जित न होऊँ ? ॥ ४५ ॥

तो बता, जानकी कहाँ है ?

मञ्जीरक—(खेद के साथ)

वत्से (सीते) ! स्वयं याज्ञवल्क्य जिसके कुलगुरु हैं, विश्वविश्रुत ये जनक

नूपुरक —(अपवार्य) अलं तापेन। कथमेतावन्मात्रे वीरमण्डले कोऽपि नास्ति योऽस्य हठप्रवृत्तस्य पुरतो भवति। (अलं तावेण। कहं णत्थिअमेत्तम्मि वीरमण्डले कोवि णत्थि जो इमस्स हठप्पउत्तस्य पुरदो होदि)

मञ्जीरक —कुपितस्य दशकण्ठस्य कः सम्मुखे भवति क्षत्रिय ऋते सहस्रबाहो कार्तवीर्यात् ?

असाधारण इति भाव। याज्ञवल्क्य = याज्ञवल्क्यनामा विख्यातो योगिराज, तात = पिता, स = विश्वविश्रुत, एष = राजर्षि, जनक, जननी=जन्मदात्री, धरित्री = धृतसकललोका पृथिवी (अस्ति) सा अपि = तादृश्यपि त्वम् अद्य = अस्मिन् दिने अनेति खेद, दुर्विधिवैशसेन—दुर्विधि = दुर्भाग्य तस्य वैशसेन = क्रौर्येण, निशाचरकराङ्कगता —निशाचरस्य = राक्षसस्य हस्तमध्यगता, भवित्री= भविष्यसि, किलेति सम्भावनायाम्। एतेन रावणकर्तृकं भाविजानकीहरण सूचितम्। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ४६ ॥

नूपुरक इति। अपवार्य —रावणमश्रावयित्वैतिभाव, अपवारितलक्षण साहित्यदर्पणे यथा–'तद्भवेदपवारितम्। रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते'। इति। हठप्रवृत्तस्य—हठे = धनुस्तोलन विनैव सीतायनरूपहठे, प्रवृत्तस्य = तत्परस्य, पुरतो भवति = अग्रे आयाति तं बलात् निवारयितुमिति भाव।

मञ्जीरक इति। सहस्रबाहो —सहस्र बाहवो यस्य तस्मात्, कार्तवीर्यात्— कृतवीर्यस्य = हैहयवंशभूपालस्यापत्य पुमान् कार्तवीर्यस्तस्मादृते, 'ऋते' इति पदेन योगेऽत्र पञ्चमी। सहस्रबाहोरिति पद सहस्रबाहोर्बाणासुरस्य प्रवेशसूचनार्थम्। असूचितपात्रप्रवेशस्यायुक्तत्वादिति बोध्यम्।

महाराज (जिनके) पिता हैं (और) पृथिवी (जिनकी) जननी है, खेद का विषय है कि ऐसी होकर भी तू आज दुर्भाग्य की क्रूरता से राक्षस (रावण) के हाथों में पड़ेगी ॥ ४६ ॥

नूपुरक—(मुँह फेर कर) दुःख करने की आवश्यकता नहीं। क्या इतने बड़े वीर-समूह में एक भी (ऐसा वीर) नहीं है जो, हठ में प्रवृत्त इस (रावण) के सामने (रोकने के लिए) हो सके।

मञ्जीरक—कुपित रावण के सामने सहस्रबाहु कार्तवीर्य के अतिरिक्त कौन क्षत्रिय (उपस्थित) हो सकता है ?

नूपुरकः—(सहर्षम्) जीविताः स्मः, पश्य, ननु प्राप्तः सहस्रबाहुः कृतवीर्यपुत्रः। (जीविदं ह्य, पेक्ख ण पत्तो सहस्सबाहू किदवीरपुत्तो)

मञ्जीरकः—धिङ्मूर्ख ! जामदग्न्यकुठारधाराजलनिमग्नः क्व सम्प्रति कार्त्तवीर्यः ? तन्नूनमयं बाणासुरो भविष्यति। हन्त भोः ! तदिदमनर्थान्तरम्। (विमृश्य) अथवा विषस्य विषमौषधं भविष्यति।

(ततः प्रविशति बाणासुरः)

बाणासुरः—(परिक्रम्य साटोपम्)

कैलासशैलशिखरादपि भूरिसारं
निस्सीमभारमधुना धनुरिन्दुमौलेः।
आलम्ब्य पुष्पसदृशं करपल्लवेन
स्फीतं भुजद्रुमवनं सफलं करोमि ॥ ८७ ॥

नूपुरक इति। जीविताः = प्राप्तजीवनाः।

मञ्जीरक इति। जामदग्न्यकुठारधाराजलनिमग्नः—जमदग्नेरपत्यं पुमान् जामदग्न्यः = परशुरामः ('गर्गादिभ्यो यञ्' इति यञ् प्रत्ययः) तस्य कुठारस्य = परशोः, धारा, सैव जलं, तत्र निमग्नः = ब्रुडितः। परशुरामेण परशुना विनाशितः इति भावः। अनर्थान्तरम् = अन्योऽनर्थः, रावणरूप एकोऽनर्थो विद्यत एव, अपरो बाणासुररूपोऽनर्थोऽपि समागतः। विषस्य विषमौषधं भविष्यति। विषरूपरावणम् अन्यः विषरूपो बाणासुरो निवारयिष्यतीति भावः।

अन्वयः—कैलासशैलशिखरात् अपि भूरिसारम्, निःसीमभारम् इन्दुमौलेः धनुः करपल्लवेन पुष्पसदृशम् आलम्ब्य अधुना स्फीतम् भुजद्रुमवनम् सफलं करोमि।

व्याख्या—कैलासशैलस्य शिखरात् अपि भूरिसारम् = अधिककठिनम्,

नूपुरक—(हर्ष के साथ) हम जी गये, देखो, कृतवीर्य का पुत्र सहस्रबाहु पहुँच गया।

मञ्जीरक—धिक् मूर्ख ! परशुराम के कुठार की धारा के जल में डूब चुका कार्त्तवीर्य अब कहाँ रहा ? तो निश्चय ही यह बाणासुर होगा। बड़े दुःख की बात है कि यह दूसरा अनर्थ आ पड़ा। (विचार कर) अथवा विष की दवा विष ही होगी)।

(तदनन्तर बाणासुर प्रवेश करता है)

बाणासुर—(घूम कर, दर्प के साथ)

कैलास पर्वत के शिखर से भी अधिक दृढ एवं कठोर तथा असीम भार वाले

रावण —(अनाकर्णितकेन) कथमद्यापि नानीयते जानकी ?

बाण —(विलोक्य स्वगतम्) कथमिह दशकण्ठोऽपि । (प्रकाशम्) अहो एतावति वीरलोके न केनापि तावदारोपितमैश्वरं धनुः ।

नूपुरक —नारोपणीयं च ।

रावण —कथमद्यापि नानीयते सीता ? तदयं चन्द्रहास एनां बलादानयति ।

बाण —(विहस्य) यदीदृशो वीरडम्बरः तत्किमारोप्यैव हरकार्मुकं नानीयते सीता ?

निःसीमभारम् = अतुलभारम्, इन्दुमौलेः—इन्दुः = चन्द्रः मौलौ यस्य ॥ इन्दुमौलिः - शिवः, तस्य धनुः करपल्लवेन—कर एव पल्लवं तेन स्वकीयहस्तपल्लवेन पुष्पसदृशम् = कुसुमसदृशं यथा स्यात्तथा अनायासेनेति भावः । उत्क्षिप्य = उत्थाप्य, अधुना = साम्प्रतम् स्फीतम् = समृद्धम्, भुजद्रुमवनम्—भुजा एव द्रुमाः = वृक्षास्तेषां वनम् – भुजमण्डलमिति भावः, सफलं करोमि । कैलासपर्वतादपि दुरुत्तरस्य गुरुतरस्य च शिवधनुषः उत्तोलनेन स्वभुजमण्डलमधुना सफलं करोमीति भावः । रूपकालङ्कारः । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ४७ ॥

बाण इति । ऐश्वरम् = ईश्वरस्य = शिवस्यदमित्यैश्वरम्, शिवसम्बन्धि ।

रावण इति । चन्द्रहासः = चन्द्रहासो नाम मम खड्गः ।

बाण इति । वीरडम्बरम् = वीरताऽभिमानः ।

शिवधनुष को कर पल्लव से फूल की तरह उठाकर इस समय (अपने) समृद्ध भुजरूप वृक्षों के वन को सफल बनाऊँगा ॥ ४७ ॥

रावण (अनसुनी-सा करके) क्यों अभीतक जानकी नहीं लायी गयी ?

बाणासुर—देखकर (मन ही मन) क्यों, यहाँ रावण भी (आया है) ? (प्रकट रूप में) आश्चर्य है, इतने वीरों के समूह में किसी ने शिव के धनुष को नहीं चढाया?

नूपुरक—और न चढाया जा सकेगा ।

रावण—क्यों अभी सीता नहीं लायी जा रही है ? तो यह चन्द्रहास (खड्ग) ही बलात् ले आता है ।

बाणासुर—जो ऐसा वीरता का दर्प है तो शिव के धनुष को चढाकर ही क्यों नहीं सीता को ले आते हो ?

रावणः—आः ! कोऽयमलीकपण्डितः ?

उद्दण्डचण्डिमलसद्भुजदण्डखण्डहेलाचलाचलहराचलचारुकीर्तेः ।
कीदृग्यशस्तुलितबालमृणालकाण्डकोदण्डकर्षणकदर्थनयाऽनया मे ॥४८॥

बाणः—सोऽयमशक्तिप्रकारः ।

रावण इति । अलीकपण्डितः = मिथ्यापण्डितः = वाचाट इति भावः । स्वपराक्रमं वर्णयति रावणः—उद्दण्डेति ।

अन्वयः—उद्दण्डचण्डिमलसद्भुजदण्डखण्डहेलाचलाचलहराचलचारुकीर्तेः मे अनया तुलितबालमृणालकाण्डकोदण्डकर्षणकदर्थनया कीदृक् यशः ?

व्याख्या—उद्दण्डेत्यादिः—उद्दण्डः भयानकः, यः चण्डिमा = उग्रता, कार्यमित्यर्थः, तेन लसन् = शोभमानः, भुजदण्डखण्डः = भुजदण्डसमूहः, तेन हेलया = लीलया, अनायासेनैवेत्यर्थः, चलाचलः = चञ्चलः, हराचलः = हरस्य = शिवस्य निवासभूतः अचलः पर्वतः कैलास इत्यर्थः, तेन चारुः = मनोज्ञा कीर्तिः = यशो यस्य सः, तस्य, मे = मम, पराक्रमशालितया विश्वविश्रुतस्य, अनया, तुलितबालमृणालकाण्डकोदण्डकर्षणकदर्थनया तुलितः = उपमितः, बालः = नवीनः, अत्यन्तकोमल इत्यर्थः, मृणालस्य = बिसस्य काण्डः = दण्डः, अङ्कुर इति यावत्, येन तत्तादृशं यत् कोदण्डम् = चापः, शिवचाप इत्यर्थः; तस्य कर्षणे = आरोपणे या कदर्थना = व्यर्थक्लेशः, तया कीदृक् यशः ? कैलासोत्थापनेन प्राप्तयशसो मम, निस्सारनितान्तकोमलधनुरुत्तोलनेन न किमपि यश इति भावः । उपमालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ४८ ॥

बाण इति । सः अयम् अशक्तिप्रकारः = तथा तवेदं कथनं शक्तिहीनताया भेदः, त्वमीदृक्कथनेन स्वासामर्थ्यं संगोपयसीति भावः ।

रावण—आः, यह कौन मिथ्या पण्डित (बकवास करने वाला) है ?

उग्र क्रूरता से सुशोभित भुजदण्ड समूह द्वारा लीलापूर्वक चलायमान किये गये कैलास से (प्राप्त) सुन्दर कीर्ति वाले मुझे अत्यन्त कोमल मृणालदण्ड के समान धनुष को चढ़ाने के व्यर्थ क्लेश से कैसा यश (मिलेगा) ? ॥ ४८ ॥

बाणासुर—यह (तो) अशक्ति का एक प्रकार है (अर्थात् ऐसा कहकर धनुष उठाने में तत्पर न होने से तुम्हारी अशक्ति ही सूचित होती है) ।

रावण — आः ! कथं दशमुखस्याप्यशक्तिसम्भावना ?

बाण —(विहस्य) अये ! बहुमुखता नाम बहुप्रलापितायाः कारणम् । विक्रमस्य बहुबाहुतैव ।

रावण — आः ! कथं रे ! पलालभारनिस्सारेण भुजभारेण वीरम्मन्योऽसि ।

बाण —(सक्रोधम्) अये समरकलाकुण्ठ दशकण्ठ ! ममापि भुजभारं निस्सारं व्यपदिशसि । न जानासि किं ? यतोऽनेन—

रावण इति । आः इति क्रोधद्योतकमव्ययम् । दशमुखस्यापि = मम रावणस्यापि । अशक्तिसम्भावना = असामर्थ्यस्याशङ्केति भावः ।

बाण इति । बहुमुखता = मुखबाहुल्यम् । बहुप्रलापितायाः = निरतिशयप्रलापकारितायाः । हेतुः = कारणम् बहुमुखत्वेन निरतिशयप्रलपनं कर्तुमेव जानासि न हि पराक्रमं दर्शयितुमिति भावः । विक्रमस्य = पराक्रमस्य तु कारणमिति शेषः बहुबाहुतैव—बहवो बाहवो यस्य स बहुबाहुस्तस्य भावो बहुबाहुतैव । बहुमुखत्वेन त्वं प्रलापी, बहुबाहुत्वेनाहं च वीर इति भावः ।

रावण इति । पलालभारनिस्सारेण—पलालानाम्–धान्यरहितशुष्ककाण्डानाम् ('काण्डोऽस्य पलाल' इत्यमरः) भारः = समूहस्तद्वत् निस्सारेण शक्तिहीनेन, भुजभारेण = भुजसमूहेन । वीरम्मन्योऽसि = आत्मानं वीरं मन्यसे ।

बाण इति । समरकलाकुण्ठ–समरस्य = युद्धस्य कलायाम् = कौशले कुण्ठः मन्दः, तत्सम्बुद्धौ । व्यपदिशसि = कथयसि ।

रावण—ओह ! क्यों रावण की भी अशक्ति की सम्भावना ?

बाणासुर—(हँसकर) अरे ! बहुत मुँह का होना तो अधिक बकवास का कारण है । पराक्रम का (कारण तो) अधिक भुजाओं का होना ही (है)

रावण—आह ! क्यों रे ! पुआलसमूह के समान सारहीन भुजसमूह से तू अपने को वीर मानने वाला हो गया है ?

बाणासुर—(क्रोध के साथ) अरे ! युद्धकला में अकुशल दशकण्ठ ! मेरी भी भुजाओं को तू सारहीन कह रहा है ? क्या नहीं जानता कि जिस (बल) से यही—

पितुः पादाम्भोजप्रणतिरभसोत्सिक्तहृदयः,
प्रयातः पातालं न कतिकतिवारानकरवम् ।
सहस्रे वाहूनां क्षितिवलयमासज्य सकलं,
जगद्भारोद्वेलां फणफलकमालां फणिपतेः ॥ ४६ ॥

रावणः—अरे, बलितनय ! चलितनयवृत्तिरसि, यदलीकविक्रमवर्णनया सत्यविक्रमस्य मे पुरतः स्वात्मानं विडम्बयसि ।

अन्वयः—पितुः पादाम्भोजप्रणतिरभसोत्सिक्तहृदयः पातालं प्रयातः सकलं क्षितिवलयम् बाहूनां सहस्रे आसज्य फणिपतेः फणफलकमालाम् जगद्भारोद्वेलाम् कतिकतिवारान् न अकरवम् ।

व्याख्या—पितुः = बलेरित्यर्थः, पादाम्भोजप्रणतिरभसोत्सिक्तहृदयः—पादाम्भोजयोः = चरणकमलयोः, या प्रणतिः = प्रणामः, तस्यै, तस्याः वा यो रभसः = हर्षः, निरतिशयस्पृहेत्यर्थः, ('रभसो वेगहर्षयोः' इत्यमरः) तेन उत्सिक्तम् = चञ्चलं, हृदयं यस्य सः, पातालम् = पितुर्निवासप्रदेशं पातालमित्यर्थः, प्रयातः = गतः, सकलम् = कैलासादिगिरिभिः, समुद्रादिभिश्च समन्वितम्, क्षितिमण्डलम् = भूमण्डलम् बाहूनां सहस्रे = भुजसमुदाये इत्यर्थः, आसज्य = निधाय, फणिपतेः=नागराजस्य, शेषस्येत्यर्थः, फणफलकमालाम्-फणफलकानाम् = फणपट्टानाम् मालाम् = श्रेणीम्, जगद्भारोद्वेलाम् = पृथिव्याः भारेण रहिताम्, कतिकतिवारान् = अगणितवारान् न अकरवम् = न कृतवान्, अनेकवारान् कृतवानित्यर्थः । स्वपितरं प्रणन्तुं यदा यदा पातालं यामि तदा तदा स्वभुजसहस्रे सकलभूमण्डलं निदधामि । इत्थमगणितवारान् भूभारोद्वहनश्रान्ताय शेषाय विश्रामं प्रदत्तवान् । तत्कैलासमात्रोत्थापनेन गर्वितस्त्वमीदृक्कारिणो मम पुरतः कथं न लज्जामनुभवसीति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४६ ॥

रावण इति । बलितनय = (१) बलेः तनयः = पुत्रः, तत्सम्बुद्धौ, (२)

पिता (बलि) के चरण कमलों को प्रणाम करने के हर्ष से चञ्चल हृदय वाले मैंने पाताल में जाकर समस्त भूमण्डल को सहस्र बाहुओं पर रखकर, कितनी कितनी बार शेषनाग के फण-समूह को पृथ्वी के भार से हीन नहीं किया है ? ॥ ४६ ॥

रावण—अरे नीतिनिष्ठ (बनने वाला) बलिपुत्र ! तू विचलित नीति

बाण —कथं त्वमेव सत्यविक्रमः ?

रावण —अथ किम् ?

दोष्णां न मे विदितवानसि वीरलक्ष्मी-
प्रासादविभ्रमवतीं पदवीं गरिष्ठाम् ।
ये चन्द्रशेखरगिरौ करपल्लवाङ्क-
पर्यङ्कशायिनि दधुः कलशप्रतिष्ठाम् ॥ ५० ॥

वलित -वल सञ्जातमस्येति वलित = सञ्जातवल, नय = नीतियस्य स सम्बुद्धौ स्थिरनीते । इत्यर्थ । वलितनयवृत्ति = वलिता, नये = नीतौ, वृत्ति =वर्त्तनम, व्यवहार इत्यर्थ, । अलीकविक्रमवर्णनया—मिथ्यापराक्रमव्याख्यानेन । सत्य विक्रमस्य-सत्य = यथार्थ, विक्रम = पराक्रमो यस्य स, तस्य । विडम्बयसि= तिरस्करापि ।

अन्वय'—वीरलक्ष्मीप्रासादविभ्रमवतीम् मे दोष्णाम् गरिष्ठाम् पदवीम् न विदितवान् असि । ये करपल्लवाङ्कशायिनि चन्द्रशेखरगिरौ कलशप्रतिष्ठाम् दधु ।

व्याख्या—वीरलक्ष्मीप्रासादविभ्रमवतीम्—वीरलक्ष्मी = वीरता, तस्या प्रासाद = निवासगृहम्, तस्य विभ्रम = विलास, तद्वतीम्, मे = मम, दोष्णाम्= भुजानाम्, ('भुजबाहू प्रवेष्टो दो ' इत्यमर) गरिष्ठाम् = गुरुतराम्, पदवीम् = मर्यादाम्, न विदितवानसि = न ज्ञातवानसि कच्चित् ? । ये = मम भुजाः, कर-पल्लवाङ्कपर्यङ्कशायिनि—करपल्लवानाम् अङ्का = मध्यभागा एव पर्यङ्क, तत्र शायिनि = करमध्यवर्तिनि, इत्यर्थ, कलशप्रतिष्ठाम् = कलशशोभाम्, दधु =

व्यवहार वाला हो गया है जो (अपने) मिथ्या पराक्रम के वर्णन से सच्चे पराक्रम वाले मेरे सामने अपने-आप को तिरस्कृत कर रहा है ।

बाणासुर—क्यों, तू ही सच्चे पराक्रम वाला है ?

रावण—और क्या ?

वीरलक्ष्मी (वीरता) के प्रासाद के विलास से सम्पन्न (अर्थात् वीरता के निवासार्थ प्रासादभूत), मेरी भुजाओं की गौरवपूर्ण मर्यादा को तू नहीं जानता है, जिन्होंने करपल्लवों के मध्यभागरूप पलङ्ग पर स्थित कैलास में कलश की प्रतिष्ठा को धारण किया । (अर्थात् वीरलक्ष्मी के, भुजरूप प्रासाद को अलङ्कृत

बाणः—अलमलीकवाग्विग्रहेण । तदिदं धनुरावयोस्तारतम्यं निरूपयिष्यति ।

मञ्जीरकः—अये बाण-रावणौ ! किमिदं नरवीरैकसमर्पणीयसीतापरिणयमनोरथेन विफलमायास्यते चेतः पदवी ।

बाणः—किमेतावता—

त्रिपुरमथनचापारोपणोत्कण्ठिता धी-
मम न जनकपुत्री-पाणिपद्मग्रहाय ।
अपि तु बहुलबाहुव्यूहनिर्व्यूहमाला-
वलपरिमलहेलाताण्डवाडम्बराय ॥ ५१ ॥

धारयन्ति स्म, मे भुजा वीरताप्रासादाः, करमध्यस्थितः कैलासस्तदलङ्कारभूतकलश इवाशोभतेति भावः । उपमालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ५० ॥

बाण इति । अलीकवाग्विग्रहेण—मिथ्यावाग्युद्धेन अलम्, स्वस्वश्रेष्ठत्वप्रतिपादनार्थं बहुजल्पो न कर्त्तव्य इति भावः । तारतम्यम् = भेदम्, निरूपयिष्यति = बोधयिष्यति, एतद्धनुरुत्तोलनेन सर्वे ज्ञास्यन्ति यदावयोः कतरो वीर इति भावः ।

मञ्जीरक इति । नरवीरैकसमर्पणीयसीतापरिणयमनोरथेन—नरवीरेषु = मनुष्यशूरेषु, एकः = अद्वितीयः (राम इति व्यङ्ग्यार्थः) तस्मै समर्पणीया=प्रदेया या सीता, तस्याः परिणये=विवाहे यः मनोरथः=अभिलाषः तेन । चेतसः=चित्तस्य, पदवी = पद्धतिः । विफलम् = निरर्थकं यथा स्यात्तथा । आयास्यते = पीड्यते ।

अन्वयः—मम धीः = त्रिपुरमथनचापारोपणोत्कण्ठिता, न जनकपुत्रीपाणिपद्मग्रहाय । अपि तु बहुलबाहुव्यूहनिर्व्यूहमालावलपरिमलहेलाताण्डवाऽऽडम्बराय ।

व्याख्या – मम धीः = मम = बाणस्य, धीः = बुद्धिः, त्रिपुरमथनचापारो-

करने के लिए कैलास को उठाकर कलश के रूप में प्रतिष्ठित किया) ॥५०॥

बाणासुर—मिथ्या वाग्युद्ध मत करो, अब यह धनुष (ही) हम दोनों के अन्तर को स्पष्ट कर देगा ।

मञ्जीरक—अरे बाण और रावण ! मानव वीरों में अद्वितीय वीर को दिये जाने योग्य सीता के विवाह विषयक मनोरथ से (अपने-अपने) चित्तमार्ग (अर्थात् चित्त) को यह बेकार क्यों क्लेश दे रहे हो ?

बाणासुर—इतने से क्या ?

मेरी बुद्धि शिवधनुष को चढ़ाने के लिए उत्कण्ठित है, न कि सीता के कर-

रावण —

उन्मीलितेन शिखरेण हराचलस्य
प्रागेव मे भुजवनस्य कृता परीक्षा ।
एषा विदेहतनयाकुचकुम्भकेलि-
कौतूहलाद् गिरिशकार्मुककर्मदीक्षा ॥ ५२ ॥

पणोत्कण्ठिता—त्रिपुरमथनस्य = शिवस्य, चाप = धनु, तस्य आरोपणे = आततज्यताकरणे, उत्कण्ठिता = समुत्सुका, जनकपुत्रीपाणिपद्मग्रहाय न = सीता करकमलग्रहणाय न (उत्कण्ठिता)। अपि तु बहुलेत्यादि—बहुला = बहवो ये बाहव = भुजा, तेषां व्यूह = समुदाय, तस्य निर्व्यूहा = व्यूहरहिता, सम्यक् प्रसारितेति भाव, या माला = पङ्क्ति, तस्या बलपरिमल = विक्रमसुगन्ध (बलपरिणतिरिति पाठान्तरे तु पराक्रमनैपुण्यमित्यर्थो बोध्य) तस्य हेलया = लीलया यत् ताण्डवम् = नृत्यम, तस्य आडम्बराय = समारम्भाय ('आडम्बर समारम्भे गजगर्जितत्तूर्ययो' इति विश्व) मम धीरुत्कण्ठिताऽस्तीति शेष । मम धी सीतापाणिग्रहणार्थं नोत्कण्ठिता, हरचापारोपणार्थमेवोत्कण्ठिता, यतो मम बाहवप्रसारितार्थं यान्तु, ममैतावदेव वाञ्छेति भाव । मालिनीवृत्तम्—तल्लक्षण यथा—'ननमयययुतेय मालिनी भोगिलोकै' इति ॥ ५१ ॥

अन्वय — हरस्य उन्मीलितेन शिखरेण प्राक् एव मे भुजवनस्य परीक्षा कृता एषा विदेहतनयाकुचकुम्भकेलिकौतूहलात् गिरिशकार्मुककर्मदीक्षा।

व्याख्या—हरस्य = शिवस्य, उन्मीलितेन = उत्थापितेन, शिखरेण = शृङ्गेण, प्राक् = पूर्वमेव, मे = मम, भुजवनस्य = भुजसमूहस्य = परीक्षा = परीक्षणम्, कृता = विहिता । एषा = इदानीन्तनी, विदेहतनयाकुचकुम्भकेलि-कौतूहलात् विदेहतनया = सीता, तस्या कुचावेव कुम्भौ = स्तनघटौ, ताभ्या केलि = क्रीडा तस्या कौतूहलम् = कौतुकम्, तस्मात्, गिरिशकार्मुककर्मदीक्षा—

कमल को ग्रहण करने के लिए, बल्कि (यों कहिए कि) बहुत-सी भुजाओं के समूह की, भली भांति प्रसारित माला की शक्ति-सुगन्ध के विलास से ताण्डव नृत्य का समारम्भ करने के लिए (उत्कण्ठित है) ॥ ५१ ॥

रावण—कैलास के (मेरे द्वारा) उठाये गये शिखर से मेरे बाहुसमूह की

(नेपथ्ये)

असुरसुरनिशाचरोरगाणा-
मपि नरकिन्नरसिद्धचारणानाम् ।
नमयति यदि कोऽपि चापमेतद्
मम दुहितुः स करग्रहं तनोतु ॥ ५३ ॥

गिरिशः = गिरौ शेते इति गिरिशः = शिवः, तस्य कार्मुकम् = धनुः, तस्य कर्मणि = उत्तोलनरूपक्रियायाम्, दीक्षा = व्रतम्, प्रवृत्तिरिति भावः, (अस्ति) । विक्रमप्रदर्शनाय तु पूर्वमेव कैलासपर्वत उत्तोलितो मया, शिवधनुरुत्तोलने ममेदानीन्तनी प्रवृत्तिः सीता पाणिग्रहणायैव, न तु शक्तिप्रदर्शनायेति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ५२ ॥

नेपथ्ये जनकक्रियमाणा घोषणा श्रूयते—असुरसुरेति ।

अन्वयः—असुरसुरनिशाचरोरगाणाम्, नरकिन्नरसिद्धचारणानाम् अपि यदि कः अपि एतत् चापम् नमयति, सः मम दुहितुः करग्रहम् तनोतु ।

व्याख्या—असुरसुरनिशाचरोरगाणाम्—असुराः = दैत्याः, सुराः = देवाः, निशाचराः = राक्षसाः, उरगाः=नागाः, उरगजातिविशेषाश्चेत्यर्थस्तेषाम्, नराः= मानवाः, किन्नराः, देवयोनिविशेषाः, सिद्धाः=एतेऽपि देवयोनिविशेषाः, चारणाः= वन्दिविशेषाश्च, तेषामपि, यदि = चेत्, कोऽपि, एतत् = सन्निकृष्टवर्ति, चापम् = शिवधनुः, नमयति = आरोपयति, तर्हीति शेषः, सः शिवधनुर्नमयिता जनः, मम= जनकस्य, दुहितुः = कन्यायाः, सीताया इत्यर्थः, करग्रहम्=पाणिग्रहणम्, तनोतु= विस्तारयतु, विदधात्वित्यर्थः । पुष्पिताग्रा वृत्तं तल्लक्षणं यथा—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति ॥ ५३ ॥

परीक्षा पहिले ही को जा चुकी है, शिव के धनुष को चढ़ाने में (मेरी) यह प्रवृत्ति, सीता के स्तनकलशों (अर्थात् कलश के समान स्तनों) के साथ क्रीडा करने के कौतूहलवश हो रही है (शक्ति प्रदर्शन के लिए नहीं, वह तो पहिले ही हो चुका है) ॥ ५२ ॥

(नेपथ्य में)

असुर, सुर, राक्षस, नाग, मनुष्य, किन्नर, सिद्ध और चारण इनमें जो कोई भी इस धनुष को झुकाता है, वह मेरी कन्या का पाणिग्रहण करे ॥ ५३ ॥

रावण—रे रे भुजा ! कुरुत चन्द्रकलाकिरीट-
कोदण्डकर्षणयशोधवलां त्रिलोकीम् ।
अङ्गीकुरुध्वमचिराच्च विदेहपुत्री-
वक्षोजचन्दनरजःपरिधूसरत्वम् ॥ ५४ ॥

(धनुरालोक्य, स्वगतम्) अये ! दुर्विगाहमिदम् । तदलमनेन । (प्रकाशम्) बाण ! त्वमेव तावदग्रे धनुरारोपय ! अस्माकमपि नूतनागतत्वेन मान्योऽसि ।

अन्वयः—रे रे भुजा त्रिलोकीम् चन्द्रकलाकिरीटकोदण्डकर्षणयशोधवलाम् कुरुत । अचिरात् विदेहपुत्रीवक्षोजचन्दनरजःपरिधूसरत्वम् च अङ्गीकुरुध्वम् ।

व्याख्या—रे रे बाहवः = मदीया भुजाः, त्रिलोकीम्—त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी ताम् = लोकत्रयीम्, चन्द्रकलाकिरीटकोदण्डकर्षणयशोधवलाम् चन्द्रकला एव किरीटम्=मुकुटं यद्वा किरीटे मुकुटे यस्य स चन्द्रकलाकिरीटः=शिवः, तस्य कोदण्डम् = धनुः, तस्य कर्षणेन = आकर्षणेन यशसा =कीर्त्या तेन धवलाम्= शुभ्रवर्णाम्, कुरुत = सम्पादयत । अचिरात् = शीघ्रमेव, विदेहपुत्रीवक्षोजचन्दनरजःपरिधूसरत्वम्—विदेहपुत्री = सीता, तस्याः वक्षोजौ = स्तनौ, तत्र यानि चन्दनरजांसि = मलयजधूलयः, तैः परिधूसरत्वम् = रजस्वरूपम्, च अङ्गीकुरुध्वम् = स्वीकुरुत । यशसा त्रिलोक्याः धावल्यासम्बन्धेऽपि सम्बन्धवर्णनात्सातिशयोक्तिरलङ्कारः । उत्तरार्द्धे भङ्ग्या सीतापरिणयरूपं प्रस्तुतमेव गम्यं कारणं, भुजानां जानकीस्तनचन्दनरजोभिर्धूसरत्वरूपकार्यद्वारेणाभिहितं, तत पर्यायोक्तमलङ्कारः । द्वयोर्मिथोऽनपेक्ष स्थितत्वात् संसृष्टिरलङ्कारः । पर्यायोक्तस्य लक्षणं यथा—'पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते' इति । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥५४

धनुरिति । इदम् = शिवधनुः, दुर्विगाहम् = दुःसाध्यम् ।

रावण—रे रे मेरे भुज समूह ! तीनों लोकों को शिव के धनुष को खींचने से प्राप्त यश से उज्ज्वल कर दो और शीघ्र ही सीता के स्तनों में (लगे) चन्दन की रज से धूसरता (भी) स्वीकार करो ॥ ५४ ॥

(धनुष को देखकर, मन ही मन) अरे ! यह (तो) असाध्य है । तो इसकी आवश्यकता नहीं । (प्रकट रूप में) बाण ! अच्छा, पहिले तुम्हीं धनुष

बाणः—तथाऽस्तु (इति परिक्रामति)

रावणः—(स्वगतम्) अरे हृदय ! अलं कातरतया, अयं तावत्कतरः कुण्ठीकृतदशकण्ठे शितिकण्ठकार्मुके ।

अन्योऽपि कोऽपि यदि चापमिमं विकृष्य
सीताकरग्रहविधिं विदधीत वीरः ।
लङ्कां नयामि च गिरानुनयामि चैनां
द्रागानयामि च वशे जनकेन्द्रपुत्रीम् ॥ ५५ ॥

रावण इति । कुण्ठीकृतदशकण्ठे-कुण्ठीकृतः = निष्फलीकृतः, दशकण्ठः = रावणो येन तत्, तस्मिन्, शितिकण्ठकार्मुके-शितिकण्ठस्य = शिवस्य कार्मुकम् = धनुस्तस्मिन् ।

अन्वयः—अन्यः अपि कोऽपि वीरः इमम् चापम् विकृष्य सीताकरग्रहविधिम् विदधीत यदि, (तर्हि) एनाम् जनकेन्द्रपुत्रीम् लङ्कां नयामि च, गिरा अनुनयामि च, द्राक् वशे आनयामि च ।

व्याख्या—अन्यः अपि = अपरोऽपि, कोऽपि वीरः इमम् चापम् = इदं शिवधनुः, विकृष्य = नमयित्वा, सीताकरग्रहविधिम्—सीतायाः करग्रहः = पाणि-ग्रहणम्, विवाह इत्यर्थः, तस्य विधिम् = विधानम्, विदधीत = कुर्यात् यदि = चेत्, तर्हि एनाम् जनकेन्द्रपुत्रीम् = जनकेन्द्रस्य = जनकराजस्य पुत्रीम् = सीताम्, लङ्कां नयामि=प्रापयामि, (अत्र सर्वत्र वर्तमानसामीप्ये लट् लकारो बोध्यः)प्रापयि-ष्यामीत्यर्थः, गिरा = मधुरया वाचा, अनुनयामि = प्रसादयामि च, प्रसादयिष्या-

---

को चढ़ाओ, नवागन्तुक होने के कारण हम लोगों के भी मान्य हो (अतः पहिला अवसर तुम्हीं को हम-लोगों की ओर से दिया जाना चाहिए) ।

बाण—ऐसा ही हो (ऐसा कहकर घूमता है)

रावण—(मन ही मन) अरे हृदय ! भय मत कर । रावण को निष्फल कर देने वाले शिवधनुष (को उठाने) में यह (बाण) भी कौन है ? (अर्थात् जो रावण से नहीं उठा, वह बाण से क्या उठ सकेगा) ।

यदि दूसरा भी कोई वीर इस चाप को खींच कर सीता का पाणिग्रहण

मञ्जीरक —सखे ! पश्य ।

बाणस्य बाहुशिखरैः परिपीड्यमान-
　　नेदं धनुश्चलति किञ्चिदपीन्दुमौलेः ।
कामातुरस्य वचसामिव संविधानै-
　　रभ्यर्थितं प्रकृतिचारु मनः सतीनाम् ॥ ५६ ॥

मीत्यर्थः, द्राक् = शीघ्रमेव, वशे आनयामि च = स्वाधीनां करिष्यामि चेत्यर्थः । एतेन रावणकर्तृकभाविसीताहरणं सूचितम् । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—बाणस्य बाहुशिखरैः परिपीड्यमानम् इन्दुमौलेः इदम् धनुः कामातुरस्य वचसाम् संविधानैः अभ्यर्थितम् प्रकृतिचारु सतीनाम् मनः इव किञ्चिदपि न चलति ।

व्याख्या—बाणस्य = बलिसूनोर्बाणासुरस्य, बाहुशिखरैः = बाहवः शिखराणीव तैः ('उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे' इति समासः) पर्वतशिखरसदृशविशालैर्बाहुभिः, परिपीड्यमानम् = आकृष्यमाणम्, इन्दुमौलेः—इन्दुः = चन्द्रः, मौलौ = मस्तके यस्य सः, तस्य शिवस्य, इदं धनुः, कामातुरस्य = मदनपीडितस्य, वचसाम् = वाणीनाम्, संविधानैः = रचनाभिः, सम्भोगार्थं चाटुवचनैरिति भावः, अभ्यर्थितम् = प्रार्थितम्, प्रकृतिचारु—प्रकृत्या = स्वभावेन चारु = मनोज्ञम्, सन्मार्गस्थितमिति भावः, सतीनाम् = पतिव्रतास्त्रीणाम्, मनः इव, किञ्चिदपि न चलति = विचलति स्वस्थानादिति शेषः । एतेन सीताकर्तृकभाविरावणप्रत्याख्यानं सूचितम् । दृष्टान्तालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥५६॥

सत्कार करता है (तो भी) इस जनकराजपुत्री को लङ्का ले जाऊँगा, वचनों से प्रसन्न करूँगा और शीघ्र वश में ले आऊँगा ॥ ५५ ॥

मञ्जीरक—मित्र देखो !

बाण की भुजाओं के अग्रभागों से खींचा जाता हुआ शिव का यह धनुष, कामातुर जन की वचन-रचनाओं से (उपभोग के लिए) प्रार्थित स्वभाव-सुन्दर पतिव्रता स्त्रियों के मन की तरह तनिक भी (अपने स्थान से) विचलित नहीं हो रहा है ॥ ५६ ॥

रावणः—(सविषादमात्मगतम्) सीतानुनयप्रत्यूहपिशुनेव दुरुपश्रुतिः। (प्रकाशम्) अये वाण ! अपि नाम ते पलालभारनिस्सारो भुजभारः।

वाणः—कथं भुजमण्डलमिदमालोकयन्नपि कटुभाषितां न मुञ्चसि?

रावणः—तत्किमनेन करिष्यसि ?

वाणः—यत्कृतं हैहयराजेन।

रावणः—इदमसौ ते भुजवनं निजप्रतापानले निर्दहामि।

वाणः—इदमहं त्वत्प्रतापानलमनेकरुचिरचापचुम्बितनिजबाहुवलाहकनिवहनिर्मुक्तनाराचधारासारैः शमयामि।

रावण इति। सीतानुनयप्रत्यूहपिशुना–सीतायाः अनुनये = मधुरवचनप्रलोभनादिभिः स्ववशीकरणे प्रत्यूहः = विघ्नस्तस्य पिशुना = सूचिकेव, दुरुपश्रुतिः—दुष्टा उपश्रुतिः = उपश्रवणम्, मञ्जीरकोक्तं कामातुरस्येत्यादिवचः सीतानुनयप्रत्यूहं सूचयत् कर्णाप्रियमिति भावः। एतेन रावणकर्तृकभाविसीतानुनयनैष्फल्यं सूचितम्।

अपीति प्रश्ने। पलालभारनिस्सारः = पलालसमुदायवद्बलरहितस्तव भुजभारः = बाहुसमुदायः।

वाण इति। हैहयराजेन = कार्त्तवीर्येण सहस्रबाहुना।

सहस्रबाहुना रावणो जित्वा कारागारेऽस्थाप्यतेति पौराणिकी कथाऽनुसन्धेया।

रावण इति। निजप्रतापानले = निजः = स्वकीयः, प्रताप एवानलः=अग्निस्तस्मिन् निर्दहामि = भस्मीकरोमि।

वाण इति। इदम् = सम्प्रत्येवेति भावः। अनेकरुचिरचापचुम्बितनिजबाहु-

---

रावण—(खेद के साथ, मन ही मन) सीता के अनुनय में विघ्न की सूचना देने वाली यह दुष्ट बात सुनी गयी। (प्रकट रूप में) अरे वाण ! क्या पुआल के समूह के समान तुम्हारा भुज समूह सार-रहित है ?

वाण—क्यों, यह भुजसमूह देखते हुए भी कटूक्तियों को नहीं छोड़ रहे हो ?

रावण—तो इस (भुजमण्डल) से क्या कर लोगे ?

वाण-(वही) जो हैहयराज (सहस्रबाहु) ने किया था (अर्थात् तुम्हें बाधूँगा)।

रावण—अभी तुम्हारे इस बाहुवन को अपने प्रतापाग्नि से जला डालता हूँ।

वाण—अभी मैं तुम्हारे प्रतापाग्नि को अनेक सुन्दर धनुषों से युक्त बाहुरूप

रावण —

रे वाण, मुञ्च मयि वाणशतानि पञ्च,
नन्वस्ति मे करतले करवालवल्ली।
रे पञ्चवाण! विवृण त्वमपि स्ववाणान्,
नन्वेति सा युवतिलोकललामवल्ली ॥ ५७ ॥

बलाहकनिवहनिर्मुक्तनाराचधारासारैः—अनेके रुचिरा = सुन्दरा ये चापा = धनूंषि (पक्षान्तरे इन्द्रधनूंषि) तैः चुम्बिता युक्ता, भुजा एव बलाहका = मेघा (पक्षान्तरे भुजा इव बलाहका) तेषां निवहः = समूहः, तस्मात् निर्मुक्ता = विसृष्टा, नाराचा = शरविशेषा एव धारा = पतज्जलरेखा (पक्षान्तरे नाराचा इव धारा) तेषाम् आसारैः = अनवरतवर्षणैः । शमयामि = शान्तं करोमि ।

अन्वय —रे वाण ! मयि पञ्च वाणशतानि मुञ्च । ननु मे करतले करवाल-वल्ली अस्ति । रे पञ्चवाण ! त्वमपि स्ववाणान् विवृणु । ननु सा युवतिलोकललाम-वल्ली एति ।

व्याख्या—रे वाण = अरे ! वाणासुर ! मयि = रावणे इत्यर्थः, पञ्चवाण-शतानि = वाणपञ्चशतीम्, मुञ्च = त्यज, वाणानां पञ्चशत्या प्रहरेति भावः, नन्वित्यवधारणे, मे = मम, करतले करवालवल्ली = असिलता अस्ति = विद्यते, मदीयः खड्गः सर्वं वाणगणं खण्डयितुमलमिति न मे तेभ्यः किमपि भयमिति भावः । रे पञ्चवाण = कामदेव ! त्वमपि स्ववाणान् विवृणु = प्रकाशय, मुञ्चेति भावः, ननु युवतिलोकललामवल्ली—युवतिलोके = ललनाजगति ललामवल्ली = आभूषणलतास्वरूपा, सा = सीतेत्यर्थः, एति = इतोऽभिवर्तते, अतस्त्वद्बाणेभ्योऽपि न मे भयमिति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ५७ ॥

बादलों से छोड़े गये वाणरूप जलधारा की अनवरत वृष्टि से शान्त किये देता हूँ।

रावण—रे वाण ! मेरे ऊपर पाँच सौ वाण छोड़ो, मेरे हाथ में असिलता है (इससे उन वाणों के टुकड़े टुकड़े कर दूँगा) । रे पञ्चवाण (कामदेव) ! तुम भी अपने वाणों को (मुझ पर) छोड़ो, रमणीजगत की आभूषणलता-स्वरूप वह (सीता) आ रही है (जिसके रहते तुम्हारे भी वाण मेरा कुछ बिगाड़ न सकेंगे) ॥ ५७ ॥

नूपुरकः—अये बाणरावणौ ! स्वयमेवात्मानं वर्णयन्तौ न लज्जेथे ?
(अये बाणलावणा ! सअं जेव्व अप्पाणं वण्णअन्तो ण लज्जेथ ?)

रावणः—धिङ् मूर्ख ! कथमात्मैकश्लाघ्यो दशकण्ठः ? ननु रे—
मन्दोदरीकुटिलकोमलकेशभारमन्दारदाममकरन्दरसं पिबन्तः ।
वीणानिनादमधुरध्वनिमुद्गिरन्तो मद्विक्रमं मधुकरा अपि कीर्त्तयन्ति ।।५८।।

रावण इति आत्मैकश्लाघ्यः—आत्मना एकः श्लाघ्यः = प्रशंसनीयः, नहि स्वयमेवात्मानं वर्णयामि, अपि त्वन्येऽपि मद्विक्रमं कीर्त्तयन्तीति भावः ।

अन्वयः—मन्दोदरीकुटिलकोमलकेशभारमन्दारदाममकरन्दरसम् पिबन्तः वीणानिनादमधुरध्वनिम् उद्गिरन्तः मधुकराः अपि मद्विक्रमम् कीर्त्तयन्ति ।

व्याख्या—मन्दोदरीत्यादिः—मन्दोदरी = मन्दोदरीनाम्नी रावणस्य पत्नी, तस्याः कुटिलः = कुञ्चितः, कोमलः = मृदुलश्च यः केशभारः = केशकलापः, तस्मिन् निहितं मन्दारदाम = मन्दारकुसुममाल्यम्, तस्य मकरन्दरसम् = पुष्परसम्, (मन्दारो नाम वृक्षो नन्दनवनस्थिततरुपञ्चकेऽन्यतमः) पिबन्तः, अत एव वीणानिनादमधुरध्वनिम् = वीणाया निनादः = वीणानिनादः = वीणाशब्दस्तद्वत् मधुरध्वनिम् = श्रोत्रप्रियं स्वनम्, उद्गिरन्तः = उद्वमन्तः, कुर्वन्त इत्यर्थः, (मन्दारमकरन्दपानेन तन्मकरन्दमाधुर्यं मधुकराणां ध्वनौ समाविष्टं तस्मादेव मधुपैरीदृशो मधुरो ध्वनिः क्रियत इत्युत्प्रेक्ष्यते) मधुकराः = भ्रमरा अपि, मद्विक्रमं कीर्त्तयन्ति = मम पराक्रमं वर्णयन्ति । भ्रमरा अपि यदि मत्कीर्तिं गायन्ति, का कथा पुनर्देवमनुष्यादीनामित्यपिपदेन ध्वन्यते । अर्थापत्तिरलङ्कारस्तल्लक्षणं यथा—'दण्डापूपिकयाऽन्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते' । इति । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ५८ ॥

नूपुरक—अरे बाण और रावण ! अपने-आप अपनी प्रशंसा करते तुम्हें लज्जा नहीं आती ?

रावण—धिक् मूर्ख ! क्या रावण केवल अपने ही द्वारा प्रशंसनीय है ? (दूसरे इसकी प्रशंसा नहीं करते ?) देख रे,

मन्दोदरी के कुञ्चित एवं कोमल केशकलाप में विन्यस्त मन्दारपुष्पों की माला के मकरन्द का पान करते हुए एवम् वीणा के शब्द के समान मधुर ध्वनि करते हुए भौंरे भी मेरे पराक्रम का गान करते हैं ॥ ५८ ॥

बाण – कथमयं सुरतरुकुसुमदामकमनीयकामिनीजनोपभोगसौभाग्यं विडम्बयति ? तदिदानीम्—

> अमी मे दोर्दण्डास्तुलितहरशैलैकशिखरा-
> स्तुरासाहं साहङ्कृतिकरतलन्यस्तकुलिशम् ।
> पराभूय स्वैरं त्रिदशवनमुन्मूल्य सकलं,
> मम क्रीडोद्यानं सुरतरुमनोज्ञं विदधतु ॥ ५६ ॥

बाण इति । सुरतरुकुसुमदामकमनीयकामिनीजनोपभोगसौभाग्यम्–सुरतरो = मन्दारस्य यानि कुसुमानि = पुष्पाणि, तेषां दाम = माला, तेन कमनीयं = स्पृहणीयं, कामिनीजन = रमणीवृन्दम्, तस्य उपभोग = सहवास, तस्य सौभाग्यम् = सुभगत्वम्, सौभाग्यशालितामित्यर्थं, विडम्बयति = अनुकरोति, वर्णयतीति भाव ।

अन्वय —तुलितहरशैलैकशिखरा अमी मे दोर्दण्डा साहङ्कृतिकरतलन्यस्तकुलिशम् तुरासाहं पराभूय सकलं त्रिदशवनम् स्वैरम् उन्मूल्य मम क्रीडोद्यानम् सुरतरुमनोज्ञम् विदधतु ।

व्याख्या—तुलितहरशैलैकशिखरा –तुलितानि = उपमितानि, हरशैलस्य = शिवगिरे, कैलासस्येत्यर्थं, एकानि=मुख्यानि ('एके मुख्यान्यकेवला' इत्यमर) शिखराणि = शृङ्गाणि यैस्ते तादृशा, अतिपीवरा विशालाश्चेत्यर्थं, अमी = दृश्यमाना, मे = मम, दोर्दण्डा = भुजदण्डा, साहङ्कृतिकरतलन्यस्तकुलिशम्–अहङ्कृति = अहङ्कार, कुलिशे सत्यजेयोऽहमिति गर्व इत्यर्थं, तेन सहितं यथा स्यात्तथा, करतले = हस्ते इत्यर्थं, न्यस्तम् = धृतम्, कुलिशम् = वज्रं येन तादृशं गृहीतास्त्रं योद्धुमुद्यतम् इति भाव, तुरासाहम् = इन्द्रम्, पराभूय = तिरस्कृत्य, विजित्येत्यर्थं, सकलम् = समग्रम्, त्रिदशवनम्–त्रिदशानाम् = देवानां वनम्, नन्दनवनमित्यर्थं, स्वैरम् = स्वच्छन्दं यथा स्यात्तथा क्रियाविशेषणमेतत् । उन्मूल्य = उत्पाट्य, मम क्रीडोद्यानम् = विलासोपवनम्, सुरतरुमनोज्ञम्–सुरतरु-

बाण—क्यों, यह मन्दारपुष्पमाला से स्पृहणीय रमणीजन के उपभोग के (अपने) सौभाग्य का वर्णन कर रहा है ? तो अभी—

कैलास-शिखर के सदृश मेरी ये भुजाएँ, अहङ्कार के साथ हाथ में वज्र

(इति निष्क्रान्तः)

रावणः—कथमयं निर्गतः ? अहं तु—

अनाहृत्य हठात् सीतां नाऽन्यतो गन्तुमुत्सहे ।
न शृणोमि यदि क्रूरमाक्रन्दमनुजीविनः ॥ ६० ॥

मञ्जीरकः—वत्से जानकि ! अधुना दैवैकरक्षणीयासि ।

भिर्मन्दारादिभिः, मनोज्ञम् = मनोहरम्, विदधतु = कुर्वन्तु । मन्दारमालया मन्दोदरीकेशपाशमलङ्कृतवन्तं रावणमतिशयितुं सुरराजं विजित्य स्वक्रीडोद्यानं मन्दारतरुमनोज्ञं कर्तुमिदानीं यामीति भावः । उपमाऽलङ्कारः । शिखरिणी-वृत्तम् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—अनुजीविनः क्रूरम् आक्रन्दं न शृणोमि यदि, सीताम् हठात् अनाहृत्य अन्यतः गन्तुम् न उत्सहे ।

व्याख्या—अनुजीविनः = कस्याप्यनुचरस्य, क्रूरम् = कठिनम्, करुणमिति भावः, आक्रन्दम् = रुदितध्वनिम्, न = नहि, शृणोमि = आकर्णयामि, यदि=चेत् (तर्हि) हठात् = बलात्, सीताम् = जानकीम्, अनाहृत्य = आहरणमकृत्वा, अन्यतः = अन्यत्र (सार्वविभक्तिकस्तसिः) गन्तुम् नोत्सहे = गमनोत्साहं न करिष्यामि (वर्तमानसामीप्ये लट्) । कस्मिंश्चिदनुचरे कुतश्चिद्विपन्नापतेद्यदि तर्हि सीतामनाहृत्याहमितो नान्यत्र यास्यामीति भावः । एतेन भावी मारीचाक्रन्दः सूचितः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ६० ॥

मञ्जीरक इति । अधुना = इदानीम्, तथा प्रतिज्ञां कुर्वति रावणे । दैवैकरक्षणीया = केवलं भाग्येन रक्षणीया, भाग्यमेव त्वां रावणहस्ताद्रक्षितुं शक्नोति नापरः कोऽपीति भावः ।

धारण किये हुए इन्द्र को पराजित कर स्वच्छन्दतापूर्वक समस्त नन्दनवन का उन्मूलन कर मेरे क्रीडोद्यान को मन्दारतरु से सुशोभित बनायें ॥ ५९ ॥

(ऐसा कह कर निकल गया)

रावण—क्यों, यह निकल गया ? मैं तो—

यदि (किसी) अनुचर का कठोर (अर्थात् करुण) क्रन्दन नहीं सुनूँगा तो बलात् बिना सीता का आहरण किये, अन्यत्र जाने का उत्साह नहीं करूँगा ॥ ६० ॥

मञ्जीरक—वत्से जानकि ! अब केवल भाग्य ही तेरी रक्षा कर सकेगा ।

रावण (कर्णं दत्त्वा) अये ? कस्यायमाक्रन्द श्रूयते नभसि ? (निपुणं निरूप्य) नूनमनेन कस्यचिन्नाराचपीडितेन कठोरमाक्रन्दता गगनपथचारिणा मारीचेन भवितव्यम्। तदेनमाश्वासयामि तावत् (इति निष्क्रान्तः)।

नूपुरक —वयस्य ! दिष्ट्या व्याघ्रस्येव मुखात् कुरङ्गीवास्य हस्तादुर्वरिता जानकी। (वअस्स ! दिट्ठिआ वग्घस्स विअ मुहादो कुरङ्गी विअ इमस्स हत्थादो उव्वरिदा जाणई)

मञ्जीरक —सखे ! एवमेतत्। तदेहि। वृत्तान्तमिमं जनकराजस्य निवेदयाव। (इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति प्रथमोऽङ्कः।

रावण इति। नाराचपीडितेन—नाराचेन = शरेण पीडितः = आहतस्तेन। गगनपथचारिणा = आकाशमार्गेण गच्छता।

नूपुरक इति। दिष्ट्या = भाग्येन, अव्ययपदमेतत्।

मञ्जीरक इति। जनकराजस्य=मिथिलाधिपस्य (सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी)

इति निष्क्रान्ताः सर्वे इति। सर्वेषां निर्गमनेनाङ्कावसानं सूचितम्।

इति विभाख्यायां प्रसन्नराघवव्याख्यायां प्रथमोऽङ्कः।

रावण—(कान लगाकर) आकाश में यह किसका क्रन्दन सुनायी पड़ रहा है ? (अच्छी तरह विचार कर) निश्चय ही इसे किसी के शर से आहत (अतएव) करुण क्रन्दन करते, आकाश मार्ग से आते हुए मारीच को होना चाहिए। तो पहिले इसे आश्वस्त करूँ। (ऐसा कह कर निकल गया)।

नूपुरक—मित्र ! भाग्य से, व्याघ्र के मुख से मृगी की तरह सीता इस (रावण) के हाथ से उबर गयी।

मञ्जीरक—सखे ! यह ठीक है। तो आओ, यह वृत्तान्त महाराज जनक को बताया जाय। (इस प्रकार सब निकल जाते हैं)।

इस प्रकार 'विभा' नामक प्रसन्नराघव की हिन्दी व्याख्या में प्रथम अङ्क समाप्त हुआ।

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति तापसः)

तापसः—(समन्तादवलोक्य) अहो ! अयमनेकशुकशावकानुगमनितान्तहरिल्लतावितानमनोरमारामरमणीयसन्निवेशप्रदेशः । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) कथमयं भिक्षुः ? भिक्षो ! इत इतः ।

(प्रविश्य)

भिक्षुः – अपि कुशलं तापसस्य ?

तापसः—क्षेममस्माकम् ! युष्माकं च कुशलम् ?

तत इति । तापसः = तपस्वी ('तपस्वी तापसः' इत्यमरः) तपोऽस्यास्तीत्यर्थे 'अण् च' इत्यण् । अनेकशुकशावकेत्यादिः–अनेके = बहुसङ्ख्याकाः, ये शुकशावकाः = कीरशिशवस्तेषामनुगमः=आगमनं, स्थितिरित्यर्थः, तेन नितान्तम्= अत्यन्तं यथा स्यात्तथा (क्रियाविशेषणमेतत्) हरित् = हरिद्वर्णा या लतास्तासां वितानैर्मनोरमः = मनोहरो य आरामः = उपवनम् तेन रमणीयः = रम्यः, सन्निवेशः अवस्थानं यस्य स तादृशः प्रदेशः = भूभागः ।

भिक्षुरिति । अपि कुशलम्–अपीति प्रश्ने ।

तापस इति । क्षेमम् = कुशलम् ।

(तदनन्तर तापस प्रवेश करता है)

तापस—(चारों ओर देखकर) अहा ! अनेक शुकशावकों के बैठने से अत्यन्त हरी लताओं के वितान से मनोरम, उपवन के कारण इस प्रदेश की अवस्थिति कैसी रमणीय है ! (नेपथ्य की ओर देखकर) क्या यह भिक्षु है ? अरे भिक्षु । इधर-इधर (आइए) ।

(प्रवेशकर)

भिक्षु—तापस का कुशल है ?

तापस—हमारा कुशल है, आप का तो कुशल है ?

भिक्षु —इदानीं विशेषतो भवद्दर्शनात् ।

तापस —(पुन सप्रणयम्) ननु कीटवत् महीपर्यटनेन श्रान्तो भवान् । तत्र मिथिलायां पञ्चरात्रनिवासेन श्रमोऽपनेतव्य । प्रसङ्गादयं च राजा जनको द्रष्टव्य ।

भिक्षु —किमस्माकं निरीहाणां राजदर्शनेन ?

तापस —नूनमयं ब्रह्मविद्याविनोदकुशल खलु सीरध्वज । तेन द्रष्टुमुचित एव भवादृशाम् ।

भिक्षु —अये ! राजापि ब्रह्मविद्यावानिति सत्यमेतत् ?

भिक्षुरिति । विशेषत = विशेषरूपेण ।

तापस इति । कीटवत् = कीटस्येव, ('तत्र तस्येव' इति वति प्रत्यय । यथा कीट सतत मही पर्यटति तथा भवानपि भूपर्यटनेन श्रान्त ।

भिक्षुरिति । निरीहाणाम् निर्गता, ईहा = स्पृहा येभ्यस्तेषाम्, नि स्पृहाणाम् ('स्पृहेहा तृड् वाञ्छा लिप्सा मनोरथ ' इत्यमर) ।

तापस इति । सीरध्वज =जनक । ब्रह्मविद्याविनोदकुशल -ब्रह्मप्रतिपादिका विद्या ब्रह्मविद्या = वेदान्तशास्त्रम्, तया विनोदे कुशल = निपुण । भवादृशाम्= ब्रह्मविद्यापरायणानां भिक्षूणाम् ।

भिक्षुरिति । ब्रह्मविद्यावान्=ब्रह्मविद्याया कुशल । सत्यमेतत् ? राजानस्तु प्रायशो मायासक्ता भवन्ति, तेषां ब्रह्मविद्यायां कथमनुराग इति भाव ।

भिक्षु—इस समय आप के दर्शन से विशेष रूप से (कुशल हूँ) ।

तापस—(पुन प्रेमपूर्वक) अरे ! कीड़े की तरह पृथिवी पर पर्यटन करते रहने से आप थक गये हैं, तो यहाँ मिथिला में पाँच रात रह कर आप अपनी थकावट दूर कर लें । प्रसङ्ग वश (अर्थात् अवसर पाकर) राजा जनक का भी दर्शन कर लें ।

भिक्षु—हम-जैसे निरपेक्ष लोगों को राजा के दर्शन से क्या (प्रयोजन) ?

तापस—निश्चय ही ये महाराज सीरध्वज (जनक) ब्रह्मविद्या से मनोरञ्जन करने में कुशल हैं, अत आप जैसे लोगों के लिए अवश्य दर्शन-योग्य हैं ।

भिक्षु —राजा भी ब्रह्मविद्या वाला (है) क्या यह सच (है) ?

तापसः—भिक्षो ! सत्यमेतत्, देवस्य दश—(इत्यर्धोक्ते) देवस्य शितिकण्ठस्याज्ञा।

भिक्षुः—(विहस्य) अलमपलापेन विदितं मया, राक्षसः खलु भवान्।

तापसः—तत्कथय विस्रब्धं, को भवानिति ?

भिक्षुः—अहमपि भवादृश एव कोऽपि राक्षसः।

तापसः—तदाकर्ण्यताम्। अहं हि सकलमन्त्रिमुकुटमाल्येन माल्यवता प्रहितस्ताटकावनम्। आकर्णितं हि तेन यत् किल कोऽपि कौशिको नाम मुनी राजानमयोध्याधिपतिमेत्य स्वमखरक्षणाय तस्य रामनामानं तनयं सानुजं याचितवान्। तेन चावश्यं माननीयो मुनिरिति निजनयनाभ्यामपि प्रियतमौ निजतनयौ तस्य समर्पितौ।

तापस इति। सत्यम्=यथार्थम्। देवस्य=महाराजस्य। दश—(इत्यर्धोक्ते) विराम्यस्ततया दशकण्ठस्येत्युच्चारयितु दशेत्युच्चारणानन्तरमेव रहस्यभेदभयेन शितिकण्ठस्याज्ञेत्याह।

भिक्षुरिति। अपलापेन = गोपनेन, रहस्यगोपनेनेत्यर्थः। विदितम्=ज्ञातम्।

तापस इति विस्रब्धम् = निर्भयं निःसङ्कोचं च यथा स्यात्तथा।

भिक्षुरिति। भवादृशः = भवत्सदृशः, यथा भवान् तथाऽहमप्यको राक्षसः।

तापस इति। सकलमन्त्रिमुकुटमाल्येन—सकलानां मन्त्रिणां मुकुटमाल्येन = मुकुटमाल्यसदृशेन, रावणस्य मुख्यमन्त्रिणेत्यर्थ.। प्रहितः = प्रेषितः। सानुजम्=

तापस भिक्षु ! यह सच (है)। महाराज दश-(ऐसा आधा कहने पर) भगवान् शङ्कर की आज्ञा (है)।

भिक्षु –(हँसकर) छिपाने से लाभ नहीं। मैं जान गया। आप अवश्य राक्षस हैं।

तापस—तो निःशङ्क एवं निःसङ्कोच बताइए कि आप कौन है ?

भिक्षु—मैं भी आप ही की तरह एक राक्षस हूँ।

तापस—तो सुना जाय। समस्त मन्त्रियो के मुकुटमाल्य (अर्थात् प्रधानमन्त्री) माल्यवान् ने मुझे ताटकावन भेजा है। उन्होंने सुना है कि कौशिक

भिक्षु —ततस्ततः ।

तापस —ततस्तेन मुनिना पारितोषिकं ताटङ्कयुगमर्पितं तस्य राज्ञ उक्तं च, 'राजन् ! दिव्यमिदं ताटङ्कयुगम् ।

तदिदं वीरसूकर्णनिवेशोचितमित्यसौ ।
अन्तः स्फुरन्ती रत्नानां वर्णमालेव शंसति ॥ १ ॥

लक्ष्मणसहितमित्यर्थः । निजनयनाभ्यामपि = स्वनेत्राभ्यामपि । निजतनयौ = स्वपुत्रौ, रामलक्ष्मणावित्यर्थः । तस्य=कौशिकमुनेः (सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी) ।

तापस इति । पारितोषिकम् = पुरस्कारस्वरूपम् । ताटङ्कयुगम् = कर्णभूषण-युगलम् । दिव्यम् = अलौकिकम्, अतिरम्यम्, दिव्यशक्तिसम्पन्नं चेति भावः ।

अन्वय—तत् इदम् वीरसूकर्णनिवेशोचितम् इति अन्तः स्फुरन्ती असौ रत्नानां वर्णमाला शंसति इव ।

व्याख्या—तत् = प्रसिद्धम्, इदम् = पुरतो विद्यमानं ताटङ्कयुगम्, वीरसू-कर्णनिवेशोचितम्—वीरम् = वीरपुत्रमित्यर्थः, सूते = जनयति, वीरसूः = वीर-पुत्रजननी, तस्याः कर्णयोः, निवेशाय = परिधानाय, उचितम् = योग्यम्, इति = इत्थम्, अन्तः = आभ्यन्तरभागे, स्फुरन्ती = विद्योतमाना, असौ = इयम्, रत्नानाम् = तत्र खचितानां पद्मरागादिमणीनाम्, वर्णमाला-वर्णानाम् = रक्त-पीतादिरङ्गाणाम्, पक्षे—अक्षराणाम्, माला = पङ्क्तिः शंसति इव = कथयतीव

नामक मुनि ने अयोध्यापतिराजा (दशरथ) के पास आकर अपने यज्ञ के रक्षण के लिए, छोटे भाई (लक्ष्मण सहित) उनके राम नामक पुत्र को माँगा 'मुनि अवश्य माननीय हैं' ऐसा सोचकर अपने नेत्रों से भी अधिकप्रिय अपने दोनो पुत्रों को उन्हें समर्पित कर दिया ।

भिक्षु उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ) ?

तापस—उसके बाद उन मुनि ने पारितोषिकस्वरूप कर्णभूषण का जोड़ा उन राजा (दशरथ) को अर्पित किया, और कहा—'राजन् यह कर्णाभरण का जोड़ा दिव्य है ।

भुवनविख्यात यह (कर्णाभरण का जोड़ा) वीरपुत्रजननी के कानों में धारण किये जाने योग्य है-इस बात को भीतर चमकती हुई, रत्नों की यह

तेन च 'कौसल्याकर्णयोर्निवेशनीयम्' इति। अनुमतं च राज्ञा। राजकुमारद्वयानुगतेन निजाश्रमपदं प्रति गतं च मुनिना।

भिक्षुः—ततस्ततः ?

तापसः—तदिदमाकर्ण्य तत्ताटङ्कयुगं लङ्केश्वरजनन्या निकषाया एव कर्णोचितमिति विचिन्त्य तदाहरणाय पूर्वमेव ताटकां प्रति निजानुचर एकः प्रस्थापितः। अधुना च नूनं ताटकया तत्ताटङ्कयुगमाहृतमिति विचार्य तदानयनाय ताटकां प्रत्यहं प्रहितः।

भिक्षुः—कथं पुनरिदं वृत्तान्तजालमाकर्णितं माल्यवता ?

यथा वर्णमाला (अक्षरपङ्क्तिः) कमप्यर्थं कथयति तथैव ताटङ्कान्तर्वर्तिनी रत्नानां वर्णमाला (रङ्गमाला) ताटङ्कयुगमिदं वीरपुत्रजनन्या धारणीयमिति संसूचयतीवेति भावः। उत्प्रेक्षालङ्कारः अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १ ॥

तेनेति। अनुमतम् = स्वीकृतम्।

तापस इति। लङ्केश्वरजनन्याः—लङ्कायाः ईश्वरः=अधिपतिः, रावणस्तस्य जननी = माता, तस्याः। कर्णोचितम् = श्रवणधारणयोग्यम्।

वर्णमाला (१–लाल पीले आदि रंगों, २–अक्षरों की पङ्क्ति) कह-सी रही है ॥ १ ॥

अतः यह कौसल्या के कानों में धारण किये जाने योग्य है। राजा ने भी (इसे) स्वीकार कर लिया। दोनों राजकुमारों के सहित मुनि भी अपने आश्रम को चले गये।

भिक्षु—उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ) ?

तापस—तब यह सुनकर (माल्यवान् ने) वह कर्णाभरण का जोड़ा रावण की माता निकषा के ही कानों के योग्य है–ऐसा सोच कर उसे लाने के लिए पहिले ही ताटका के पास अपना एक अनुचर भेज दिया था। और अब निश्चय ही वह कर्णाभरण का जोड़ा ताटका ला चुकी होगी–यह विचार कर उसे ले आने के लिए मुझे ताटका के पास भेजा है।

भिक्षु—तो यह सारा वृत्तान्त माल्यवान् ने कैसे सुना ?

तापस —वार्त्ता च कौतुकवती, विमला च विद्या,
लोकोत्तर परिमलश्च कुरङ्गनाभे ।
तैलस्य बिन्दुरिव वारिणि दुर्निवार-
मेतत्त्रयं प्रसरति स्वयमेव भूमौ ॥ २ ॥
विशेषतश्च बहुतरप्रणिधिप्रणिधायी माल्यवान् ।

अन्वय —कौतुकवती वार्त्ता, विमला विद्या च, कुरङ्गनाभे लोकोत्तर परिमलश्च, दुर्निवारम् एतत् त्रयम् वारिणि तैलस्य बिन्दुरिव भूमौ स्वयमेव प्रसरति ।

व्याख्या—कौतुकवती = कुतूहलोत्पादिका, वार्त्ता = वृत्तान्त ('वार्त्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त ' इत्यमर) विमला निर्मला विशुद्धेत्यर्थ , विद्या = शास्त्रविषयक ज्ञान च, कुरङ्गनाभे = कस्तूर्या , लोकोत्तर —लोकेषु, उत्तर =श्रेष्ठ , सर्वाधिक इत्यर्थ , परिमल = सुगन्धश्च, दुर्निवारम् = परित प्रसरणान्निवारयितुमशक्यम् एतत = पूर्वोक्तम्, त्रयम्, वारिणि = जले, तैलस्य बिन्दुरिव, भूमौ = पृथिव्याम्, स्वयमेव–प्रसारसाधनमनपेक्ष्यैवेति भाव , प्रसरति = प्रसार याति । यथा जले तैलस्य बिन्दु = प्रसरति तथैवैतत्त्रय लोक परित स्वयमेव प्रसरति, तत्कौशिकमुनिसमीपस्थितात्तद्वार्त्ता कर्णपरम्परया माल्यवता श्रुतेति भाव ।

अत्र प्रस्तुताया वार्त्ताया अप्रस्तुतयोश्च विद्याकस्तूर्यो प्रसरणरूपैकधर्माभिसम्बन्धाद् दीपकालङ्कार , तल्लक्षण यथा—

'अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपक तु निगद्यते ।
अथ कारकमेक स्यादनेकासु क्रियासु चेत्' ॥ इति ॥

वार्त्ताविद्याकस्तूरीणा तैलबिन्दोश्चैकस्मिन्नेव वाक्ये साम्यस्य सर्वधर्मवाच्यत्वादुपमालङ्कारश्च । द्वयोरङ्गाङ्गिभावेन सवलनात् सङ्कर । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

विशेषतश्चेति । बहुतरप्रणिधिप्रणिधायी–बहुतरा = अनेके, प्रणिधय = गुप्तचरास्तान् प्रणिदधाति = नियोजयति, तच्छील ।

तापस—कौतूहल से भरी बात (वृत्तान्त), विशुद्ध विद्या और कस्तूरी की लोकोत्तर सुगन्ध, अनिवार्य ये तीनों, जल में तैल बिन्दु के समान, पृथिवी भर में अपने-आप ही फैल जाती है ॥ २ ॥

(दूसरे यह कि) माल्यवान् विशेषरूप से बहुत से गुप्तचर नियुक्त करते रहते हैं ।

भिक्षुः—तत्कथं मिथिलोपवने भवान् ?

तापसः—आकर्णितं हि मया मिथिलामागतो लङ्केश्वर इति। अतस्तद्विलोकनाय प्रथममिहागतः। अधुना च ताटकावनं यास्यामि। तत्कथय तावद्भवान् पुनः कतरः ?

भिक्षुः—अहमपि स एव यः प्रथमं ताटकां प्रति प्रहितः। मिथिलोपवनागमनकारणं समानमावयोः।

तापसः—(सहर्षम्) तत्कथय तावत्। तत्किं सताटङ्कं सम्प्रति ताटकावनम् ?

भिक्षुः—सताटकमिति तावत् पृच्छ।

तापसः—क्व पुनः सम्प्रति ताटका ?।

भिक्षुः—पुरीं प्रविष्टा।

तापस इति। सताटङ्कम्=ताटङ्काभ्याम्=पूर्वनिर्दिष्टकर्णभूषणाभ्यां सहितम्, तत्ताटङ्कयुगं ताटकयाऽऽहृत्य ताटकावनमानीतं किमिति भावः।

भिक्षुरिति। सताटकम्—ताटकया सहितं, वनमिति शेषः, वनं ताटकासनाथमस्ति किमिति तावत्पृच्छेति भावः।

भिक्षुरिति। अन्तकस्य = यमराजस्य।

भिक्षु—तो आप मिथिला के उपवन में कैसे (आ गये) ?

तापस- क्योंकि मैंने सुना कि लङ्केश्वर मिथिला में आये हैं अतः उनके दर्शन के लिए पहिले यहाँ आ गया; और अब ताटकावन जाऊँगा। अच्छा, बताइए कि आप कौन हैं ?

भिक्षु— मैं भी वही हूँ जो पहिले ताटका के पास भेजा गया था। मिथिला के उपवन में आने का कारण हम दोनों का समान (एक) ही है।

तापस - (हर्ष के साथ) तो पहिले यह कहिए कि इस समय ताटकावन सताटङ्क है (अर्थात् ताटका द्वारा कर्णभूषण का जोड़ा ताटकावन में लाया गया)?

भिक्षु —(ताटकावन) सताटक (अर्थात् ताटकावन में ताटका) है ? पहिले यह (तो) पूछो।

तापस—अच्छा, तो इस समय ताटका कहाँ है ?

भिक्षु—पुरी को गयी।

तापस —तत्किं दशरथस्य ?

भिक्षु —नहि नहि, अन्तकस्य।

तापस —केन पुन प्रतिहारायितमन्तकपुरीप्रवेशे तस्या ।

भिक्षु —रामबाणेनैव ।

तापस —क एष राम ? (विमृश्य) नूनं स एव य खलु दशरथकुमारयोरग्रज । तत्कथय, क्व पुनरधुना ताटकातनयौ ?

भिक्षु —सुबाहुस्तावत्ताटकामेवानुगत । मारीचोऽपि शिशुक्रीडोचितरामनाराचपीडितो जीवन्मुक्त इव दूरं क्षिप्त ।

तापस इति । प्रतिहारायितम् = प्रतिहारवत् आचरितम् । केन ताटका हतेति भाव ।

तापस इति । ताटकातनयौ=ताटकायास्तनयौ=पुत्रौ सुबाहुमारीचाविरयर्थं ।

भिक्षुरिति । ताटकामेवानुगत = रामबाणेन हत इति भाव । शिशुक्रीडोचितरामनाराचपीडित —शिशूनाम्=बालकाना, क्रीडायै, उचित = योग्यो रामस्य नाराच शरस्तेन पीडित = आहत । जीवन्मुक्त = निश्चेष्ट, पक्षे ब्रह्मज्ञानेन पवित्रीभूय जीवनमरणबन्धनान्मुक्तो जन, स इव, दूर क्षिप्त = दूर पातित, पक्षे दूरम् = ब्रह्मणि, क्षिप्त = स्थापित । यथा ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्तो दूरवर्त्ति ब्रह्मपद गच्छति तथैव रामबाणेन मारीचो दूरवर्तिनि स्थाने क्षिप्त इति भाव ।

तापस—तो क्या दशरथ की (पुरी को गयी) ?

भिक्षु – नहीं ! नहीं ! यमराज की ।

तापस—यमराज की पुरी में उसके प्रवेश करने में द्वारपाल का कार्य किसने किया ? (अर्थात् किसने उसे मारा ?)

भिक्षु—रामचन्द्र के बाण ही ने ।

तापस—यह राम कौन है ? (विचार कर) निश्चय (राम) वही है जो दशरथ के दोनों कुमारो में बड़ा है। अच्छा, तो कहो ताडका के दोनों पुत्र (सुबाहु और मारीच) इस समय कहाँ है ?

भिक्षु सुबाहु ने तो ताटका का ही अनुगमन किया (अर्थात् राम के द्वारा मारा गया)। मारीच भी बालको की क्रीडा में योग्य (अभ्यस्त) राम के बाण से पीडित जीवन्मुक्त-सा दूर फेंका गया।

तापसः—तत् कथमिदानीं न कथितं केनापि लङ्केश्वरस्य ?

भिक्षुः—कथितमेव किलेदमाक्रन्दता मारीचेन ।

तापसः—तत्कथं कुपितो न लङ्केश्वरः ?

भिक्षुः—सीताभिलाषशीतले लंकेश्वरचेतसि नारूढ एव कोपपरितापः ।

तापसः—क्व पुनरधुना रामलक्ष्मणौ ?

भिक्षुः—श्रुतं मया कौशिकानुपदं तदाश्रमान्मिथिलां प्रति प्रचलिताविति । (विलोक्य) (सत्रासम्) कथमिमौ तावित एवाभिवर्त्तेते । तदस्य निशाचरवैरिणो रामस्य पुरतः स्थातुमनुचितमावयोः ।

एतेन, रामबाणेन मारीचस्य भाविनी जीवन्मुक्तिः सूचिता ।

भिक्षुरिति । सीताभिलाषशीतले = सीतायाम् = जानक्यां यः अभिलाषः = पाणिग्रहणमनोरथस्तेन शीतले । लङ्केश्वरचेतसि—लङ्केश्वरस्य = रावणस्य, चेतसि = चित्ते । कोपपरितापः = कोपस्य = क्रोधस्य परितापः = उष्णिमा । यथाऽत्यन्तशीतले वस्तुनि पावककृततापो नारोहति तथैव सीताकृष्टहृदयस्य रावणस्य चित्ते श्रुतोऽपि मारीचचीत्कारः क्रोधोत्पादनेऽसफलो जात इति भावः । एतेन मृगरूपमारीचस्य वधः, सीताहरणोद्यतस्य रावणस्योपेक्षा चेति भाविवृत्तं सूचितम् ।

भिक्षुरिति । कौशिकानुपदम् = कौशिकस्य पश्चात्, कौशिकेन सहेति भावः ।

तापस—तो (इस वृत्तान्त को) इस समय लङ्केश्वर (रावण) को किसी ने क्यों नहीं बताया ?

भिक्षु—चिल्लाते हुए मारीच ने तो यह कह ही दिया ।

तापस—तो क्यों, लङ्केश्वर कुपित नहीं हुए ?

भिक्षु—सीता के (पाने के) अभिलाष से शीतल, लङ्केश्वर के चित्त में क्रोध की गर्मी चढ़ी ही नहीं ।

तापस—अच्छा, रामलक्ष्मण इस समय कहाँ हैं ?

भिक्षु—मैंने सुना है कि कौशिक ऋषि के पीछे-पीछे उनके आश्रम से मिथिला के लिए चले हैं । (देख कर) (भयपूर्वक) वे, ये दोनों कैसे इधर ही आ रहे हैं ? तो निशाचरों के शत्रु इस राम के सामने हम दोनों का ठहरना ठीक नहीं (होगा) ।

(इति निष्क्रान्तौ)

इति विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशतो रामलक्ष्मणौ)

रामः—वत्स लक्ष्मण ! पश्य पश्यारामरामणीयकम् ।

लक्ष्मणः—आर्य ! निसर्गरमणीयोऽयमारामः । अधुना तु मधुमासावतारेण नितान्तरमणीयः ।

रामः—(सहर्षम्) कथमवतीर्णैव मधुमासलक्ष्मीः ? (विमृश्य) एवमेतत् । तथाहि—

इति विष्कम्भक इति । विष्कम्भकलक्षणं प्रागेवोक्तं तत्रैव द्रष्टव्यम् । अत्र शुद्धो विष्कम्भको ज्ञेयो मध्यमपात्रप्रयोजितत्वात् ।

राम इति । आरामरामणीयकम्— आरामः = उपवनम्, तस्य रामणीयकम्= रमणीयस्य भावः, रामणीयकम् = रम्यता, तत् ('योपधाद्गुरूपोत्तमाद् वुञ्' इति वुञ्) ।

लक्ष्मण इति । निसर्गरमणीयः — निसर्गः = प्रकृतिः, तेन रमणीयः =रम्यः । मधुमासावतारेण—मधुमासः = चैत्रः ('स्याच्चैत्रे चैत्रिको मधुः' इत्यमरः) तस्य अवतारेण=आगमनेन । नितान्तरमणीयः—नितान्तम्=अत्यर्थं, रमणीयः =सुन्दरः ।

राम इति । मधुमासलक्ष्मीः = मधुमासस्य = चैत्रमासस्य लक्ष्मीः = श्रीः, शोभेत्यर्थः । मधुमासश्रियं वर्णयन्नाह—इहेति ।

(ऐसा कह कर निकल गये)

इति विष्कम्भकः ।

(तदनन्तर राम और लक्ष्मण प्रवेश करते हैं)

राम—वत्स लक्ष्मण ! उपवन की रमणीयता देखो ! देखो !

लक्ष्मण—आर्य ! यह उपवन स्वभावतः सुन्दर है। इस समय तो चैत्र मास के आ जाने के कारण और अत्यन्त रमणीय हो गया है।

राम—(हर्ष के साथ) क्या चैत्रमास की शोभा आ ही गयी ? (विचार कर) यह ऐसा ही है (अर्थात् चैत्रमास की शोभा वास्तव में आ ही गयी है) जैसे कि—

इह मधुपवधूनां पीतमल्लीमधूनां,
विलसति कमनीयः काकलीसम्प्रदायः ।
इह नटति सलीलं मञ्जरी वञ्जुलस्य,
प्रतिपदमुपदिष्टा दक्षिणेनानिलेन ॥ ३ ॥

अपि च—मलयशिखरादाकैलासं मनोभवशासनाद्
भुवनवलयं जेतुं वाञ्छन् वसन्तसमीरणः ।
विहितवसतिं कैलासाग्रे भुजङ्गधरं हरं
मनसि विमृशन् भीतः शङ्के प्रयाति शनैः शनैः ॥ ४ ॥

अन्वयः—इह पीतमल्लीमधूनाम् मधुपवधूनाम् कमनीयः काकलीसम्प्रदायः विलसति । इह दक्षिणेन अनिलेन प्रतिपदम् उपदिष्टा वञ्जुलस्य मञ्जरी सलीलम् नटति ।

व्याख्या—इह = अत्रारामे, पीतमल्लीमधूनाम् = पीतानि, मल्लीनाम् = मल्लिकानाम्, मधूनि=पुष्परसा याभिस्तासाम्, मधुपवधूनाम्—मधुपानाम्=भ्रमराणां वध्वः=स्त्रियस्तासाम्, भ्रमरीणामित्यर्थः, कमनीयः = मनोहरः, काकलीसम्प्रदायः—काकली = मन्दमधुरस्वरस्तस्याः सम्प्रदायः = निवहः, परम्परेत्यर्थः, विलसति = प्रादुर्भवति । इह = अस्मिन्नारामे, दक्षिणेन = मलयाचलादागतेनेत्यर्थः, अनिलेन= वायुना, प्रतिपदम् = प्रतिपादविक्षेपम्, प्रतिशब्दं वा, उपदिष्टा = शिक्षिता, वञ्जुलस्य = अशोकस्य ('वञ्जुलोऽशोके' इत्यमरः) मञ्जरी=वल्लरी ('वल्लरिर्मञ्जरिः स्त्रियौ' इत्यमरः) सलीलम् = सविलासम्, नटति = नृत्यति । उत्प्रेक्षालङ्कारः । मालिनीवृत्तम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—मलयशिखरात् आकैलासम् भुवनवलयम् मनोभवशासनात् जेतुम् वाञ्छन् वसन्तसमीरणः कैलासाग्रे विहितवसतिम् भुजङ्गधरम् हरम् मनसि विमृशन् भीतः शनैः शनैः प्रयाति (इति) शङ्के ।

व्याख्या—मलयशिखरात्=मलयाचलशृङ्गात् आकैलासम् = कैलासपर्यन्तम्,

बेला के पुष्पों का रस-पान कर चुकी भ्रमरों की स्त्रियों (अर्थात् भ्रमरियों) की अनवरत मोहक मधुरध्वनि गूँज रही है । अशोक की मञ्जरी दक्षिण वायु से पग-पग पर सिखलायी गयी-सी इस (उपवन) में विलासपूर्वक नाच रही है ॥३॥

और भी—मलय-पर्वत के शिखर से लेकर कैलास पर्वत तक भुवनमण्डल को,

लक्ष्मण —आर्य ! अहं त्वेवं तर्कयामि—

पथि पथि लतालोलाक्षीभि स्रवन्मधुसीकरं
कुसुमनिकरं वर्षन्तीभि सहर्षमिवार्चित ।
मधुकरवधूगीतासक्त कुरङ्गकमास्थित
प्रसरति वने मन्दं मन्दं वसन्तसमीरण ॥ ५ ॥

दक्षिणदिग आरभ्योत्तरदिक्पर्यन्तमिति भाव, भुवनवलयम् = लोकमण्डलम्, मनोभवशासनात्—मनोभव = कामदेवस्तस्य शासनम् = अवश्यपालनीयाऽऽज्ञा, तस्मात्, जेतुम् = स्वायत्तीकर्तुम्, वाञ्छन् = अभिलषन्, वसन्तसमीरण = वसन्तवायु, कैलासाग्रे = कैलासपर्वतशिखरे, विहितवसतिम्—विहिता = कृता, वसति = सार्वदिको निवासो येन तम्, भुजङ्गधरम् = भुजङ्गभूषितम्, हरम् = महादेवम्, मनसि = हृदये, विमृशन् = भावयन्, भीत =भयान्वित, शनै शनै = मन्दं मन्दम् प्रयाति = वहति (इति) शङ्के=चिन्तयामीति भाव । कामदेवस्यादेशात्, दक्षिणपर्वतादारभ्योत्तरपर्वतपर्यन्त भूमण्डल विजेतुमभिलषन् वसन्तवायु प्रयाणमकरोत् । किन्तु कैलासशिखरे कृतनिवासस्य हरस्य कोपाग्निभयेन, तदङ्गभूषणभूतसर्पाणा पवनपायित्वेन च भीत सन् मन्दं मन्दं वातीति भाव । उत्प्रेक्षालङ्कार, हरिणी वृत्तम् । तल्लक्षण यथा—'रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा' इति ॥ ४ ॥

अन्वय —पथि पथि स्रवन्मधुसीकरम् कुसुमनिकरम् वर्षन्तीभि लतालोलाक्षीभि सहर्षमर्चित इव मधुकरवधूगीताऽऽसक्तम् कुरङ्गकम् आस्थित वसन्तसमीरण मन्दं मन्दम् प्रसरति ।

व्याख्या—पथि पथि = प्रतिमार्गम् (वीप्सायां द्विर्वचनम्) स्रवन्मधु-

---

कामदेव की आज्ञा से वसन्त-वायु जीतने की इच्छा करता हुआ, कैलासपर्वत के शिखर पर वास करने वाले सर्पधारी हर को मन में सोचता हुआ (हर और कामदेव के पुराने वैर के कारण तथा उनके भूषणभूत सर्पों के वायुभक्षक (होने के कारण) डरा हुआ (किन्तु स्वामी के आदेश पालन की अनिवार्यता के कारण) धीरे-धीरे आगे बढ रहा है ॥ ४ ॥

लक्ष्मण—आर्य ! मैं तो ऐसा सोचता हूँ—

प्रत्येक मार्ग में झरते हुए मकरन्द वाले पुष्पसमूह की वृष्टि करती हुई लता-

रामः—वत्स ! अलमनेन। तद्यावदयं भगवान् विश्वामित्रस्तत्रभवतो याज्ञवल्क्यस्य समागमसुखमनुभवति तावत्तदीयसायन्तनदेवतार्चनोचितानि कुसुमान्यवचीयन्ताम्।

लक्ष्मणः—बाढम् (इति लताविटपान्तरितः कुसुमावचयं नाटयति)

सीकरम्-स्रवन्तः = श्च्योतन्तः, मधुनः = मकरन्दस्य, सीकराः=कणाः, यस्मात्तम् मकरन्दं स्रवन्तमित्यर्थः, कुसुमानाम्=पुष्पाणाम्, निकरः=समूहः, तम्, वर्षन्तीभिः= उपहरन्तीभिः, लताक्षीलाक्षीभिः—लोले = चञ्चले अक्षिणी = नेत्रे यासां ता लोलाक्ष्यः, लता एव लोलाक्ष्यस्ताभिः = लताललनाभिः, सहर्षम् = हर्षसहितं यथा स्यात्तथा, अर्चित इव=पूजित इव, मधुकरवधूगीताऽऽसक्तम्—मधुकराणाम्= भ्रमराणां, वध्वः = स्त्रियः, तासां भ्रमरीणां गीते आसक्तम् = आकृष्टचित्तम्, कुरङ्गकम् = मृगम्, आस्थितः = आरूढः, वसन्तसमीरणः = वसन्तवायुः, वने = विपिने, मन्दं मन्दम् = शनैः शनैः, प्रसरति = याति। लतालोलाक्षीभिरित्यत्र रूपकाऽलङ्कारः, अर्चित इवेत्यत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः, 'मधुकरवधूगीतासक्तं कुरङ्गकमास्थितः, इति वसन्तसमीरणविशेषणस्य साभिप्रायत्वेन परिकरालङ्कारस्तेषां मिथोऽनपेक्षया स्थितेः संसृष्टिः। हरिणी वृत्तम् ॥ ५ ॥

राम इति। भगवान् = षडैश्वर्यसम्पन्नः। विश्वामित्रः—विश्वस्य मित्रम्, 'मित्रे चर्षौ' इति दीर्घत्वम्। समागमसुखम्=सङ्गजन्यप्रमोदम्। तदीयसायन्तनदेवतार्चनोचितानि—तदीयं = विश्वामित्रसम्बन्धि, सायन्तनम् = सन्ध्याकालिकं यद् देवतानाम् अर्चनम् = पूजनम्, तत्रोचितानि = योग्यानि

लक्ष्मण इति। लताविटपान्तरितः—लतानां, विटपैः=शाखाभिः, अन्तरितः= व्यवहितः। कुसुमावचयम् = पुष्पत्रोटनम्, नाटयति = अभिनयति।

सुन्दरियों के द्वारा सहर्ष पूजित-सा भ्रमरियों के गीत को (सुनने) में आसक्त (अत एव मन्दगामी) मृग पर सवार वसन्तवायु धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है ॥४॥

राम—वत्स ! इस (प्रसङ्ग) को छोड़ो, तो जब तक ये भगवान् विश्वामित्र पूजनीय याज्ञवल्क्य के मिलन-सुख को अनुभव कर रहे हैं तब तक उनके सायंकालीन देवपूजन भर के लिए पुष्प चुन लिये जांय।

लक्ष्मण—तथास्तु। (ऐसा कह कर लताओं की डालियों से ओझल हुए, पुष्प चुनने का अभिनय करते हैं।

राम — (विलोक्य) कथमिदमितश्चण्डिकायतनम् । (अञ्जलिं बद्ध्वा)

करुणातरङ्गतरङ्गिणि विकसन्नयनामृतोर्मिसीकरिणि ।
तरुणतुहिनकरचूडामणिरमणि ! त्वां नमस्यामि ॥ ६ ॥

(पुनरन्यतोऽवलोक्य) अये ! इयमसौ मदकलकलहंसोत्तंसितसित-सरोजराजिराजिता सरसी सरसीकरोति मे चेतः । (पुनः सकौतुकम्) अये ! कथमयं नलिनीवनविहारिणीं सहचरीमपि विहाय कलहंस-

अन्वयः — करुणातरङ्गतरङ्गिणि विकसन्नयनामृतोर्मिसीकरिणि ! तरुणतुहिनकरचूडामणिरमणि त्वां नमस्यामि ।

व्याख्या—करुणातरङ्गतरङ्गिणि—करुणा = दया एव तरङ्गाः = लहर्यः, तासां तरङ्गिणी = नदी, तत्सम्बुद्धौ विकसन्नयनामृतोर्मिसीकरिणि—विकसती = प्रफुल्ले दयमतिशये, ये नयने = नेत्रे तयोः अमृतम् = सुधा तस्य ऊर्मयः = तरङ्गाः, तासां सीकराः = जलकणाः, ते सन्ति यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ, तरुणतुहिनकरचूडामणिरमणि—तरुण = नूतनः तुहिनकरः = चन्द्रः, चूडामणिर्यस्य स तादृशः शिवस्तस्य रमणी = विलासिनी तत्सम्बुद्धौ त्वाम् नमस्यामि — नमामि ('नमो वरिवश्चित्रङः क्यच्' इति क्यच्) । आर्या वृत्तम् ॥ ६ ॥

पुनरिति । मदकलकलहंसोत्तंसितसितसरोजराजिराजिता—मदकलाः = मधुराव्यक्तध्वनिकारिणो ये कलहंसाः = राजहंसास्तैरुत्तंसितानि = विभूषितानि यानि सितानि - श्वेतानि सरोजानि = कमलानि, तेषां राजिः = श्रेणी तया राजिता = शोभिता । सरसी = सरः, मे = मम, चेतः = चित्तम्, सरसीकरोति= प्रसादयति । नलिनीवनविहारिणीम्—नलिनीवनं = कमलिनीवनं विहर्तुं शील मस्या इति नलिनीवनविहारिणी ताम् सहचरीम् = सङ्गिनीम् । कलहंसपोतः =

राम—(देखकर) क्या इधर यह गिरिजामन्दिर है ? (हाथ जोडकर)
हे करुणापूर्ण तरङ्गों की नदी ! (अर्थात् करुणामयी !) (दयावश) प्रफुल्ल नेत्रों की लहरों के कणों से सम्पूर्ण ! (अर्थात् दयामयी !) चन्द्रशेखर (अर्थात् महेश) की रमणी ! तुम्हें प्रणाम करता हूँ ॥ ६ ॥

(फिर दूसरी ओर देख कर) मधुर ध्वनि करने वाले राजहंसों से विभूषित श्वेत कमल श्रेणी से शोभित यह सरसी (पोखर) मेरे चित्त को सरस (अनुरागमय) बना रही है । (फिर कौतुक के साथ) अरे ! कैसे यह

पोतश्चूतविटपान्तरालमनुसरति। (कर्णं दत्त्वा) अये! क एष मदकलकरिकनकशृङ्खलामणिरणितानुकारी मनोहारी कोऽपि कलकलः समुल्लसति? (विमृश्य) नूनं राजहंसशिञ्जितहारि मञ्जीरगुञ्जितमेतत्। तदवश्यमिह सलीलचलच्चरणरणन्मणिनूपुरया पुराङ्गनया कयाचन चण्डिकायतनमागच्छन्त्या भवितव्यम्। तदलमस्माकमितोऽवलोकनेन परस्त्रीति शङ्कापि सङ्कोचाय रघूणाम्।

राजहंसशावकः। चूतविटपान्तरालम्—चूतविटपस्य = आम्रवृक्षशाखाया. ('आम्रश्चूतोरसालोऽसौ' इत्यमरः) अन्तरालम् = मध्यभागम्। मदकलकरिकनकशृङ्खलामणिरणितानुकारी—मदेन, कलः = मनोहरो यः करी = गजः, तस्य या कनकशृङ्खला = स्वर्णनिर्मितनिगडः, तत्र (खचितः) यो मणिस्तस्य रणितम् = झङ्कृतिम् अनुकरोतीति तच्छीलः। कलकलः = मृदुलमधुरध्वनिः। समुल्लसति = प्रादुर्भवति। नूनमिति निश्चये। राजहंसशिञ्जितहारि—राजहंसस्य शिञ्जितम् = मधुराव्यक्तध्वनिम्, हरति तच्छीलः, राजहंसमधुरध्वनिजैत्रमित्यर्थः। मञ्जीरगुञ्जितम् = मञ्जीरस्य = नूपुरस्य गुञ्जितम् = मधुराव्यक्तध्वनिः ('मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः)। सलीलचलच्चरणरणन्मणिनूपुरया—सलीलम् = सविलास यथा स्यात्तया चलन्तौ यौ चरणौ ताभ्यां रणन्तौ = मधुरशब्दं कुर्वन्तौ मणिनूपुरौ = मणिखचितौ नूपुरौ यस्याः सा, तया। चण्डिकायतनम् = गिरिजागृहम्। पुराङ्गनया = नगरसुन्दर्या।

राजहंसशावक कमलिनीवन में विहार करने वाली (अपनी) सङ्गिनी को भी छोड़कर आम की शाखाओं के मध्यभाग का अनुसरण कर रहा है (अर्थात् शाखाओं के मध्यभाग में जा रहा है)। (कान लगा कर) अरे! यह मद से मनोहर गज की स्वर्ण शृङ्खला में खचित मणि की झङ्कार का अनुकरण करने वाला, मनोहर कैसा कोई शब्द हो रहा है? (विचार कर) निश्चय राजहंसों की (भी) मधुर ध्वनि को जीतने वाली नूपुर की झङ्कार है। तो अवश्य यहाँ विलास पूर्वक चलते हुए चरणों में झङ्कार करते हुए मणि नूपुरों वाली किसी नगर सुन्दरी को गिरिजामन्दिर की ओर आती हुई होना चाहिए। अतः हमें इस ओर देखना ठीक नहीं (क्योंकि) 'परायी स्त्री' ऐसी शङ्का भी रघुवंशियों के सङ्कोच के लिए (होती है)।

(नेपथ्ये)

भर्तृदारिके ! इत इत ।

राम :—कथमिय राजकुमारिका ? तदालोकयामि तावत् । (विलोक्य सहर्षकौतुकम्)

केय श्यामोपलविरचितोल्लेखहेमैकरेखा-
लग्नैरङ्गैः कनककदलीकन्दलीगर्भगौरै ।
हारिद्राम्बुद्रवसहचर कान्तिपूरं वहद्भि
कामक्रीडाभवनवलभीदीपिकेवाविरस्ति ॥ ७ ॥

भर्तृदारिक इति । भर्तृदारिके-भर्तुः = राज्ञ , दारिका = पुत्री तत्सम्बुद्धौ रूपमेपु सम्बोधनप्रकार ।

राम इति । आलोकयामि = पश्यामि । कुमारिकाया परस्त्रीभावाभावात्तद्दर्शने नास्ति दोष । नागानन्दनाटके श्रीहर्षेणाप्युक्त 'निर्दोषदर्शना हि कन्यका भवन्ति' इति ।

अन्वय :—श्यामोपलविरचितोल्लेखहेमैकरेखालग्नै कनककदलीकन्दलीगर्भगौरै हारिद्राम्बुद्रवसहचर कान्तिपूर वहद्भि अङ्गै कामक्रीडाभवनवलभीदीपिका इव इय का आविरस्ति ?

व्याख्या—श्यामोपलविरचितोल्लेखहेमैकरेखालग्नै —श्याम = कृष्णवर्णो य उपल = पाषाण , निकषप्रस्तर इत्यर्थस्तस्मिन् (एतेन लताभवनस्यातिश्यामत्व व्यज्यते) विरचित: = कृत , उल्लेख = घर्षण यस्य तादृशस्य हेम्न = सुवर्णस्य एका = अनिर्वचनीया , रेखा , सा इव लग्नानि तै , (एतेन सीताशरीरस्य तनिमा गौरवर्णत्व च व्यज्येते) कनककदलीकन्दलीगर्भगौरै —कनककदली = सुवर्णरम्भातरुस्तस्य कन्दलीगर्भा = आभ्यन्तरभागा , तद्वत् गौरै , हारिद्राम्बु द्रवसहचरम्—हरिद्राया इदमिति हारिद्रम् = हरिद्रासम्बन्धि यदम्बु =

(नेपथ्य में)

भर्तृदारिके ! इधर, इधर (चलिए) ।

राम—क्या यह राजकुमारी है ? तो (इसे) देखता हूँ । (देख कर हर्ष और कौतुक के साथ)—

कसौटी पर कसे गये सुवर्ण की अनुपम रेखाओं के समान सलग्न, सुवर्ण

(ततः प्रविशति सीता सखी च)

सीता—हला ! पश्य पश्य, अद्येदमुद्यानं वसन्तसहचरेण स्वयमेव मन्मथेनाऽलङ्कृतमिवातिमात्रं रमणीयं प्रतिभाति (हला ! पेक्ख पेक्ख, अज्ज इममुज्जाणं वसन्तसहअरेण सअं जेव्व मम्महेणालंकिद विअ अतिमेत्तं रमणिज्जं पडिहादि)

सखी—अनवद्याङ्गि ! एवमेतत् ।

जलम् तस्य द्रवः = प्रवाहस्तस्य सहचरम् = सदृशमित्यर्थः, कान्तिपूरम् = प्रभाप्रवाहम् वहद्भिः = धारयद्भिः अङ्गैः (उपलक्षिता) कामक्रीडाभवनवलभीदीपिकेव—कामस्य = कामदेवस्य यत् क्रीडाभवनम् = केलिगृहम्, तस्य वलभी = चन्द्रशाला, ऊर्ध्वप्रदेश इत्यर्थः, तस्या दीपिकेव = दीप इव, इयम् = मया दृष्टा, का = का रमणी, आविरस्ति = प्रादुर्भवति । अत्र पादत्रये उपमालङ्कारश्चतुर्थपादे चोत्प्रेक्षालङ्कारः । द्वयोरङ्गाङ्गिभावेन संवलनात् सङ्करः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥७॥

सीतेति । हला—सख्या आमन्त्रणपदम्, हलेति सदृशी, प्रेष्या हञ्जे, वेश्याज्जुका तथेति विश्वनाथकविराजोक्तेः । वसन्तसहचरेण—वसन्तः सहचरो यस्य तेन । मन्मथेन = कामदेवेन । अतिमात्रम् = नितान्तम् ।

सखीति । अनवद्याङ्गि—अनवद्यानि = अनिन्दितानि, सर्वथा शोभनानीत्यर्थः, अङ्गानि = शरीरावयवा यस्यास्तत्सम्बुद्धौ । अत्र सख्या वैदग्ध्यसूचनार्थं संस्कृतोक्तिः । यथोक्तं विश्वनाथकविराजेन—'कार्यश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाविपर्ययः ॥

योषित्सखीबालवेश्या कितवाप्सरसां तथा ।
वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यं संस्कृतं चान्तरान्तरा ॥' इति ।

कदली के भीतरी भाग के समान गौरवर्ण तथा हल्दी के पानी की तरह सौन्दर्य प्रवाह को धारण करने वाले अङ्गों से (युक्त) कामदेव के क्रीडाभवन की अटारी की दीपिका-सी यह कौन स्त्री प्रकट हो रही है ? ॥ ७ ॥

(तदनन्तर सीता और सखी प्रवेश करती हैं)

सीता—सखी ! देखो ! देखो ! आज यह उद्यान, वसन्त को साथ लिये हुए स्वयं कामदेव से अलङ्कृत-सा अत्यधिक सुन्दर प्रतीत हो रहा है ।

सखी—अरी अनिन्द्य अङ्ग वाली ! आप का कहना ठीक है ।

राम —अये ! सर्वानवद्याङ्गीति वक्तव्यम । नन्वस्या —

बन्धूकबन्धुरधर, सितकेतकाभ
चक्षुर्मधूककलिकामधुर कपोल. ।
दन्तावली विजितदाडिमबीजराजि-
रास्य पुनर्विकचपङ्कजदत्तदास्यम् ॥ ८ ॥

(पुनर्निर्वर्ण्य) अहो ! मुग्धाया अप्यस्या प्रकृतिकमनीयपदार्थपरिशीलनौचित्यचातुरी । तथाहि इय हि—

सीताया सकलाङ्गानामनवद्यत्व प्रदर्शयति बन्धूकेति ।

अन्वय —अधर बन्धूकबन्धु, चक्षु सितकेतकाभम्, कपोल मधूककलिका मधुर, दन्तावली विजितदाडिमबीजराजि पुन आस्यम विकचपङ्कजदत्तदास्यम (अस्ति) ।

व्याख्या—अधर = ओष्ठदेश, बन्धूकबन्धु—बन्धूकस्य = रक्तकस्य, बन्धु = सदृश इत्यर्थ ('रक्तकस्तु बन्धूको बन्धुजीवक' इत्यमर) चक्षु = नेत्रम, सितकेतकाभम्—सितकेतकस्येव = श्वतकेतकीपुष्पस्येव, आभा = कान्तिर्यस्य तादृशम्, कपोल = गण्डदेश, ('गण्डौ कपोलौ' इत्यमर) मधूककलिकामधुर —मधूकस्य = मधुद्रुमस्य ('मधूके तु गुडपुष्पमधुद्रुमौ वानप्रस्थमधुष्ठीलौ' इत्यमर) कलिकेव मधुर = मनोहर । दन्तावली = दन्तपङ्क्ति, विजितदाडिमबीजराजि —विजिता दाडिमबीजाना राजि =प ङ्क्तिर्यया तादृशी, पुन =तथा, आस्यम् = मुखम, विकचपङ्कजदत्तदास्यम विकचम्=प्रफुल्ल यत्पङ्कजम=कमल, तस्मै दत्त, दास्यम् = दासत्व येन तत्तादृशम् (अस्ति) । अत्र पूर्वार्धे उपमात्रयमुत्तरार्धे च व्यतिरेकद्वयम् । तदेकाश्रयत्वात्सङ्कर । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ८ ॥

अहो इति । मुग्धाया अपि = सरलस्वभावाया अपि । प्रकृतिकमनीयपदार्थ-

राम—अरे । 'सम्पूर्ण अनिन्द्य अङ्गों वाली',—ऐसा कहना चाहिए । निश्चय, इसका—अधर बन्धूक (गुलदुपहरिया) के समान, नेत्र श्वेत केतकी पुष्प के समान, कपोल महुआ की पुष्प कली के समान मनोहर, दाँतो की श्रेणी दाडिम (अनार) के बीजों की पङ्क्ति को तिरस्कृत करने वाली तथा मुख प्रफुल्ल कमल को (भी) दास बनाने वाला (अर्थात् कमल से भी सुन्दरतर) है ॥ ८ ॥

(फिर भलीभाँति देख कर) भोली-भाली होते हुए भी इसके, सहज-सुन्दर

पदाभ्यामुन्निद्रामधरयति शोणाम्बुजरुचिं,
करांभ्यामादत्ते नवकिसलयानामरुणताम् ।
प्रवालस्यच्छायां दशनवसनाग्रेण पिबति,
स्मितज्योत्स्नापूरैरुपहसति कान्ति हिमरुचेः ॥ ६ ॥

सखी—भर्तृदारिके ! इदं तच्चण्डिकायतनम् ।

परिशीलनौचित्यचातुरी—प्रकृत्या = स्वभावेन, कमनीयः = सुन्दरो यः पदार्थः = वस्तु, तस्य परिशीलने = सम्यगवबोधे यत् औचित्यं तत्र चातुरी = नैपुण्यम् ।

अन्वयः—पदाभ्याम् उन्निद्राम् शोणाम्बुजरुचिम् अधरयति, कराभ्याम् नवकिसलयानाम् अरुणताम् आदत्ते, दशनवसनाग्रेण प्रवालस्य छायाम् पिबति, स्मितज्योत्स्नापूरैः हिमरुचेः कान्तिम् उपहसति ।

व्याख्या—पदाभ्याम्=चरणाभ्याम्, उन्निद्राम् = विकसिताम्, शोणाम्बुजरुचिम्—शोणम् = रक्तम्, यत् अम्बुजम् = कमलम्, तस्य रुचिम् = कान्तिम्, अधरयति = अधरीकरोति, सीताचरणौ रक्तपङ्कजादपि रक्ततरवर्णाविति भावः, कराभ्याम्=करतलाभ्यामित्यर्थः, नवकिसलयानाम्=नूतनपल्लवानाम्, अरुणताम्=अरुणिमानम्, आदत्ते = गृह्णाति, सीताकरौ नवकिसलयसदृशताम्रवर्णाविति तात्पर्यम् । दशनवसनाग्रेण—दशनवसनयोः = ओष्ठयोः, अग्रेण = अग्रभागेन, प्रवालस्य = विद्रुमस्य, छायाम्=कान्तिम्, रक्तिमानमित्यर्थः, पिबति=आचामति, गृह्णातीत्यर्थः; सीताया अधरौ प्रवालच्छविधराविति भावः । स्मितज्योत्स्नापूरैः—स्मितम् = ईषद्धसितम्, तस्य ज्योत्स्नाः = कान्तयस्तासां पूरैः=प्रवाहैः, हिमरुचेः= चन्द्रस्य, कान्तिम् = शोभाम्, उपहसति = निन्दति, सीतास्मितकान्तिश्चन्द्रशोभामतिशेत इति भावः । अत्र व्यतिरेकोपमयोरेकाश्रयानुप्रवेशात्सङ्करः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ६ ॥

पदार्थों के सम्यक् अवबोध की योग्यता का नैपुण्य आश्चर्यजनक है। जैसे कि यह—
पैरों से, प्रफुल्ल रक्तकमलों की कान्ति को पराजित करती है, करों से नूतन किसलयों की लालिमा को ग्रहण करती है, ओठों के अग्रभाग से मूँगे की कान्ति को पी जाती है तथा मन्दमुस्कान के कान्तिप्रवाहों से चन्द्रमा की कान्ति का उपहास करती है ॥ ६ ॥

सखी—भर्तृदारिके ! यह वह गिरिजामन्दिर है ।

सीता—(अञ्जलिं बद्ध्वा) देवि, शशधरमौलिदेहार्धधारिणि, त्रिभुवनगृहसुवासिनि ! नमो नमस्ते (देवि, ससहरमोलिदेहाद्धधारिणि, त्रिहुअणघरसुहासिणि ! णमो णमो दे)

सखी—समुचितैव प्रणामपरिपाटी ।

सीता—(सप्रणयकोपम्) अलमलीकजल्पितेन । (अलमलीअजप्पिदेण)

सखी—(अञ्जलिं बद्ध्वा)

कान्तमिन्दुमणिदामकोमले ! कोमलेन्दुमुकुटाङ्कशायिनि ! ।
इन्दुचारुमचिरेण विन्दतामिन्दुसुन्दरमुखी सखी मम ॥ १० ॥

सीतेति । शशधरमौलिदेहार्धधारिणि—शशधर = चन्द्र , मौली = शिरसि, यस्य स शशधरमौलि = चन्द्रचूड , शिव इत्यर्थ , तस्य देहार्द्धम् = शरीरार्द्धम, तस्य धारिणि ! त्रिभुवनगृहसुवासिनि—त्रिभुवनमेव गृहम् = निवासस्थानम्, तस्य सुवासिनि = सद्गृहिणि !

सखीति । प्रणामपरिपाटी=प्रणामपद्धति । समुचितैव = योग्यैव । सीताऽस्मनि पत्युरनुराग, स्वस्याश्च पतिपरिवारप्रियतामभ्यर्थितवतीति प्रणामपरिपाट्या समुचितत्वम् ।

सीतेति । अलमलीकजल्पितेन = अल मिथ्यावचनेन, निरर्थकं वचो मा ब्रूहीति भाव. ।

अन्वय —इन्दुमणिदामकोमले ! कोमलेन्दुमुकुटाङ्कशायिनि ! इन्दुसुन्दरमुखी मम सखी अचिरेण इन्दुचारुम् कान्तम् विन्दताम् ।

व्याख्या—इन्दुमणिदामकोमले–इन्दुमणीनाम् = चन्द्रकान्तमणीना दाम =

सीता—(हाथ जोड कर) देवि ! शिव की अर्द्धाङ्गिनि ! त्रिभुवनरूप गृह की सुगृहिणि ! (आप को) बार बार नमस्कार है ।

सखी—(साभिप्राय विशेषणो के प्रयोग से) प्रणाम करने की (तुम्हारी) पद्धति समुचित ही है ।

सीता—(प्रणयमिश्रित कोप के साथ) झूठ-मूठ बकवास बन्द करो ।

सखी—(हाथ जोडकर) ।

हे चन्द्रकान्तमणि की माला के समान रमणीय ! हे चन्द्रशेखर (शिव)

राम:—अये ! कथमस्याः परिणयमनोरथप्रणयी सखीजनः ? (विमृश्य) उचितमेतत् । वयस्सन्धौ खल्वियं वर्त्तते । तथाहि—

अपक्रान्ते बाल्ये, तरुणिमनि चागन्तुमनसि,
प्रयाते मुग्धत्वे चतुरिमणि चाश्लेषरसिके ।
न केनापि स्पृष्टं यदिह वयसा मर्म परमं
तदेतत्पञ्चेषोर्जयति वपुरिन्दीवरदृशः ॥ ११ ॥

माला, तदिव कोमला = मृदुला, रमणीयेत्यर्थः, तत्सम्बुद्धौ, कोमलेन्दुमुकुटाङ्कशायिनि-कोमलः = मृदुलः, बाल इति यावत्, इन्दुः = चन्द्रः, मुकुटे = शेखरे यस्य स कोमलेन्दुमुकुटः = बालचन्द्रशेखरः, शिव इत्यर्थः, तस्य अङ्के = क्रोडे शेते तच्छीला तत्सम्बुद्धौ, इन्दुसुन्दरमुखी-इन्दुरिव सुन्दरं मुखं यस्याः सा, मम सखी = सीतेत्यर्थः, अचिरेण = शीघ्रम्, इन्दुचारुम्—इन्दुरिव चारुम् = मनोज्ञम्, कान्तम् = प्रियम्, विन्दताम् = प्राप्नोतु । अत्र विशेषणानां साभिप्रायत्वात्परिकरालङ्कारः । रथोद्धता वृत्तं तल्लक्षणं यथा—'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति ॥ १० ॥

राम इति । परिणयमनोरथप्रणयी—परिणयमनोरथः = विवाहाभिलाषः, तत्र प्रणयी = इच्छुकः । वयस्सन्धौ = वयसोः = बाल्ययौवनयोरित्यर्थः, सन्धौ = सङ्गमे ।

अन्वयः—बाल्ये अपक्रान्ते तरुणिमनि च आगन्तुमनसि, मुग्धत्वे प्रयाते, चतुरिमणि च आश्लेषरसिके (सति) इन्दीवरदृशः यत् वपुः केनापि वयसा न स्पृष्टम्, तत् एतत् पञ्चेषोः परमम् मर्म इह जयति ।

व्याख्या—बाल्ये = बालभावे, अपक्रान्ते = अपगते, तरुणिमनि च = यौवने च आगन्तुमनसि = आगन्तुं मनो यस्य तस्मिन्, आगन्तुमिच्छति यौवने,

के अङ्क में शयन करने वाली ! मेरी चन्द्रतुल्य सुन्दर मुखवाली सखी (सीता) शीघ्र चन्द्रतुल्य सुन्दर पति पाये ॥ १० ॥

राम—अरे ! क्या, इसकी सखी इसके विवाह की अभिलाषिणी है ? (विचार कर) यह उचित (ही) है । (क्योंकि) यह (राजकुमारी) (बाल्य और यौवन इन) दो अवस्थाओं की सन्धि में है । जैसे कि—

बचपन के बीत जाने पर, युवावस्था के आने की इच्छा करने पर, भोलेपन

सखी—अयि देवि ! सत्वरं मे पूरय मनोरथम् यावदियं न दुर्मना यते सखी ।

सीता—(सप्रणयकोपम्) किमिति दुर्मनायिष्ये । (किंति दुम्मणाइस्सम्)

लक्ष्मण —अयि राजहंसकन्यके ! किमिति दुर्मनायसे ? अयं ते चूत विटपान्तरितः कान्त ।

न स्वागतम् इति भावः मुग्धत्वं स्वाभावसारल्यं प्रयाते व्यपगते चतुरिणी=मणि चातुर्ये आश्लेषरसिके – आश्लेषे रसिके – साभिलाषे न तु घृताश्लेष इति भावः (सर्वत्र भावे सप्तमी) इन्दीवरदृशः = इन्दीवरं इव = नीलकमले इव दृशौ नेत्रे यस्याः सा इन्दीवरदृक् – नीलकमललोचना तस्याः यत् वपुः = शरीरम् कयापि वाल्ययौवनयोः मध्यवर्तिनापि वयसा – अवस्थया न स्पृष्टम् = नाधिगृहीतमिति भाव । तत् – तादृशम् एतत् = पुरो दृश्यमानम् पञ्चेषो = पञ्चशरस्य कामदेवस्य तत्त्वम् परमम् – उत्कृष्टम् मम=तत्त्वभूतम् (सत्) इह – जगति जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । वयस्सन्धौ वर्तमानायाः सीतायाः शरीरं नितान्तं कामोद्दीपकमित्याशयः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ११ ॥

सखीति। सत्वरम्–शीघ्रम्। इयं सखी सीता। न दुर्मनायते खिन्ना न भवति।

लक्ष्मण इति। कलहंसपोतसहचरीमुद्दिश्य लक्ष्मणः कथयति—अयीति। राजहंसकन्यके–राजहंसस्य कन्यका – पुत्री तत्सम्बुद्धौ। पक्षान्तरे राजहंसस्य = नृपश्रेष्ठस्य जनकस्य पुत्रि ! अयं ते कान्तः – प्रियः कलहंसपोतः पक्षान्तरे श्रीरामचन्द्रः । चूतविटपान्तरितः—चूतस्य आम्रवृक्षस्य विटपः = शाखा तेन अन्तरितः व्यवहितः ।

मे जाने पर चातुर्य से आलिङ्गन में रसिक होने पर (इस समय) जिसे किसी भी अवस्था ने नहीं छुआ है कमलनयनी (सीता) का यह शरीर कामदेव का तत्त्वभूत (होता हुआ) इस जगत में सर्वोत्कृष्ट है ॥ ११ ॥

सखी—हे देवि ! मेरा मनोरथ शीघ्र पूर्ण करो जब तक कि मेरी यह सखी दुःखित न हो ।

सीता – (प्रणय कोप के साथ) मैं क्यों दुःखी हूँगी ?

लक्ष्मण—अरी राजहंसकन्यके ! क्यों दुःखी हो रही है ? यह तुम्हारा प्रियतम आम की शाखा की आड़ में छिपा है ।

सीता—हला ! कस्यायं करिकलभकण्ठनिर्घोषमधुरः कण्ठशब्दः श्रूयते, तन्निरूपयामः। (हला ! कस्स इमो करिकलहकण्ठणिग्घोसमहुरो कण्ठसद्दो सुणीअदि, ता णिरूवेह्म)

रामः—(सविषादम्) कथमियमन्तरितैव लतया (लतां प्रति)

> स्तनविजितस्तवकश्रीरधरा-
> धरितप्रवालनवलक्ष्मीः ।
> अयि लतिके ! तिरयन्ती तरल-
> दृशं नावलम्बसे लज्जाम् ? ॥ १२ ॥

सीतेति । करिकलभकण्ठनिर्घोषमधुरः = करिणः = गजस्य कलभः=शावकः, तस्य कण्ठनिर्घोषः = कण्ठध्वनिः, स इव मधुरः = कर्णप्रियः । निरूपयामः = पश्यामः । लतामुपालभमानो राम आह—स्तनेति ।

अन्वयः—अयि लतिके स्तनविजितस्तवकश्रीः, अधराधरितप्रवालनवलक्ष्मीः (त्वम्) तरलदृशम् तिरयन्ती लज्जाम् न अवलम्बसे ?

व्याख्या—अयि लतिके ! स्तनविजितस्तवकश्रीः—स्तनाभ्याम्=कुचाभ्याम् (सीताया इति भावः) विजिता = तिरस्कृता, स्तवकस्य = पुष्पगुच्छस्य, श्री = शोभा यस्यास्तादृशी, अधराधरितप्रवालनवलक्ष्मीः—अधरेण=ओष्ठेन अधरिता= पराजिता, प्रवालानाम् = नूतनकिसलयानाम्, नवलक्ष्मीः = नूतनकान्तिर्यस्याः सा, तादृशी (त्वम्) तरलदृशम्—तरले=चञ्चले, दृशौ=नेत्रे यस्यास्तादृशीम् = चञ्चलाक्षीं सीतामित्यर्थः, तिरयन्ती=तिरोहितां कुर्वन्ती, लज्जाम् न अवलम्बसे= नाश्रयसि ? कथं न लज्जसे ? सर्वथा विजेत्र्याः सीतायाः समक्षं तव लज्जावलम्बनमेवोचितं न तु तस्य प्रच्छादनमिति भावः । व्यतिरेकालङ्कारः, उपमेयस्योपमाना-

---

सीता—सखी ! यह किसकी, गजशावक की कण्ठध्वनि के समान मधुर कण्ठध्वनि सुनायी पड़ रही है। तो पता लगायें ।

राम—(विषाद के साथ) कैसे लता ने इसे छिपा ही दिया ? (लता के प्रति) ।

अरी लतिके ! जिसने (अपने) स्तनों से तुम्हारे फूलों के गुच्छों की शोभा को मात कर दिया, ओठों से किसलय की नूतन कान्ति को तिरस्कृत कर दिया

(पुनः सहर्षम्)

श्यामच्छवीनामियमन्तराले
प्रादुर्भवन्ती कदलीदलानाम् ।
कलेव चान्द्री नवनीरदानां
चकोरवन्मां मुदितं करोति ॥ १३ ॥

द्वाधिक्यवर्णनात् । गीतिश्छन्दस्तल्लक्षणं यथा—'आर्यापूर्वार्धसमं द्वितीयमपि भवति यत्र हंसगते । छन्दोविदस्तदानीं गीतिंताममृतवाणि भाषन्ते' इति ॥ १२ ॥

अन्वयः—श्यामच्छवीनाम् कदलीदलानाम् अन्तराले प्रादुर्भवन्ती इयम् नवनीरदानाम् अन्तराले प्रादुर्भवन्ती चान्द्री कला इव माम् चकोरवत् मुदितम् करोति ।

व्याख्या—श्यामच्छवीनाम्—श्यामा = कृष्णवर्णा (एतेन कदलीपत्राणां सातिशयहरिद्वर्णत्वं द्योत्यते) छविः = कान्तिर्येषां तेषाम्, कदलीदलानाम् = रम्भातरुपत्राणाम्, अन्तराले = मध्ये, आविर्भवन्ती = प्रकटन्ती, इयम् = एषा, सीतेत्यर्थः, (श्यामच्छवीनाम्) नवनीरदानाम्-नवाः = नूतनाः, सम्भृतनीराः इति भावः, ये नीरदाः = मेघास्तेषाम्, अन्तराले = मध्यभागे, प्रादुर्भवन्ती = प्रकटन्ती, चान्द्री-चन्द्रस्येयमिति चान्द्री (चन्द्रशब्दात् 'तस्येदम्' इत्यण्, 'टिड्ढाणञ्०' इति स्त्रियां ङीप्) चन्द्रसम्बन्धिनी, कलेव = षोडशांशात्मिका रेखेव, माम् = रामम्, चकोरवत्=चकोरमिव, मुदितम् = आह्लादितम्, करोति = विदधाति । यथा मेघान्तराले प्रकाशमाना चान्द्री रेखा चकोरमानन्दयति तथैव कदलीपत्रान्तराले प्रकटन्तीयं (सीता) मामाह्लादयतीति भावः । अत्रोपमालङ्कारः उपजातिर्वृत्तम् ॥ १३ ॥

उस (विजयिनी) चञ्चलाक्षी (सीता) को तिरोहित करते तुझे लाज नहीं आती ? ॥ १२ ॥

(पुनः हर्ष के साथ)

(अत्यन्त अधिक हरे होने के कारण) श्यामवर्ण केले के पत्तों के बीच में प्रकट होती हुई (यह सीता) श्यामवर्ण नूतन मेघों के बीच दिखायी देने वाली चन्द्ररेखा के समान मुझे चकोर की तरह आह्लादित कर रही है ॥ १३ ॥

(पुनः कदली प्रति)

हे बालहेमलतिके ! ध्रुवमीहसे त्व-
मूरुश्रियं कलयितुं तरलायताक्ष्याः ।
एनां विलम्बय विलासवतीं चिरं हि
स्त्रीणां कलाः परिचिताः स्थिरतां प्रयान्ति ॥ १४ ॥

सीता—हला ! कोऽयं कनकवर्णः शिखण्डिपिच्छमण्डितकर्णपूरो मुग्धत्वविमुक्तलोचनविकारः कुमारो दृश्यते ? इमं पश्यन्त्या मम

अन्वयः—हे बालहेमलतिके ! त्वम् तरलायताक्ष्याः ऊरुश्रियम् कलयितुम् ईहसे ध्रुवम्, एनाम् विलासवतीम् चिरम् विलम्बय, हि स्त्रीणाम् कलाः परिचिताः (सत्यः) स्थिरताम् प्रयान्ति ।

व्याख्या—हे बालहेमलतिके = हे नूतनसुवर्णलते ! त्वम्, तरलायताक्ष्याः–तरले = चञ्चले, आयते = विस्तृते, विशाले इत्यर्थः अक्षिणी = नेत्रे यस्यास्तस्याः (सीतायाः) ऊरुश्रियम्–ऊर्वोः = अङ्घ्योः श्रियम् = शोभाम्, कलयितुम् = प्राप्तुम्, ईहसे = इच्छसि, ध्रुवम् = नूनम्, एनाम् = यस्या ऊरुश्रियं प्राप्तुमिच्छसि तामिमाम्, विलासवतीम्–विलासः = मनोरमा आङ्गिकचेष्टाः, तद्वतीम्, सीतामित्यर्थः, चिरम् = बहुकालपर्यन्तम्, विलम्बय = अन्यत्र गमनान्निवारय, हि = यतः, स्त्रीणाम्, कलाः = गुणाः, परिचिताः = अभ्यस्ताः (सत्यः) स्थिरताम् = स्थैर्यं प्रयान्ति = प्राप्नुवन्ति । सीताया अत्र चिरमवस्थानेनैव त्वया ऊरुशोभा कलयितुं शक्या तस्मात्तां विलम्बय चिरमिति भावः । पूर्वार्द्धेऽत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । उत्तरार्द्धे च सामान्येन विशेषसमर्थनात्मकार्थान्तरन्यासः । उपमानत्वेन प्रसिद्धायाः कदल्या उपमेयत्वप्रकल्पनात्प्रतीपालङ्कारश्च । तेषां मिथोऽनपेक्षया स्थितेः संसृष्टिः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १४ ॥

सीतेति । कनकवर्णः–कनकस्येव वर्णो यस्य सः कनकवर्णः = सुवर्णवर्णः,

(फिर कदली के प्रति)

अरी बालस्वर्णलतिके ! मैं समझ रहा हूँ कि तुम चञ्चलाक्षी (सीता) की जाँघों की शोभा प्राप्त करना चाह रही हो; अतः विलासवती (सीता) को (अपने पास) देर तक रोक रखो क्योंकि स्त्रियों की कलाएँ परिचित (अभ्यस्त) हो जाने पर स्थिरता को प्राप्त करती हैं (फिर नहीं भूलतीं) ॥ १४ ॥

सीता—सखि ! सुनहरे वर्णवाला, मयूरपिच्छ से अलङ्कृत कर्णभूषण

निजवत्स इव वात्सल्यप्रक्षालितं हृदयं वर्त्तते । (हला ! को इमो कण्णमवण्णो सिहण्डिपिच्छमण्डिदकण्णपूरो मुद्धत्तणविमुक्कलोअणविआरो कुमारो दीसदि ? इमं पेक्खन्तीए मह णिअवच्छस्मि विअ वच्छत्तणपक्खालिअं हि अअं वट्टदि)

लक्ष्मण—अये ! केयमस्यां सुमित्रायामिव मे सुचिरप्रवृत्ता चित्तवृत्तिः ।

सीता—हला ! इमं कुमारं विलोकयन्त्या मम वत्सोर्मिला चित्त मारोहति । (हला इमं कुमारं पुलोअन्तीए मह वच्छा उम्मिला चित्तमारुहदि)

सखी—(विहस्य) नूनमयं कस्यचिद्वत्सशब्दलालनीयो भविष्यति । य विलोकयन्त्या मे त्वमपि चित्तवृत्तिमारोक्ष्यसि । तत्पृच्छामि ताव

णौ८ इत्यर्थः । शिखण्डिपिच्छमण्डितकर्णपूरः—शिखण्डिनः = मयूरस्य पिच्छेन = बर्हेण मण्डितः = अलङ्कृतः कर्णपूरः = कर्णाभरणम्, कुण्डलमित्यर्थः, यस्य तादृशः । मुग्धत्वविमुक्तलोचनविकारः—मुग्धत्वेन = अप्रौढतया बाल्येन हेतुनेति भावः, विमुक्तः = परित्यक्तः अनाश्रित इत्यर्थः लोचनयोः = नयनयोर्विकारः = विकृतिरपाङ्गवीक्षणमिति भावः, येन तादृशः । निजवत्स इव = निजपुत्र इव । वात्सल्यप्रक्षालितम्—वात्सल्येन = स्नेहेन प्रक्षालितम्-धौतम् व्याप्तमिति भावः ।

लक्ष्मण इति । सुचिरप्रवृत्ता—सुचिरम् = अत्ययमिति भावः प्रवृत्ता = सञ्जाता । चित्तवृत्तिः = मनोव्यापारः ।

सखीति । अपरिशीलिताम् = अपरिचिताम् ।

वाला भोलेपन के कारण नेत्रविकार से रहित यह कौन कुमार दिखायी दे रहा है ? इसे देख कर मेरा हृदय जैसे अपने बच्चे के विषय में वात्सल्यपूर्ण हो रहा है ।

लक्ष्मण—अरे ! यह कौन (स्त्री) है ? इसमें मेरी चित्तवृत्ति (उसी तरह) बहुत समय तक प्रवृत्त है जैसे माता सुमित्रा में ।

सीता—सखि ! इस कुमार को देख कर मुझे बहिन ऊर्मिला का स्मरण हो रहा है (अर्थात् मैं सोचती हूँ कि इस कुमार और ऊर्मिला की बहुत अच्छी जोड़ी होगी) ।

सखी—(हँस कर) निश्चय ही यह (भी) किसी (अपने बड़े भाई के द्वारा) वत्स शब्द से पुकारे जाते होंगे (अर्थात् इसका कोई बड़ा भाई भी

देनम्। (परिक्रम्य) अये राजकुमार ! कः खलु भवान् ? यस्त्वमेक एव मुग्धतयाऽपरिशीलितास्वपि वनभूमिषु विहरसि।

लक्ष्मणः—धिङ् मूर्खे ! कथं मामग्रजेन परिसरवर्त्तिना रामचन्द्रेण नाथवन्तमप्येकाकिनमपदिशसि ?

सखी—(सहर्षम्) कुसुमितस्तदधुना मे मनोरथद्रुमः।

सीता—हला ! किमत्राऽस्माकम् ? तदेहि, निजगृहमेव व्रजामः। (किञ्चित् परिक्रम्य, पुनर्व्यावृत्य) हला ! एकं विस्मृतास्मि। ननु स सहकारपादपोऽवलोकनीयो यस्य वासन्त्या लतया सह संगममभिलषन्ति ममाऽम्बाः। (हला ! किमेत्थ अह्माणं ? ता एहि। णिअघरं जेव्व वज्जह्म। हला ! एक्कं विसुमरिदह्मि। णं सो सहआरपादवो अवलोअणीओ जस्स वासन्तीलदाए सह संगमं अहिलसन्ति मह अम्बाओ)

लक्ष्मण इति। अग्रजेन = ज्येष्ठभ्रात्रा। परिसरवर्त्तिना = समीपवर्त्तिना। नाथवन्तम्—नाथः = रक्षकोऽस्त्यस्येति नाथवान्, तम्, सनाथमिति यावत्। अपदिशसि = कथयसि।

सखीति। कुसुमितः = पुष्पितः।

सीतेति। सहकारपादपः = आम्रवृक्षः।

होगा) जिसे देख कर मुझे तुम्हारा स्मरण होगा (अर्थात् उसकी और तुम्हारी जोड़ी मुझे अच्छी लगेगी) अतः इससे पूछती हूँ। (घूम कर) अरे ! राजकुमार ! आप कौन हैं ? जो भोला-भाला होने के कारण अकेले ही अपरिचित सी वनभूमि में विचर रहे हो।

लक्ष्मण—धिक् मूर्खे ! समीपस्थ बड़े भाई रामचन्द्र से सनाथ मुझे तू अकेला कैसे कह रही है ?

सखी— (हर्ष के साथ) तब इस समय मेरा मनोरथवृक्ष पुष्पित हो गया।

सीता—सखि ! इसमें हमारा क्या (प्रयोजन है) ? तो आओ, अपने घर को ही चलें। (थोड़ा-सा घूमकर, फिर लौट कर) सखि ! एक बात (तो) भूल ही गयी। उस आम्रवृक्ष को देखना है, मेरी माताएँ जिसका सङ्गम वासन्तीलता के साथ चाहती हैं।

(इत्युभे परिक्रामतः)

राम —(सहर्षम्)

मन्मनः कुमुदानन्दशरत्पार्वणशर्वरी ।
अहो ! इयमितो नूनं पुनरप्यभिवर्त्तते ॥ १५ ॥

(निर्वर्ण्य)

वहत्यस्या दृष्टिर्विकचनवनीलोत्पलतुला-
मखण्डस्याभिख्यां वदनमिदमिन्दोः कलयति।
कुचौ किञ्चिन्मीलत्कमलतुलनां वन्दलयत-
स्तमं शोभां चित्रां चिकुरनिकुरम्बं हि कुरुते ॥ १६ ॥

सीतायाः पुनरागमनं रामो वर्णयति—मन्मनः कुमुदानन्देत्यादि।

अन्वयः—अहो ! मन्मनःकुमुदानन्दशरत्पार्वणशर्वरी इयम् नूनम्, पुनरपि इतः अभिवर्तते।

व्याख्या—अहो = हर्षातिशयद्योतकमव्ययमत्रेदम्। मन्मनःकुमुदानन्दशरत्पार्वणशर्वरी—मम मनः = हृदयमेव कुमुदम् = कैरवम्, तस्य आनन्दे = विकासे शरद = शरदृतौ, पार्वणी–पर्वणि = पूर्णिमायां भवा पार्वणी, शर्वरी = रात्रिः, पूर्णिमारात्रिरिति यावत्। इयम् = सीता, नूनम् = निश्चयेन, पुनरपि = भूयोऽपि, इतः = अस्यां दिशि, अभिवर्तते = आगच्छति। अत्र परम्परितरूपकालङ्कारः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—अस्याः दृष्टिः विकचनवनीलोत्पलतुलाम् वहति, इदम् वदनम् अखण्डस्य इन्दोः अभिख्याम् कलयति, कुचौ किञ्चिन्मीलत्कमलतुलनाम् वन्दलयतः, चिकुरनिकुरम्बम् चित्राम् तमं शोभाम् कुरुते हि।

व्याख्या—अस्याः = सीतायाः, दृष्टिः = नेत्रम् विकचनवनीलोत्पलतुलाम्—विकचस्य = विकसितस्य, नवनीलोत्पलस्य=नूतननीलकमलस्य, तुलाम्=सादृश्यम्,

(ऐसा कह कर दोनों घूमते हैं)

राम—(हर्ष के साथ)

अहो ! मेरे चित्तरूपी कुमुद के आनन्द के लिए शरत्पूर्णिमा रात्रिरूपा यह (सीता) फिर भी इधर आ रही है ॥ १५ ॥

(भलीभाँति देख कर)

इसके नेत्र, प्रफुल्ल नीलकमल की उपमा धारण करते हैं, (इसका) यह

सखी—एष सहकारपादपः, इयं च वासन्ती लता। (इति तदन्तिकमनुसरतः)

रामः—कथमिमे मे परिसरमनुसरतः। तत्किञ्चिदपसरामि तावत्।

सखी—(सहकारशाखां करे धृत्वा, सकौतुकम्) हला ! पश्य पश्य, एतैर्नखशिखाविलिखितैः कोमलदलैः सम्भाव्यते यत्किलेयं चूतलता केनापि विदग्धेन निजहस्तेन संभावितेति। अथवा निजचापलताशङ्कितेन स्वयं

वहति = धारयति, इदम्=पुरो दृश्यमानम् (अस्याः) वदनम्=मुखम्, अखण्डस्य= पूर्णस्य, इन्दोः = चन्द्रस्य, अभिख्याम = शोभाम् ('अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः), कलयति = प्राप्नोति, कुचौ = स्तनौ, किञ्चिदुन्मीलत्कमलतुलनाम्—किञ्चित् = ईषत्, उन्मीलतोः = मुकुलितयोः, कमलयोः तुलनाम् = सादृश्यम्, कन्दलयतः = धारयतः, चिकुरनिकुरम्बम्—चिकुराणाम = केशानां, निकुरम्बम् = वृन्दम्, केशपाश इत्यर्थः ('स्त्रियां तु संहतिर्वृन्दं निकुरम्बं कदम्बकम्' इत्यमरः), चित्राम् = विलक्षणाम्, तमःशोभाम्—तमसः = अन्धकारस्य, शोभाम् = सौन्दर्यम्, कुरुते। उपमालङ्कारः। शिखरिणी वृत्तम् ॥ १६ ॥

सखीति। सहकारपादपः = आम्रवृक्षः। वासन्तीलता = माधवीलता।

राम इति। परिसरम् = अन्तिकम्। अपसरामि = दूरं गच्छामि।

सखीति। नखशिखाविलिखितैः—नखानाम्, शिखाभिः = अग्रभागैः, विलिखितैः = चिह्नितैः, कोमलदलैः = कोमलपत्रैः, नूतनकिसलयैरित्यर्थः, सम्भाव्यते=

मुख पूर्णचन्द्र की शोभा को प्राप्त कर रहा है, इसके कुच, थोड़े खिले हुए कमलों की उपमा रखते हैं, केशपाश, अन्धकार की विचित्र शोभा प्रकट कर रहा है ॥ १६ ॥

सखी—यह रहा आम का वृक्ष, और यह है वासन्तीलता।

(दोनों उसके पास जाती हैं)

राम—क्या ये दोनों मेरे समीप आ रही हैं? तो अब (यहाँ से) मैं तनिक हट जाता हूँ।

सखी—(आम की डाली को हाथ में लेकर कौतुकपूर्वक) सखि (सीते) ! देखो-देखो। नखों के अग्रभाग से खरोंचे गये इन कोमल पत्तों से ऐसा मालूम

मन्मथेनवेति । (हला ! पश्य पेक्ख, इमेहिं नहसिहाविलिहिदेहिं कोमलदलेहिं पभावीअदि, ज किर इअ चूअलदा केणा.य विदद्धेण णिअहत्थेण सभाविदेत्ति । अहवा णिअचावलदासङ्किदेण सअं मम्महेणव्वेति)

राम —इत्थ सम्भावयति भवती मम पुनरन्यथा वितर्क. ।

मत्वा चाप शशिमुखि ! निजं मुष्टिना पुष्पधन्वा
तन्वीमेना तव तनलतां मध्यदेशे बभार ।
यस्मादत्र त्रिभुवनवशीकारमुद्रानुकारा-
स्तिस्रो भान्ति त्रिवलिकपटादङ्गुलीसन्धिरेखा ॥ १७ ॥

प्रतीयते । चूनलता = आम्रलता । विदग्धेन = रसिकपुरुषेण । निजहस्तेन = स्वकरेण, सम्भाविता = समादृता, गृहीतेति भाव । निजचापलताशङ्कितेन = स्वधनुर्लतायाः भ्रमयुक्तेन । मन्मथेन = कामदेवेन ।

राम इति । इत्थम् = अनेन प्रकारेण, ईदृशमिति भाव । सम्भावयति = सम्प्रेक्षते । अन्यथा = अन्यप्रकारेण । वितर्क = कल्पना ।

तमेव वितर्कं प्रतिपादयति—मत्वेति ।

अन्वय —शशिमुखि ! पुष्पधन्वा तन्वीम् एनाम् तव तनुलताम् निजम् चापम् मत्वा मुष्टिना मध्यदेशे बभार । यस्मात् अत्र त्रिवलिकपटात् त्रिभुवनवशी-कारमुद्रानुकारा तिस्र अङ्गुलीसन्धिरेखा भान्ति ।

व्याख्या—शशिमुखि = हे चन्द्रमुखि, पुष्पधन्वा-पुष्प धनुर्यस्य स पुष्प-धन्वा = कामदेव इत्यर्थ, तन्वीम् = कृशाम्, एनाम् = पुरोवर्तिनीम्, तव, तनुलताम् = देहलताम्, निजम् = स्वकीयम्, चापम् = शरासनम्, मत्वा=ज्ञात्वा, मुष्टिना = सम्पिण्डिताङ्गुलिना करेण, मध्यदेशे = कटिप्रदेशे, बभार = जग्राह ।

होता है कि यह आम्रलता अवश्य किसी रसिक पुरुष के द्वारा अपने हाथ से सम्मानित की गयी है अथवा अपनी धनुर्लता समझ कर स्वयं कामदेव ने ही (अपने हाथ से इसे अनुगृहीत किया है) ।

राम—यह ऐसी सम्भावना करती हैं, किन्तु मेरा (तो) दूसरा ही तर्क है ।

हे चन्द्रमुखि ! कामदेव ने तुम्हारी इस पतली शरीरलता को अपना धनुष समझ कर मुट्ठी से बीचो-बीच पकड़ा जिसमे तीन उदर-रेखाओं के बहाने, तीनों

सखी—भर्तृदारिके ! इयं वासन्ती लता, इदं च पश्य,

वासन्तीरसविन्दुं सुन्दरमिन्दिन्दिरा इह चरन्ति ।
चिरमन्दिरमरविन्दं मन्दं मन्दं परिहरन्ति ॥ १८ ॥

(सीता तदेव पठति)

रामः—किमिदानीं लतान्तरवर्णनया, नन्वियमेव—

यस्मात् = येन कारणेन, अत्र = अस्यां तव तनुलतायाम्, त्रिवलिकपटात्—त्रिवलीनाम् = तिसृणाम् उदररेखाणाम् कपटात् = व्याजात्, त्रिभुवनवशीकारमुद्रानुकाराः—त्रिभुवनस्य = लोकत्रयस्य वशीकारः = वशीकरणम्, आकर्षणमिति भावः, तस्य मुद्राः = प्रतीतिकारकाणि चिह्नानि, तासाम् अनुकारः = अनुरूपता यासु ताः, तिस्रः = त्रिसङ्ख्याकाः, अङ्गुलिसन्धिरेखाः = अङ्गुलीनाम् सन्धिः = सङ्घट्टनम्, तस्य रेखाः = चिह्नानि, भान्ति = शोभन्ते । अत्र पूर्वार्द्धे भ्रान्तिमदलङ्कारः, उत्तरार्द्धे कैतवापह्नुतिश्च । द्वयोरङ्गाङ्गिभावेन संकलनात्सङ्करः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ १७ ॥

अन्वयः—इह इन्दिन्दिराः सुन्दरम् वासन्तीरसविन्दुम् चरन्ति, चिरमन्दिरम् अरविन्दम् मन्दम् मन्दम् परिहरन्ति ।

व्याख्या—इह = अस्मिन्नुद्याने, इन्दिन्दिराः = भृङ्गाः सुन्दरम्=मनोहरम्, नितान्तमधुरमित्यर्थः, वासन्तीरसविन्दुम् = वासन्तीलतायाः मकरन्दबिन्दुम्, चरन्ति = पिबन्तीत्यर्थः, (तस्मात्) चिरमन्दिरम् = पुराणमावासस्थानम्, अरविन्दम् = कमलम्, मन्दं मन्दम् = शनैः शनैः, परिहरन्ति = परित्यजन्ति । भ्रमराणां विकसितनववासन्तीलतायामनुरक्तिश्चिरोपभुक्तत्वात्कमलेऽरुचिश्चेति भावः। वृत्त्यनुप्रासो नाम शब्दालङ्कारः । आर्या जातिः ॥ १८ ॥

लोकों को आकर्षण करने की मुद्राओं के समान, इस (शरीर) में (तीन) अङ्गुलियों की सन्धि रेखायें शोभित हो रही हैं ॥ १७ ॥

सखी—भर्तृदारिके ! यह वासन्ती लता (है), और यह (भी) देखो—

इस स्थान में भौंरे वासन्ती के मधुर रस की बूँद पी रहे हैं (और) अपने पुराने आश्रयभूत कमल को धीरे-धीरे त्यागते जा रहे हैं॥ १८ ॥

(सीता (भी) उसी श्लोक को पढ़ती हैं)

राम—इस समय अन्य लता के वर्णन से क्या (प्रयोजन) ? अरे ! यही—

निर्मुक्तशैशवदशा-शिशिरा नवीन-
सम्प्राप्त यौवन वसन्त-मनोरम श्री ।
उन्मीलितस्तननवस्तबका निकाम
मेणीदृशस्तनुलता तनुते मुदं न ॥ १९ ॥

सखी—भर्तृदारिके ! पश्य । इयमसौ वासन्ती लता स्वयमेव सहकारपोतमालिङ्गितु पुर सरति ।

सीताया दशनता वर्णयति—निर्मुक्तेति ।

अन्वय —निर्मुक्तशैशवदशाशिशिरा नवीनसम्प्राप्तयौवनवसन्तमनोरमश्री उन्मीलितस्तननवस्तबका एणीदृश (इयमेव) तनुलता न मुदम् निकामम् तनुते ।

व्याख्या—निर्मुक्तशैशवदशाशिशिरा—शैशवदशा=बाल्यकाल एव शिशिर = शिशिरऋतुरिव शैशवदशाशिशिर , निर्मुक्त =व्यपगत शैशवदशाशिशिरो यस्या सा, एतादृशी, नवीनसम्प्राप्तयौवनवसन्तमनोरमश्री —नवीनम् = नूतन यथा स्यात्तथा सम्प्राप्ता=अभिगता यौवनस्यैव वसन्तस्य मनोरमा = मनोहारिणी श्री = शोभा यया सा, एतादृशी, उन्मीलितस्तननवस्तबका—उन्मीलितौ = विकसितौ, स्तनौ = कुचौ, एव नवस्तबकौ = प्रत्यग्रपुष्पगुच्छौ यस्या सा एतादृशी एणीदृश = हरिणनयनाया , सीताया इत्यर्थ , (इयमेव) तनुलता = शरीरवल्ली, न = अस्माकम् मुदम् = हर्षम निकामम्=अत्यन्त यथास्यात्तथा, तनुते=विस्तारयति । निर्मुक्ते शिशिरे, सम्प्राप्ते च वसन्ते विकसितनवपुष्पगुच्छोपेता मनोरमा लतेव अपगते शैशवे सम्प्राप्तयौवना नवोद्गतस्तनशोभायमाना सीता मनोऽस्माकं प्रसादयतीति भाव । परम्परितरूपकमलङ्कार । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १९ ॥

सखीति । सहकारपोतम = आम्रस्य ह्रस्ववृक्षकम । पुर सरति = अग्रे गच्छति । लतामुद्दिश्यैव वचनेन सख्याकर्तृकसीतापरिहास इति बोध्यम् ।

बाल्यावस्था रूप शिशिर ऋतु के बीत जाने पर, समागत यौवनरूप वसन्त की मनोरम नूतन शोभा से सम्पन्न, उद्गत स्तनरूप पुष्पगुच्छवाली, मृगनयनी की शरीरलता हमारे हर्ष को पर्याप्त रूप से बढ़ा रही है ॥ १९ ॥

सखी—भर्तृदारिके ! देखो-वही यह वासन्तीलता स्वयं ही आम के छोटे से वृक्ष का आलिङ्गन करने के लिए आगे बढ़ रही है ।

सीता—(सप्रणयकोपम्) अये अलीकजल्पिनि ! इदानीं तव परिसरं परिहृत्यान्यत्र गमिष्यामि । (अये अलिअजप्पिणि ! दाणिं तुह परिसरं परिहरिअ अण्णादो गमिस्सम्)

रामः—

अमलमृणालकाण्डकमनीयकपोलरुचे-
स्तरलसलीलनीलनलिनप्रतिफुल्लदृशः ।
विकसदशोकशोणकरकान्तिभृतः सुतनो-
र्मदलुलितानि हन्त ! ललितानि हरन्ति मनः ॥ २० ॥

सीतेति । अलीकजल्पिनि = असत्यभाषिणि !

सीतायाः सौन्दर्यं वर्णयति—अमलमृणालेति ।

अन्वयः—हन्त ! अमलमृणालकाण्डकमनीयकपोलरुचेः तरलसलीलनीलनलिनप्रतिफुल्लदृशः विकसदशोकशोणकरकान्तिभृतः सुतनोः मदलुलितानि ललितानि मनः हरन्ति ।

व्याख्या—हन्त = हर्षद्योतकमव्ययपदमिदमत्र । अमलमृणालकाण्डकमनीयकपोलरुचेः—अमलम् = स्वच्छं यत् मृणालकाण्डम् = कमलनालदण्डः, तद्वत् कमनीया = मनोहरा, कपोलयोः = गण्डयोः रुचिः=कान्तिर्यस्यास्तस्याः, तरलसलीलनीलनलिनप्रतिफुल्लदृशः—तरले = चञ्चले, सलीले = सविलासे, नीलनलिने = नीलकमले, तद्वत् प्रतिफुल्ले = विकसिते, दृशौ = नयने यस्यास्तस्याः, विकसदशोकशोणकरकान्तिभृतः—विकसत् = विकासं गच्छत्, यदशोकम् = अशोकपुष्पम्, तद्वत् शोणा = रक्ता, करयोः = हस्तयोः कान्तिः=आभा, तां बिभर्तीति तस्याः, सुतनोः = मनोज्ञदेहायाः, सीताया इत्यर्थः, मदलुलितानि—मदः = उल्लासः, तेन लुलितानि=तरङ्गितानि, ललितानि=शृङ्गारचेष्टाः, मनः=चित्तम्,

सीता—(प्रणयकोप के साथ) अरी ! मिथ्या बकवास करने वाली ! अब मैं तेरा सामीप्य छोड़कर अन्यत्र चली जाऊँगी ।

राम—अहा ! निर्मल मृणालदण्ड के समान कपोलों की कमनीय कान्ति वाली, चञ्चल एवं सविलास नीलकमल के समान विकसित नेत्रों वाली, विकसित अशोक पुष्प के समान लाल हाथों की शोभा धारण करने वाली

सीता – (विनाव्य, सकौतुकम्)

विकसितपेशलोत्पलपलाशपुञ्जश्यामलो
महेशसौम्यशेखरस्फुरत्सोम-कोमल ।
लतागृहे　कोऽयमनङ्गरूप खण्डनो
विलोचनयोर्ददाति मे सुख शिखण्डमण्डन ॥ २१ ॥

(विसट्टपेसलुप्पलप्पलासपुञ्जसामलो
महेससोम्मसेहरप्फुरन्तसोमकोमलो ।
लदाघरम्मि को इमो अणङ्गरूवखण्डणो
विलोअणाण देइ मे सुहं सिहण्डमण्डणो ॥)

हरन्ति = आकर्षन्ति सर्वथा स्वायत्तीकुर्वन्तीति भाव । उपमाऽलङ्कार । मर्दक वृत्तम । तल्लक्षण यथा–'यदि भवतो नजौ भजजला गुरु नर्दटकम्' इति ॥२०॥

सीतयाऽपि रामचन्द्रो वर्ण्यते—विकसितेति ।

अन्वय —विकसितपेशलोत्पलपलाशपुञ्जश्यामल महेशसौम्यशेखरस्फुरत्सोम-कोमल अनङ्गरूपखण्डन शिखण्डमण्डन लतागृहे अयम् क मे विलोचनयो सुख ददाति ।

व्याख्या—विकसितपेशलोत्पलपलाशपुञ्जश्यामल —विकसित = प्रफुल्ल , पेशल = मनोहरा य उत्पलपलाशपुञ्ज = नीलकमलदलसमूहस्तद्वत श्यामल = श्यामवर्ण , महेशसौम्यशेखरस्फुरत्सोमकोमल –महेश = शिवस्य सौम्ये=मनोहरे, शेखरे=मौली, स्फुरन्=उदयन् य सोम =चन्द्र , स इव कोमल =सुन्दर , अनङ्गरूप-खण्डन –कामदेवस्य, रूपम = सौन्दर्यम खण्डयति = विनाशयति, तिरस्करोती-त्यर्थ , इति तयोक्त , अनङ्गादपि सुन्दरतर इति भाव , शिखण्डमण्डन – शिखण्ड मण्डन यस्य स तथोक्त , मयूरपिच्छधर , लतागृहे = लतामण्डपे, अयम = पुरोवर्ती, क = को जन , मे = मम विलोचनयो , सुखम = आनन्दम, ददाति ।

सुन्दरी (सीता) के, यौवन के उन्लास से चञ्चल (लहराते हुए) विलास (शृङ्गारव्यञ्जक चेष्टाएँ) मन हर लेती हैं ॥ २० ॥

सीता—(देख कर, उत्कण्ठा के साथ)

खिले हुए मनोहर नीलकमल के समूह के समान श्याम वर्ण, शिव के मनोहर शेखर में भासमान चन्द्रमा के समान सुन्दर, कामदेव के (भी) सौन्दर्य को

सखी—भर्तृदारिके ! कथय कथय कथं लतालोकनाद्विरतासि ?

(सीताऽनाकर्णितकेन तदेव पञ्चमस्वरं पठति)

सखी—(उपसृत्य) कथमियमन्यचित्तेव लक्ष्यते ? क्व पुनश्चित्तमस्याः ? (रामं दृष्ट्वा, साकूतम्) अये, इदमस्याश्चित्तगजबन्धनालानम्। (पुनः सीतां करे धृत्वा) भर्तृदारिके ? प्रणयमधुरोऽपि सखीजनः किमवधीर्यते ? अथवोचितमिदम्, अधुना हि तवायं हृदयमधिवसति ।

अप्नोपमालङ्कारः । पञ्चचामरं वृत्तम्; तल्लक्षणं यथा—'प्रमाणिका पदद्वयं वदन्ति पञ्चचामरम्' । इति । प्रमाणिकालक्षणं यथा—'प्रमाणिका जरौ लगौ' । इति ॥ २१ ॥

सखीति । भर्तृदारिके=राजकुमारि ! लतालोकनात्—लतायाः आलोकनात्= दर्शनात्, विरता असि = विश्रान्ताऽसि ।

सखीति । अन्यचित्ता—अन्यस्मिश्चित्तं यस्याः सा अन्यमनस्का, साकूतम्= साभिप्रायम् । चित्तगजबन्धनालानम्—चित्तमेव गजः = हस्ती, तस्य बन्धनाय आलानम् = बन्धनस्तम्भः ('आलानं बन्धस्तम्भे' इत्यमरः) अस्मिञ्जने (रामे) अस्या मनो बद्धमिति भावः । प्रणयमधुरः = प्रणयेन = प्रेम्णा, मधुरः = स्निग्धः अवधीर्यते = तिरस्क्रियते, उपेक्ष्यते इत्यर्थः । हृदयम् = चित्तम् ।

मात करने वाला, मयूरपिच्छधारी, लतामण्डप में (विराजमान) यह कौन (पुरुष) मेरे नेत्रों को आनन्द प्रदान कर रहा है ? ॥ २१ ॥

सखी—भर्तृदारिके ! कहिए-कहिए आप ने लता को देखना बन्द क्यों कर दिया ?

(सीता—न सुनने का अभिनय करती हुई उसी (विकसितेत्यादि) को पञ्चम स्वर से पढ़ती हैं)

सखी—(समीप जाकर) क्यों, यह अन्यमनस्क-सी प्रतीत हो रही है ? तो इसका चित्त कहाँ पर है ? (राम को देखकर, साभिप्राय) अरे ! यह, इसके चित्तरूपी हाथी के बन्धस्तम्भ हैं। (फिर सीता का हाथ पकड़ कर) भर्तृदारिके ! प्रणय से मधुर सखी का भी क्या तिरस्कार किया जाता है ? अथवा यह उचित है (क्योंकि) इस समय यह (राम) तुम्हारे हृदय में वसते हैं (इसका उत्तरदायित्व इन्हीं पर है) ।

सीता—(स्वगतम्) कथमवगतास्म्यनया। (कह अवगदह्मि इमाए ?)

(इति लज्जां नाटयति)

सखी—(स्वगतम्) कथमियं लज्जते ? तदन्यतो नयामि। (प्रकाशम्) कथमद्यापि हृदयं न मुञ्चति ते प्रणयकोपः ?

सीता—(स्वगतम्) कोपमुद्दिश्यानया भणितम्, न पुनरिमम्। (कोवमुद्दिसिअ इमाए भणिदं ण उण इमम् (प्रकाशम्) हला! कथं तुभ्यं कोपिष्यामि। केवलमन्यचित्ततया न संभावितासि। (हला, कह तुह कुविस्सं। केवलमण्णचित्तदाए ण सम्भाविदासि)

सखी—क्व तर्हि दत्तचित्तासि ?

सीता—आरामे (आरामम्मि)

सखी—(विहस्य) अहो! ते चातुर्यम्, यत् आकारप्रकटनेनैवाकार-गुप्तिं कृतवत्यसि।

सखीति। आकारप्रकटनेन = आरामपदे 'आ' वर्णप्रकाशनेन। आकार-

सीता—(मन ही मन) क्या इसने मुझे जान लिया (अर्थात् मेरे हृद्गत भाव को इसने भाँप लिया) ?

(ऐसा सोचकर लज्जा का अभिनय करती है)

सखी—(मन ही मन) क्यों, यह लज्जित हो रही है ? तो इसे दूसरी ओर ले चलती हूँ (अर्थात् दूसरी ओर आकृष्ट करती हूँ) (प्रकट रूप में) क्यों, अब भी प्रणय कोप तुम्हारे हृदय को नहीं छोड़ रहा है ?

सीता—(मन ही मन) इसने कोप के विषय में कहा है, न कि इन (राम) के विषय में। (प्रकट रूप में) सखि! तुझ पर क्यों कोप करूँगी ? केवल मन अन्यत्र होने के कारण तुम्हारा सम्मान नहीं किया (अर्थात् तुम्हारी बातों की उपेक्षा की)।

सखी—तो तुम्हारा चित्त कहाँ लगा हुआ है ?

सीता—आराम (बगीचा) में।

सखी—(हँसकर) तुम्हारा (भी) चातुर्य कैसा है। जो 'आ' इस अक्षर के प्रकाशन में ही (अपने) आकार (भाव) को छिपा लिया (अर्थात् 'राम'

(सीता सलज्जमधोमुखी तिष्ठति)

रामः—उत्तरङ्गय कुरङ्गलोचने !
लोचने कमलगर्वमोचने ।
अस्तु सुन्दरि ! कलिन्दनन्दिनी-
वीचिडम्बरगभीरमम्बरम् ॥ २२ ॥

गुप्तिम् = अभिप्रायगोपनम् । 'रामे' इति वक्तव्ये 'आरामे' इत्युक्त्वाऽभिप्रायगोपनचेष्टां कृतवत्यसि' इति भावः ।

अन्वयः—कुरङ्गलोचने । कमलगर्वमोचने लोचने उत्तरङ्गय, सुन्दरि ! अम्बरम् कलिन्दनन्दिनीवीचिडम्बरगभीरम् अस्तु ।

व्याख्या—कुरङ्गलोचने—कुरङ्गस्य = मृगस्येव, लोचने = नेत्रे यस्याः सा कुरङ्गलोचना, तत्सम्बुद्धौ, = हे मृगाक्षि ! कमलगर्वमोचने = कमलानाम् = नीलोत्पलानाम्, गर्वस्य = सौन्दर्यदर्पस्य, मोचने = अपहारके, नीलोत्पलेभ्योऽपि कमनीयतरे इति भावः, लोचने = नयने, उत्तरङ्गय = उन्नमय । सुन्दरि ! (येन) अम्बरम् = गगनम्, कलिन्दनन्दिनीवीचिडम्बरगभीरम्—कलिन्दनन्दिनी = यमुना, तस्याः वीचयः = लहर्यः, तासां डम्बरेण = समूहेन गभीरम् = गहनम्, व्याप्तमित्यर्थः, अस्तु = भवतु । नीलोत्पलसदृशयोस्तव नेत्रयोः प्रसारणेन यमुनातरङ्गोपमकान्त्या गगनं नीलवर्णं भवत्विति भावः ।

'कुरङ्गलोचने' इत्यत्रोपमालङ्कारः, 'कमलगर्वमोचने लोचने' इत्यत्र व्यतिरेकालङ्कारः, 'अम्बरं कलिन्दनन्दिनीवीचिडम्बरगभीरमस्तु'इत्यत्रासम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः । एतेषां मिथोऽनपेक्षया स्थितेः संसृष्टिः । रथोद्धता वृत्तम् ॥ २२ ॥

न कहकर उसके पूर्व 'आ' जोड़ कर 'आराम' कह कर भाव छिपाने की अच्छी युक्ति निकाल ली) ।

(सीता लज्जापूर्वक नीचे की ओर मुँह किये खड़ी रहती है) ।

राम—मृगाक्षि ! कमलों के गर्वको छुड़ाने वाले नेत्रों को ऊपर उठाओ (जिससे) आकाश यमुना की लहरियों के समूह से व्याप्त हो जाय (अर्थात् तुम्हारे नेत्रों की कान्ति से आकाश यमुना की तरङ्गों के समान नीलवर्ण हो जाय) ॥ २२ ॥

सखी—(सप्रणयस्मितम्) भर्तृदारिके ! अलमालिजनेऽपि हृदयापलापेन । ननु विदितं मया—

अत्र ते सखि ! शिखण्डमण्डने, पुण्डरीकरमणीयलोचने ।
श्यामतामरसदामकोमले, रामनाम्नि मनो मनोभवे ॥ २३ ॥

सीता—हला ! पश्य पश्य । (हला ! पेक्ख पेक्ख)

मदनवधूनूपुररवरमणीयं किमपि किमपि कूजन् ।
माकन्दमुकुलमधुरसमधुरमुखो मधुकरो भ्रमति ॥ २४ ॥
(मअणवहूणेउररवरमणिज्जं किम्पि किम्पि कूजन्तो ।
माअन्दमउलमहुरसमहुरमुहो महुअरो भमइ ॥)

अन्वय—सखि ! शिखण्डमण्डने पुण्डरीकरमणीयलोचने श्यामतामरसदामकोमले अत्र रामनामनि मनोभवे ते मन (इति मया विदितम्) ।

व्याख्या—हे सखि = सीते ! शिखण्डमण्डने—शिखण्डं मण्डनं यस्य तस्मिन् शिखण्डमण्डने = मयूरपिच्छधरे, पुण्डरीकरमणीयलोचने—पुण्डरीके = कमले, ते इव रमणीये = सुन्दरे, लोचने = नेत्रे यस्य तस्मिन्, श्यामतामरसदामकोमले—श्यामानि यानि तामरसानि = नीलकमलानि, तेषां दाम = माला, तद्वत्कोमले = मृदुले, अत्र = अस्मिन्, रामनामनि = रामो नाम यस्य तस्मिन्, रामाख्ये, मनोभवे = कामदेवे, ते = तव, मन = चित्तम् (संलग्नम्) इति मया विदितम । अत्रोपमालङ्कार । रथोद्धता वृत्तम् ॥ २३ ॥

अन्वय—मदनवधूनूपुररवरमणीयम् किमपि किमपि कूजन् माकन्दमुकुलमधुरसमधुरमुख मधुकर भ्रमति ।

व्याख्या—मदनवधूनूपुररवरमणीयम्—मदनस्य = कामदेवस्य, वधू =

सखी—(प्रणयमिश्रित मुस्कान के साथ) भर्तृदारिके ! सखी से भी हृदय (का भाव) छिपाना बेकार है । मैं जान ही गयी—

सखि (सीते) ! मयूरपिच्छ से मण्डित, कमल के समान रमणीय नेत्र वाले, नीलकमलों की माला के समान कोमल इस रामनामक कामदेव में तुम्हारा मन लगा है ॥ २३ ॥

सीता—सखी ! देखो-देखो ।

कामदेव की पत्नी (रति) के नूपुर की ध्वनि के समान रमणीय एवम्

(पुनः स्वगतम्)

अयि पिवतं लोचने !
प्रियजनवदनारविन्दमकरन्दम् ।
अयि तरले ! विचारयतं
'पुनः क्व युवां, क्वायं च' ॥ २५ ॥

(अइ पिवह लोअणाइं ! पिअजणवअणारविन्दमअरन्दम् ।
अइ तरलाइं ! विआरह पुण कह तुम्हे कह इमो अ ॥)

पत्नी, रतिरित्यर्थः, तस्याः नूपुररवः = मञ्जीरशब्दः, तद्वत् रमणीयम् = मनोहरम् किमपि किमपि = अनिर्वचनीयमव्यक्तं यथा स्यात्तथा, कूजन् = शब्दं कुर्वन्, माकन्दमुकुलमधुरसमधुरमुखः—माकन्दस्य = आम्रवृक्षस्य, मुकुलः = कुड्मलः ('कुड्मलो मुकुलोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः) तस्य मधुरसेन = मकरन्देन, मधुरम् = माधुर्यपूर्णम्, मुखम् = आननं यस्य सः, मधुकरः = भ्रमरः, भ्रमति = भ्रमणं करोति। वृत्त्यनुप्रासो नाम शब्दालङ्कारः । आर्या जातिः ॥ २४ ॥

अन्वयः—अयि लोचने ! प्रियजनवदनारविन्दमकरन्दम् पिवतम्, अयि तरले ! पुनः युवाम् क्व, अयम् च क्व (इति) विचारयतम् ।

व्याख्या—अयि लोचने ! = नेत्रे ! प्रियजनवदनारविन्दमकरन्दम्—प्रियजनस्य = दयितस्य, वदनम् = मुखम्, तदेव अरविन्दम् = कमलम् तस्य मकरन्दम् = रसम्, पिवतम्, दयितस्य रामस्य मुखसौन्दर्यं यथेच्छं पश्यतमिति भावः। अयि तरले = हे चञ्चले (नेत्रे) ! पुनः = भूयः, युवां क्व = कुत्र;

अनिर्वचनीय प्रकार से शब्द करता हुआ, आम्रमञ्जरी के मकरन्द (को पीने) से मधुर मुख वाला भ्रमर घूम रहा है ॥ २४ ॥

(पुनः मन ही मन)

हे (मेरे) लोचनो ! प्रिय व्यक्ति (राम) के मुख कमल का रसपान करो (चञ्चलता छोड़ दो) अरे ! चञ्चलो ! (यह तो) विचारो कि (यह अवसर निकल जाने पर) फिर तुम (दोनों) कहाँ (रहोगे) और ये (राम) कहाँ रहेंगे (कौन जानता है कि फिर इनका दर्शन होगा या नहीं, अतः चञ्चलता छोड़कर यथेच्छ प्रिय के सौन्दर्य का पान कर कृतकृत्य हो जाओ) ॥ २५ ॥

(इति राम नयनाञ्चलेन सलीलमालोकते)

राम —(निवर्ण्य)

सर्वस्व नवयौवनस्य, भवन भोगस्य, भाग्य दृशा,
सौभाग्य मदविभ्रमस्य, जगत सार, फल जन्मन ।
साकूत कुसुमायुधस्य, हृदय रामस्य, तत्त्व रते,
शृङ्गारस्य रहस्यमुत्पलदृशस्तत् किञ्चिदालोकितम् ॥ २६ ॥

(स्यास्यय) भय च = समीपवर्ती प्रियश्च, राम इत्यथ , क्व=कुत्र (स्यास्यति) एनरस्य दर्शन भविष्यति न वेति को जानाति ? इति भाव । इति विचारयतम् = चिन्तयतम् । तस्माच्चञ्चलना विहाय प्रियसौन्दर्यपान यथेच्छ कृत्वा साफल्यमधिगच्छतमिति भाव । पूर्वार्द्धगतवाक्यार्थं प्रति उत्तरार्द्धगतवाक्यार्थस्य हेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कार । आर्या जाति ॥ २५ ॥

अन्वय —नवयौवनस्य सर्वस्वम्, भोगस्य भवनम्, दृशाम् भाग्यम्, मदविभ्रमस्य सौभाग्यम्,जगत सारम्, जन्मन फलम्, कुसुमायुधस्य साकूतम्, रामस्य हृदयम्, रते तत्त्वम्, शृङ्गारस्य रहस्यम्, उत्पलदृश तत् किञ्चित् आलोकितम् (अस्ति) ।

व्याख्या—नवयौवनस्य–नवम् = नूतन यद् यौवनम् = युवावस्था, तस्य सर्वस्वम्=समग्रसम्पत्ति , भोगस्य=विलासस्य, भवनम् = आश्रयस्थानम्, दृशाम् = नेत्राणाम्, भाग्यम्, एतादृशस्याऽऽलोकितस्य दर्शनेनैव नेत्राणा साफल्यम्, अन्यथा वैफल्यमेवेति भाव । मदविभ्रमस्य = मद = यौवनोल्लास , तस्य विभ्रम = विलास , तस्य, सौभाग्यम = सुभगत्वम्, जगत = ससारस्य, सारम् = तत्त्वम्, जन्मन = जनुष , फलम् = परिणाम , एतादृशस्याऽऽलोकितस्य दर्शनेनैव जन्मसाफल्यमितिभाव । कुसुमायुधस्य = कामदेवस्य, साकूतम् = साभिप्रायमावासस्थानमित्यर्थ , रामस्य = मम, हृदयम् = मम जीवनाधार इत्यर्थ, रते = अनुरागस्य, तत्त्वम् = पराकाष्ठा, शृङ्गारस्य = आदिरसस्य, रहस्यम् = तत्त्वम्,

(ऐसा कहकर राम को कटाक्ष से विलास पूर्वक देखती है)

राम—(भलीभाँति देखकर)

नवीन युवावस्था का सर्वस्व,भोग का भवन, नेत्रो का भाग्य, यौवनोल्लास के

(सीता स्वगतं पुनस्तामेव गाथा पठति)

सखी—अयि भर्तृदारिके ! पश्य ।

दलदमलकोमलोत्पलपलाशशङ्काकुलोऽयमलिपोतः ।
तव लोचनयोरनयोः परिसरमनुवेलमनुसरति ॥ २७ ॥

उत्पलदृशः = उत्पले = नीलकमले इव दृशौ=नेत्रे यस्यास्तस्याः, कमललोचनायाः सीताया इत्यर्थः, तत् = असकृदनुभूतम्, किञ्चित् = अनिर्वचनीयम्, आलोकितम्= सविलासमवलोकम्, (अस्ति) ।

अत्र 'माला' निरङ्गरूपकालङ्कारः, यतः कविना प्रधानवर्ण्यविषयस्य सीतावलोकितस्यैव सर्वस्वादिदनभिरारोप्यमाणपदार्थैस्तादात्म्यारोपः स्थापितः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २६ ॥

सखी—भ्रमरशावकव्याजेन रामं वर्णयति–दलदमलेति ।

अन्वयः—दलदमलकोमलोत्पलपलाशशङ्काकुलः अयम् अलिपोतः तव अनयोः लोचनयोः परिसरम् अनुवेलम् अनुसरति ।

व्याख्या—दलदमलकोमलोत्पलपलाशशङ्काकुलः—दलत् = विकसत् यत् अमलम् = स्वच्छम्, कोमलम् = मृदुलम्, उत्पलम्=नीलकमलम् तस्य पलाशस्य= दलस्य, शङ्कया = भ्रमेण, आकुलः = प्रभावितः, चञ्चल इत्यर्थः अयम् = एष पुरोवर्त्ती, अलिपोतः = भ्रमरशावकः, तव = सीतायाः, अनयोः = एतयोः, लोचनयोः = नयनयोः, परिसरम् = पर्यन्तप्रदेशम्, समीपमिति यावत्, अनुवेलम्= प्रतिक्षणम्, सततमित्यर्थः, अनुसरति = उपैति । तव कमललोचने नीलकमले मत्वाऽयं भ्रमरशावकस्तत् समीपं सततमुपैतीति भावः । भ्रान्तिमानलङ्कारः । आर्या जातिः ॥ २७ ॥

विलास का सौभाग्य, संसार का सार, जन्म का सुन्दर फल कामदेव का साभिप्राय (निवासस्थान) राम का हृदय, रति का तत्त्व, शृङ्गार का रहस्य, कमलनयनी (सीता) का वह (यह) अनिर्वचनीय आलोकन (है) ॥ २६ ॥

(सीता मन ही मन पुनः उसी ['अइ पिवह'–इत्यादि] गाथा को पढ़ती है) ।

सखी—अरी ! भर्तृदारिके ! देखो—

खिलते हुए स्वच्छ एवं कोमल नीलकमल की पंखुड़ी की शङ्का से प्रभावित (चञ्चल) यह भ्रमर-शावक तुम्हारे नेत्रों के इर्द-गिर्द निरन्तर मंडरा रहा है ॥२७॥

सीता—(सहर्षमात्मगतम्) अपि लोचने बद्धषट्पदे ननु सुखोपश्रुतिरियम्। (अपि लोअणाइ बद्धसप्पदाइ ण सुहोवसुदीयम्)

राम—(सप्रत्याशम्)

अमृतमयपयोधिक्षीरकल्लोललोलै
स्नपयति तरलाक्षी यत्र मा नेत्रपातै ।
अपि भवतु सदाऽयं सन्मुहूर्त्त
(विमृश्य सविषादम्)
कुतो वा ?
मधुरविधुरमिश्रा सृष्टयो हा ! विधातु ॥ २८ ॥

सीतेति। अपीति प्रश्ने। बद्धषट्पदे = बद्ध = आकृष्ट, षट्पद = भ्रमरो याभ्यां ते, सुखोपश्रुति = सुखजनक श्रवणमेतदिति यावत्। अहं नेत्राभ्यां रामरूपभ्रमरं स्ववशीकृतवतीति श्रुत्वा सुखमनुभवामीति भाव ।

राम इति। सप्रत्याशम = साभिलाष यथा स्यात्तथा।

राम सीताया दृष्टिपात वर्णयति—अमृतमयेति।

अन्वयः—तरलाक्षी अमृतमयपयोधिक्षीरकल्लोललोलै नेत्रपातै यत्र माम् स्नपयति सदा अपि अयम् सन्मुहूर्तं भवतु। वा कुत ? हा ! विधातु सृष्टय मधुरविधुरमिश्रा (सन्ति)।

व्याख्या—तरलाक्षी = तरले = चञ्चले, अक्षिणी = नेत्रे यस्या सा, सीतेत्यर्थ, अमृतमयपयोधिक्षीरकल्लोललोलै —अमृतमय = सुधाप्रचुर, पयोधि =

सीता—(सहर्ष, मन ही मन) क्या नेत्रों ने भ्रमर को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है ? तब तो यह सुनना सुखप्रद है।

राम—(अभिलाषपूर्वक)

चञ्चलाक्षी (सीता) अमृतसिन्धु के दुग्धसदृश महातरङ्गों के समान चञ्चल कटाक्षपातों से जिस (सन्मुहूर्त) में मुझे नहला रही है सदा ही यह शुभ क्षण बना रहे (सदा इसी तरह मुझे देखा करे)

(विचार कर, खेद के साथ)

अथवा (ऐसा) कहाँ से (सम्भव हो सकता है) ब्रह्मा की सृष्टियाँ सुख

(प्रविश्य)

चेटी—भर्तृदारिके ! भट्टिनीभिराज्ञप्ताऽस्मि, यत्किल वत्सा जानकी झटिति गृहमानीय विचित्राभरणैर्मण्ड्यताम्। येन तस्याः सानन्दं वदनारविन्दं विलोकयामः। (भट्टदारिए ! भट्टिणीहिं आणत्तह्मि। जं किर वत्सा जाणई झत्ति घरमाणीअ विचित्ताहरणेहिं मण्डीअदु। जेण तीए साणन्दं वअणारविन्दं पुलोअह्म)

सीता—हण्डे ! कथं स्नेहमुग्धा ममाऽम्बाः। (हण्डे ! कहं सिणेहमुद्धाओ मह अम्बाओ)

समुद्रः, तस्य क्षीरमिव = दुग्धमिव ये कल्लोलाः = महातरङ्गाः, ते इव लोलाः = चञ्चलाः तैः, नेत्रपातैः = कटाक्षनिक्षेपैः, यत्र = यस्मिन् (सन्मुहूर्ते) माम् = रामम्, स्नपयति = प्रक्षालयति, दुग्धधवलैश्चञ्चलैश्च कटाक्षैर्मां विलोकयतीति भावः, सदाऽपि = सर्वदैव, अयम् = सुखकरः, सन्मुहूर्तः = शोभनः क्षणः, भवतु = अस्तु। वा = अथवा, कुतः = कस्माद्धेतोरियं सम्भावनेति शेषः। तत्र हेतुमाह—मधुरेति। विधातुः = ब्रह्मणः, सृष्टयः = रचनाः, मधुरविधुरमिश्राः—मधुरेण = माधुर्यपूर्णेन, संयोगजन्यसुखेनेत्यर्थः, विधुरेण = वैधुर्यपूर्णेन, वियोगजन्यदुःखेनेत्यर्थंश्च मिश्राः = मिश्रिताः (सन्ति)। मालिनी वृत्तम् ॥ २८ ॥

चेटीति। भट्टिनीभिः = स्वामिनीभिः, राज्ञीभिरित्यर्थः। विचित्राभरणैः = नानाप्रकारैरलङ्कारैः। मण्ड्यताम् = विभूष्यताम्।

सीतेति। हण्डे = नीचां चेटीं प्रति प्रयुज्यमानं सम्बोधनपदमिदम् ('हण्डे ! हञ्जे ! हलाह्वाने नीचां चेटीं सखीं प्रति' इत्यमरः) स्नेहमुग्धाः—स्नेहेन=वात्सल्येन मुग्धाः = विवेकशून्याः।

दुःख (संयोग-वियोग) से मिश्रित है ॥ २८ ॥

(प्रवेश कर)

चेटी—भर्तृदारिके ! रानियों ने मुझे आज्ञा दी है कि पुत्री जानकी शीघ्र घर लाकर विचित्र आभरणों से अलङ्कृत की जाय; जिससे हम सब उसके मुखकमल को सानन्द देखें।

सीता—परिचारिके ! क्यों, मेरी माताएँ स्नेह से पर-वश (मुग्ध) हो रही हैं ?

चेटिका—भर्तृदारिके, कथ न मुग्धास्तवाम्बा । (भट्टदारिए, कह ण मुद्धाओ तुह अम्बाओ ।)

सीता—कथ पुनर्मुग्धा ममाम्बा ? (कह उण मुद्धाओ मह अम्बाओ ।)

चेटिका—यास्त्वां निसर्गलावण्यचन्द्रलेखां नेपथ्यलक्ष्मीलाञ्छनेनाऽलङ्कर्तुमिच्छन्ति । तथा च (जा तुमं णिसग्गलावण्णचन्दलेहं णेवच्छलच्छीलञ्छणेणालङ्किदुमिच्छन्ति । तहा अ)

अयि ! तव मुखलेखा चन्द्रबिम्बे सस्नेहा,
दशनकिरणलक्ष्मीरच्छज्योत्स्नासदृक्षा ।
कुवलयदलद्रोणीकन्दराया वहन्ती,
तरलबहलमिष्टा दुग्धधारेव दृष्टिः ॥ २६ ॥

(अइ ! तुह मुहरेहा चन्दबिम्बे सणेहा
दसणकिरणलच्छी अच्छजोह्लासरिच्छी ।
कुवलय-दलदोणी कन्दराए वहन्ती
तरलबहलमिट्ठी दुद्धधारे व्व दिट्ठी ॥)

चेटिकेति । निसर्गलावण्यचन्द्रलेखाम्—निसर्गेण = स्वभावेन लावण्यम् = सौन्दर्यं यस्या सा निसर्गलावण्या, सा चासौ चन्द्रलेखा = चन्द्रकला, ताम्, चन्द्रकलासदृशी सीतामित्यर्थः । नेपथ्यलक्ष्मीलाञ्छनेन—नेपथ्यलक्ष्मी = वेशभूषाजन्यशोभा, सैव लाञ्छनम्=कलङ्कस्तेन, निसर्गरमणीयायाः त्वयि मण्डनजन्यशोभा, चन्द्रलेखायाः कलङ्क इवेति भाव ।

सीतायाः कृते मण्डनवैयर्थ्यं प्रतिपादयति—अयीति ।

अन्वय —अयि ! तव मुखलेखा चन्द्रबिम्बे सस्नेहा, दशनकिरणलक्ष्मीः अच्छज्योत्स्नासदृशा, दृष्टिः कुवलयदलद्रोणीकन्दराया वहन्ती तरलबहलमिष्टा दुग्धधारेव ।

व्याख्या – अयि = हे सीते ! तव = भवत्या , मुखरेखा = वदनरेखा,

चेटिका–भर्तृदारिके ! आप की माताऐं कैसे मुग्ध (भोली भाली) नही हैं ?

सीता—तो मेरी माताऐं भोली-भाली (मुग्ध) कैसे है ?

चेटिका—जो स्वभावतः लावण्यपूर्ण चन्द्ररेखा सदृश आप को सजावट की शोभारूप लाञ्छन से अलङ्कृत करना चाह रही है । जैसे कि—

हे राजकुमारि ! आप की मुखरेखा चन्द्रमण्डल में सस्नेह है (अर्थात् आप

तदागच्छ, गच्छामो निजगृहमेव ।(ता आअच्छ, गच्छम्ह णिअघरं जेव्व)

(इति निष्क्रान्ताः स्त्रियः)

रामः—(सविषादम्) कथं नयनपथमतिक्रान्तैव कान्ता ? ।

(पुनः सप्रत्याशम्)

अप्याविरस्तु भूयोऽपि मम लोचनयोरियम् ।
दिवसेऽन्तर्हिता नक्तं चन्द्रिकेव चकोरयोः ॥ ३० ॥

मुखमण्डलमित्यर्थः, चन्द्रबिम्बे = चन्द्रमण्डले, सस्नेहा = प्रणयवती, चन्द्रमण्डलसदृशीत्यर्थः, दशनकिरणलक्ष्मीः = दशनानाम्=दन्तानाम्, किरणानाम्=प्रभाणाम्, लक्ष्मीः = शोभा, अच्छज्योत्स्नासदृशा—अच्छा=निर्मला या ज्योत्स्ना = चन्द्रिका, तया सदृशा = तुल्या । दृष्टिः = नेत्रम्, कुवलयदलद्रोणीकन्दरायाम्—कुवलयदलद्रोणी = नीलकमलपत्रनिर्मितः नावाकृतिः पात्रविशेषः ('दोना' इति भाषायाम्) तस्याः कन्दरायाम् = गुहायाम्, मध्यभाग इत्यर्थः, वहन्ती = प्रवहमाना, तरलबहलमिष्टातरला = चञ्चला, बहलमिष्टा = अत्यन्तमधुरा, दुग्धधारेव (अस्ति)। उपमाऽलङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥ २९ ॥

राम इति । कान्ता = प्रिया, सीतेत्यर्थः । नयनपथम् = नयनयोः = नेत्रयोः, पन्थाः = मार्ग इति नयनपथस्तम्, अतिक्रान्ता = लङ्घितवती ।

अन्वयः—इयम् मम लोचनयोः भूयोऽपि दिवसे अन्तर्हिता चन्द्रिका नक्तम् चकोरयोरिव आविरस्तु ।

व्याख्या—इयम् = एषा, प्रेयसी सीतेत्यर्थः, मम=दर्शनानन्दलिप्सो रामस्य,

की मुखरेखा चन्द्रमण्डल के समान है), दन्तप्रभा की शोभा, स्वच्छ चन्द्रिका के सदृश है और दृष्टि नीलकमल के पत्ते के दोनों के मध्यभाग में बहती हुई चञ्चल और अत्यन्त मधुर दूध की धारा के समान है ॥ २९ ॥

तो आओ, हम अपने घर को ही चलें।

(ऐसा कह कर स्त्रियाँ निकल गयीं)

राम—(विषाद के साथ) क्या प्रिया नेत्रपथ को लाँघ गयी ?

(पुनः अभिलाष के साथ)

जैसे दिन में छिपी हुई चन्द्रिका रात में चकोर के जोड़े के (समक्ष प्रकट

लक्ष्मण —आर्य ! इयमाविरस्ति ।

राम —(सहर्षम्) कथं पुनः प्राप्ता प्रयसी । (विलोक्य) न तावन्नूनं किमप्यन्यदभिसंधाय तदिदमुक्तं वत्सेन । (उच्चैः) वत्स ! केयमाविरस्ति ?

लक्ष्मण —मुग्धस्य केलिविजितस्मरचापयष्टे
रातन्वती रुचिमतीव सुधाकरस्य ।
रागोदधुरा स्फुटमुदञ्चिततारकश्री
संध्याविरस्ति ननु काऽपि पतिंवरेव ॥ ३१ ॥

लोचनयोः – नयनयोः (पुरतः) भूयोऽपि – पुनरपि दिवसे = दिने अन्तर्हिता तिरोहिता चन्द्रिका = ज्योत्स्ना नक्तम् – रात्रौ चकोरयोरिव = चकोरी च चकोरश्चेति चकोरौ (एकशेषद्वन्द्व) तयोः, चन्द्रिकापायिपक्षिविशेषयोरिव (पुरतः) आविरस्तु=प्रकटतु । यथा दिवसे विलीना चन्द्रिका रात्रौ प्रकाशमुपेत्य चकोरावानन्दयति, तथैव प्रयसी सीता पुनरप्याविभूय मम लोचन सुखयितुं इति भाव । उपमाऽलङ्कार । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ३० ॥

लक्ष्मणः संध्या वर्णयति—मुग्धस्येति ।

अन्वय —ननु मुग्धस्य केलिविजितस्मरचापयष्टेः सुधाकरस्य रुचिम् अतीव आतन्वती रागोद्धुरा स्फुटम् उदञ्चिततारकश्रीः संध्या काऽपि पतिंवरेव आविरस्ति ।

व्याख्या—नन्विति निश्चये । मुग्धस्य = सुन्दरस्य केलिविजितस्मरचापयष्टे —केलि = क्रीडा तया अनायासेनत्यर्थ विजिता = पराजिता स्मरस्य= कामदेवस्य चापयष्टि = धनुर्लता येन तस्य, सुधाकरस्य = चन्द्रमस पक्षान्तर

होती है) वस ही यह (सीता) मेरे नेत्रों के (समक्ष) फिर से प्रकट हो ॥३०॥

लक्ष्मण—आर्य यह प्रकट हो गयी है ।

राम—(हर्ष के साथ) क्या प्रयसी (सीता) फिर लौट आयी ? (देखकर) नहीं, अवश्य किसी दूसरे विषय को लक्ष्य कर वत्स (लक्ष्मण) ने ऐसा कहा है । (ऊँचे स्वर से) वत्स ! यह कौन प्रकट हो गयी ?

लक्ष्मण—निस्संदेह अनायास ही कामदेव की धनुर्लता को पराजित

रामः—वत्स ! एवमेतत्, तथा हि—

कृत्वा प्रबुद्धकमलामखिलां त्रिलोकी-
मम्भोनिधेर्विशति गर्भमसाविदानीम् ।
अन्तःप्रसुप्तहरिनाभिसरोजबोध-
कौतूहलीव भगवानरविन्दबन्धुः ॥ ३२ ॥

कस्यचिन्नायकस्य, रुचिम् = कान्तिम्, पक्षान्तरेऽनुरागम्, अतीव = अत्यन्तम्, आतन्वती = विस्तारयन्ती, रागोद्धुरा—रागेण = रक्तिम्ना पक्षान्तरे अनुरागेण, उद्धुरा = भरिता, स्फुटम्=स्पष्टं यथा स्यात्तथा, उदञ्चिततारकश्रीः—उदञ्चिता= प्रकाशिता तारकाणाम्=नक्षत्राणाम्, श्रीः=शोभा यया सा, पक्षान्तरे—उदञ्चिता= प्रदर्शिता, तारकयोः = नेत्रकनीनिकयोः श्रीः = शोभा यया सा, सन्ध्या = सायं-वेला, कापि = अनिर्वचनीया, पतिंवरेव=स्वयंवरा कन्येव, आविरस्ति=प्रकटति । अत्र श्लेषमूलोपमाऽलङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—असौ भगवान् अरविन्दबन्धुः अखिलाम् त्रिलोकीम् प्रबुद्धकमलाम् कृत्वा अन्तःप्रसुप्तहरिनाभिसरोजबोधकौतूहलीव इदानीम् अम्भोनिधेः गर्भम् विशति ।

व्याख्या—असौ = प्राणिनां चैतन्यप्रदायकः, भगवान्=ऐश्वर्यवान्, अरविन्द-बन्धुः—अरविन्दानाम् = कमलानाम्, बन्धुः = सखा, सूर्य इत्यर्थः, (कमलानां विकासकत्वेति भावः) अखिलाम् = समग्राम्, त्रिलोकीम् = त्रिभुवनम्, प्रबुद्ध-कमलाम्—प्रबुद्धानि = विकसितानि कमलानि यस्यां ताम्, तादृशीं, कृत्वा = विधाय, अन्तःप्रसुप्तहरिनाभिसरोजबोधकौतूहली—अन्तः = मध्यन्तरे, विष्णु-देह मध्यन्तरे इति भावः, प्रसुप्तम् = निमीलितम्, हरिनाभिसरोजम् = विष्णुनाभि-

करने वाले प्रकृतया सुन्दर सुधाकर (१—चन्द्रमा, २—वर) की रुचि (१—कान्ति, २—अनुराग) को अत्यधिक बढ़ाती हुई, राग (१—लालिमा, २—अनुराग) से भरी हुई, स्पष्ट तारकों (१—नक्षत्रों, २—नेत्र—कनीनिकाओं) की शोभा को प्रदर्शित करने वाली सन्ध्या, किसी (अनिर्वचनीय) स्वयंवर के लिए प्रस्तुत कन्या के समान प्रकट हुई हैं ॥ ३१ ॥

राम—वत्स ! ऐसा ही है । जैसा कि—

ये भगवान् कमलबन्धु (सूर्य) सभी लोकों के कमलों को विकसित कर

लक्ष्मण —आर्य ! दृश्यताम्, ईषन्मुकुलितराग इव गगनभोगः ।

राम —एवमेतत् । इदानीं हि—

प्राचीमालम्बमाने घनतिमिरचये बान्धवे बन्धकीनां
सम्प्राप्ते च प्रतीचीं शशिकरनिकरे वैरिणि स्वैरिणीनाम् ।
अर्धश्यामोपलार्धस्फटिकमिव दिशामन्तरालं विधत्ते
कालिन्दीजह्नुकन्यामिलदमलजलस्यन्दसन्दोहमैत्रीम् ॥ ३३ ॥

कमलम्, तस्य बाधे = विकास, कौतूहला = उत्कण्ठित , इव, इदानीम् = सम्प्रति अम्भोनिधेः = समुद्रस्य, गभम् = अभ्यन्तरम्, विशति = प्रविशति । निशायां कमलानि विकसितानि दृष्ट्वा निमिलितं विष्णुनाभिकमलं विकासमिनुमिवासौ समुद्राभ्यन्तरं प्रविशतीति भावः । उत्प्रेक्षालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥३२॥

लक्ष्मण इति । ईषन्मुकुलितराग —ईषत् = किञ्चित्, मुकुलितः =प्रकटितः रागः लौहित्यं यस्मिन् स । गगनाभोग गगनस्य=आकाशस्य, आभोग विस्तार, आकाशमण्डलमिति यावत् ।

लक्ष्मणोक्तिं समर्थयन् राम आह—प्राचीम् इति ।

अन्वय —बन्धकीनां बान्धवे घनतिमिरचये प्राचीमालम्बमाने, स्वैरिणीनाम् वैरिणि शशिकरनिकरे प्रतीचीं सम्प्राप्ते च अर्धश्यामोपलार्धस्फटिकमिव दिशाम्-अन्तरालम् कालिन्दीजह्नुकन्यामिलदमलजलस्यन्दसन्दोहमैत्रीम् विधत्ते ।

व्याख्या—...धकीनाम् = व्यभिचारिणीनाम् बान्धवे = बन्धौ (अभिसारावकाशप्रदायकत्वादिति भावः) घनतिमिरचये = प्रगाढान्धकारसमूहे, प्राचीम्= पूर्वदिशाम्, आलम्बमाने = आश्रयति सति ('यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सप्तमी, एवं परत्रापि) स्वैरिणीनाम् = कुलटानाम्, वैरिणि = शत्रौ (अभिसारे

(विष्णु के शरीर के) भीतर मुद्रित नाभि कमल को विकसित करने में उत्कण्ठित से होकर इस समय समुद्र के भीतर प्रविष्ट हो रहे हैं ॥ ३२ ॥

लक्ष्मण—आर्य ! देखिए, यह आकाशमण्डल कुछ लालिमा से युक्त-सा हो रहा है ।

राम—ऐसी ही है । क्योंकि इस समय व्यभिचारिणी स्त्रियों के बन्धु (सहायक) प्रगाढान्धकारसमूह के, पूर्वदिशा का, तथा कुलटाओं के वैरी

(पुनः सहर्षमङ्गुल्या दर्शयन्)

एतत् कोककुटुम्बिनीजनमनःशल्यं, चकोराङ्गना-
चञ्चूकोटिकपाटयोर्घटितयोरुद्घाटिनी कुञ्चिका ।
दग्धस्यापि नवाङ्कुरः स्मरतरोरार्द्रागतां प्रेयसी-
मानोद्दामगजाङ्कुशो विजयते मुग्धं सुधांशोर्वपुः ॥ ३४ ॥

प्रतिबन्धकत्वादिति भावः) शशिकरनिकरे = चन्द्रकिरणसमूहे, प्रतीचीम् = पश्चिमदिशाम्, सम्प्राप्ते = आश्रयति सति, अर्धश्यामोपलार्धस्फटिकमिव-अर्धम् = अर्धभागः, श्यामोपलः = नीलमणिः यस्य तत्, अधम् = अर्धभागः स्फटिकः = स्फटिकमणिर्यस्य तत्, तादृशमिव दिशाम्, अन्तरालम् = मध्यभागः, कालिन्दी-जह्नुकन्यामिलदमलजलस्य सन्दोह-मैत्रीम्—कालिन्दी = यमुना, जह्नुकन्या = गङ्गा च, तयोः मिलन्तः = परस्परं सङ्गच्छमानाः ये अमलजलस्यन्दाः = निर्मल-वारिपूराः, तेषां यः सन्दोहः = समूहस्तस्य मैत्रीम् = सादृश्यमित्यर्थः, विधत्ते = करोति । प्राच्यां तमस्तोमे प्रसृते, प्रतीच्यां च चन्द्रे भासमाने सति, अर्धस्य श्याम-त्वेन, अर्धस्य शुभ्रत्वेन च दिगन्तरालं यमुनाजाह्नव्योः सम्मिलितस्य जलप्रवाहस्य शोभां धारयतीति भावः । उपमालङ्कारः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ३३ ॥

चन्द्रोदयं रामो वर्णयति—एतदिति ।

अन्वयः—कोककुटुम्बिनीजनमनःशल्यम्, घटितयोः चकोराङ्गनाचञ्चू-कोटिकपाटयोः उद्घाटिनी कुञ्चिका, दग्धस्यापि स्मरतरोः नवाङ्कुरः, आर्द्रा-गताम् प्रेयसीमानोद्दामगजाङ्कुशः, मुग्धम् एतत् सुधांशोः वपुः विजयते ।

व्याख्या—कोककुटुम्बिनीजनमनःशल्यम्—कोकाः=चक्रवाकाः ('कोकश्चक्र-वाको' इत्यमरः) तेषाम्, कुटुम्बिनीजनानाम् = पत्नीनाम्, मनसः = हृदयस्य

(प्रतिबन्धक) चन्द्रमा के, पश्चिमदिशा का अवलम्बन लेने पर आधा काले पत्थर से और आधा स्फटिक (श्वेत) पत्थर से युक्त-सा दिशाओं का मध्यभाग यमुना और गङ्गा के मिश्रित जलप्रवाह की समानता कर रहा है ॥ ३३ ॥

(फिर सहर्ष अँगुली से दिखाते हुए)

चक्रवाकियों के मन का शल्य (शङ्कु अथवा काँटा), चकोरियों के चञ्चुपुट रूप कपाटों को खोलने के लिए कुञ्जी, भस्मीभूत कामवृक्ष का नवीन अङ्कुर,

शल्यम् = शङ्कुरूपम्, रात्रौ पतिवियोगात् सुधांशोर्दुःखदायित्वेन शल्यरूपत्वमिति बोध्यम् । घटितयोः परस्परमिलितयोः, चकोराङ्गनाचञ्चूकोटिकपाटयोः = चकोराणाम् अङ्गनाः = स्त्रियस्तासां चञ्चूकोटी = चञ्च्वग्रभागौ, तावेव कपाटौ, तयोः, उद्घाटिनी = पृथक्कर्त्री, कुञ्चिका = उद्घाटनयन्त्रविशेषः ('चाभी' इति भाषायाम्) ('चकोराश्चन्द्रोदये चन्द्रिकां पातुं चञ्चूद्घाटनं कुर्वन्तीत्यभिप्रायेण सुधांशोर्वपुस्तच्चञ्चूकपाटयोरुद्घाटिनी कुञ्चिका' इति कविना निगदितम्) । दग्धस्य = हरनेत्राग्निना भस्मीभूतस्य, अपि स्मरतरोः = स्मरः = कामः, स एव तरुः = वृक्षः, तस्य, नवाङ्कुरः = नूतनप्ररोहः, आद्रागसाम्—आर्द्रम् = सद्यःकृतमित्यर्थः, आगः = अपराधः, परस्त्रीदर्शनादिरूपः इति भावः, येषां तेषां नायकानाम्, प्रेयसीमानोद्दामगजाङ्कुशः—प्रेयसीनां यो मानः = प्रणयकोपः, स एव उद्दामगजः = मदोद्धतो हस्ती, तस्य अङ्कुशः, प्रेयसीनां मानापहारकमिति भावः मुग्धम् = प्रकृत्या सुन्दरम्, सुधांशोः = चन्द्रमसः, एतत् = पुरो दृश्यमानम्, वपुः = शरीरम्, मण्डलमित्यर्थः, विजयते = सर्वोत्कर्षेण वर्तते । रूपकालङ्कारः, । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३४ ॥

ताजा अपराध करनेवाले (पुरुषों) की प्रियतमाओं के प्रणयकोपरूपी मस्त गज का अङ्कुश, चन्द्रमा का यह सुन्दर शरीर (मण्डल) अत्यन्त उत्कर्ष के साथ प्रकाशित हो रहा है ।

विमर्श—चक्रवाक और चक्रवाकी रात में एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं । ऐसी स्थिति में चक्रवाकियों के हृदय में चन्द्रमा शल्य के समान पीडा उत्पन्न करता है, इसी अभिप्राय से चन्द्रमा को चक्रवाकियों के मन का शल्य (शङ्कु अथवा काँटा) कहा गया है ।

चकोरों के विषय में कहा जाता है कि वे चन्द्रमा की किरणों का पान करते हैं अतएव दिन में मौन धारण किये रहते हैं । रात में चन्द्रोदय होने पर प्रसन्नता से चोंच खोलते हैं । इसी भाव को लेकर चन्द्रमा को उनके चञ्चु-कपाटों को खोलने के लिए कुञ्जी कहा गया है ।

कामोद्दीपक होने के कारण चन्द्रमा को दग्ध कामवृक्ष का नवीन अङ्कुर कहा गया है ।

प्रिय द्वारा परस्त्रीदर्शन अथवा प्रेमालाप किया जाता प्रेयसी की दृष्टि में

लक्ष्मणः—

कल्लोलक्षिप्तपङ्कत्रिपुरहरशिरः-स्वःस्रवन्तीमृणालं
कर्पूरक्षोदजालं कुसुमशरवधूसीधुभृङ्गारनालम्।
एतद्दुग्धाब्धिबन्धोर्गगनकमलिनीपत्रपानीयबिन्दो-
रन्तस्तोषं न केषां किसलयति जगन्मण्डनं खण्डमिन्दोः ॥३५॥

लक्ष्मणश्चन्द्रवर्णनं करोति—कल्लोलेति।

अन्वयः—कल्लोलक्षिप्तपङ्कत्रिपुरहरशिरः-स्वःप्रस्रवन्तीमृणालम्, कर्पूरक्षोदजालम्, कुसुमशरवधूसीधुभृङ्गारनालम्, दुग्धाब्धिसिन्धोः, गगनकमलिनीपत्रपानीयबिन्दोः इन्दोः जगन्मण्डनम् एतत् खण्डम्, केषाम् अन्तस्तोषम् न किसलयति।

व्याख्या—कल्लोलेत्यादिः-कल्लोलैः=महातरङ्गैः क्षिप्तः प्रक्षालितः, पङ्कः= कलङ्करूपः कर्दमः, यस्य तत्तादृशम्, त्रिपुरहरस्य = शङ्करस्य शिरसि = मूर्ध्नि, स्वः स्रवन्ती = स्वःसरित्, आकाशगङ्गेत्यर्थः, तस्याः मृणालम् = बिसदण्डः, कर्पूरक्षोदजालम्-कर्पूरस्य क्षोदाः = चूर्णाः, तेषां जालम् = राशिः, राशिसदृशमित्यर्थः, कुसुमशरवधूसीधुभृङ्गारनालम्-कुसुमशरः = कामदेवः, तस्य वधूः = पत्नी, रतिरित्यर्थः, तस्याः सीधुभृङ्गारः = मदिरायाः विशिष्टाकृतिः कलशः, तस्य नालम् = नालिका, तुण्डमित्यर्थः ('टोटी' इति भाषायाम्)। दुग्धाब्धिसिन्धोः-दुग्धाब्धिः = क्षीरसागरः तस्य बन्धुः = सुहृत् तस्य (समुद्रजलवर्धनत्वादिति भावः), गगनकमलिनीपत्रपानीयबिन्दोः-गगनमेव कमलिनीपत्रम्, तस्मिन् पानीयबिन्दु = जलबिन्दुसदृशमित्यर्थः, तस्य इन्दोः = चन्द्रस्य, जगन्मण्डनम् = विश्वभूषणभूतम्, एतत् खण्डः = अंशः (अपूर्णत्वादितिभावः) केषाम्, अन्तस्तोषम् = हार्दिकीं प्रसन्नताम्, न किसलयति = न पल्लवयति, न

घोर अपराध है। ऐसा अपराध सिद्ध हो जाने पर प्रेयसी का रूठना 'मान' कहलाता है। प्रिय के लाख प्रयत्न करने पर भी प्रेयसी अपना 'मान' नहीं छोड़ती किन्तु चन्द्रमा को देखकर वह प्रिय से मिलने के लिए बेचैन हो जाती है, इसका मान स्वयं नष्ट हो जाता है; अतः चन्द्रमा को प्रेयसी के मानरूप गज के लिए अङ्कुश कहा गया ॥ ३४ ॥

लक्ष्मण—क्षीरसागर के बन्धु तथा आकाशरूप कमलिनीपत्र पर (स्थित) जल की बूँद (के सदृश) चन्द्र का सुन्दर यह विश्वभूषण खण्ड किनके हृदय में

राम —वत्स ! अलमतिप्रसङ्गेन ! तदेहि, सायन्तनत्रिदशार्चनोचित-कुसुमोपायनेन भगवन्तं गाधिनन्दनमुपास्महे ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

विस्तारयतीत्यर्थ ? अपि तु सर्वेषां मनस्याह्लादं विस्तारयतीति भाव । रूपकालङ्कारः स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ३९ ॥

राम इति । अलमतिप्रसङ्गेन = वर्णनेऽतिप्रसक्त्याऽलम्, समयाभावाद् वर्णनाद्विरमेति भाव । सायन्तनत्रिदशार्चनोचितकुसुमोपायनेन—साय भवमिति सायन्तन यत् त्रिदशानाम् = देवानाम्, अर्चनम् = पूजनम्, तस्य उचितानि = योग्यानि, कुसुमानि = पुष्पाणि, तेषामुपायनेन = उपहारेण । गाधिनन्दनम् = विश्वामित्रम् ।

इति विभाख्यायां प्रसन्नराघवव्याख्यायां द्वितीयोऽङ्कः ।

आनन्द की वृद्धि नही करता है ? (अर्थात् सबके हृदय में आनन्द की अभिवृद्धि करता है । यह (चन्द्र खण्ड) शिव के सिर पर स्थित आकाश गङ्गा का वह मृणाल है जिसका (कलङ्करूप) पङ्क महातरङ्गों से धुल गया है । (अथवा) कपूँर के चूर्णों की राशि है । (किं वा) मदनवधू (रति) के मदिरापात्र (झारी) की नालिका (टोटी) है ॥ ३९ ॥

राम—वत्स ! अधिक वर्णन बन्द करो । अतएव आओ, सायङ्कालीन देवपूजन योग्य पुष्पों के उपहार से भगवान् विश्वामित्र की सेवा करें ।

(इस प्रकार सब निकल जाते हैं)

इस प्रकार 'विभा' नामक 'प्रसन्नराघव' की हिन्दी व्याख्या में द्वितीय अङ्क समाप्त हुआ ।

द्वितीय अङ्क समाप्त हुआ ।

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति वामनकः)

वामनकः—(आत्मानं विलोक्य सविस्मयम्) अहो ! अङ्गानां मे तुङ्गत्वम् । अपि नामेदृशैरङ्गैरत्र सञ्चरता मया द्वारशिखरं भज्यते ? तत्कुब्जो भूत्वा सञ्चरिष्यामि । (अहो ! अङ्गाण मे तुङ्गत्तणम् । अवि णाम ईरिसेहिं अङ्गेहिं एत्थ संचरन्तेण मए दुआरसिहरं भज्जीअदि ? ता खुज्जो भविअ संचरिस्सम्) (तथा करोति)

(प्रविश्य)

कुब्जकः—वयस्य वामनक ! इदानीं सकलगुणसंयुक्तोऽसि त्वम् । (वअस्स वामणअ ! दाणिं सअलगुणसंजुत्तो सि तुमं)

वामनकः—कथमिव (कहं विअ)

कुब्जक—प्रथममेव वामन इदानीं पुनः कुब्जत्वं प्राप्तः । (पढमं जेव्व वामणो दाणिं उण खुज्जत्तणं पत्तो)

वामनक इति । अङ्गानाम् = शरीरावयवानाम् । तुङ्गत्वम् = उन्नतत्वम् । द्वारशिखरम् = द्वारोपरिभागः ।

कुब्जक इति । सकलगुणसंयुक्तः=सकलगुणसम्पन्नः, सकलदोषसम्पन्न इति भावः ।

(तदनन्तर बौना प्रवेश करता है)

वामनक (बौना) – (अपने को देखकर विस्मय पूर्वक) अहो ! मेरे अंगों की कैसी ऊँचाई है ! इन अङ्गों से सञ्चरण करते हुए मेरे द्वारा दरवाजे का ऊपरी भाग कहीं टूट न जाय । तो कुबड़ा होकर सञ्चरण करूँगा ।

(प्रवेश कर)

कुब्जक (कुबड़ा) – मित्र वामनक ! इस समय तुम सकल गुणों (अर्थात् दोषों) से युक्त हो गये हो ।

वामनक—(वह) कैसे ?

कुब्जक—वामन (बौना) पहिले ही थे और अब कुबड़े भी हो गये ।

वामनक — (सक्रोधम्) अये मूर्ख ! कथमात्मनः कुब्जत्वं परस्मिन्नारोपयसि ? ननु त्वमेव कुब्जकः । मया पुनर्द्वारशिखरभङ्गशङ्कितेनात्मनि कुब्जत्वमारोपितम् । (अए मुक्ख ! कहं अत्तणो खुज्जत्तणं परस्मि आरोवेसि ? ण तुमं जेव्व खुज्जओ । मए उण दुआरसिहरभङ्गसङ्किदेण अप्पम्मि खुज्जत्तणमारोविदम्)

कुब्जक — (विहस्य) कथं वितस्तिमात्रेण तवाङ्गेन द्वारशिखरं भज्यते ? (पुनः सक्रोधम्) अरे अलीकवाचाल ! केन तव कथितमहं कुब्जक इति ? (कहं विअत्थिमेत्तएण तुह अङ्गेण दुआरसिहरं भज्जिस्सदि ? अरे अलीअवाआल ! केण तुह कहिदं अहं खुज्जओ त्ति ?)

वामनक — अनेनैव दृप्तवृषभककुदसदृशेन पृष्ठस्थितेन मांसस्तबकेनोद्वाहितेन । (ण इमिणा जेव्व दरिअवुसहक्कुदसरिसेण पुट्ठट्ठिदेण मंसत्थवएण उव्वाहिएण)

वामनक इति । द्वारशिखरभङ्गशङ्कितेन=द्वारशिखरम् = द्वारस्य शिखरम्= ऊर्ध्वभाग, तस्य भङ्ग = आमर्दनम्, तस्मिन् शङ्कितस्तेन । आत्मनि कुब्जत्वमारोपितम् = आत्मानं द्वारशिखरभङ्गशङ्कितोऽहं कुब्जमिव कृतवानिति भाव ।

कुब्जक इति । वितस्तिमात्रेण=द्वादशाङ्गुलप्रमाणेन, सातिशयलघुनेति भाव । अलीकवाचाल = मिथ्याप्रलापिन !

वामनक इति । दृप्तवृषभककुदसदृशेन–दृप्त = बलमदर्गर्वितो यो वृषभस्तस्य ककुदसदृशेन = स्कन्धोपरिस्थितमांसलाङ्कसदृशेन । मांसस्तबकेन = मांसग्रन्थिना ।

वामनक—(क्रोध के साथ) अरे मूर्ख ! अपना कुबड़ापन दूसरे पर कैसे मढ़ता है ? अरे, तू ही कुबड़ा है । मैं तो द्वार शिखर के टूट जाने की शङ्का से स्वयं कुबड़ा-सा बन गया हूँ ।

कुब्जक—(हँसकर) वित्ते भर के तुम्हारे अङ्ग (देह) से दरवाजे का शिखर कैसे टूट जायगा ? (फिर क्रोध के साथ) अरे झूठ-मूठ बकवास करने वाला ! किसने तुझसे कहा कि मैं कुबड़ा हूँ ।

वामनक—इसी, गर्वीले साँड़ के ककुद (डिल्ला) के समान, पीठ पर स्थित ढोये जाते हुए मांस के लोथड़े ने (कहा है) ।

कुब्जकः—(विहस्य) अये मतिशून्य ! कथमयं मांसस्तबकोऽपि पुनः सौभाग्यलक्ष्म्या उपधानगेन्दुकः । (अए मदिसुण्ण ! कहं इमो मंसत्थवओ विउण सोहग्गलच्छीए उवहाणगेण्डुओ)

वामनकः—(साशङ्कम्) अरे ! शनैर्जल्प ! अस्मादृशानामन्तःपुरचारिणां सौभाग्यवृत्तान्तमाकर्ण्य भर्त्ता कोपिष्यति । (अरे ! सणिअं जप्प अह्मारिसाणं अन्तेउरचारिणं सोहग्गवुत्तन्तमाअण्णिअ भट्टा कुविस्सदि)

कुब्जकः—अलं भीरुत्वेन, इदानीं ध्यानगृहे वर्त्तते भर्त्ता । (अलं भीरुत्तणेण, दाणिं झाणघरम्मि वट्टदि भट्टा)

वामनकः—न खलु न खलु । अद्य किल कस्यापि प्राघुणिकस्य महर्षेरागमनं प्रतिपालयन् बाह्यमण्डपे वर्त्तते । (ण हु ण हु । अज्ज किर कस्सावि पाहुणस्स महेसिणो आगमणं पडिवालअन्तो बाहिरमण्डवे वट्टदि)

कुब्जकः—हा ! हताः स्मः । (हा हदह्म)

कुब्जक इति । उपधानगेन्दुकः = उपधानकन्दुकः । आधारभूत इति भावः ।

वामनक इति । अन्तःपुरचारिणाम् = अन्तःपुरसहायानामित्यर्थः । सौभाग्यवृत्तान्तम् = सौभाग्यसमाचारम् । सौभाग्यं श्रुत्वाऽन्यथा सम्भावयिष्यतीति भावः ।

कुब्जक इति । भर्त्ता = स्वामी जनकराज इत्यर्थः । ध्यानगृहे=समाधिगृहे ।

वामनक इति । प्राघुणिकस्य = अतिथेः । प्रतिपालयन् = प्रतीक्षमाणः । बाह्यमण्डपे = बहिःस्थे भवने ।

कुब्जक—(हँसकर) अरे बुद्धिहीन ! यह मांस का लोथड़ा कैसे ? (साधारण मांस का लोथड़ा होते हुए भी) यह तो सौभाग्यलक्ष्मी का उपधानकन्दुक (अर्थात् आधारभूत) है ।

वामनक—(आशङ्का के साथ) अरे ! धीरे से बोलो ! हमारे-जैसे रनिवास में रहने वालों के सौभाग्य की बात को सुनकर स्वामी (जनक जी) अप्रसन्न होंगे ।

कुब्जक—डरने की आवश्यकता नहीं । स्वामी इस समय ध्यानगृह में हैं ।

वामनक—नहीं ! नहीं ! महाराज आज तो किसी अतिथि महर्षि के आगमन की प्रतीक्षा करते हुए बाहरी बैठक में बैठे हैं ।

कुब्जक—हा ! (तब तो) हम लोग मारे गये ।

वामनक—किमिति । (किंति)

कुब्जक—ननु प्रथममेवैकेन महर्षिणा याज्ञवल्क्येनोपदिष्टोऽय राजाऽक्षिनिमीलनै रात्रीर्गमयति । इदानीं पुनरनेनोपदिष्टोऽन्तःपुरमेव परिहरिष्यति । ततः किमयमस्माभिः क्षपणक इव कर्पटपेटकैः करिष्यति ? (ण पढमं जेव्व एक्केण महेसिणा जण्णवक्केण उवदिट्ठो इमो राआ अच्छिणिमीलणेहिं रत्तीओ गमेदि । दाणिं उण इमिणा उवदिट्ठो अन्तेउरं जेव्व परिहरिस्सदि । तदो किं इमो अह्मे हिं खवणा व्व कप्पडपेडएहिं करिस्सदि ?)

वामनक—सत्यमेतत् यद्ययं महर्षिरस्माकं राज्ञ उपदेशायमागतो भवेत् । अयं पुनर्हरधनुर्दर्शनार्थम् । (सच्चं एदं जइ इमो महेसी अह्माणं रण्णो उवएसत्थं आअदो भवे । इमो उण हरधणुद्दंसणत्थम्)

कुब्जक इति । अक्षिनिमीलनैः = नेत्रनिमीलनैः । रात्रीः = निशाः । गमयति = यापयति निशासु ध्यानावस्थितो वर्तते इति भावः । अन्तःपुरम् = राज्ञीनिलयम् परिहरिष्यति = त्यक्ष्यति । क्षपणकः बौद्धसन्यासी जैनसन्यासी वा, यो नग्न एव तिष्ठति, वस्त्रं नापेक्षते । कर्पटपेटकैः — जीर्णवस्त्रपटिकाभिः, यथा क्षपणकस्य वस्त्रखण्डेन प्रयोजनं नास्ति तथैव राज्ञोऽस्माभिर्न प्रयोजनं भविष्यति यनास्माकं वृत्तिनाशः स्यादिति भावः ।

वामनक इति । हरधनुर्दर्शनार्थम् = शिवधनुरवलोकनार्थम् ।

वामनक—क्यों ?

कुब्जक—पहिले ही एक महर्षि याज्ञवल्क्य के द्वारा उपदिष्ट ये राजा (जनक) आँखों को मूँद कर (अर्थात् योगाभ्यास कर) रातों को बिताते हैं अब फिर इस (आने वाले) महर्षि के द्वारा उपदिष्ट हो अन्तःपुर का ही परित्याग कर देंगे । तब जीर्ण वस्त्रों की पटिकाओं से क्षपणक के समान ये राजा (जनक) हम लोगों से क्या करेंगे ? (अर्थात् जैसे नग्न रहने वाले जैन या बौद्ध साधु की दृष्टि में वस्त्र व्यर्थ हैं वैसे ही रनिवास का परित्याग कर देने पर हम लोग राजा की दृष्टि में निष्प्रयोजन सिद्ध होंगे और निकाल बाहर कर दिये जायँगे) ।

वामनक—यह सच होता यदि ये महर्षि हमारे राजा को उपदेश देने के लिए आये होते । किन्तु ये तो शिव धनुष को देखने के लिए (आये हैं) ।

कुब्जकः—किमस्य महर्षेर्होमाग्निधूमश्यामलितलोचनस्य हरचापदर्शनेन ? तत्तर्कयामि क्षत्रियब्राह्मणोऽयमिति । (किं इमस्स महेसिणो होमग्गिधूमसामलिअलोअणस्स हरचावदंसणेण ? ता तक्केमि खत्तिअब्रह्मणो इमो त्ति)

वामनकः—(विहस्य) कथं तनुरिव मतिरपि ते वक्रा ? यदेवं तर्कयसि । सत्यं क्षत्रियब्राह्मणोऽयमिति । (कहं तणु व्व मदीवि तुहं वङ्कुणी ? ज्जं एव्वं तक्केसि । सच्चं खत्तिअब्रह्मणो इमो ति)

कुब्जकः—तत्कोऽप्यनर्थः सम्भाव्यते, यत् किल चिरतपस्याकर्षितोऽयं तीव्रं प्रेक्षमाणः क्षत्रियब्राह्मण ऋजुमतेरस्माकं राजर्षे राज्यं ग्रहीतुमागत इति । (ता को वि अणत्थो सम्भाविअदि, जं किर चिरतवस्साकरिसिदो इमो तिव्वं पेक्खमाणो खत्तिअब्रह्मणो रुजुमदिणो ब्रह्माणं राएसिणो रज्जं गहीदुं आअदोत्ति)

कुब्जक इति । होमाग्निधूमश्यामलितलोचनस्य = होमाग्निः = हुवनानलः, तस्य धूमेन श्यामलिते = कृष्णीकृते, लोचने = नेत्रे यस्य तस्य, किम् = किं प्रयोजनमिति भावः । क्षत्रियब्राह्मणः = पूर्वं क्षत्रियः पश्चाद् ब्राह्मणः, जन्मना क्षत्रियः, कर्मणा ब्राह्मण इति भावः ।

वामनक इति । तनुरिव = शरीरमिव । मतिरपि = बुद्धिरपि । वक्रा = कुटिला ।

कुब्जक इति । अनर्थः = विपद् । चिरतपस्याकर्षितः = चिरम्=बहुकालम्, या तपस्या = तपश्चरणम्, तया कर्षितः = अनुभूतक्लेशः = तीव्रम् = उग्रम् । ऋजुमतेः = सरलबुद्धेः, मुग्धस्येत्यर्थः । राजर्षे = जनकस्य ।

कुब्जक—होमाग्नि के धुएँ से श्यामल नेत्र वाले इन महर्षि का शिव-धनुष के दर्शन से क्या (प्रयोजन) ? तो मैं अनुमान करता हूँ कि ये क्षत्रियब्राह्मण (अर्थात् जन्म से क्षत्रिय किन्तु कर्म से ब्राह्मण) हैं ।

वामनक—(हँस कर) कैसे, शरीर की तरह तुम्हारी बुद्धि भी टेढ़ी है ? जो ऐसा अनुमान-करते हो । सचमुच ये क्षत्रियब्राह्मण हैं ।

कुब्जक—तो कोई अनर्थ होने की सम्भावना है, जो कि बहुत दिनों की तपस्या से क्लेश भोगने वाले, तीक्ष्ण दृष्टि से देखते हुए ये क्षत्रियब्राह्मण, हमारे सरल-बुद्धि वाले राजर्षि (जनक) का राज्य ग्रहण करने के लिए आये हैं ।

वामनक —शान्त पापम् । ईदृश मा जल्प । अय हि चिरतपस्यापरितोषितस्य ब्रह्मणो वाचा क्षत्रियत्व परिहृत्य ब्राह्मणत्व प्राप्त । (सन्त पावम् । ईरिस मा जप्प । अअ हि चिरतवस्सापरितोसिदस्स बह्मणो वा आए खनिअत्तण परिहरिअ ब्रह्मणत्तण पत्तो)

कुब्जक—कथ तनुरिव मतिरपि ते वामनी ? यदीदृशालीकलोकवृत्तान्तेऽपि प्रत्याय्यते । यदि कस्यापि वाचा क्षत्रियो ब्राह्मणो भवति तर्हि मम वाचा त्वमपि ब्राह्मणो भवसि । (कह तु व्व मदीवि तुह वामणी ज एरिसअलीअलोअवुत्तन्ते वि पत्तिआअदि । जइ कस्सवि वाआए खत्तिओ ब्रह्मणो होइ ता मह वाआए तुम वि ब्रह्मणो होसि)

वामनक —अरे बालिश ! कथ तव गोमुखस्य भगवतश्चतुर्मुखस्यापि नास्त्यन्तरम् ? (अरे बालिस ! कह तुह गोमुहस्स भअवदो चदुम्मुहस्स वि णत्थि अन्तरम ?)

वामनक इति । शान्त पापम् = पाप निवृत्त भवतु । ईदृश मा जल्प = मैव वद । चिरतपस्यापरितोषितस्य = चिरम् = बहुकालम्, या तपस्या = तपश्चरणम्, तया परितोषितस्य = प्रसन्नीकृतस्य । ब्रह्मण = विधातु । वाचा = वाण्या । क्षत्रियत्वम् = क्षत्रियजातिम् । परिहृत्य = परित्यज्य । ब्राह्मणत्व प्राप्त = ब्राह्मणजातिं स्वीचकार । न हि तस्य राज्येन किमपि प्रयोजनमिति भाव ।

कुब्जक इति । वामनी = लघ्वी, युक्तायुक्तविचारणाशून्येति भाव । ईदृशालीकलोकवृत्तान्तेऽपि—ईदृशे मिथ्याभूते समाचारेऽपि । प्रत्याय्यते = विश्वास्यते ।

वामनक इति । बालिश = मूर्ख ! 'अज्ञे मूढयथाजातमूर्खवैधेयबालिशा ' इत्यमर ।) गोमुखस्य-गो = वृषभस्येव मुख यस्य तस्य = वृषभाननस्य चतुर्मुखस्य = ब्रह्मण । अन्तरम् = भेद ।

वामनक—पाप शान्त हो ऐसा मत कहो। क्योंकि इन्होंने चिरकाल की तपस्या से परितुष्ट किये गये ब्रह्मा के वचनसे क्षत्रियत्व का त्याग कर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया है।

कुब्जक—कैसे, शरीर की तरह तुम्हारी बुद्धि भी बौनी हो गयी है ? जो कि ऐसे झूठे लोकवृत्तान्त में भी विश्वास कर रही है। किसी के कहने मात्र से यदि (कोई) क्षत्रिय ब्राह्मण हो मेरे वचन से तुम भी ब्राह्मण हो जाओ।

वामनक—अरे मूर्ख ! क्या बैल के समान मुख वाले तुम में और भगवान् ब्रह्मा में अन्तर नहीं है ?

कुब्जकः—यद्ययं शुद्धब्राह्मणस्तत्किमस्य चापचिन्तया ? (जइ इमो सुद्धब्रह्मणो ता किं इमस्स चावचिन्ताए ?)

वामनकः—अस्ति कारणं, तस्य पार्श्वे तत एव गृहीतचापविद्यौ द्वौ क्षत्रियकुमारौ वर्त्तेते, ताभ्यां दर्शयिष्यति चापमिति । (अत्थि कारणं, तस्स पासम्मि तदो जेव्व गहिअचावविज्जा दोवि खत्तिअकुमारा वट्टन्ति । ताणं दंसइस्सदि चावं त्ति)

कुब्जकः—तच्छुद्धाशयोऽयम् ? (ता सुद्धासओ इमो ?)

वामनकः—अथ किम् ? (अह इं ?)

कुब्जकः—तत्कथय तावत्, अस्मिन् अलीकदूषणारोपेण ननु मम पापमुत्पन्नं न वेति ? (ता कहेहि दाव, इमस्सि अलीअदूसणारोवेण णं महपावं उप्पण्णं वेत्ति ?)

वामनकः—पापमिति किं भण्यते ? ननु महापापमुत्पन्नम् । (पावं त्ति किं भणीअदि ? णं महापावं उप्पण्णम्)

कुब्जक इति । चापचिन्तया = धनुर्विषयकोत्कण्ठया ।

वामनक इति । तत एव = तस्मादेव, विश्वामित्रादित्यर्थः । गृहीतचापविद्यौ = गृहीता = अधीता, चापविद्या = धनुर्विद्या याभ्यां तौ ।

कुब्जक इति । शुद्धाशयः—शुद्धः = पवित्रः, आशयः = अभिप्रायो यस्य सः । अयम् = विश्वामित्रः ।

कुब्जक इति । अस्मिन् = विश्वामित्रे शुद्धाशये । अलीकदूषणारोपणेन = मिथ्यादोषारोपणेन ।

कुब्जक—यदि ये शुद्ध ब्राह्मण हैं तो इन्हें धनुष की चिन्ता से क्या (प्रयोजन) ?

वामनक—कारण है; उनके पास उन्हीं से धनुर्विद्या सीखे हुए दो क्षत्रिय-कुमार हैं । उन्हें (ये) धनुष दिखायेंगे ।

कुब्जक—तो ये पवित्र हृदय वाले हैं ?

वामनक—और क्या ?

कुब्जक—तो बताओ, इन पर मिथ्या दोष मढ़ने से मुझे पाप हुआ या नहीं?

वामनक—पाप ही क्या कहते हो ? अरे, महापाप हुआ ।

कुब्जक — अरे मूर्ख ! न जानासि धर्मस्य तत्त्वम्। सम्बन्धिजने परिहासवचनानि न पापकारणानि भवन्ति। (अरे मुक्ख ! ण आणासि धम्मस्स तत्तम्। सम्बन्धिअणे परिहासवअणाइं ण हु पावकारणाइं)

वामनक — कथं पुनरयं तव सम्बन्धिजनः ? (कह उण इमो तुह सम्बन्धिअणो ?)

कुब्जक — अरे ! न जानासि। अस्यापि द्वौ कुमारौ। अस्माकमपि द्वे कुमारिके। तत्तर्कयामि सम्बन्धिजनो भविष्यतीति। (अरे ! ण आणासि। अस्स वि दोण्णि कुमारा, अह्माण वि दोण्णि कुमारीओ। ता तक्केमि सम्बन्धिअणो हुविस्सदि त्ति)

वामनक — (विहस्य) कथमस्माकमीदृशं पुण्यम् ? (कह अह्माण एरिसं पुण्णम् ?)

(नेपथ्ये)

ताटङ्किना झटिति ताडितताटकेन
रामेण पञ्चरमणीयविलोचनेन।
क्रीडाशिखण्डकधरेण सलक्ष्मणेन
साकं मुनिः कुशिकसूनुरितोऽयमेति ॥ १ ॥

कुब्जक इति। तत्त्वम् = रहस्यम्। सम्बन्धिजने = वरपक्षीयजने, अनेन गावि वृत्तं सूचितमिति ज्ञेयम्। परिहासवचनानि = विनोदवचनानि। पापकारणानि = पापजनकानीत्यर्थः।

अन्वय — अयम् कुशिकसूनुः मुनिः ताटङ्किना झटिति ताडितताटकेन पञ्चरमणीयविलोचनेन क्रीडाशिखण्डकधरेण सलक्ष्मणेन रामेण साकम् इतः एति।

व्याख्या — अयम् = एषः, कुशिकसूनुः —कुशिक = कुशिकनामा राजा, तस्य

कुब्जक—अरे मूर्ख ! तुम धर्म का रहस्य नहीं जानते हो। सम्बन्धी व्यक्ति के विषय में (कहे गये) परिहास (मजाक) के वचन पापजनक नहीं होते।

वामनक—ये तुम्हारे सम्बन्धी कैसे हुए ?

कुब्जक—अरे ! नहीं जानते हो। इनके भी दो कुमार हैं। हमारे भी दो कुमारिकाएँ हैं, इसलिए मैं सोचता हूँ कि ये (हमारे) सम्बन्धी होंगे।

वामनक—(हँसकर) हमारा ऐसा पुण्य कहाँ ?

(नेपथ्य में)

ये कौशिक मुनि, कर्णभूषण धारण किये हुए, ताटका को शीघ्र ही मारने

वामनकः—(सहर्षविस्मयम्) अहो ! या किल सकललोकभीषणा राक्षसी ताटकेति श्रूयते साऽनेन यदि ताडिता तदस्मिन्हरचापारोपणमपि सम्भाव्यते। तदेहि। इमं कर्णसुधारसं भट्टिनीभ्यः समर्पयामः। (अहो ! जा किर सअललोअभीसणा रक्खसी ताडएत्ति सुणीअदि सा इमिणा जइ ताडिदा ? ता इमस्सि हरचावारोवणं वि सम्भावीअदि। ता एहि। इमं कण्णसुहारहं भट्टिणीणं समप्पह्य)

सूनुः = पुत्रः, मुनिः = विश्वामित्रो नाम मुनिः, ताटङ्किना—ताटङ्कः = कर्णभूषणम्, अस्त्यस्येति ताटङ्की तेन ताटङ्किना = धृतकर्णभूषणेन, झटिति = शीघ्रम्, अनायासेनैवेत्यर्थः, ताडितताटकेन—ताडिता = निहता, ताटका = तन्नाम्नी राक्षसी येन तेन, पद्मरमणीयविलोचनेन = पद्मे = कमले इव रमणीये=सुन्दरे विलोचने = नेत्रे यस्य तेन, क्रीडाशिखण्डकधरेण—क्रीडायै = मनोविनोदाय शिखण्डकम् = मयूरपिच्छम्, धरतीति तेन, सलक्ष्मणेन = लक्ष्मणानुगतेन, रामेण साकम् = श्रीरामचन्द्रेण सह इतः = अस्यां दिशि, एति = अभिवर्त्तते। अतस्सर्वैरयमतिथिः प्रत्युद्गन्तव्य इति भावः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १ ॥

वामनक इति। सकललोकभीषणा = सकलजनभयङ्करी। तत् = तर्हि। कर्णसुधारसम् = कर्णयोः = श्रोत्रयोः, सुधारसम् = अमृतद्रवम्, कर्णानन्ददायिनं वृत्तान्तमित्यर्थः, भट्टिनीभ्यः = राज्ञीभ्यः।

प्रवेशक इति। प्रवेशकलक्षणं यथा—

'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥' इति।

वाले कमल के समान सुन्दर नेत्र वाले, मनोरञ्जन के लिए मयूरपोछ धारण करने वाले लक्ष्मण-सहित राम के साथ इधर आ रहे हैं ॥ १ ॥

वामनक—(हर्ष और आश्चर्य के साथ) आश्चर्य है, जो सकल लोकों को भयभीत करने वाली ताटका नाम की राक्षसी सुनी जाती है, उसे यदि इन्होंने मारा है तो इनमें शिवधनुष के चढ़ाने की भी सम्भावना की जा सकती है। तो आओ, इस कर्णामृतरस को, रानियों को समर्पण करें (अर्थात् श्रवणसुखद इस वृत्तान्त को रानियों से कहें)।

(इति निष्क्रान्तौ)

(इति प्रवेशकः)

(ततः प्रविशति रामलक्ष्मणानुगतो विश्वामित्रः)।

विश्वामित्रः—(अङ्गुल्या दर्शयन्) वत्स रामभद्र !

एतत्तर्कय चक्रवाकहृदयाश्वासाय तारागण-
ग्रासाय स्फुरदिन्दुमण्डलपरीहासाय भासां निधिः।
दिक्कान्ताकुचकुम्भकुङ्कुमरसन्यासाय पङ्केरुहो-
ल्लासाय स्फुटवैरिकैरववनत्रासाय विद्योतते ॥ २ ॥

अन्वयः—भासाम् निधिः चक्रवाकहृदयाश्वासाय तारागणग्रासाय स्फुरदिन्दुमण्डलपरीहासाय दिक्कान्ताकुचकुम्भकुङ्कुमरसन्यासाय पङ्केरुहोल्लासाय स्फुटवैरिकैरववनत्रासाय विद्योतते एतत् तर्कय।

व्याख्या—भासां निधिः = प्रभाकरः सूर्य इत्यर्थः, चक्रवाकहृदयाश्वासाय—चक्रवाकाणाम् = चक्रवाकनामकपक्षिविशेषाणाम्, हृदयस्य = मनसः आश्वासाय = सन्तोषणाय, तारागणग्रासाय—तारागणस्य = नक्षत्रसमूहस्य ग्रासाय = तिरोधानाय स्फुरदिन्दुमण्डलपरीहासाय—स्फुरत् = प्रकाशमानं यदिन्दुमण्डलम् = चन्द्रमण्डलम्, तस्य परीहासाय = तिरस्काराय, म्लपनायेत्यर्थः, दिक्कान्ताकुचकुम्भकुङ्कुमरसन्यासाय—दिश एव कान्ताः = रमण्यस्तासां कुचकुम्भेषु = स्तनकलशेषु, कुङ्कुमरसस्य = काश्मीरजद्रवस्य न्यासाय = निक्षेपणाय, स्वस्वर्णाभकरैः दिक्कान्ताकुचकुम्भरञ्जनायेति भावः, पङ्केरुहोल्लासाय—पङ्केरुहाणाम् = कमलानाम् उल्लासाय = विकासाय, स्फुटवैरिकैरववनत्रासाय—स्फुटम् = विकसत् यद्वैरिकैरववनम् = शत्रुकुमुदवनम्, तस्य त्रासाय = सङ्कोचाय, अस्तङ्गते सूर्ये कुमुदाना

(ऐसा कह कर दोनों निकल जाते हैं)

(प्रवेशक समाप्त)

(तदनन्तर राम और लक्ष्मण से अनुगत विश्वामित्र प्रवेश करते हैं)

विश्वामित्र—(अँगुली से दिखाते हुए) वत्स रामभद्र !

प्रभाकर (सूर्य) चक्रवाक पक्षियों के हृदय को आश्वस्त करने के लिए, तारागण को तिरोहित करने के लिए, चमकते हुए चन्द्रमण्डल का उपहास करने

रामः—(अञ्जलिं बद्ध्वा)

लालयन्तमरविन्दवनानि,
क्षालयन्तमभितो भुवनानि।
पालयन्तमथ कोककुलानि,
ज्योतिषां पतिमहं महयामि ॥ ३ ॥

विश्वामित्रः—(स्वगतम्) अपि नाम मयोपनीयमानं वत्सरामभद्रमचिरादेव जनकस्तनूजया सम्भावयिष्यति ?

विकासात्तच्छत्रुत्वमिति बोध्यम्, विद्योतते = उदयति, एतत् तर्कय = विचारय, पश्येत्यर्थः। रूपकालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २ ॥

अन्वयः—अहम् अरविन्दवनानि लालयन्तम्, भुवनानि अभितः क्षालयन्तम् अथ कोककुलानि पालयन्तम् ज्योतिषां पतिम् महयामि।

व्याख्या—अहम् = रामः, अरविन्दवनानि = कमलवृन्दानि, लालयन्तम् = विकासयन्तमित्यर्थः, भुवनानि = लोकान्, अभितः = समन्ततः, क्षालयन्तम् = तमसोऽपसारणेनोद्भासयन्तम्, अथ = तथा, कोककुलानि = चक्रवाकवृन्दानि, चक्रवाकमिथुनानीत्यर्थः, पालयन्तम् = वियोगानलाद्रक्षन्तम्, ज्योतिषां पतिम् = ग्रहाणामधिपतिम्, सूर्यमित्यर्थः, महयामि = पूजयामि, नमस्करोमीत्यर्थः। स्वागता वृत्तम् ॥ ३ ॥

के लिए, दिशाओं रूपी सुन्दरियों के स्तनकलशों पर कुङ्कुमरस का लेप करने के लिए, कमलों को विकसित करने के लिए तथा शत्रुरूप कुमुदों को सङ्कुचित करने के लिए प्रकाशित हो रहे हैं—यह देखो ॥ २ ॥

राम—(हाथ जोड़कर)

कमलवनों का लालन (अर्थात् विकास) करने वाले, लोकों को चारों ओर निर्मल (अर्थात् प्रकाशित) करने वाले तथा चक्रवाक समूह की रक्षा करने वाले ग्रहाधिपति (सूर्य) को पूजता हूँ (अर्थात् प्रणाम करता हूँ) ॥ ३ ॥

विश्वामित्र—(मन ही मन) क्या मुझसे लाये गये वत्स रामचन्द्र को शीघ्र ही जनक, पुत्री (सीता) से सम्मानित करेंगे ?

लक्ष्मण —आर्य ! पश्य—

यावन्नीरनिधेः प्रभातसमयः प्रोद्धृत्य लोकत्रयी-
माणिक्यं रविबिम्बमम्बरवणिग्वीथीपथे न्यस्यति ।
तावत्कर्तुमिवास्य मूल्यमुचितं पद्माकरेण स्वयं
लक्ष्मीर्लब्धविकासपङ्कजकरन्यस्ता पुरः स्थाप्यते ॥ ४ ॥

अन्वय —यावत् प्रभातसमयः नीरनिधेः प्रोद्धृत्य लोकत्रयीमाणिक्यम् रविबिम्बम् अम्बरवणिग्वीथीपथे न्यस्यति तावत् अस्य उचितम् मूल्यम् कर्तुमिव पद्माकरेण स्वयम् लब्धविकासपङ्कजकरन्यस्ता लक्ष्मीः पुरः स्थाप्यते ।

व्याख्या—यावत्–यस्मिन्नेव काले, प्रभातसमयः = प्रातःकालः, प्रातःकाल-रूपो विक्रेतेत्यर्थः नीरनिधेः = समुद्रात् प्रोद्धृत्य = बहिरानीय, लोकत्रयी-माणिक्यम्–लोकत्रय्याः = त्रिलोक्याः, माणिक्यम् = रक्तवर्णं रत्नविशेषम्, रवि-बिम्बम् = सूर्यमण्डलम् अम्बरवणिग्वीथीपथे अम्बरम् = आकाशमेव वणिग्-वीथी = आपणम्, तस्य पन्थाः = मार्गस्तस्मिन्, न्यस्यति = विक्रेतुं स्थापयति, तावत् = तस्मिन्नेव काले, अस्य = रविमाणिक्यस्य, उचितम् = योग्यम्, मूल्य-कर्तुमिव = उचितं क्रयमूल्यं दातुमिवेत्यर्थः, पद्माकरेण = तडागेन, (पद्मपरि-माणधनवता क्रेत्रा) स्वयम् = आत्मनैव (प्रभातसमयरूपविक्रेतारं मूल्यमपृष्ट्-वैवेति भावः) लब्धविकासपङ्कजकरन्यस्ता–लब्धः प्राप्तः विकासः = फुल्लता येन तादृशं यत्पङ्कजम् = कमलम्, तदेव करः = हस्तः, तत्र न्यस्ता = स्थापिता, लक्ष्मीः = शोभा मूल्यभूतं धनमपि, स्थाप्यते = न्यस्यते । प्रभातसमयेन समुद्राद् बहिरानीय आकाशापणभूमौ स्थापितस्य रविमण्डलमाणिक्यस्य, तडागः कर-कमलन्यस्तश्रिया (शोभया) योग्यं मूल्यं करोतीति सरलार्थः । अत्र रूपको-त्प्रेक्षयोः सङ्करः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४ ॥

लक्ष्मण —आर्य ! देखें—

प्रभातकाल समुद्र से बाहर निकालकर त्रैलोक्यमाणिक्य सूर्यमण्डल को ज्यों ही आकाशरूप बाजार में रखता है, त्यों ही स्वयं पद्माकर (तडागरूप धनवान्) के द्वारा विकसितकमलकर में रखी गयी लक्ष्मी (शोभा-सम्पत्ति) मानों इस (सूर्यमण्डल) का उचित मूल्य करने लिए सामने स्थापित कर दी जाती है ॥ ४ ॥

विश्वामित्रः—(सहर्षमात्मगतम्) अये ! वत्सलक्ष्मणेनैव दत्तमुत्तरम् । देवताधिष्ठितानि हि मुग्धवचनानि भवन्ति ।

रामः—(मुनिं प्रति) भगवन् ! बहुनरकरितुरंगमतरङ्गितापि राजधानीयं कथं तपोवनभूमिरिव प्रशान्तपावनी विभाव्यते ?

विश्वामित्रः—क इह विस्मयः ? नन्विह जनकः प्रतिवसति, यस्यायं भगवान् याज्ञवल्क्यो गुरुः ।

रामः—सोऽयं भगवानस्य गुरुर्यः किल योगीश्वर इति ख्यायते ?

विश्वामित्रः—वत्स ! स एवायम् ।

विश्वामित्र इति । वत्सलक्ष्मणेनैव दत्तमुत्तरम् = वत्सलक्ष्मणेन यावदिति श्लोकेन मत्प्रश्नस्योत्तरं दत्तं यथा—'विश्वामित्रेणायोध्यातो बहिरानीय जनकधनुर्यज्ञे स्थापितस्य श्रीरामचन्द्रस्य, जनकः सीतया सत्कारं करिष्यतीति । मुग्धवचनानि—मुग्धानाम् = बालानामित्यर्थः, वचनानि = उक्तयः । देवताधिष्ठितानि—देवताभिः= देवैः, अधिष्ठितानि = आदिष्टानीत्यर्थः । बालमुखेन देवाः स्वाभिप्रायं प्रकटयन्तीति बालवचनेऽवश्यमेव विश्वासः कर्तव्य इति भावः ।

राम इति । बहुनरकरितुरङ्गमतरङ्गिता—बहुभिः = अनेकैः, नरैः=मनुष्यैः, करिभिः = गजैः, तुरङ्गमैः = अश्वैश्च तरङ्गिता = उद्वेल्लिता सङ्कुलेत्यर्थः । प्रशान्तपावनी—प्रशान्ता = नीरवतासम्पन्ना, पावनी = पवित्रकारिणी च । विभाव्यते = स्पष्टं परिलक्ष्यते ।

विश्वामित्र—(प्रसन्नता के साथ, मन ही मन) अरे ! (मेरे प्रश्न का) उत्तर वत्स लक्ष्मण ने ही दे दिया । क्योंकि भोले-भाले बालकों के वचन देवताधिष्ठित (अर्थात् देवताओं से कहलाये गये) होते हैं (अतः अवश्य विश्वसनीय होते हैं) ।

राम—(मुनि के प्रति) बहुत-से मनुष्यों, गजों और घोड़ों से उद्वेल्लित (अर्थात् सङ्कुल) होती हुई भी यह राजधानी किस प्रकार से तपोवन भूमि के समान प्रशान्त और पावनी (पवित्र करने वाली) मालूम पड़ रही है ?

विश्वामित्र—इसमें कौन-सा आश्चर्य है ? अरे, यहाँ जनक निवास करते हैं जिनके गुरु ये भगवान् याज्ञवल्क्य जी हैं ।

राम—वही ये भगवान् (याज्ञवल्क्य जी) इनके गुरु हैं जो योगीश्वर कहे जाते हैं ?

विश्वामित्र—वत्स ! वही ये हैं ।

पादोपजीवनाद् भानो प्रबोधमुपलभ्य य ।
अभूद्योगीश्वरख्याते सद्म पद्ममिव श्रिय. ॥ ५ ॥

तदेहि, राजभवनमुपसर्पाम । (इति निष्क्रान्ता) ।

(नेपथ्ये)

पयोभि सिञ्चन्ता बहलविलसत्कुङ्कुमरसै
प्रसूनै कीर्यन्ता परिमलमिलल्लोलमधुपै ।
चतुष्कै पूर्यन्तामविरललसन्मौक्तिकगणै-
र्मुदा पौरस्त्रीभिर्नगरपथरथ्याङ्गणभुव ॥ ६ ॥

याज्ञवल्क्य वर्णयन्नाह—पादोपजीवनादिति ।

अन्वय —भानो पादोपजीवनात् प्रबोधम् उपलभ्य य श्रिय पद्ममिव योगीश्वरख्याते सद्म अभूत् ।

- व्याख्या—भानो = सूर्यस्य, पादोपजीवनात् = चरणाश्रयात्, पक्षान्तरे किरणसेवनात्, प्रबोधम् = ज्ञानम्, पक्षान्तरे विकासम्, उपलभ्य = प्राप्य, य = याज्ञवल्क्य, श्रिय = लक्ष्म्या, पद्ममिव = कमलमिव, योगीश्वरख्याते = योगीश्वर इति प्रसिद्धे, सद्म = गृहम्, आश्रय इत्यर्थं, अभूत् = सञ्जात ।

यथा सूर्यकिरणस्पर्शाद् विकास प्राप्य कमल लक्ष्म्या सदन भवति तथैव सूर्यचरणसेवनात् सम्यग्ज्ञान प्राप्य यो याज्ञवल्क्यो योगीश्वर इति प्रसिद्धेराश्रयोऽभवदिति भाव । अत्र श्लेषोपमयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ५ ॥

अन्वय —पौरस्त्रीभि मुदा नगरपथरथ्याङ्गणभुव बहलविलसत्कुङ्कुमरसै पयोभि सिच्यन्ताम्, परिमलमिलल्लोलमधुपै प्रसूनै कीर्यन्ताम्, अविरललसन्मौक्तिकगणै चतुष्कै पूर्यन्ताम् ।

व्याख्या—पौरस्त्रीभि = नगरस्त्रीभि , मुदा = हर्षेण, नगरपथरथ्याङ्गण-

जैसे कमल सूर्य के पाद (किरण) के आश्रय से प्रबोध (विकास) को प्राप्त कर लक्ष्मी का आश्रय होता है, वैसे ही सूर्य के पाद (चरण) के आश्रय से प्रबोध (ज्ञान) को प्राप्त कर जो याज्ञवल्क्य जो 'योगीश्वर' इस प्रसिद्धि के आश्रय हुए—योगीश्वर कहे जाते है ॥ ५ ॥

तो आओ, राजभवन को चलें । (ऐसा कह कर निकल गये)

(नेपथ्य में)

नगर की स्त्रियों के द्वारा हर्षपूर्वक नगर की सड़कें, गलियाँ और जनविहरण

विश्वामित्रः—नूनमस्मदभ्यागमनसानन्दस्य शतानन्दस्य वाक्यपरिस्पन्दः । (विलोक्य) अहो ! अस्य रभसातिशयो यदयं कृतमपि नगरपरिष्कारं पुनरप्यादिशति ।

(प्रविश्य)

शतानन्दः—भगवन् ! अभिवादये ।

भुवः—नगरस्य पन्थानः=मार्गाः, राजमार्गा इत्यर्थः रथ्याः=प्रतोल्यः, अङ्गणानि=जनानां विहरणस्थानानि तेषां भुवः = भूमयः, बहलविलसत्कुङ्कुमरसैः—बहलम् = अधिकं यथा स्यात्तथा, विलसन्तः = शोभमानाः, कुङ्कुमरसाः = काश्मीरजद्रवाः, येषु तैः, पयोभिः =जलैः, सिच्यन्ताम्=आर्द्रीक्रियन्ताम्, परिमलमिलल्लोलमधुपैः—परिमलेन = सुगन्धेन मिलन्तः = सङ्गताः, लोलाः = चञ्चलाः, मधुपाः = भ्रमरा येषु तादृशैः, प्रसूनैः = पुष्पैः, कीर्यन्ताम् = आच्छाद्यन्ताम्, अविरललसन्मौक्तिकगणैः—अविरलम् = अत्यधिकं यथा स्यात्तथा, लसन्तः=शोभमानाः, मौक्तिकगणाः=मुक्तापङ्क्तयो येषु तादृशैः, अविरलमुक्तापङ्क्तिविरचितैरित्यर्थः, चतुष्कैः = चतुरस्राकृतिमङ्गलचिह्नविशेषैः, पूर्यन्ताम्=पूर्णाः क्रियन्ताम् । अतिथेर्विश्वामित्रस्य सत्कारार्थं नगरं सज्जीक्रियतामिति भावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ६ ॥

विश्वामित्र इति । अस्मदभ्यागमनसानन्दस्य—अस्माकमभ्यागमनेन सानन्दस्य = आनन्दयुक्तस्य । शतानन्दस्य = शतानन्दनाम्नो जनकपुरोहितस्य । वाक्यपरिस्पन्दः—वाक्यानां=वचनानाम्, परिस्पन्दः=परिस्फुरणम् । रभसातिशयः—हर्षाधिक्यम्, ('रभसो वेग हर्षयोरित्यमरः')

स्थानों (पार्कों) की भूमियाँ अत्यन्त शोभमान कुङ्कुम के रस से मिश्रित जल से सींची जाँय, सुगन्ध से आकृष्ट चञ्चल भौंरों से युक्त पुष्पों से व्याप्त की जाँय, सघन मोतियों से विरचित चौकों से पूर्ण (अलङ्कृत) की जाँय ॥ ६ ॥

विश्वामित्र—निश्चय ही, हमारे आगमन से आनन्दित शतानन्द के वाक्य का (यह) सञ्चार है (अर्थात् शतानन्द का यह वचन सुनायी पड़ रहा है) (देख कर) इनके हर्ष का कैसा आधिक्य है ! जो नगर की सजावट (पहले ही) की जाने पर भी फिर से सजावट का आदेश दे रहे हैं ।

(प्रवेश कर)

शतानन्द—भगवन् ! मैं (शतानन्द) प्रणाम करता हूँ ।

विश्वामित्र —सौम्य ! आयुष्मान् भूयाः ।

शतानन्द —अयमसौ जनको राजा भगवन्तं प्रतीक्षते ।

विश्वामित्र —(विलोक्य) अये ! स एष जनकः,

अङ्गैरङ्गीकृता यत्र षड्भिः सप्तभिरष्टभिः ।
त्रयी च राज्यलक्ष्मीश्च योगविद्या च दीव्यति ॥ ७ ॥

(ततः प्रविशति जनकः)

जनक —(कृताञ्जलिर्भूत्वा)

यः काञ्चनमिवात्मानं निक्षिप्यात्मनो तपोमये ।
वर्णोत्कर्षं गतः सोऽयं विश्वामित्रो मुनीश्वरः ॥ ८ ॥

विश्वामित्रो जनकं वर्णयति—अङ्गैरिति ।

अन्वय —यत्र षड्भिः, सप्तभिः, अष्टभिः अङ्गैः अङ्गीकृता त्रयी च राज्यलक्ष्मीः च, योगविद्या च दीव्यति ।

व्याख्या—यत्र = यस्मिन्, जनके इत्यर्थः, षड्भिः, सप्तभिः, अष्टभिः, अङ्गैः = अवयवैः, अङ्गीकृता = युक्ता, (क्रमशः) त्रयी = वेदविद्या च, राज्यलक्ष्मीः = राज्यसम्पच्च, योगविद्या च, दीव्यति = शोभते । अस्मिन् जनके षडङ्गयुक्तो वेदः, सप्तोपकरणैरायत्तीकृता राज्यलक्ष्मी, अष्टभिः साधनभूतैरवयवैरभ्यस्ता योगविद्या च वर्तते इति भावः । अत्र यथासंख्यमलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—'यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्' । इति । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ७ ॥

जनको विश्वामित्रं वर्णयति—यः काञ्चनमिवेति ।

अन्वय —यः काञ्चनमिव आत्मानं तपोमये अग्नौ निक्षिप्य वर्णोत्कर्षं गतः, स अयम् मुनीश्वरः विश्वामित्रः (आगच्छति) ।

व्याख्या –यः = विश्वामित्रः, काञ्चनमिव = सुवर्णमिव, आत्मानम्,

---

विश्वामित्र—सौम्य ! (सज्जन !) आयुष्मान् होओ ।

शतानन्द—ये राजा जनक आप की प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

विश्वामित्र—(देखकर) अरे ! वे ये जनक हैं—

जिनमें वेद, राज्यलक्ष्मी और योगविद्या क्रम से अपने छः, सात और आठ अङ्गों से युक्त प्रकाशित हो रही हैं ॥ ७ ॥

(तदनन्तर जनक प्रवेश करते हैं)

जनक—(हाथ जोड़कर) जो सुवर्ण के समान अपने को तपस्या

(उपसृत्य) भगवन् ! अयं ते समीहितसम्पल्लतासमुद्गमारामः प्रणामः ।

विश्वामित्रः—राजर्षेवसुधासुनासीर सीरध्वज ! अप्रतिहतमनोरथो भूयाः ।

(इति यथोचितमुपविशन्ति)

जनकः—भगवन् ! अधुना सुनासीरसाधारणत्वमधःकरणं मे ।

तपोमये = तपश्चर्यारूपे, अग्नौ = पावके, निक्षिप्य = निधाय, वर्णोत्कर्षम् = जातिश्रेष्ठताम्, ब्राह्मणत्वमित्यर्थः, सुवर्णपक्षे दीप्त्युत्कर्षम्, गतः = प्राप्तः, सः = विख्याततपाः, अयम् मुनीश्वरः = मुनिश्रेष्ठः, विश्वामित्रः (आगच्छति)

उपसृत्येति । समीहितसम्पल्लतासमुद्गमारामः—समीहिताः = अभीप्सिताः, सम्पदः = श्रिय एव लताः, तासां समुद्गमः = समुत्पत्तिस्तस्य आरामः = उद्यानम्, सकलाभीष्टसाधक इति भावः ।

विश्वामित्र इति । वसुधासुनासीर-वसुधायाम् = पृथिव्याम्, सुनासीरः = इन्द्रः, तत्सम्बुद्धौ । सीरध्वज = जनक ! अप्रतिहतमनोरथः—अप्रतिहतः = सफल इत्यर्थः, मनोरथः = अभीष्टो यस्य सः,

जनक इति । सुनासीरसाधारणत्वम्—सुनासीरेण = इन्द्रेण, साधारणत्वम् = सादृश्यम् । अधःकरणम्=लाघवम् । तदीयामपि=इन्द्रस्यापि । पदवीम्=प्रतिष्ठाम्, अतीत्य = अतिक्रम्य, वर्ते = स्थितोऽस्मि, सम्प्रतीन्द्रादपि महत्तरोऽस्मीति भावः ।

अग्नि में डाल कर वर्णोत्कर्ष (१—जातिश्रेष्ठता—ब्राह्मणत्व, २—दीप्त्युत्कर्ष) को प्राप्त हुये हैं, वे ये मुनीश्वर विश्वामित्र हैं ॥ ८ ॥

(समीप आकर) भगवन् ! अभीष्ट सम्पत्ति-लता की उत्पत्ति के लिए उपवनरूप (अर्थात् अभीष्टार्थफलप्रद) यह मेरा आप को प्रणाम है ।

विश्वामित्र—राजर्षे ! वसुधेन्द्र ! सीरध्वज ! तुम्हारे मनोरथ निर्विघ्न (सफल) हों ।

(इस प्रकार यथोचित रूप से बैठ जाते हैं)

जनक—भगवन् ! इस समय (तो) इन्द्र का सादृश्य मेरे लिए तिरस्कार है (अर्थात् इन्द्र के समान कहना मेरा अपमान है) ।

विश्वामित्र—कथमिव ?

जनक—सम्प्रति तदीयामपि पदवीमतीत्य वर्ते ।

गाधिनन्दन ! न नन्दनजन्मा,
ताद‍ृश स हरिचन्दनशाखी ।
याद‍ृशो मम भवत्पदपद्म-
द्वन्द्ववन्दनविधि सुखहेतु ॥ ६ ॥

विश्वामित्र—अहो ! ते प्रणयातिशयो य सहजप्रमोदसुखाम्भोधिनिमग्नोऽप्यस्मत्समागमजन्मन सुखशीकरान् बहु मन्यसे ।

अन्वय—गाधिनन्दन ! नन्दनजन्मा स हरिचन्दनशाखी ताद‍ृश सुखहेतु न, याद‍ृश मम भवत्पदपद्मद्वन्द्ववन्दनविधि (सुखहेतुरस्ति)

व्याख्या—गाधिनन्दन = विश्वामित्र ! नन्दनजन्मा = इन्द्रवनोत्पन्न , स = प्रसिद्ध , हरिचन्दनशाखी = हरिचन्दनसज्ञको देवतरु , ताद‍ृश = तथाविध , सुखहेतु = आनन्दप्रद , न = नास्ति, याद‍ृश = यथाविध , मम = जनकस्य, भवत्पद पद्मद्वन्द्ववन्दनविधि —भवत पदपद्मद्वन्द्वम = चरणकमलयुगलम, तस्य वन्दनविधि = प्रणामविधानम् (सुखहेतुरस्ति) । नन्दनवनजतो हरिचन्दनवृक्ष इन्द्रस्य ताद‍ृशो न सुखप्रदो याद‍ृशो भवच्चरणकमलप्रणामो मे सुखहेतुरत सम्प्रतीन्द्रो मत्तो लघुतर इति भाव । यमको नाम शब्दालङ्कार । स्वागता वृत्तम् ॥ ६ ॥

विश्वामित्र इति । प्रणयातिशय = प्रेमाधिक्यम् । सहजप्रमोदसुखाम्भोधि-

---

विश्वामित्र—(वह) कैसे ?

जनक—इस समय (तो) मैं उस (इन्द्र) की भी पदवी लाँघ कर स्थित हूँ (अर्थात् इन्द्र से भी बढ़कर हूँ) ।

गाधिसुवन ! (देवताओं के) नन्दन वन में उत्पन्न लोकप्रसिद्ध हरिचन्दनवृक्ष (भी) वैसा सुखकारक नहीं है जैसा कि मुझे आप के चरण कमल युगल की वन्दनविधि सुखकारक है (अर्थात् आप के चरण वन्दन से जो सुख मुझे मिल रहा है वह इन्द्र को हरिचन्दनवृक्ष से भी क्या मिलने वाला है ? अत इस समय मैं अपने को इन्द्र से भी बड़ा अनुभव कर रहा हूँ) ॥ ६ ॥

विश्वामित्र—अहो ! (यह) आप का प्रेमाधिक्य है, कि सहज परमा

जनकः - भगवन्! अस्मद्विधानां राज्यरागोपरक्तचेतश्चन्द्रमसां कुतस्त्योऽयं सहजानन्दचन्द्रिकोद्भेदः ?

विश्वामित्रः—मैवम्। भोः!

ज्याघातः कार्मुकस्य श्रयति करतलं, कण्ठमोङ्कारनाद-
स्तेजो भाति प्रतापाभिघमवनितले, ज्योतिरात्मीयमन्तः।
राज्यं सिंहासनश्रीः शममपि परमं वक्ति पद्मासनश्री-
र्येषां ते यूयमेते निमिकुलकुमुदानन्दचन्द्रा नरेन्द्राः ॥ १०॥

निमग्नः—सहजप्रमोदः = सहजानन्दः, ब्रह्मानन्द इति यावत्, स एव सुखाम्भोधिः= सुखसिन्धुः, तत्र निमग्नः। अस्मत्समागमजन्मनः—अस्माकम् समागमः = सङ्गमः, तस्माज्जन्म = समुत्पत्तिर्येषां तान्, सुखशीकरान् = सुखबिन्दून्। एतत्तु मयि प्रेमाधिक्यमेव यद्ब्रह्मानन्दसुखसिन्धुनिमग्नोऽपि भवान् मत्समागमसुखशीकरान् बहु मन्यत इति भावः।

जनक इति। राज्यरागोपरक्तचेतश्चन्द्रमसाम्–राज्ये यो रागः = अनुराग एव राहुकृतश्यामिका तेनोपरक्तम् = गृहीतं ग्रस्तमित्यर्थः, चेतः = चित्तमेव चन्द्रमा येषां तेषाम्। अस्मद्विधानाम् = अस्मत्सदृशानाम्। सहजानन्दचन्द्रिकोद्भेदः—सहजानन्द = ब्रह्मानन्द इत्यर्थः, स एव चन्द्रिका = कौमुदी, तस्या उद्भेदः = विकासः। राहुग्रस्ते चन्द्रमसि चन्द्रिकोद्भेद इव राज्यासक्तचित्तानामस्मत्सदृशानां हृदये कुतः सहजानन्दसमुत्पत्तिरिति भावः।

अन्वयः—येषाम् कार्मुकस्य ज्याघातः करतलम् श्रयति, ओङ्कारनादः कण्ठम् श्रयति, प्रतापाभिघम् तेजः अवनितले भाति, आत्मीयम् ज्योतिः अन्तः भाति, सिंहासनश्रीः राज्यं वक्ति, पद्मासनश्रीः परमम् शममपि वक्ति, ते एते यूयम् निमिकुलकुमुदानन्दचन्द्राः नरेन्द्राः (स्थ)।

व्याख्या - येषाम्, कार्मुकस्य = धनुषः, ज्याघातः = मौर्वीघर्षणजन्यकिणः,

---

न्दसिन्धु में निमग्न होते हुए भी, हमारे समागम से होने वाले सुखकणों को (भी) बहुत मान रहे हो।

जनक–भगवन्! राज्यविषयक अनुराग रूप राहुकृतश्यामिका से ग्रस्त चित्तचन्द्र वाले हम जैसे लोगों को सहज परमानन्द की समुत्पत्ति कहाँ से हो सकती है?

विश्वामित्र – अरे! ऐसा मत कहिये।

ये आप लोग वे निमिकुलकुमुदानन्दचन्द्र राजा है जिनके हाथ में (एक

शतानन्द:—सत्यमेतत् । एते हि—

वाराङ्गनाकरतरङ्गितचामरोर्मि-
श्वेतातपत्रशतपत्रिणि राजहंसाः ।
क्रीडन्ति राज्यसरसि स्वरसं च धीरा
योगीन्द्रचन्द्रसुगमे पथि सञ्चरन्ति ॥ ११ ॥

करतलम्, श्रयति = अवलम्बते, ओङ्कारनादः – ओङ्कारस्य = प्रणवस्य, नादः = ध्वनिः, कण्ठम् = गलप्रदेशम्, श्रयति = अवलम्बते । प्रतापाभिधम् = प्रतापनामकम्, तेजः, अवनितले = भूतले, भाति = विद्योतते, आत्मीयं ज्योतिः = परमात्मसम्बन्धि तेजः, अन्तः = हृदये, भाति, सिंहासनश्रीः —सिंहासनस्य = राज्ञोपवेशनार्थितासनविशेषस्य श्रीः = शोभा, राज्यम् = राजभवनम्, वक्ति = कथयति, पद्मासनश्रीः —पद्मासनस्य = योगिनामुपवेशनप्रकारविशेषस्य, श्रीः = शोभा, परमम्, शमम् = शान्तिम्, वक्ति = कथयति, ते = तादृशाः एते यूयम्, निमिकुलकुमुदानन्दचन्द्राः निमिकुलमेव कुमुदं तस्यानन्दाय = आह्लादाय, चन्द्राः, नरेन्द्राः = राजानः (स्थ) । यूयं धनुर्वेदे, योगशास्त्रे आध्यात्मविद्यायां च राज्यसञ्चालनकर्मणि चेन्द्रियवशीकरणे च प्रवीणाः सर्वथा प्रशस्याः स्थेति भावः । रूपकालङ्कारः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ १० ॥

शतानन्दो विश्वामित्रोक्तिं समर्थयन्नाह—वाराङ्गनेति ।

अन्वयः—धीराः राजहंसाः वाराङ्गनाकरतरङ्गितचामरोर्मिश्वेतातपत्रशतपत्रिणि राज्यसरसि स्वरसम् क्रीडन्ति, योगीन्द्रचन्द्रसुगमे पथि च सञ्चरन्ति ।

व्याख्या—धीराः = स्वस्थचित्ताः, राजहंसाः = निमिकुलकुमुदचन्द्राः एते

ओर तो) धनुष की प्रत्यञ्चा का आघातचिह्न (घट्ठा) होता है, तो (दूसरी ओर) कण्ठ में ओंकार-ध्वनि विलसित होता है। (एक ओर) भूतल पर प्रताप नामक तेज (और दूसरी ओर) अन्तःकरण में आत्मसम्बन्धी तेज प्रकाशित होता है। (एक ओर तो) सिंहासन की शोभा राज्य को, (दूसरी ओर) पद्मासन की शोभा परम शान्ति को भी बतलाती है ॥ १० ॥

शतानन्द—यह सच है। क्योंकि—

ये धैर्यशाली राजहंस (नृपरूप हंस) वाराङ्गनाओं के हाथों से डुलाये

लक्ष्मणः—(अपवार्य) आर्य ! राजानोऽप्यमी ब्रह्मविद्याचतुरा इति चित्रीयते मे चेतः ।

रामः—वत्स, किमिह चित्रम् ? ननु—

छत्त्रच्छाया तिरयति न यद्यन्न च स्प्रष्टुमीष्टे
दृप्यद्गन्धद्विपमदमषीपङ्कनामा कलङ्कः ।
लीलालोलः शमयति न यच्चामराणां समीरः
स्फीतं ज्योतिः किमपि तदमी भूभुजः शीलयन्ति ॥ १२ ॥

राजान एव हंसाः, वाराङ्गनेत्यादिः—वाराङ्गनानाम्, करैः = हस्तैः, तरङ्गितानि = चालितानि, चामराण्येव, ऊर्म्मयः = तरङ्गाः यस्मिंस्तत्तादृश च श्वेतातपत्रमेव = श्वेतच्छत्रमेव शतपत्रम् = कमलमस्यस्येति तस्मिन् राज्यसरसि= राज्यमेव सरः = तडागः, तस्मिन्, स्वरसम् = स्वच्छन्दं क्रीडन्ति = विहरन्ति, योगीन्द्रचन्द्रसुगमे-योगीन्द्र एव चन्द्रः, तेन सुगमे = सुखसञ्चरणीये, पथि च = मार्गे च, सञ्चरन्ति = विहरन्ति च । यथा हंसाः आकाशे भूतले च निर्बाधं सञ्चरन्ति, तथैव निमिकुलोद्भवा एते राजानः, राज्यमुपभुञ्जते योगपथे च सञ्चरन्तीति भाव. । रूपकालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ११ ॥

लक्ष्मण इति । अपवार्य = केवलं रामं श्रावयित्वेति भावः । ब्रह्मविद्याचतुरा. = निपुणाः । चित्रीयते = विस्मयाविष्टं भवतीत्यर्थः । राज्योपभोगस्य, योगशास्त्रोक्तसमाधेश्चैकत्रावस्थानासम्भवादिति भावः ।

अन्वयः—छत्रच्छाया यत् न तिरयति, दृप्यद्गन्धद्विपमदमषीपङ्कनामा कलङ्कः च यत् स्प्रष्टुम् न ईष्टे, लीलालोलः चामराणाम् समीरः यत् न शमयति, अमी भूभुजः स्फीतं तत् किमपि ज्योतिः शीलयन्ति ।

व्याख्या—छत्रच्छाया—छत्रस्य = आतपत्रस्य छाया, यत् = ज्योतिः, न

जाते चामररूप तरङ्गों एवं श्वेतछत्ररूप कमल वाले राजरूप सरोवर में यथेच्छ क्रीडा करते हैं और योगीन्द्ररूप चन्द्रों के चलने योग्य मार्ग पर भी विचरण करते हैं (अर्थात् जैसे हंस भूतल और आकाश में निर्बाध सञ्चरण करते हैं वैसे ही निमिकुलोत्पन्न ये राजा राज्योपभोग करने के साथ-साथ योगपथ परभी सञ्चरण करते हैं) ॥११॥

लक्ष्मण—(केवल राम को सुनाकर) ये राजा भी ब्रह्मविद्या में निपुण हैं, इससे मेरा मन आश्चर्यान्वित हो रहा है ।

राम—वत्स ! इसमें आश्चर्य क्या ? अरे !—

ये (निमिकुलोत्पन्न) राजालोग, उस समृद्ध विलक्षण ज्योति (परमात्मा)

विश्वामित्र—आङ्गिरसोचितमात्थ, राजहंसा इति सकलकुवलयोत्तंसा राजहंसा अमी।

जनक—भगवन्! इदमस्मत्प्राचीनेषु शोभते, न तु मयि कतिपयग्रामटिकास्वामिनि।

तिरयति = नाच्छादयति, दृप्यद्गन्धद्विपमदमपीपङ्कनाना—दृप्यन्तः = माद्यन्तो ये गन्धद्विपाः = मदस्राविणो गजास्तेषां मदः = दानवारि एव मषीपङ्कः = कज्जलीकर्दमो नाम यस्य तादृशो यः कलङ्कः = लाञ्छनम्, यत् = ज्योतिः, स्प्रष्टुम् = स्पर्शं कर्तुम्, न ईष्टे = न समर्थः, लीलालोलः = लील्या = विलासेन, लोलः = चपलः, चामराणाम् समीरः = वायुः, यत् = ज्योतिः, न शमयति=न निर्वापयति, अमी = एते, भूभुजः = निमिवंशोद्भवा राजानः, स्फीतम् = समृद्धम्, तत् = तादृशम्, किमपि = विलक्षणम्, ज्योतिः = प्रकाशम्, ब्रह्मस्वरूपमिति भावः, अनुशीलयन्ति=ध्यायन्ति। एते भूपालास्तादृशमान्तरं ज्योतिर्ध्यायन्ति यच्छत्रच्छायया नाच्छाद्यते, नापि राज्यलक्ष्मीमदेन स्प्रष्टुं शक्यते, नापि चपलचामरजन्यवायुना निर्वापयितुं शक्यत इति भावः। विशेषोक्तिरलङ्कारः। मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥१२॥

विश्वामित्र इति। आङ्गिरस = अङ्गिरागोत्रोत्पन्न! शतानन्द! उचितम्= समीचीनम्। आत्थ = कथयसि। सकलकुवलयोत्तंसाः—सकलानाम्=समस्तानाम्, कुवलयानाम् = कमलानाम्, उत्तंसाः = भूषणभूताः, पक्षान्तरे तु सकलस्य = समग्रस्य, कुवलयस्य—कौ = पृथिव्याम्, वलयस्य = मण्डलस्य, उत्तंसाः =भूषणभूताः। ('गोत्रा कु पृथिवी पृथ्वी' इत्यमरः)

जनक इति। कतिपयग्रामटिकास्वामिनि—कतिपयाः = अल्पसङ्ख्याः,

का चिन्तन करते हैं, जिसको राज छत्र की छाया आच्छादित नहीं करती है, जिसको मतवाले मदस्रावी गजों का स्याही के सदृश मदपङ्क नामक कलङ्क छू नहीं सकता, जिसको विलासपूर्वक चञ्चल चामरवायु बुझा नहीं सकता है ॥१२॥

विश्वामित्र—आङ्गिरस! (शतानन्द!) आप ने 'राजहंस' यह ठीक ही कहा। जैसे राजहंस सकल कमलों के भूषण होते हैं, वैसे ही ये राजहंस (नृपश्रेष्ठ) सकल भूमण्डल (कुवलय) के अलङ्कार हैं।

जनक—भगवन्! ऐसा कहना तो हमारे पूर्वजों के विषय में अच्छा लगता

विश्वामित्रः — मैवं भोः—

> अवनिमवनिपालाः सङ्घशः पालयन्ता-
> मवनिपतियशस्तु त्वां विना नापरस्य।
> जनक! कनकगौरीं यत्प्रसूता तनूजां
> जगति दुहितृमन्तं भूर्भवन्तं वितेने॥ १३॥

ग्रामटिकाः = तुच्छग्रामाः, तासां स्वामिनि।

विश्वामित्रो जनकं प्रशंसति—अवनिमिति।

अन्वयः—सङ्घशः अवनिपालाः अवनिम् पालयन्ताम्; तु अवनिपतियशः त्वाम् विना अपरस्य न, जनक! यत् कनकगौरीम् तनूजां प्रसूता भूः जगति भवन्तम् दुहितृमन्तम् वितेने।

व्याख्या—सङ्घशः = बहुशः, अवनिपालाः = भूपालाः, अवनिम्=पृथिवीम्, पालयन्ताम् = रक्षन्तु, तु = किन्तु, अवनिपतियशः = भूपतिकीर्तिः, त्वां विना = भवन्तं विहाय, अपरस्य = अन्यस्य भूपालस्य, न = नास्ति। अन्ये राजानः भुवः पालका एव, न तु तस्याः पतिः, एकस्त्वमेव तस्याः पालकः पतिश्चेति भावः। तत्र कारणमाह—जनकेति। जनक! यत् = यस्मात् कारणात्, कनकगौरीम् = सुवर्णवत् गौरवर्णाम्, तनूजाम् = कन्याम्, सीतामित्यर्थः, प्रसूता = जनितवती (कर्त्तरि क्तः) भू पृथिवी, जगति = लोके, भवन्तम् = श्रीमन्तं त्वामेव, दुहितृमन्तम् = प्रशस्तकन्याशालिनम्, वितेने = चकार। भूजातया प्रशस्तगुणयुक्तया दुहित्रा सीतया दुहितृमतो भवतो भूपतित्वं कृतार्थम्, नह्यन्येषां राज्ञामिति भावः। मालिनीवृत्तम्। काव्यलिङ्गमलङ्कारः॥ १३॥

हैं, न कि मेरे—जैसे कतिपय छोटे-छोटे गाँवों के अधिपति के विषय में।

विश्वामित्र—अरे! ऐसा न कहिए—

(अन्य) बहुत से भूपाल भले ही (भूपाल शब्द के अर्थानुसार) पृथिवी का पालन करते रहें परन्तु भूपति होने का यश (भूपति शब्द के अर्थानुसार) तुम्हें छोड़ कर दूसरे को नहीं है, क्योंकि सोने के समान गौरवर्ण वाली कन्या (सीता) को उत्पन्न करने वाली पृथिवी ने संसार में आप को (ही) (सीता-जैसी) पुत्री का पिता बनाया॥ १३॥

जनक—भगवन् ! नूतनभुवननिर्माणनिपुणस्य भगवतः कियतीयमभिनववचनचातुरी नाम ? स खलु भवान् यस्य—

शलाकीकृत्य स्वां दृशमसमकोपारुणरुचिं
सुरश्रेणीचित्रं गगनतलभित्तौ रचयतः ।
सुधांशोर्भानोश्च प्रथमरचितं बिम्बयुगलं
सुधालाक्षासान्द्रद्रवभरितपात्रद्वयमभूत् ॥ १४ ॥

जनक इति । नूतनभुवननिर्माणनिपुणस्य—नूतनम् = नवीनम् यत् भुवनम् = लोकः तस्य निर्माणे = विरचने निपुणस्य = चतुरस्य । अभिनववचनचातुरी—अभिनवा = विचित्रेत्यर्थः वचनचातुरी = वाक्कौशलम् ।

अन्वय—असमकोपारुणरुचिम् स्वां दृशम् शलाकीकृत्य गगनतलभित्तौ सुरश्रेणीचित्रम् रचयतः प्रथमरचितम् सुधांशोः भानोश्च बिम्बयुगलम् सुधालाक्षासान्द्रद्रवभरितम् पात्रद्वयम् अभूत् ।

व्याख्या—असमकोपारुणरुचिम्—असमेन = अतुलेन महतेत्यर्थः कोपेन = क्रोधेन अरुणा = रक्ता रुचिः = कान्तिर्यस्यास्तादृशीम् स्वाम् = स्वकीयाम्, दृशम् = दृष्टिम् शलाकीकृत्य—चित्रलेखनोचिता कूर्चिका विधाय, गगनतलभित्तौ गगनतलम् = आकाशतलमेव भित्तिः = कुड्यम् आधार इत्यर्थः, तस्याम् सुरश्रेणीचित्रम्—सुरश्रेण्याः = देवपङ्क्तेः, चित्रम् = आलेख्यम् रचयतः = कुर्वतस्तव प्रथमरचितम् = ब्रह्मणा प्राक् कृतम् सुधांशोः = चन्द्रस्य, भानोः च = सूर्यस्य च, बिम्बयुगलम् = मण्डलद्वयम् सुधालाक्षासान्द्रद्रवभरितम् सुधा = अमृतम्, स्वच्छलेपनद्रव्यमित्यर्थः लाक्षा = रञ्जनद्रव्यम् तयोः सान्द्रः = प्रगाढो यो द्रवः = रसः तेन भरितम् = पूर्णम्, पात्रद्वयम्, अभूत् = सञ्जातम् । अभिनवस्वर्लोकविरचने प्रवर्तमानस्य विश्वामित्रस्य तद्दृष्टिः कूर्चिका, सुरा आलेख्य

जनक—भगवन् ! आप जैसे नवीन लोकों के निर्माण में कुशल के लिए अभिनववचनों को (बनाकर बोलने की) चतुराई कितनी है ? (अर्थात् कुछ कठिन नहीं)। आप तो वह हैं—

महान् क्रोध से रक्तवर्ण अपनी दृष्टि को तूलिका बना कर आकाशरूपी फलक पर देवपङ्क्ति की चित्ररचना करते हुए जिस (आप) के लिए, (ब्रह्म के

शतानन्दः—राजर्षे ! सत्यमात्थ । किमुच्यतेऽसौ भगवान् ।

त्रिशङ्कोः स्वर्लोकादवनितलपातं रचयितुं
सुनासीरे कोपाद्विकसितपदाब्जे विकसितः ।
यदीयोऽसौ नव्यत्रिदशनगरारम्भरभसः
सुरस्तोमे भक्त्या मुकुलितकराब्जे मुकुलितः ॥ १५ ॥

पदार्थाः आकाशतलम् आधारः, चन्द्रमण्डलम् स्वच्छद्रव्यपात्रम्, सूर्यमण्डलं च रक्तद्रव्यपात्रमभूदिति भावः । रूपकालङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—त्रिशङ्कोः स्वर्लोकात् अवनितलपातम् रचयितुम्, कोपात् विकसितपदाब्जे सुनासीरे (सति) विकसितः यदीयः असौ नव्यत्रिदशनगरारम्भरभसः, भक्त्या मुकुलितकराब्जे सुरस्तोमे, मुकुलितः ।

व्याख्या—त्रिशङ्कोः = त्रिशङ्कुनाम्नो राज्ञः, स्वर्लोकात् = स्वर्गात्, अवनितलपातम्–अवनितले = भूतले, पातम् = पतनम्, रचयितुम् = कर्त्तुम्, कोपात् = सदेहस्वर्गगमनजन्यक्रोधात्, विकसितपदाब्जे = विकसितम् = प्रफुल्लम्, चलितमित्यर्थः, पदाब्जम् = चरणकमलं यस्य तस्मिन्, पादप्रहारोद्यते सतीति भावः, सुनासीरे = इन्द्रे (सति) विकसितः = प्रफुल्लः, प्रवृद्ध इत्यर्थः, यदीयः = यत्सम्बन्धी, असौ = प्रसिद्धः, नव्यत्रिदशनगरारम्भरभसः–नव्यम् = नूतनम्, पुरातनस्वर्गादुत्कृष्टतरम्, त्रिदशनगरम् = देवपुरम्, स्वर्लोक इत्यर्थः, तस्य आरम्भे = रचनोपक्रमे रभसः = वेगः, उत्साहः इत्यर्थः ('रभसोवेगहर्षयो' रित्यमरः) भक्त्या = श्रद्धया, मुकुलितकराब्जे–मुकुलितानि = निमीलितानि कराब्जानि = करकमलानि यस्य तस्मिन्, प्राञ्जलौ सतीति भावः, सुरस्तोमे =

द्वारा) पूर्वनिर्मित चन्द्र और सूर्य के दो मण्डल, चूना और लाक्षा (लाख) के गाढ़े घोल से भरे हुए दो प्रकार के पात्र-से हो गये ॥ १४ ॥

शतानन्द—राजर्षे ! सच कह रहे हो । इन भगवान् को क्या कहा जाय ? (अर्थात् इनके विषय में जो भी कहा जाय, वह कम ही है) ।

त्रिशङ्कु को स्वर्ग से भूतल पर गिराने के लिए क्रोध से इन्द्र के चरण उठाने पर, बढ़ा हुआ जिन (विश्वामित्र जी) का नूतनस्वर्ग रचने के लिए

लक्ष्मण —(अपवार्य) आर्य ! कथमेवंविधं भगवतः प्रतापितभुवनत्रयं तपोऽभिधानं तेजः ?

राम —अपि न विदितं ते राजर्षेरिदम् ?

रोषाभिभूतपुरुहूतपदाभिभूतं
दृष्ट्वा त्रिशङ्कुमथ कोपविपाटलश्रीः ।
आकुड्मलीकृतकराम्बुजराजिरम्या,
सन्ध्येव दृष्टिरमरैर्यदुपासिताऽस्य ॥ १६ ॥

देववृन्दे, मुकुलितः = शान्तः, तथाकरणाद्विरतोऽभूदिति भावः । रूपकालङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १५ ॥

लक्ष्मण इति । अपवार्य = केवलं रामं प्रतीतिभावः । प्रतापितभुवनत्रयम्—प्रतापितम् = सन्तापितम्, भुवनत्रयम् = लोकत्रयं येन तत् ।

रामो विश्वामित्रस्य महिमानं प्रतिपादयति—रोषाभिभूतेति ।

अन्वय —त्रिशङ्कुम् रोषाभिभूतपुरुहूतपदाभिभूतम् दृष्ट्वा अथ कोपविपाटलश्रीः आकुड्मलीकृतकराम्बुजरम्या अस्य दृष्टिः सन्ध्येव यत् अमरैः उपासिता ।

व्याख्या—त्रिशङ्कुम्=त्रिशङ्कुनामानं राजानम्, रोषाभिभूतपुरुहूतपदाभिभूतम्—रोषेण = क्रोधेन, अभिभूतः = आक्रान्तः, क्रुद्ध इत्यर्थः, यः पुरुहूतः = इन्द्रः, तस्य पदेन = चरणेन, अभिभूतम् = तिरस्कृतम्, ताडितमित्यर्थः, दृष्ट्वा= विलोक्य, अथ = अनन्तरम्, कोपविपाटलश्री —कोपेन = क्रोधेन, विपाटला = अरुणा, श्रीः =कान्तिः यस्याः सा, आकुड्मलीकृतकराम्बुजराजिरम्या—आकुड्मली-

प्रसिद्ध उत्साह, देवों के द्वारा भक्तिपूर्वक करकमल जोड़ने (अर्थात् प्रार्थना करने) पर (ही) सङ्कुचित (अर्थात् मन्द) हुआ ॥ १५ ॥

लक्ष्मण—(केवल राम को सुनाकर) आर्य ! भगवान् (विश्वामित्र) का तीनों लोकों को प्रतप्त करने वाला तप नामक इस प्रकार का कैसा तेज है ?

राम—क्या (भूतपूर्व) राजर्षि (विश्वामित्र) की यह (बात) तुम्हें ज्ञात नहीं है ?

त्रिशङ्कु को, क्रोधाभिभूत इन्द्र के चरण से तिरस्कृत (अर्थात् ताड़ित)

विश्वामित्रः—राजर्षे ! अपि तावद्रत्नगर्भागर्भसम्भवं कन्यारत्नमलङ्कुरुते त्वाम् ?

जनकः—भगवन् ! भवत्प्रसादादधुना जामातृरत्नमलङ्करिष्यते। (राममवलोक्य) (सकौतुकम्) भगवन्।

सकलजनविलोकनोत्सवानामयमयनं कतरः पुरः कुमारः।
हरितमणिमयूखहारिणो यः कलयति कल्पतरोः प्ररोहलीलाम् ॥१७॥

कृतानि = ईषन्मुकुलितानि प्रणामार्थं बद्धानीत्यर्थः, कराः=हस्ता एव अम्बुजानि = कमलानि, पक्षान्तरे तु आकुड्मलीकृतानि=ईषत्सङ्कोचितानि करा इव अम्बुजानि, तेषां राशिभिः = श्रेणिभिः, रम्या = शोभना, अस्य = विश्वामित्रस्य, दृष्टिः = नेत्रम्, सन्ध्येव = साऽन्ध्यवेलेव, सन्ध्याऽपि कमलानि कुड्मलयति, प्राञ्जलिभिर्जनैरुपास्यते च, यत् अमरैः = देवैः, उपासिता = वन्दिता। उपमालङ्कारः, वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १६ ॥

विश्वामित्र इति। रत्नगर्भागर्भसम्भवम् —रत्नगर्भा=पृथिवी, ('भूतधात्री रत्नगर्भा जगती इत्यमरः) तस्याः गर्भः = कुक्षिः, अन्तःप्रदेश इत्यर्थः, तस्मात् सम्भवः = उत्पत्तिर्यस्य तत्।

जनको रामं दृष्ट्वा विश्वामित्रं पृच्छति—**सकलजनेति**।

अन्वयः—सकलजनविलोकनोत्सवानाम् अयनम् अयम् पुरः कुमारः कतरः ? यः हरितमणिमयूखहारिणः कल्पतरोः प्ररोहलीलाम् कलयति।

व्याख्या—सकलजनविलोकनोत्सवानाम्—सकलाः = समग्राः, जनाः =

देख कर, तदनन्तर क्रोध से लाल वर्ण वाली (देवताओं के) मुकुलित (अर्थात् जोड़े गये) करकमलों की पङ्क्तियों से सुशोभित इन (विश्वामित्र) की दृष्टि, लाल वर्ण वाली, हाथों के समान मुकुलित कमलों की पङ्क्तियों से मनोहर सन्ध्या के समान जो देवताओं के द्वारा वन्दित हुई ॥ १६ ॥

विश्वामित्र—राजर्षे ! (जनक !) क्या रत्नगर्भा (पृथिवी) के गर्भ से उत्पन्न रत्नरूप कन्या (सीता) तुम्हें अलङ्कृत करती है ?

जनक—भगवन् ! आप की कृपा से अब रत्न-सा (अर्थात् श्रेष्ठ) दामाद (भी) अलङ्कृत करेगा। (राम को देखकर)(कौतूहल के साथ) भगवन् !

सकलजनों के नेत्रों के हर्ष का आश्रयभूत यह सामने (स्थित) कुमार

शतानन्द—भगवन् ! अयं च कतरो य स्तवस्यैव ।

नीलनीरजदलोज्ज्वलकान्ते-
रन्तिके स्फुरति काञ्चनगौरः ।
लोचनस्य सुदृशः श्रवणाग्रे
सन्निविष्ट इव चम्पक-गुच्छः ॥ १८ ॥

मनुष्याः, तेषां त्रिलोचनानि = नेत्राणि, तेषाम् उत्सवाः = हर्षाः, तेषाम् अयनम् = आश्रयभूतः, अयम् = एषः, पुरः = अग्रे स्थितः, कुमारः = बालकः, कतरः = कः, किंवा किंजनकस्येत्यर्थः, यः हरितमणिमयूखहारिणः—हरितमणिः = मरकतमणिः, तस्य मयूखः इव = किरणः इव हारिणः = मनोहरस्य, कल्पतरोः = कल्पवृक्षस्य, प्ररोहलीलाम् = अङ्कुरसादृश्यम्, कलयति = भजते। रामस्य श्यामलतया, मृदुतया सकलजनमनोरथपूरकतया च कल्पतरुप्ररोहसादृश्यमुक्तमिति बोध्यम्। अत्रोपमालङ्कारः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ १७ ॥

शतानन्दो लक्ष्मणं दृष्ट्वा विश्वामित्रं पृच्छति—नीलनीरजेति।

अन्वयः—नीलनीरजदलोज्ज्वलकान्तेः अन्तिके काञ्चनगौरः (यः) सुदृशः लोचनस्य श्रवणाग्रे सन्निविष्टः चम्पकगुच्छः इव स्फुरति (अयं कतरः) ?

व्याख्या—नीलनीरजदलोज्ज्वलकान्तेः—नीलम् = नीलवर्णं यत् नीरजदलम् = कमलपत्रं तद्वत् उज्ज्वला = रम्या, कान्तिर्यस्य तस्य रामस्येत्यर्थः, अन्तिके = पार्श्वे, काञ्चनगौरः = सुवर्णवत् पीतवर्णः, (यः) सुदृशः = सुलोचनायाः, लोचनस्य = नीलवर्णविशिष्टस्य नेत्रस्य (पार्श्वे) श्रवणाग्रे = कर्णाग्रभागे, सन्निविष्टः = धृतः, चम्पकगुच्छः इव = चम्पकपुष्पस्तवकः इव, स्फुरति = विद्योतते शोभते इत्यर्थः (अयम्, कतरः = किंस्विदयम्) ? । उपमालङ्कारः। स्वागता वृत्तम् ॥ १८ ॥

कौन है ? जो मरकतमणि की किरण के समान मनोहर कल्पवृक्ष के अङ्कुर की शोभा को धारण कर रहा है ॥ १७ ॥

शतानन्द—और यह (कुमार) कौन है ? जो नीलकमल पत्र के समान रम्य कान्ति वाले इसी (कुमार) के समीप सुवर्ण के समान गौर, सुन्दरी के (नीलवर्ण) नेत्र के (समीप) कान के अग्रभाग में धारण किये गये चम्पा के गुच्छे समान शोभित हो रहा है ॥ १८ ॥

विश्वामित्रः—नाम्ना तावद्रामलक्ष्मणावेतौ ।

जनकः—अहो ! कर्णामृतम् ।

शतानन्दः—(निर्वर्ण्य) भगवन् !

एतयोरहमुदाररूपयो-
रुल्लसत्सहजसौहृदश्रियोः ।
कामपि स्वजनतां विभावये
कौस्तुभामृतमयूखयोरिव ॥ १९ ॥

अन्वयः—अहम् उदाररूपयोः उल्लसत्सहजसौहृदश्रियोः एतयोः कौस्तुभामृतमयूखयोरिव कामपि स्वजनताम् विभावये ।

व्याख्या—अहम् = शतानन्दः, उदाररूपयोः—उदारम् = महत्, रूपम् = सौन्दर्यं ययोस्तयोः, परमसुन्दरयोरित्यर्थः (उदारो दातृमहतो' रित्यमरः) उल्लसत्सहजसौहृदश्रियोः—उल्लसन्ती = भासमाना, सहजसौहृदस्य = स्वाभाविकस्नेहस्य श्रीः = शोभा तयोस्तयोः, एतयोः = त्वया सहागतयोः कुमारयोः, कौस्तुभामृतमयूखयोरिव = कौस्तुभम् = मणिविशेषो विष्णुना ध्रियमाणः प्रसिद्धः, अमृतमयूखः = चन्द्रश्च, तयोरिव, कामपि = अनिर्वचनीयाम्, स्वजनताम् = सम्बन्धभावम्, विभावये = तर्कयामि । यथा कौस्तुभचन्द्रौ समुद्रप्रभवौ तथैवैतावपि समानकुलजन्मानाविति भावः । उपमालङ्कारः । रथोद्धता वृत्तम् ॥१९॥

विश्वामित्र—इन दोनों का नाम राम और लक्ष्मण है ।

जनक—अहो ! (इनका नाम) कानों के लिए अमृत-सदृश है (अर्थात् ये नाम सुनने में बड़े अच्छे लग रहे हैं) ।

शतानन्द—(भलीभाँति देखकर) भगवन् !

परम सुन्दर प्रकाशमान स्वाभाविक सौहार्द की शोभा से युक्त इन दोनों कुमारों का, कौस्तुभमणि और चन्द्र के समान अनिर्वचनीय सम्बन्ध-भाव है, ऐसा विचार करता हूँ । (अर्थात् मेरा अनुमान है कि कौस्तुभमणि और चन्द्र के समान ही इन दोनों कुमारों का भी जन्म किसी एक कुल में ही हुआ है) ॥ १९ ॥

जनक —एतयोः प्रकृतिरम्यरूपयो-
रुल्लसत्सहजसौहृदश्रियोः ।
आन्तरः स्फुरति कोऽपि सन्निधिः,
प्रत्यगात्मपरमात्मनोरिव ॥ २० ॥

विश्वामित्र —अयि योगीश्वरशिष्य ! ईदृशेषु गभीरेष्वभिनवोदन्त-पीयूषवेशन्तेषु भवत एव मनो निमज्जति । स्वजनभावे पुनरनयोर्वय-मपि साक्षिणः ।

अन्वय —प्रकृतिरम्यरूपयोः उल्लसत्सहजसौहृदश्रियोः एतयोः प्रत्यगात्म-परमात्मनोरिव कोऽपि आन्तरः सन्निधिः स्फुरति ।

व्याख्या—प्रकृतिरम्यरूपयोः—प्रकृत्या=स्वभावेन, रम्यम् = सुन्दरम्, रूपं ययोस्तयोः, उल्लसत्सहजसौहृदश्रियोः—उल्लसन्ती = भासमाना, सहजसौहृदस्य = स्वाभाविकस्नेहस्य, श्रीः = शोभा ययोस्तयोः, एतयोः = रामलक्ष्मणयोः, प्रत्य-गात्मपरमात्मनोरिव–प्रत्यगात्मा–जीवः, परमात्मा = ब्रह्म च तयोरिव, कोऽपि= अनिर्वचनीयः, आन्तरः = आभ्यन्तरिकः, सन्निधिः = सामीप्यम्, एकरूप्यमिति भावः, स्फुरति = विद्योतते । एतयोर्नैव केवलं बाह्यसादृश्यम्, अपि तु जीव-ब्रह्मणोरिव मूलरूपेणैकरूप्यमपीति भावः । उपमालङ्कारः । रथोद्धता वृत्तम् ॥२०॥

विश्वामित्र इति । योगीश्वरशिष्य = योगीश्वरः = याज्ञवल्क्यः, तस्य शिष्य ! अभिनवोदन्तपीयूषवेशन्तेषु–अभिनवः = असाधारण इत्यर्थः, उदन्तः = वार्ता, स एव पीयूषम् = अमृतम्, तस्य वेशन्तेषु = सरःसु भवत एव मनः निमज्जति = निमग्नं भवति, रमत इत्यर्थः । भवानेव गहनतत्त्वसम्पृक्ता वार्ता कर्तुं समर्थो याज्ञवल्क्यशिष्यत्वादिति भावः ।

जनक—स्वाभाविक मनोहररूप वाले, प्रकाशमान, स्वाभाविक सौहार्द की शोभा से सम्पन्न इन दोनों (राम और लक्ष्मण) का जीवात्मा और परमात्मा के सदृश अनिर्वचनीय आन्तरिक सामीप्य (अभेद सम्बन्ध) शोभित हो रहा है ॥२०॥

विश्वामित्र—हे योगीश्वर (याज्ञवल्क्य) के शिष्य ! (जनकराज !) ऐसे गम्भीर नूतन वृत्तान्तरूप तडागों में आप का ही मन निमग्न होता है। इन दोनों की बन्धुता में हम भी साक्षी हैं (अर्थात् ये दोनों बन्धु हैं, यह हमें भी विदित है) ।

जनकः—तत् किं भ्रातरावेतौ ?।

विश्वामित्रः—अथ किम् ?

जनकः—(सहर्षं निर्वर्ण्य)

तनुश्रिया निर्जितचम्पकोत्पलौ
सुवर्णनीलोत्पलकोशकोमलौ ।
अहो ! दृशामुत्सवदानदक्षिणौ
सुलक्षणौ लक्ष्मण-लक्ष्मणाग्रजौ ॥ २१ ॥

अन्वयः—अहो ! तनुश्रिया निर्जितचम्पकोत्पलौ सुवर्णनीलोत्पलकोशकोमलौ दृशाम् उत्सवदानदक्षिणौ सुलक्षणौ लक्ष्मणलक्ष्मणाग्रजौ (स्तः) ।

व्याख्या—अहो=आश्चर्यद्योतकमव्ययपदमिदम् । तनुश्रिया = शरीरकान्त्या निर्जितचम्पकोत्पलौ–निर्जिते = अधःकृते चम्पकोत्पले=चम्पकनीलकमले याभ्यां तौ, सुवर्णनीलोत्पलकोशकोमलौ–सुवर्णम् = काञ्चनम्, नीलोत्पलस्य=नीलकमलस्य कोशः = मध्यभागश्च, ताविव कोमलौ = रमणीयौ, दृशाम् = नेत्राणाम्, उत्सवदानदक्षिणौ–उत्सवदाने = आनन्दप्रदाने दक्षिणौ = कुशलौ, सुलक्षणौ = सामुद्रिकोक्तसौभाग्यादिसूचकचिह्नवन्तौ, लक्ष्मणलक्ष्मणाग्रजौ = लक्ष्मणरामौ (स्तः)। व्यतिरेकोपमाऽनुप्रासयथासंख्यालङ्काराणां सङ्करः । वंशस्थं वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' । इति ॥

जनक—तो क्या ये दोनों भाई-भाई हैं ?

विश्वामित्र—और क्या ?

जनक—(हर्ष के साथ, भलीभाँति देखकर)

अहो ! लक्ष्मण और उनके बड़े भाई (राम) शरीर की कान्ति से चम्पा और नीलकमल को जीतने वाले (अर्थात् चम्पा से भी अधिक गोर तथा नीलकमल से भी अधिक श्याम), सुवर्ण और नीलकमल के भीतरी भाग (कोश) के समान कोमल, नेत्रों को आनन्द प्रदान करने में कुशल और (सौभाग्यादि सूचक) शुभ लक्षणों से युक्त हैं ॥ २१ ॥

(पुना राम विलोक्य सकौतुकम्)

यथाऽहं निस्सीमोत्सवसुभगभोगे भवकथा-
पथातीते चेत प्रणयिनि रमे पुंसि परमे ।
तथैवाऽस्मिन् बाले दलदमल-नीलोत्पलदलो-
दरश्यामे रामे नयनपदवीमागतवति ॥ २२ ॥

विश्वामित्र —(स्वगतम्) उचितमेतत । न खलु सकललोकलोचनानन्दकर शीतकर शङ्करशिर-शयालो कनानिधेरपर तत्त्वम् । (प्रकाशम्) राजर्षे ! स एव सौन्दर्यातिशयस्य महिमा ।

अन्वय —अहं यथा निस्सीमोत्सवसुभगभोगे भवकथापथाऽतीते चेत प्रणयिनि परमे पुंसि रमे तथैव दलदमलनीलोत्पलदलोदरश्यामे नयनपदवीमागतवति अस्मिन् बाले रामे (रमे) ।

व्याख्या — अहम् = जनक , यथा = येन प्रकारेण, निस्सीमोत्सवसुभगभोगे = निस्सीम = इयत्तारहित , य उत्सव = आनन्द , तेन सुभग = मनोहर , भोग = आस्वाद , अनुभव इत्यर्थ , यस्य तस्मिन्, भवकथापथातीते = सासारिकवार्ता मार्गात् परे, चेत प्रणयिनि = चित्तानुरागास्पदे इति भाव , परमे पुंसि = पुरुषे, परमात्मनीति भाव , रमे = आनन्दमनुभवामि, तथैव = तेनैव प्रकारेण, दलदमलनीलोत्पलदलोदरश्यामे दलत् = विकसत्, अमलम् = मलामृष्टम् यत् नीलोत्पलम्, तस्य दलम् = पत्रम्, तस्य उदरम् = मध्यभाग , तद्वत् श्याम = नीलवर्ण , तस्मिन्, नयनपदवीमागतवति = लोचनमार्गं प्राप्तवति, दृष्टे इति भाव , अस्मिन् = समीपस्थे, बाले = कुमारे, रामे = रामचन्द्रे, रमे = आनन्दमनुभवामि । ब्रह्मवत् रामो मे परमानन्द ददातीति भाव । उपमालङ्कार । शिखरिणी वृत्तम ॥ २२ ॥

विश्वामित्र इति । सकललोकलोचनानन्दकर —सकला = समस्ता ये

(पुन राम को देखकर उत्सुकता के साथ)

मैं जिस प्रकार नि सीम आनन्द से मनोहर आस्वाद वाले सासारिक वार्ता मार्ग (अर्थात् भावना) से अतिदूर, चित्तानुरागास्पद परमपुरुष (ब्रह्म) में परमानन्द का अनुभव करता हूँ, उसी प्रकार विकसित होते हुए निर्मल नीलकमलपत्र के मध्यभाग की तरह श्याम, इस बालक राम को देखने पर (परमानन्द का अनुभव कर रहा हूँ) ॥ २२ ॥

विश्वामित्र—(मन ही मन) यह उचित है। सकलजनो के नेत्रों का

जनकः—कः पुनराभ्यां पुत्रवतां मौलिमाणिक्यमारोपितः ? ।

विश्वामित्रः—

किं शीतांशुमरीचयः ? किमु सुरस्रोतस्विनीवीचयः ?
किं वा केतकसूचयः ? किमथ वा चन्द्रोपलानां चयः ?
इत्थं जातकुतूहलाभिरभितः सानन्दमालोकिताः
कान्ताभिस्त्रिदिवौकसां दिशि दिशि क्रीडन्ति यत्कीर्त्तयः ॥२३॥

लोकाः = जनाः, तेषां लोचनानाम् = नेत्राणाम्, आनन्दकरः = आह्लादकः, शीतकरः = चन्द्रः। शङ्करशिरःशयालोः = शिवमस्तकवर्तिनः, कलानिधेः = चन्द्रात् अपरम् = भिन्नम्, तत्त्वम्=पदार्थः, नास्ति। यथा शिवशिरोवर्त्तिनश्चन्द्रात् आकाशमण्डलोदितश्चन्द्रो न भिन्नः, तथैव परमपुरुषपरमात्मनः श्रीरामचन्द्रो न भिन्न इति भावः।

जनक इति। आभ्याम् = कुमाराभ्याम्, कः पुत्रवताम्, मौलिमाणिक्यम् = शिरोरत्नम्, आरोपितः = स्थापितः। अनयोः पिता कः ? इति भावः।

विश्वामित्रो दशरथस्य कीर्त्तिं वर्णयति—**किं शीतांशुमरीचय** इति।

अन्वयः—किम् शीतांशुमरीचयः ? किमु सुरस्रोतस्विनीवीचयः ? किं वा केतकसूचयः ? अथ वा किम् चन्द्रोपलानां चयः ? इत्थम् जातकुतूहलाभिः त्रिदिवौकसाम् कान्ताभिः अभितः सानन्दम् आलोकिताः यत्कीर्त्तयः दिशि दिशि क्रीडन्ति।

व्याख्या—किमिति प्रश्ने। शीतांशुमरीचयः – शीतांशुः = चन्द्रः, तस्य मरीचयः = किरणाः, किमु इति वितर्के। सुरस्रोतस्विनीवीचयः–सुरस्रोतस्विनी = देवनदी, आकाशगङ्गेत्यर्थः, तस्याः वीचयः = ऊर्मयः, किं वा = अथवा, केतकसूचयः—केतकानाम् = केतकीपुष्पाणाम्, सूचयः = तीक्ष्णाग्रभागाः, अथवा किं

आनन्द प्रदान करने वाला चन्द्रमा, शङ्कर के शिर पर स्थित चन्द्रमा से भिन्न दूसरा तत्त्व नहीं है (प्रकट रूप में) राजर्षे ! (जनक !) वह अतिशय सौन्दर्य की यह महिमा है।

जनक—तो इन दोनों से कौन पुत्रवानों में मुकुटरत्न बनाया गया है ?

विश्वामित्र—क्या (ये) चन्द्रमा की किरणें हैं ? अथवा क्या (ये) आकाशगङ्गा की लहरियाँ हैं ? या केतकी पुष्पों के नुकीले अग्रभाग हैं ? इस

राम —वत्स ! नूनमय सकलगुणावदातस्तातः प्रस्तूयते ।

लक्ष्मण —अपि नाम भूयोऽपि प्रस्तोष्यते ?

विश्वामित्र —अपि च ।

यस्योद्यद्भुजदण्डचण्डिमवलत्कोदण्डलीलायिते-
निष्पीते दनुजेन्द्रचन्द्रवदनाभ्रूवल्लरीविभ्रमे ।
लक्ष्मीमस्त्रविपाटलक्षतमयीमालम्बते केवलं
पौलोमीकरजाङ्कुरव्यतिकरादाखण्डलीयं वपु: ॥२४॥

चन्द्रोपलानाम् = चन्द्रकान्तमणीनाम्, चय = समूह, । इत्थम् = अनेन प्रकारेण जातकुतूहलाभि —जातम् = उत्पन्नम्, कुतूहलम् = जिज्ञासा यासु ताभि, त्रिदिवौकसाम् = देवानाम्, कान्ताभि = वधूभि, अभित = समन्तात्, सानन्दम् यथा स्यात्तथा, आलोकिता = दृष्टा, यत्कीर्तय —यस्य = दशरथस्य कीर्तय = यशांसि, दिशि दिशि = प्रतिदिशम्, वीप्साया द्विरुक्ति, क्रीडन्ति = खेलन्ति, प्रकाशन्त इत्यर्थ । शुद्धसन्देहालङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २३ ॥

राम इति । नूनम् = निश्चयेन । सकलगुणावदात —सकलगुणै = दयादाक्षिण्यादिभि समन्वगुणै, अवदात = धवल, तात = पिता, प्रस्तूयते = वर्णनविषयीक्रियते ।

पुनरपि विश्वामित्रो दशरथं वर्णयन्नाह—यस्योद्यदिति ।

अन्वय —यस्य उद्यद्भुजदण्डचण्डिमवलत्कोदण्डलीलायिते दनुजेन्द्रचन्द्रवदनाभ्रूवल्लरीविभ्रमे निष्पीते आखण्डलीय वपु केवलम् पौलोमीकरजाङ्कुरव्यतिकरात् अस्त्रविपाटलक्षतमयीम् लक्ष्मीम् आलम्बते ।

व्याख्या—यस्य=दशरथस्य, उद्यद्भुजदण्डचण्डिमवलत्कोदण्डलीलायिते -

प्रकार उत्पन्न कुतूहलवाली देवाङ्गनाओं के द्वारा चारों ओर सानन्द देखी गयी जिस (दशरथ) की कीर्तियाँ प्रत्येक दिशा में क्रीडा कर रही हैं ॥ २३ ॥

राम—वत्स ! (लक्ष्मण !) निश्चय ही सकलगुणों से उज्ज्वल पिता जी का वर्णन किया जा रहा है।

लक्ष्मण—क्या फिर भी वर्णित किये जायेंगे ?

विश्वामित्र—और भी—

जिस (दशरथ) के, पराक्रम में तत्पर होते हुए बाहुदण्ड की प्रचण्डता से

अपि च—

तस्य पद्मवनवान्धववंशोत्तंसमांसलमहामणिमौलेः ।
कायकान्तिपरिभूतमनोजौ ताविमौ दशरथस्य कुमारौ ॥ २५ ॥

वद्यन् = पराक्रमपरो भवन् यो भुजदण्डः = बाहुदण्डः, तस्य चण्डिम्ना=उद्धतत्वेन वलत् = वक्राभवत् यत् कोदण्डम् = धनुः, तस्य लीलायितैः=विलासैः, शरवर्षणै-रित्यर्थः, दनुजेन्द्रचन्द्रवदनाभ्रूवल्लरीविभ्रमे — दनुजेन्द्राणाम् = दानवेन्द्राणाम्, याश्चन्द्रवदनाः = चन्द्रमुख्यः सुन्दर्यः, तासां भ्रूवल्लरीणाम्=भ्रूलतानाम्, विभ्रमे= विलासे, निष्पीते = निःशेषं समापिते सति, दशरथेन हतानां दानवेन्द्राणां वधूषु भ्रूविलासं परित्यक्तवतीष्वित्यर्थः । आखण्डलीयम् = इन्द्रसम्बन्धि, वपुः=शरीरम्, केवलम् = एकमात्रम्, पौलोमीकरजाङ्कुरव्यतिकरात्—पौलोमी = इन्द्राणी, तस्याः करजाङ्कुराणाम् = हस्ताङ्गुलिनखप्ररोहाणाम्, व्यतिकरात्=सम्पर्कात्, कामकेलिषु स्पर्शकृतात् आघातादित्यर्थः, अस्रविपाटलक्षतमयीम्—अस्रेण=रुधिरेण, विपाटलम्= अतिशयरक्तम् यत् क्षतम् = व्रणः तन्मयीम् = तत्स्वरूपाम्, लक्ष्मीम् = शोभाम्, आलम्बते = बिभर्ति । दशरथेन हतेषु दानवेन्द्रेषु सम्प्रति सुरेन्द्रो निर्भीकतया शच्या सह रमते, येन इन्द्राणीकृतनखक्षतमेव स्वशरीरे बिभर्ति न तु शत्रुशस्त्र-कृतक्षतमिति भावः । पर्यायोक्तं नामालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—पद्मवनवान्धववंशोत्तंसमांसलमहामणिमौलेः तस्य दशरथस्य इमौ कायकान्तिपरिभूतमनोजौ तौ कुमारौ (स्तः) ।

व्याख्या—पद्मवनवान्धववंशोत्तंसमांसलमहामणिमौलेः—पद्मवनम् = कमल-कुलम्, तस्य बान्धवः = मित्रम्, सूर्य इत्यर्थः, तस्य वंशः = कुलम्, तस्य उत्तंसाः= भूषणभूताः, मांसलाः = विशालाः, महामणयः = महामणिसदृशा राजानः, तेषु

चारों ओर घूमते हुए धनुष के विलासों के द्वारा दानवेन्द्रों की चन्द्रमुखी सुन्दरियों के भ्रूलताओं के विलास के पी लिये जाने पर, इन्द्र का शरीर केवल इन्द्राणी के नखाग्रभाग के सम्पर्क से (उत्पन्न) रुधिर से अतिशय लाल व्रणरूप शोभा को धारण करता है ॥ २४ ॥

और भी—

कमलकुलवान्धव (सूर्य) के कुल के भूषण, महान् महामणिसदृश भूपतियों

जनकः —

यद्बाहू वहतः पराक्रमहृतां प्रत्यर्थिसीमन्तिनी-
चक्षुःकज्जलकालिकामिव धनुर्मौर्वीकिणश्यामिकाम् ।
यद्दोर्दुर्दमकर्मकार्मुकगुणप्रोत्तालकोलाहलै-
र्वैरिस्त्रीकलमेखलाकलकला पीता इवास्तं गताः ॥ २६ ॥

मौलिः = शिरोभूतः, प्रधान इत्यर्थः, तस्य तस्य = पूर्ववर्णितस्य, दशरथस्य, इमौ = एतौ, कायकान्तितिरस्कृतमनोजौ—कायकान्त्या=शरीरशोभया परिभूतः = तिरस्कृतः, मनोजः = कामदेवः, याभ्यां तौ, तौ = प्रसिद्धौ, कुमारौ = सुतौ (स्तः) व्यतिरेकालङ्कारः । स्वागता वृत्तम् ॥ २५ ॥

जनको दशरथप्रतापं वर्णयन्नाह—**यद्बाहू** इति ।

अन्वयः—यद्बाहू पराक्रमहृताम् प्रत्यर्थिसीमन्तिनीचक्षुःकज्जलकालिकामिव धनुर्मौर्वीकिणश्यामिकाम् वहतः । यद्दोर्दुर्दमकर्मकार्मुकगुणप्रोत्तालकोलाहलैः वैरिस्त्रीकलमेखलाकलकलाः पीता इव अस्तं गताः ।

व्याख्या—यद्बाहू—यस्य = दशरथस्य, बाहू = भुजौ, पराक्रमहृताम्—पराक्रमेण = शौर्येण, हृताम् = बलाद् गृहीताम्, प्रत्यर्थिसीमन्तिनीचक्षुःकज्जलकालिकामिव—प्रत्यर्थिनाम् = शत्रूणाम्, सीमन्तिन्यः = रमण्यः, तासाम् चक्षूंषि= नेत्राणि, तेषां कज्जलकालिकामिव = अञ्जनश्यामिकामिव, धनुर्मौर्वीकिण-श्यामिकाम्—धनुषः = चापस्य, मौर्वी = ज्या, तस्याः किणः = घर्षणजन्यशुष्कव्रणः, तस्य श्यामिकाम् = कालिमानम्, वहतः = धारयतः । निहतशत्रूणां रमणीभिः परित्यक्तं कज्जलं किणत्वेन दशरथबाहुस्थितमिति भावः । यद्दोर्दुर्दमकर्मकार्मुकगुणप्रोत्तालकोलाहलैः – यस्य = दशरथस्य, दोष्णोः = बाह्वोः, दुर्दमम् = प्रचण्डम्, कर्म = व्यापारो यस्य तादृशं कार्मुकम् = धनुः तस्य गुणः =

में शिरोभूत (अर्थात प्रधान) उन दशरथ के ये दोनों, शरीर शोभा से कामदेव को तिरस्कृत करने वाले प्रसिद्ध कुमार हैं ॥ २५ ॥

जनक—जिस (दशरथ) के बाहु, पराक्रम से बलात् ग्रहण की गयी, शत्रुओं की नारियों के नेत्रों की कज्जल-कालिमा-सी, धनुष की प्रत्यञ्चा के शुष्क व्रण (घट्ठा) की कालिमा को धारण करते हैं। जिनके बाहु के उद्धत कर्म

अपि च—

यस्येन्द्रारिजयश्रिया सह झटित्याकृष्य मौर्वीलतां
 साकं भूवलयेन चापवलयं दोर्मण्डले बिभ्रति ।
पौलोमीकुचकुम्भसीमनि रहः पश्यन्नखाङ्कं नवं
 धत्ते चेतसि केवलं न तु करे कोदण्डमाखण्डलः ॥ २७ ॥

प्रत्यञ्चा, तस्य प्रोत्तालाः = अतिशयभीषणाः, कोलाहलाः = टङ्कारास्तैः (कर्तृभिः) वैरिस्त्रीकलमेखलाकलकलाः = वैरिणाम् = शत्रूणां, स्त्रियः = नार्यः, तासां कलाः = मधुराः, मेखलाकलकलाः = रशनाकलकलशब्दाः, पीता इव, = निगीर्णा इव, अस्तं गताः = विनष्टाः । पूर्वार्धे द्रव्योत्प्रेक्षा, उत्तरार्द्धे च हेतूत्प्रेक्षा, भङ्ग्या शत्रुपराजयवर्णनात् पर्यायोक्तं च, एतेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—यस्य दोर्मण्डले इन्द्रारिजयश्रिया सह झटिति मौर्वीलतामाकृष्य भूवलयेन साकम् चापवलयं बिभ्रति (सति) आखण्डलः रहः पौलोमीकुचकुम्भसीमनि नवम् नखाङ्कम् पश्यन् केवलम् चेतसि कोदण्डम् धत्ते करे तु न (धत्ते) ।

व्याख्या—यस्य = दशरथस्य, दोर्मण्डले = भुजमण्डले, इन्द्रारिजयश्रिया सह—इन्द्रस्य = सुरेशस्य, अरयः = शत्रवः, दैत्या इत्यर्थः, तेषां जयश्रिया सह = विजयलक्ष्म्या सह, झटिति = शीघ्रम्, मौर्वीलताम् = प्रत्यञ्चावल्लरीम्, आकृष्य = नमयित्वा, जयश्रीपक्षे स्वीकृत्य, भूवलयेन साकम् = पृथिवीमण्डलेन सह, चापवलयम् = धनुर्मण्डलम्, बिभ्रति=धारयति सति ('यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सप्तमी), आखण्डलः = इन्द्रः, रहः = एकान्ते, पौलोमीकुचकुम्भसीमनि—पौलोमी = शची, तस्याः कुचकुम्भयोः = स्तनकलशयोः, सीमनि = प्रान्तभागे,

के कारण धनुष की प्रत्यञ्चा के अतिशय भीषण कोलाहलों (टङ्कार) के द्वारा शत्रुओं की नारियों की रशना के मधुर कलकल शब्द पी लिये गये—से विनष्ट हो गये ॥ २६ ।

और भी—

जिस (दशरथ) के बाहु के, इन्द्र के शत्रुओं की विजयलक्ष्मी के साथ शीघ्र ही प्रत्यञ्चा को खींचकर भूमण्डल के साथ धनुर्मण्डल को धारण करने पर इन्द्र

तपनकुलशिर किरीटकोटि-
स्फुरदरुणोत्पलकुड्मलस्य तस्य ।
दशरथनृपतेरिमौ मृगाङ्क-
प्रतिमसुरेखमुखाम्बुजौ कुमारौ ॥ २८ ॥

विश्वामित्र —अथ किम् ?

जनक —अहो ! धन्यता दशरथस्य, यस्य द्वे अपि तनयावलोकन-शीतले दृशौ ।

नवम् = नूतनम्, नखाङ्कम् = चापाकारम् नखक्षतरूपचिह्नम्, पश्यन्=अवलोकयन्, केवलम् = एकमात्रम्, चेतसि = मनसि, कोदण्डम् = धनु , धत्ते = धारयति, स्मरतीत्यर्थ , करे = हस्ते तु (प्रयोजनाभावात्) न (धारयति) । सहोक्तिर-लङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम ॥ २७ ॥

अन्वय —तपनकुलशिर किरीटकोटिस्फुरदरुणोत्पलकुड्मलस्य तस्य दशरथ-नृपते मृगाङ्कप्रतिमसुरेखमुखाम्बुजौ इमौ कुमारौ (स्त) ? ।

व्याख्या—तपनेत्यादि —तपनस्य = सूर्यस्य, कुलम् = वश , तस्य किरीट-कोटय = मुकुटाग्रभागा , तासु स्फुरत् = विकसत् यत् अरुणोत्पलम् = रक्त-कमलम्, तस्य कुड्मलस्य = मुकुलस्य, मुकुलसदृशस्येत्यर्थ , रविकुलश्रेष्ठस्येति भाव । तस्य = विश्वविश्रुतस्य, दशरथनृपते = दशरथाख्यस्य राज्ञ , मृगाङ्क-प्रतिमसुरेखमुखाम्बुजौ—मृगाङ्क = चन्द्र , प्रतिमा = प्रतिकृति , यस्य तत् मृगाङ्क-प्रतिमम् = चन्द्रसदृशम्, सुरेखम् = सुन्दरम्, मुखाम्बुजम् = वदनकमल ययोस्तौ, इमौ=एतौ, कुमारौ = पुत्रौ (स्त) ? । उपमालङ्कार । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥२८॥

एकान्त में इन्द्राणी के कुचकलश के प्रान्तभाग में नूतन (धनुपाकार) नखक्षत रूप चिह्न को देखते हुए केवल मन में धनुष को धारण करते हैं (स्मरण करते हैं) हाथ में नहीं (धारण करते हैं) ॥ २७ ॥

सूर्य वश के शिर पर स्थित मुकुट के अग्रभाग में खिलते हुए रक्तकमल के मुकुल सदृश (अर्थात् रविकुलश्रेष्ठ) उन (विश्वविश्रुत) राजा दशरथ के, चन्द्र के समान सुन्दर मुखकमल वाले ये दोनों कुमार हैं ? ॥ २८ ॥

विश्वामित्र—और क्या ?

जनक—अहो ! दशरथ धन्य हैं, जिनके दोनों नेत्र पुत्रदर्शन से शीतल हैं ।

शतानन्दः—दिशौ च ।

विश्वामित्रः—ननु दिश इति वक्तव्यम् ।

शतानन्दः—तत् किमन्यावपि कुमारौ दशरथस्याङ्कं भूषयतः ?

विश्वामित्रः—अथ किम् ? यौ खलु भरतशत्रुघ्नौ प्रतिबिम्बाविव रामलक्ष्मणयोः ।

शतानन्दः—नूनममी ऋष्यशृङ्गचरुभागानां विलासाः ।

जनकः—दशरथभागधेयानां च ।

विश्वामित्रः—एवमेतत् । अवधिः खलु भाग्यवतां राजा दशरथः ।

जनकः—महात्मवतां च ।

शतानन्द इति । दिशौ च = पार्श्वद्वयमपि । रामलक्ष्मणयोर्दर्शनेन यथा दृशौ शीतले, तथैव तयोरेवावस्थानेन दशरथस्य पार्श्वद्वयमपि शीतलमिति भावः ।

विश्वामित्र इति । भवतोः—सः = दशरथः, भवान् = जनकश्च इति भवन्तौ, तयोः, एकशेषद्वन्द्वसमासः । परत्वाद् भवच्छब्द एव 'त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते' इति वार्त्तिकेन शिष्यते ।

शतानन्द—दोनों पार्श्वभाग भी शीतल हैं ।

विश्वामित्र—अरे चारों दिशाएँ (दोनों पार्श्वभाग एवम् अगला और पिछला भाग) ऐसा कहना चाहिए ।

शतानन्द—तो क्या और भी दो कुमार दशरथ की गोद को अलङ्कृत करते हैं ?

विश्वामित्र—और क्या ? जो कि राम और लक्ष्मण के प्रतिबिम्ब-से भरत-शत्रुघ्न हैं ।

शतानन्द—निश्चय ही ये (चारों पुत्र) ऋष्यशृङ्ग के चरुभाग के विलास (फल) हैं ।

जनक—दशरथ के भाग्यों के भी (विलास हैं) ।

विश्वामित्र—ऐसा ही है । राजा दशरथ भाग्यवानों की सीमा (सबसे अधिक भाग्यशाली) हैं ।

जनक—महान् आत्मा वाले पुरुषों की भी (सीमा हैं)

विश्वामित्र —तत् किमस्माभिरुच्यताम् ? भवतोर्महिम्नि भवन्तावेव साक्षिणौ।

जनक —कतरोऽहं दशरथस्य महिमाभोगमनुभवितुं कासार इव सागरस्य ?

विश्वामित्र —शोभन्त एव विनयमधुराणामधरीकृतात्ममहिमानः कामं सत्यविधुरा अपि वाचः। अथवा समुचितमेवैतत्। यतः—

जनितवान् दशरथः स हि राजा
रामभिन्दुमिव सुन्दरगात्रम्।
लोकलोचनविगाहनशीला
त्वं पुनः कुमुदिनीमिव सीताम्॥ २६॥

जनक इति। महिमाभोगम्—महिम्न = महत्त्वस्य, आभोग = विस्तारः, तम्। कासार इव = तडाग इव।

विश्वामित्र इति। विनयमधुराणाम्—विनय = विनम्रता, तेन मधुरा = मनोहरा, तेषाम्, विनीतानामित्यर्थः। अधरीकृतात्ममहिमानः—अधरीकृत = अतिन्यूनीकृत, आत्मन = स्वकीयस्य, महिमा=महत्त्व याभिस्ताः। सत्यविधुरा—सत्येन विधुराः = रहिता, मिथ्याभूता इत्यर्थः।

अन्वय—हि स राजा दशरथः इन्दुमिव सुन्दरगात्रम् रामम् (तथा) त्वम् पुनः कुमुदिनीमिव लोकलोचनविगाहनशीलाम्, सीताम् जनितवान्।

व्याख्या—हि = यतः, स = प्रसिद्ध, राजा = भूपाल, दशरथ, इन्दु-

विश्वामित्र—वह हमसे क्या कहा जाय ? आप दोनों की महिमा के विषय में आप ही दोनों साक्षी (प्रमाण) हैं।

जनक—छोटे तडाग-जैसा मैं, समुद्र-सदृश दशरथ की महिमा के विस्तार का अनुभव करने में मैं कौन हूँ ?

विश्वामित्र—विनय से मनोहर जनों के, अपनी महिमा को तुच्छ बताने वाले सत्यरहित वचन भी वास्तव में शोभित ही होते हैं। अथवा (आप का) यह (कहना) अत्यन्त उचित ही है। क्यों कि—

उन महाराज दशरथ ने चन्द्र सदृश सुन्दर शरीर वाले राम को और आप ने

लक्ष्मणः—(अपवार्य) आर्य ! इन्दुकुमुदिनीदृष्टान्तेन किमपि संविधानं सूचितं भगवता !

रामः—(सप्रणयकोपम्) अलमलीकालापितया ।

जनकः—(स्वगतम्) कथमनया भङ्ग्या किमपि सूचितं मुनिना । तत् किमनेन रभसवशंवदेन विस्मृतमेव शाम्भवं धनुः ? (प्रकाशम्) भगवन् ! अनेन भगवतो वक्रकमनीयेन वाग्विलासेन द्वितीयेनेव हर-कार्मुकेण किमपि कौतुकितोऽस्मि ।

मिव = चन्द्रमिव, सुन्दरगात्रम् = मनोज्ञशरीरम्, रामम् = रामचन्द्रम्, (तथा) त्वम्=जनकः, पुनः=अपि, कुमुदिनीमिव, लोकलोचनविगाहनशीलाम्–लोकानाम्= जनानाम्, लोचनेषु = नेत्रेषु, विगाहनम् = अवगाहनम्, शीलम् = स्वभावः, यस्यास्ताम्, जननेत्राकर्षिणीमिति भावः । तादृशीं सीतां जजिवान् = उत्पादितवान् जनेरन्तर्भावितणिजर्थकतया सकर्मकत्वेन, 'क्वसुश्च' इति क्वसुप्रत्ययः । सागरश्चन्द्र-मिव दशरथो रामं, त्वं पुनस्तडागः कुमुदिनीमिव सीतामुत्पादितवान्, तत् त्वत्पूर्वोक्तं वचः समुचितमेवेति भावः । स्वागता वृत्तम् ॥ २९ ॥

लक्ष्मण इति । अपवार्य = रामं प्रतीति भावः । आर्य = श्रीरामचन्द्र ! किमपि = व्यङ्ग्यभूतम्, संविधानम् = वृत्तान्तः, सीतारामयोर्मिथः प्रणयरूप इति भावः ।

राम इति । अलीकालापितया = मिथ्याकथया ।

जनक इति । भङ्ग्या = वक्रोक्त्या । किमपि = सीतारामप्रणयरूपं संवि-

---

भी कुमुदिनी-सी लोगों के नेत्रों को आकृष्ट करने वाली सीता को पैदा किया है ॥ २९ ॥

लक्ष्मण—(केवल राम को सुनाकर) आर्य ! चन्द्र और कुमुदिनी के दृष्टान्त से भगवान् (विश्वामित्र) ने व्यङ्ग्यभूत किसी (भावी) वृत्तान्त की सूचना दी है ।

राम—(प्रणयमिश्रित कोप के साथ) झूठ-मूठ बकवास मत करो ।

जनक—(मन ही मन) (विश्वामित्र) मुनि के द्वारा वक्रोक्ति के माध्यम

विश्वामित्र —(स्वगतम्) कथमनया परिपाट्या हरचापारोपण-मुद्भावयति । भवतु । (प्रकाशम्) राजर्षे ! साधु स्मारितोऽस्मि । अतीव मे कौतुकं वृषभकेतुकार्मुकालोकने । तेन तदानयनायादिश्यन्तां पुरुषाः । अथवा किमन्यैः ? रामभद्र एवादिश्यताम् ।

जनक —(सविस्मयम्) भगवन् ! कथं मुग्ध इव दुग्धमुखमपि राम-मिन्दुकिरीटकार्मुकानयनार्थमादिशसि ? न जानासि किम् ?

धानम् । रभसवशावदेन = वार्त्तालापजनितहर्षपराधीनेन । शाम्भवम् = शिव-सम्बन्धि । वक्रकमनीयेन—वक्र = कुटिल, अत एव कमनीय = मनोहरः, तेन । कौतुकित = उत्कण्ठित ।

विश्वामित्र इति । परिपाट्या = अनुक्रमेण । हरचापारोपणम् = शिवधनुरानमनम् । उद्भावयति = स्मारयतीति भाव । आदिश्यन्ताम् = आज्ञाप्यन्ताम् ।

जनक इति । मुग्ध इव = मूढ इव ('मुग्ध सुन्दरमूढयो'रित्यमर) । दुग्धमुखम् = स्तन्यपायिबालसदृशमित्यर्थः । इन्दुकिरीटकार्मुकाऽऽनयनार्थम् = शिवधनुरानयनार्थम् ।

से एक दूसरी ही बात (सीता राम का पारस्परिक प्रणय) कैसे सूचित की गयी ? तो क्या (वार्तालाप जनित) हर्ष के अधीन (होकर) इन (विश्वामित्र) के द्वारा शिव का धनुष भुला ही दिया गया ? (प्रकटरूप में) भगवन् ! दूसरे शिव धनुष के समान टेढे और मनोहर आप के इस वाग्विलास से मैं अनिर्वचनीय रूप से कौतुक-पूर्ण हूँ ।

विश्वामित्र—(मन ही मन) क्या इस ढग से शिव धनुष के चढाने की बात प्रकट कर रहे हैं ? अच्छा (प्रकट रूप में) राजर्षे ! मुझे अच्छी याद आप ने दिलायी । शिवधनुष के देखने में मेरी अत्यन्त उत्सुकता है । अत उसे लाने के लिए पुरुषों को आदेश दिया जाय । अथवा दूसरों से क्या (प्रयोजन) ? राम-भद्र को ही आदेश दिया जाय ।

एतत्तद् दुर्विगाहं तुहिनगिरिमयं कार्मुकं, यत्र जज्ञे
मौर्वी दर्वीकराणां पतिरुदधिसुतानायकः सायकश्च ।
दोर्दण्डैश्चन्द्रमौलेर्नतमपि यदभूदुन्नतं कार्मुकाणां
वाष्पाम्भोवृष्टये च त्रिपुरमृगदृशामैशमप्यैन्द्रमासीत् ॥ ३० ॥

अन्वयः—एतत् तत् दुर्विगाहम् तुहिनगिरिमयम् कार्मुकम् (अस्ति) यत्र दर्वीकराणाम् पतिः मौर्वी, उदधिसुतानायकः सायकश्च जज्ञे । यत् चन्द्रमौलेः दोर्दण्डैः नतम् अपि कार्मुकाणाम् उन्नतम् अभूत्, त्रिपुरमृगदृशाम्, वाष्पाम्भोवृष्टये ऐशम् अपि ऐन्द्रम् आसीत् ।

व्याख्या—एतत् = इदम्, आनयनविषयीकृतमिति भावः । तत् = प्रसिद्धम् दुर्विगाहम् = कष्टनमनीयम्, तुहिनगिरिमयम् = हिमालयगिरिनिर्मितम्, हिमालयात् सारं गृहीत्वा निर्मितमित्यर्थः, कार्मुकम् = धनुः (अस्ति) यत्र = यस्मिन् धनुषि, दर्वीकराणाम् = सर्पाणाम्, पतिः = स्वामी, वासुकिरित्यर्थः, मौर्वी = प्रत्यञ्चा, उदधिसुतानायकः—उदधेः = समुद्रस्य, सुता = दुहिता लक्ष्मीरित्यर्थः, तस्या नायकः = पतिः, विष्णुरित्यर्थः, सायकः = बाणः, ('शरे खड्गे च सायकः' इत्यमरः) च, जज्ञे = जातः, यत् = धनुः, चन्द्रमौलेः = शिवस्य, दोर्दण्डैः, नतम् = नम्रीकृतम्, आततज्यमपीति भावः, कार्मुकाणाम् = धनुषाम् उन्नतम्, उच्चम्, लब्धगौरवमित्यर्थः अभूत्, त्रिपुरमृगदृशाम् = त्रिपुरासुरस्त्रीणाम्, वाष्पाम्भोवृष्टये = अश्रुजलवर्षणाय, ऐशमपि = शिवसम्बन्धि सदपि, ऐन्द्रम् = इन्द्रसम्बन्धि, आसीत् = अभवत् । प्रोन्नतमिन्द्रधनुर्यथा वृष्टि करोति तथैवेदं शिवधनुरपि त्रिपुरासुरं हत्वा तत्स्त्रीणाम् अश्रुजलवृष्टिं चकारेति भावः । नतम-प्युन्नतम्' 'ऐशमप्यैन्द्रम् इत्यत्र च विरोधाभासोऽलङ्कारः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ३० ॥

जनक—(आश्चर्य के साथ) भगवन् ! एक यज्ञ की तरह (आप भी) क्यों दुधमुँहे राम को भी शिवधनुष को लाने के लिए आदेश दे रहे हैं ? क्या आप जानते नहीं हैं ? यह वह कष्टनमनीय, हिमालय-गिरि से निर्मित धनुष है, जिसमें सर्पराज (वासुकि) प्रत्यञ्चा और लक्ष्मीपति (विष्णु) बाण हुए थे। जो शिव के भुजदण्डों से नत होकर भी (अन्य) धनुषों में उन्नत (श्रेष्ठ) हुआ था तथा त्रिपुरासुर की सुन्दरियों के अश्रुजल वर्षा के लिए शिव का (धनुष) होकर भी इन्द्र का (धनुष) (अर्थात् इन्द्र-धनुष के सदृश) बन गया था ॥ ३० ॥

विश्वामित्र —जानामि—

सेवायातसमस्तखेचरकरक्रीडाचलच्चामर-
श्रेणीमारुतपानपीननिविडज्यापन्नगाकर्षिणा ।
गाढाकुञ्चनजृम्भमाणतुहिनस्यन्दैर्यदीयं श्रम
सन्त्यक्त पुरवैरिणाऽपि, तदिद शैलेन्द्रसार धनु ॥३१॥

जनक —तत्कथमस्यानयनाय रामायादिशसि ?

विश्वामित्रोऽपि शिवधनुर्वर्णयति—सेवायातेति ।

अन्वय —सेवायातसमस्तखेचरकरक्रीडाचलच्चामरश्रेणीमारुतपानपीननिविडज्यापन्नगाकर्षिणा पुरवैरिणा अपि यदीयं गाढाकुञ्चनजृम्भमाणतुहिनस्यन्दै श्रम. सन्त्यक्त , तत् इद शैलेन्द्रसारम् धनु ।

व्याख्या—सेवेत्यादि —सेवायै=परिचरणाय, शिवस्येति भाव , आयाता = आगता , य समस्ता खेचरा = देवा , तेषा करक्रीडया = हस्तसञ्चालनपद्धतया, चलन्त्याश्चामरश्रेण्या = चामरपङ्क्त्या , मारुतपानेन = वायुनिगरणेन पीन = स्थूल , निविड = घन , सारवत्तर इत्यर्थ , ज्यापन्नग = मौर्वीभूतो वासुकि , तमाकर्षतीति तच्छीलस्तेन, पुरवैरिणा = शिवेनापि, मदीयं =यद्धनुस्सम्बन्धिभि , गाढाकुञ्चनजृम्भमाणतुहिनस्यन्दै —गाढम् = दृढम्, यत् आकुञ्चनम् = आनमनम्, तेन जृम्भमाणा = प्रकटन्त , तुहिनस्यन्दा = हिमप्रवाहा , तै , श्रम = धनुरानमनजन्य क्लम , सन्त्यक्त = दूरीकृत , तत् = तादृशम्, इदम् = आनयनविषयभूतम्, शैलेन्द्रसारम्—शैलेन्द्रस्य = हिमालयस्य सारम् = तत्त्वभूतम्, धनु (अस्ति) रूपकालङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ३१ ॥

विश्वामित्र—जानता हूँ।

(शिव की) सेवा के लिए आये हुए समस्त देवों के हस्तसञ्चालन से चलती हुई चँवरों की श्रेणियों के वायु को पीने से स्थूल तथा घन (परिपुष्ट) मौर्वी बने हुए सर्प (वासुकि) को खींचने वाले शिव ने भी, जिस धनुष को कस कर झुकाने से प्रकट हुए हिम प्रवाहों से (अपने धनुराकर्षणजनित) श्रम को दूर किया था, वैसा यह हिमालय का सारभूत धनुष है ॥ ३१ ॥

जनक—तो इसे लाने के लिए आप राम को कैसे आदेश दे रहे हैं ?

विश्वामित्रः—न केवलमानयनाय, किन्त्वानमनाय (रामं प्रति) वत्स वध्यतां परिकरः । इदं च—

मारीचमारीचतुरं सुबाहोरपवारणम् ।
न्यस्यतां लक्ष्मणकरे ताटकाताडनं धनुः ॥ ३२ ॥

जनकः—कथमसम्भावनीयमेवोद्भावयसि ?

विश्वामित्रः—कथमिदं न विदितं ते ? अनेन हि—

प्राप्य चापनिगमानितः क्रमात
सम्प्रताप्य विशिखैर्निशाचरान् ।
अस्मदीयमखरक्षणक्रिया-
दक्षिणेन गुरुदक्षिणीकृता ॥ ३३ ॥

अन्वयः—मारीचमारीचतुरम्, सुबाहोः अपवारणम्, ताटकाताडनं (इदम्) धनुः लक्ष्मणकरे न्यस्यताम् ।

व्याख्या—मारीचमारीचतुरम्—मारीचस्य=मारीचनाम्नो राक्षसस्य मारी-मारणं मारः, तस्य भावः कर्म वा मारी = मारणक्रिया, तस्यां, चतुरम्=कुशलम्, न तु मारकमिति भावः, सुबाहोः=सुबाहुनाम्नो राक्षसस्य अपवारणम्=निवारकम्, ताटकाताडनम् = ताटकायाः = तन्नाम्न्याः राक्षस्याः ताडनम् = हन्तृ, (इदम्= त्वत्करे विद्यमानम्) धनुः, लक्ष्मणकरे = लक्ष्मणहस्ते, न्यस्यताम् = स्थाप्यताम्, दीयतामित्यर्थः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—इतः क्रमात् चापनिगमान् प्राप्य विशिखैः निशाचरान् सम्प्रताप्य दक्षिणेन (अनेन) अस्मदीयमखरक्षणक्रिया गुरुदक्षिणीकृता ।

व्याख्या—इतः = मत्सकाशात्, क्रमात् = यथाक्रमम्, चापनिगमान् =

विश्वामित्र—न ही केवल लाने के लिए, झुकाने के लिए (भी आदेश दे रहा हूँ) । (राम के प्रति) वत्स ! परिकर (फेंटा) बांधो । और यह—

मारीच की मारणक्रिया में चतुर, सुबाहु के निवारण का साधन तथा ताटका को मारने वाला धनुष लक्ष्मण के हाथ में दे दो ॥ ३२ ॥

जनक—कैसे आप न हो सकने वाली बात कह रहे हैं ?

विश्वामित्र—क्या आप को यह नहीं मालूम ?

यहाँ से (अर्थात् मुझ विश्वामित्र से) धनुर्वेद को पाकर, क्रम से निशाचरों

जनक —(विमृश्य । नि श्वस्य च) भगवन् ! अस्त्येतत्, किन्तु

मारीचमुख्यरजनीचरचक्रचूडा-
चञ्चन्मरीचिचयचुम्बितपादपीठ ।
अत्राभवद्विफलबाहुबलावलेपो
वीर शशाङ्कमुकुटाचलचालनोऽपि ॥ ३४ ॥

धनुर्वेदान्, तदुपदेशानिति भाव , प्राप्य=लब्ध्वा, विशिखै = शरै , निशाचरान्= राक्षसान् सम्प्रताप्य = परिपीड्य, मारयित्वेत्यर्थं , दक्षिणेन = चतुरेण (अनेन) अस्मदीयमखरक्षणक्रिया—अस्मदीयमखस्य = अस्माभिरनुष्ठीयमानस्य यज्ञस्य रक्षणक्रिया = रक्षणात्मकव्यापार , गुरुदक्षिणीकृता—गुरवे = आचार्याय, मह्यम् विश्वामित्राय, दक्षिणीकृता = दक्षिणारूपेण समर्पिता । मत्सकाशादाचार्याक्रम धनुर्वेद-मधीत्यानेन धनुर्वेदनिष्णातेन रामेण राक्षसान् व्यापाद्य मन्मखरक्षणरूपा गुरुदक्षिणा मह्य समर्पितेति भाव । रथोद्धता वृत्तम् ॥ ३३ ॥

अन्वय —मारीचमुख्यरजनीचरचक्रचूडाचञ्चन्मरीचिचयचुम्बितपादपीठ वीर शशाङ्कमुकुटाचलचालन अपि अत्र विफलबाहुबलावलेप अभवत् ।

व्याख्या—मारीचमुख्येत्यादि —मारीच = तन्नामा राक्षस , मुख्य = प्रधान येषा ते, रजनीचरा = राक्षसा , तेषाम् चक्रम् = समूह , तस्य चूडाया = शिरोभूषणस्य मुकुटस्य चञ्चन् = विद्योतमान , मरीचिचय = रत्नकिरणसमूह , तेन चुम्बितम् = स्पृष्टम्, पादपीठम् = चरणन्यासासनम् यस्य तादृश , वीर = शूर , शशाङ्कमुकुटाचलचालनोऽपि—शशाङ्क = चन्द्र , मुकुटे = शेखरे यस्य स शशाङ्कमुकुट = चन्द्रशेखर , शिव इत्यर्थ , तस्य अचल =पर्वत , कैलास इत्यर्थं , तस्य चालन = चालक , उत्तोलक इत्यर्थ , रावण इति यावत्, अपि, अत्र = अस्मिन् धनुषि, विफलबाहुबलावलेप —विफल = व्यर्थता गत , बाहुबलस्य अवलेप = गर्वो यस्य स , तादृश अभवत । मारीचप्रभृतिराक्षसै सेव्यमानपाद

को बाणों से सम्प्रतप्त कर (अर्थात मार कर) इन चतुर (राम) द्वारा हमारे यज्ञ की रक्षण-क्रिया, गुरुदक्षिणा के रूप में प्रदान की गयी ॥ ३३ ॥

जनक—(सोच कर और नि श्वास पूर्वक) भगवन् ! यह (ठीक) है, किन्तु—मारीचादिराक्षसों के मुकुटों की चमकती हुई किरणों से चुम्बित (सुशोभित)

विश्वामित्रः—किमेतावता ? नन्वत एव राममादिशामि (रामं प्रति) वत्स ! उत्तिष्ठ। कुमुदिनीकान्तकलाकीरीटकार्मुकरोपणप्रवीणतया सम्प्रीणयास्मान्।

जनकः—(स्वगतम्)

यस्य ख्याता जगति सकले निस्तमिस्रा तपःश्री-
र्मिथ्योत्कण्ठः कथमिह भवेदेष गाधेस्तनूजः ?।
बालो रामः, किमपि गहनं कार्मुकं चन्द्रमौले-
र्दोलारोहं कलयति मुहुस्तेन मे चित्तवृत्तिः॥ ३५॥

कैलासाचलोत्तोलको वीरो रावणोपि यस्य कार्मुकस्योत्तोलनेऽशक्तो जातस्तस्यानमने आनमने च मारीचादिसामान्यराक्षसानां घातुके रामे मदीयः सन्देहो नायुक्त इति भावः। वसन्ततिलका वृत्तम्॥ ३४॥

विश्वामित्र इति। कुमुदिनीकान्तकलाकिरीटकार्मुकरोपणप्रवीणतया—कुमुदिनीकान्तः=चन्द्रः, तस्य कला=अंशः, किरीटे=मुकुटे यस्य सः, शिव इत्यर्थः, तस्य कार्मुकम् = धनुस्तस्य रोपणे = सज्यीकरणे प्रवीणतया = दक्षतया। सम्प्रीणय = प्रसादय।

अन्वयः—यस्य सकले जगति निस्तमिस्रा तपःश्रीः ख्याता, एषः गाधेः तनूजः इह कथम् मिथ्योत्कण्ठः भवेत् ? रामः बालः, चन्द्रमौलेः कार्मुकम् किमपि गहनम्, तेन मे चित्तवृत्तिः मुहुः दोलारोहम् कलयति।

व्याख्या—यस्य, सकले जगति = निखिले संसारे, निस्तमिस्रा = अन्धकार-

पाद-पीठ वाले, वीर, कैलास पर्वत को उठाने वाले (रावण) के भी बाहुबल का गर्व इस (धनुष को उठाने) में निष्फल हो चुका है॥ ३४॥

विश्वामित्र—इससे क्या ? अरे ! इसी से राम को आदेश दे रहा हूँ। (राम के प्रति) बेटा ! उठो। कुमुदिनीपति (चन्द्र) की कला को मुकुट में धारण करने वाले (भगवान् शङ्कर) के धनुष को चढ़ाने के नैपुण्य से हम सब को प्रसन्न करो।

जनक—(मन ही मन)

जिनकी उज्ज्वल तपोलक्ष्मी निखिल संसार में प्रसिद्ध है, ये गाधिपुत्र

(पुन पृथिवीमालोक्य)

रतिरिव जननेत्रानन्दिनी नन्दिनी ते,
कुसुमशर इवाय रूपसार कुमारः ।
यदि तु धनुरपीद प्राप्तमेतस्य हस्त
कुसुममयमिव स्यात्सम्भृत. सम्प्रदाय ॥ ३६ ॥

रहिता, प्रकाशमानेत्यर्थ, उज्ज्वलेति यावत्, तप श्री = तपोलक्ष्मी, ख्याता = प्रसिद्धा (अस्ति) एष = समीपतरवर्ती, गाधे तनूज = गाधिपुत्र, विश्वामित्र, इह = रामकर्तृकशिवधनुरानमनविषये, कथम् = केन प्रकारेण, मिथ्योत्कण्ठ — मिथ्या = विफल, उत्कण्ठा = अभिलाषो यस्य तादृश, भवेत् = स्यात् ? राम = रामचन्द्र, बाल = कुमार, अप्राप्तप्रौढभाव इत्यर्थ, चन्द्रमौले = शिवस्य, कार्मुकम् = धनु, किमपि = अनिर्वचनीयम्, गहनम् = कठोरतरम्, गुरुतरञ्च (अस्ति) तेन = कारणेन, मे = मम, चित्तवृत्ति = अन्त करणवृत्ति, मुहु = वारवारम्, दोलारोहम् = हि दोलारोहणम्, कलयति = प्राप्नोति, अस्थिरता प्राप्नोतीत्यर्थ मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ ३५ ॥

अन्वय —(हे पृथिवि !) जननेत्रानन्दिनी रतिरिव ते नन्दिनी, अयम् कुमार कुसुमशर इव रूपसार । इदम् धनु अपि एतस्य हस्तम् प्राप्तम् कुसुममय मिव स्यात् यदि, तु सम्प्रदाय सम्भृत ।

व्याख्या—जननेत्रानन्दिनी—जनानाम् नेत्राणि आनन्दयतीति तच्छीला, परमसौन्दर्यशालिनीत्यर्थ, रतिरिव = कामप्रियेव, ते = तव, नन्दिनी = पुत्री, सीतेत्यर्थ, (अस्ति) अय कुमार = दशरथपुत्र श्रीरामचन्द्र, कुसुमशर इव =

(विश्वामित्र जी) इस विषय में मिथ्याभिलाष कैसे होंगे ? रामचन्द्र बालक हैं, शिवधनुष अनिर्वचनीय रूप से अत्यन्त कठोर और गुरुतर है, इस कारण से मेरी चित्तवृत्ति बारबार दोलारोहण (अर्थात् अस्थिरता) को प्राप्त कर रही है ॥ ३५ ॥

(फिर पृथिवी को देखकर)

लोगों के नेत्रों को आनन्द देने वाली रति के समान तुम्हारी पुत्री (सीता) है, (और) यह (दशरथ का) कुमार कामदेव के समान सौन्दर्य का सार

शतानन्दः—राजर्षे! किमेतन्मूढ इव मुहुर्मुहुरालोकसे? अनुवर्त्तस्व महर्षेर्वचनम्।

जनकः—(प्रकाशम्) अनुवृत्तमेव। (रामं प्रति) वत्स! अनुष्ठीयतां गुरुवचनम्।

(राम उत्थाय परिकरं बध्नाति)

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—जयतु जयतु देवः। कोऽपि ब्राह्मणो देवस्य दर्शनार्थी द्वारदेशे तिष्ठति, तत् किं प्रवेश्यताम्? (जेदु जेदु देवो। कोवि बह्मणो देवस्स दसणत्थी दुआरदेसम्मि चिट्ठदि। ता किं पवेसीअदु?)

कामदेव इव, रूपसारः = रूपस्य = सौन्दर्यस्य सारः = तत्त्वम्, अतिशयरूपवान् (वर्तते) इत्यर्थः, इदम् = शिवसम्बन्धि, धनुः अपि, एतस्य = श्रीरामचन्द्रस्य, हस्तं = करम्, प्राप्य कुसुममयमिव = पुष्पनिर्मितमिव, पुष्पकोमलमिवेत्ति भावः, स्यात् = भवेत्, यदि = चेत्, तु = तर्हि, सम्प्रदायः = प्रचलितप्रथा, रतेः कामपत्नीत्वं, कामस्य च पुष्पचापधरत्वमित्येवंरूपेति भावः। सम्भृतः = पूर्णः (भवेत्)। उपमालङ्कारः। मालिनीवृत्तम् ॥ ३६ ॥

है। यदि यह (शिव का) धनुष भी इस (कुमार) के हाथ में पहुँच कर पुष्प-निर्मित-सा (अर्थात् पुष्पों के समान कोमल) हो जाय तो (रति का कामपत्नी होना और काम का पुष्पचापधर होना यह) परम्परागत मान्यता पूरी हो जाय ॥ ३६ ॥

शतानन्द—राजर्षे! क्यों अज्ञ की तरह बार-बार देख रहे हो? महर्षि (विश्वामित्र) के वचन का पालन करो।

जनक—(प्रकट रूप में) पालन ही किया। (राम के प्रति) बेटा! गुरुवचन का पालन किया जाय।

(राम उठकर परिकर बाँधते हैं)

(प्रवेश कर)

प्रतीहारी—देव की जय हो! जय हो! महाराज के दर्शन के इच्छुक एक ब्राह्मण द्वार पर उपस्थित हैं, तो क्या वे भीतर ले आये जाँय?

जनक —आः ! इदमपि किं जनकः प्रष्टव्यः ?

प्रतीहारी—तथा (इति निर्गत्य तेन सह प्रविशति)

जनक —ब्रह्मन् ! प्रणम्यसे ।

मुनि —राजन् ! सुमतिर्भूयाः ।

जनक —(स्वगतम्) अन्यादृशीयमाशीः परिपाटी । भवतु । (प्रकाशम्) मुने ! इहास्यताम् ।

मुनि —सन्देशहरः खल्वस्मि ।

जनक —कस्य ? कीदृशो वा सन्देशः ?

मुनि —

पीत्वा कज्जलकालिमानमखिलं क्ष्मापालनारीदृशां
नीत्वा स्फीतयशोऽट्टहासमहसा लोकत्रयं शुभ्रताम् ।
चण्डीशं चरितैरनेकविभवैरद्यापि यः सेवते,
हे वैदेह ! स जामदग्न्यपरशुस्त्वामेतदाभाषते ॥ ३७ ॥

अन्वय —हे वैदेह ! यः क्ष्मापालनारीदृशाम् अखिलम् कज्जलकालिमानम् पीत्वा स्फीतयशोऽट्टहासमहसा लोकत्रयम् शुभ्रताम् नीत्वा अद्यापि अनेकविभवैः चरितैः चण्डीशम् सेवते सः जामदग्न्यपरशुः त्वाम् एतत् आभाषते ।

व्याख्या—हे वैदेह = विदेहराज जनक ! यः = जामदग्न्यपरशुः, क्ष्मापाल॰

जनक—ओह ! क्या जनक से यह भी पूछने की बात है ?

प्रतीहारी—ठीक है। (ऐसा कहकर, निकलकर उन ब्राह्मण के साथ प्रवेश करता है) ।

जनक—ब्राह्मण ! प्रणाम करता हूँ ।

मुनि—(ब्राह्मण) राजन् सद्बुद्धि वाले हो ओ ।

जनक—(मन ही मन) यह आशीर्वाद का ढंग दूसरे ही प्रकार का है । अच्छा । (प्रकट रूप में) मुने ! यहाँ बैठा जाय ।

मुनि—मैं सन्देशवाहक हूँ ।

जनक—किसका और कैसा सन्देश है ?

मुनि—हे विदेहराज ! भूपालों की स्त्रियों के नेत्रों की समस्त कज्जल-

जनकः—(स्वगतम्) अहो ! गर्वाङ्कुरस्य वक्रता । भवतु । (प्रकाशम्) किं तत् ?

नारीदृशाम्—क्ष्मापालानाम्=भूपतीनां, नार्यः=स्त्रियः, तासाम् दृशाम् = नेत्राणाम्, अखिलम् = निःशेषम्, कज्जलकालिमानम्—कज्जलस्य=अञ्जनस्य, कालिमानम् = श्यामिकाम्, पीत्वा = आचम्य, राज्ञां निधनेन वैधव्योचिताचरणमाचरन्तीनां तत्स्त्रीणां नेत्राणि कज्जलशून्यानि कृत्वेति भावः । स्फीतयशोऽट्टहासमहसा—स्फीतम् = समृद्धं, यशः = कीर्तिरेव अट्टहासः = उच्चैर्हास्यम, तस्य महसा = तेजसा, प्रकाशेनेत्यर्थः, लोकत्रयम् = त्रिलोकीम्, शुभ्रताम् = शुक्लताम्, नीत्वा = प्रापय्य, क्षत्रियनृपतिपराजयजन्ययशो लोकत्रये प्रसार्येति भावः । अद्याऽपि = इदानीमपि, क्षत्रियाणां विनाशे कृतेऽपि, अनेकविभवैः = नानाप्रकारैरित्यर्थः, चरितैः अनुष्ठानैः, चण्डीशम् = शिवम्, सेवते = आराधयति, सः = तादृशो लोकप्रसिद्धः, जामदग्न्यपरशुः—जामदग्न्यः = परशुरामः, तस्य परशुः = परश्वधः, त्वाम् = जनकम्, एतत् = वक्ष्यमाणम्, आभाषते = कथयति । अत्र 'जामदग्न्य-परशुना राजानो हता इति व्यङ्ग्यार्थस्यैवोक्तिवैचित्र्यपूर्वकमभिधानात् पर्यायोक्त-मलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—'पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते' । इति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३७ ॥

जनक इति । गर्वाङ्कुरस्य = दर्पोदयस्य । वक्रता = कौटिल्यम् । तत् = आभाषणम् ।

कालिमा को पीकर, समृद्धयशोरूप अट्टहास के तेज से तीनों लोकों को धवल बनाकर आज भी जो नानाप्रकार के अनुष्ठानों से शिव की आराधना किया करता है, वह परशुराम का परशु तुमसे यह (वक्ष्यमाण वचन) कह रहा है ॥ ३७ ॥

जनक—(मन ही मन) अहो ! गर्वाङ्कुर की कैसी वक्रता है ! अच्छा । (प्रकट रूप में) वह (कथनीय) क्या है ?

मुनि —कस्मैचिद्देहि कन्या नरपतिशिशवे, दीर्घमायुर्लभस्व,
व्यावर्तस्वाऽप्रियान्न पुरमथनधनुःकर्षणालापपापात् ।
नो चेदन्योऽस्त्युपायस्तव कलुषमसीपङ्कसंक्षालनाया-
मस्मद्विस्तारिधाराञ्चलवहलपयःपूरदूरावगाहः ॥ ३८ ॥

अन्वय —कस्मैचित् नरपतिशिशवे कन्याम् देहि । दीर्घम् आयुः लभस्व । पुरमथनधनुःकर्षणालापपापात् न अप्रियात् व्यावर्तस्व । नो चेत् तव कलुषमसीपङ्कसंक्षालनायाम् अस्मद्विस्तारिधाराञ्चलवहलपयःपूरदूरावगाहः अन्यः उपायः अस्ति ।

व्याख्या—(शिवधनुराकर्षण विनैव) कस्मैचित् नरपतिशिशवे=राजकुमाराय, कन्याम् = पुत्रीं सीतामित्ययं, देहि = समर्पय, न मम तस्मिन् काऽप्यापत्तिरिति भावः । दीर्घम्, आयुः = जीवनम्, लभस्व = प्राप्नुहि, स्वजीवनं रक्षेति भावः । पुरमथनधनुःकर्षणालापपापात्— पुरमथनस्य=शिवस्य, धनुषः=कार्मुकस्य कर्षणम्= आरोपणम्, तस्य आलापः = चर्चा एव पापम् तस्मात्, न = अस्माकम्, अप्रियात् = अनभीष्टात्, व्यावर्तस्व = विनिवृत्तो भव । नो चेत् = अन्यथा, तव = भवतः, कलुषमसीपङ्कक्षालनायाम् —कलुषम् = पापमेव मसीपङ्कः =कज्जलकर्दमः, तस्य संक्षालनायाम् = अपसारणे, अस्मद्विस्तारिधाराञ्चलवहलपयःपूरदूरावगाहः — अस्माकं विस्तारिणी = विस्तारवती या धारा = तीक्ष्णतमोऽग्रभागः, तस्याः अञ्चलम् = प्रान्तभागः, तस्मिन् वहलः = अधिकः यः पयःपूरः = जलप्रवाहः, तस्मिन् दूरावगाहः = दूरम् = अत्यधिकं यथा स्यात्तथा, अवगाहः = निमज्जनम्, अन्यः = अपरः, उपायः = प्रतीकारः, अस्ति ।

'कस्मैचित् राजकुमाराय सीतां दत्त्वा स्वजीवनं रक्ष, शिवधनुःकर्षणरूपात् पापाद् विनिवृत्तो भव' । इत्येक उपायः, इममुपायं न स्वीकरिष्यसि चेत्तर्हि शिवधनुःकर्षणरूपस्य तव पापस्यापाकरणार्थं मदीयधारया तव शिरश्छेदनं भविष्यतीत्यपरः उपायोऽस्तीति जामदग्न्यपरशोर्जनकं प्रति सन्देश इति भावः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ३८ ॥

मुनि—किसी राजकुमार को कन्या (सीता) दे दो । दीर्घायु प्राप्त करो । शिवधनुष को खींचने की चर्चामात्ररूप पाप जो हमें अप्रिय है,—से हट जाओ । नहीं तो तुम्हारे पापरूप मसीपङ्क को धोने में हमारी विस्तीर्ण धार के पर्याप्त जलप्रवाह में तुम्हारा अत्यन्त निमज्जन (ही) दूसरा उपाय है ॥ ३८ ॥

जनकः—(विहस्य) तन्मयापि प्रतिसंदेशः कथनीयस्तस्य ।

मुनिः—कीदृशोऽसौ ?

जनकः—

त्वं मित्रं मम जामदग्न्यपरशो ! येनैतदाभाष्यसे,
सम्प्रत्येव यथाप्रतिश्रुतमियं कन्या मया दीयते ।
तेनेह स्वयमेत्य धूर्जटिधनुर्धौरेयदोःसम्पदो
जामातुः पुरतश्चिराय भवता धाराजलं त्यज्यताम् ॥ ३६ ॥

जनक इति । प्रतिसन्देशः = सन्देशोत्तरमिति भावः ।

अन्वयः—जामदग्न्यपरशो ! त्वम् मम मित्रम्, येन एतत् आभाष्यसे । सम्प्रत्येव मया यथाप्रतिश्रुतम् इयम् कन्या दीयते । तेन इह स्वयम् एत्य धूर्जटिधनुर्धौरेयदोःसम्पदः जामातुः पुरतः भवता चिराय धाराजलम् त्यज्यताम् ।

व्याख्या—जामदग्न्यपरशो = परशुरामपरशो ! त्वम् मम मित्रम् = सुहृद् (असि) येन = यस्मात् कारणात् एतत् = इदम्, वक्ष्यमाणम् आभाष्यसे = सन्दिश्यसे (मया) । सम्प्रत्येव = अधुनैव, यथाप्रतिश्रुतम् = प्रतिज्ञामनुल्लङ्घ्यैव मया इयम् कन्या = सीता, दीयते = समर्प्यते, तेन = तस्मात् कारणात्, इह = अत्र, स्वयम् एत्य = आगत्य धूर्जटिधनुर्धौरेयदोःसम्पदः—धूर्जटेः = शिवस्य, धनुषः = कार्मुकस्य धौरेयी = धुरन्धरा, उत्तोलने समर्थेति भावः, दोः सम्पद् = भुजबलं यस्य तस्य, जामातुः = हरचापाकर्षकस्य दुहितृपतेः, पुरतः = अग्रे, भवता = त्वया, चिराय = चिरकालपर्यन्तम्, धाराजलम् = स्वतीक्ष्णतमाग्रभागरूपं सलिलम्, त्यज्यताम् = विसृज्यताम् । शीघ्रमेव मम जामाता त्वत्तीक्ष्णतागर्वमपाकरिष्यतीति भावः । पर्यायोक्तमलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ३६ ॥

जनक - (हँस कर) तो मुझे भी उसके सन्देश का उत्तर कहना है ।

मुनि—वह कैसा है ?

जनक—हे जामदग्न्यपरशो ! तुम मेरे मित्र (हो) जिससे ऐसा सन्देश मेरे द्वारा दिया जा रहा है । अभी ही (अपनी) प्रतिज्ञा के अनुसार मेरे द्वारा यह कन्या (सीता) समर्पित की जा रही है; अतः यहाँ आकर शिव के धनुष को उठाने में समर्थ भुजबल वाले (मेरे) दामाद के सामने तुम्हारे द्वारा चिरकाल तक धाराजल छोड़ा जाय ॥ ३६ ॥

मुनि —तथास्तु ।

(इति निष्क्रान्त)

जनक —आङ्गिरसोपक्षिप्तस्तावदय जामदग्न्येन निजकोपानलस्फुलिङ्ग ।

शतानन्द —किमेतावता ? अतिगम्भीरभुजसारकासारकैरवाराम खलु राम ।

विश्वामित्र —राजर्षे ! के पुनरमी परित स्फुरन्मणिमौलय पर सहस्रा दृश्यन्ते ?

जनक इति । आङ्गिरस = शतानन्द । जामदग्न्येन—जमदग्नेरपत्य पुमान् जामदग्न्य = परशुराम, तेन ('गर्गादिभ्यो यञ्' इति यञ) । निजकोपानल-स्फुलिङ्ग = स्वक्रोधाग्निकण, उपक्षिप्त = वर्णित ।

शतानन्द इति । अतिगम्भीरभुजसारकासारकैरवाराम —अतिगम्भीर = दुरवगाह, भुजसार = बाहुबलमेव कासार = तडाग, तस्मिन् कैरवाराम = कुमुदवनरूप । अनेन विशेषणेन परशुरामकोपानलनिर्वापकत्व सूचितम् ।

विश्वामित्र इति । स्फुरन्मणिमौलय —स्फुरन्त = विद्योतमाना, मणय = रत्नानि, मौलिषु = मस्तकेषु येषा ते तादृशा, पर सहस्रा —सहस्रात् परे, सहस्राधिका इति भाव ।

मुनि —ऐसा ही हो ।

(यह कह कर निकल गया)

जनक—अङ्गिरस ! (शतानन्द जी !) परशुराम के द्वारा (अपने) क्रोधरूप अग्नि की यह चिनगारी सूचित की गयी है ।

शतानन्द—इससे क्या ? निश्चय ही, राम अत्यन्त गम्भीर भुजबलरूप तडाग के कुमुदोद्यान हैं ।

विश्वामित्र—राजर्षे ! (जनक !) चारों ओर चमकते हुए मणियों से सुशोभित मुकुटों वाले हजारों की सख्या में ये कौन दिखायी पड रहे हैं ।

जनकः—

श्रीकण्ठकार्मुकनिरस्तभुजावलेपा
नानादिगन्तजगतीपतयः किलामी ।
अभ्यर्थनां मम किमप्यभिवर्त्तमाना
गृह्णन्ति कानिचिदहानि नरेन्द्रपूजाम् ॥ ४० ॥

विश्वामित्रः—वत्स रामचन्द्र ! तदेषामेव पश्यतां कौतुकमस्माकं पूरय

(रामो विश्वामित्रं प्रणम्य निष्क्रान्तः)

अन्वयः—श्रीकण्ठकार्मुकनिरस्तभुजावलेपाः अमी नानादिगन्तजगतीपतयः मम अभ्यर्थनाम् किमपि अभिवर्तमानाः कानिचित् अहानि, नरेन्द्रपूजाम् गृह्णन्ति किल ।

व्याख्या—श्रीकण्ठकार्मुकनिरस्तभुजावलेपाः—श्रीकण्ठस्य = शिवस्य, कार्मुकेण = धनुषा, निरस्तः = अपाकृतः, भुजावलेपः = बाहुबलगर्वः, येषां ते, अमी= एते दृश्यमानाः, नानादिगन्तजगतीपतयः = अनेकदेशभूपतयः, मम = जनकस्य, अभ्यर्थनाम् = प्रार्थनाम्, कानिचिदहानि निवसनेनात्र भवद्भिरहं कृतार्थः कार्य इत्याकारिकामिति भावः । किमपि = कथमपीत्यर्थः, अभिवर्तमानाः=अनुसरन्तः, स्वीकुर्वन्त इत्यर्थः, कानिचित् अहानि = कतिचिद् दिनानि, ('कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया) नरेन्द्रपूजाम्=राजसत्कारम्, गृह्णन्ति = स्वीकुर्वन्ति, किलेति निश्चये । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ४० ॥

विश्वामित्र इति । एषामेव = राज्ञामेव, पश्यताम् ('षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी) ।

जनक—जिनके बाहुबल का गर्व शिवधनुष के द्वारा दूर किया जा चुका है वे ये नानादेश के भूपति मेरी प्रार्थना किसी तरह स्वीकार करते हुए कुछ दिन राजसत्कार ग्रहण कर रहे हैं ॥ ४० ॥

विश्वामित्र—वत्स रामचन्द्र ! तो इन (राजाओं) के देखते-देखते तुम हमारे कौतुक को पूर्ण करो ।

(राम विश्वामित्र को प्रणाम कर निकल गये)

जनक—आङ्गिरस ! अपरिशीलितसन्निवेशस्य वत्सरामस्य भवता प्रत्यनन्तरीभूयताम् । आदिश्यतां कञ्चुकी च करकलितकमलमालाया जानक्या स्वयंवराङ्गणावतरणाय ।

शतानन्द—तथास्तु । (इति निष्क्रान्तः)

(प्रविश्य)

कञ्चुकी—जयतु देव, अनुष्ठित एव देवादेशः ।

विश्वामित्र—(विलोक्य) (सहर्षम्) आः ! कथमुद्गतमेव रामचन्द्रयशःपताकाकेतुदण्डेन हरकोदण्डेन (पुनः सविस्मयम्) अये !

जनक इति । अपरिशीलितसन्निवेशस्य—अपरिशीलित = अपरिचित, सन्निवेश = प्रदेशविशेष, स्थानविशेषश्च यस्य तस्य तादृशस्य । प्रत्यनन्तरीभूयताम्=मार्गदर्शकेन भूयताम् । करकलितकमलमालाया =करकलिता=हस्तगृहीता कमलमाला = कमलपुष्पात्मक यया तस्याः, स्वयंवराङ्गणावतरणाय = स्वयंवरस्थानोपस्थानाय ।

विश्वामित्र इति । रामचन्द्रयशःपताकाकेतुदण्डेन—रामचन्द्रस्य यशः = कीर्तिरेव पताका = ध्वज, तस्याः केतुदण्डेन = आधारभूतदण्डेनेत्यर्थ । हरकोदण्डेन = शिवधनुषा । उद्गतमेव = उत्थितमेव ।

जनक—आङ्गिरस ! (शतानन्द जी !) (यहाँ के) स्थानों से अपरिचित राम के साथ साथ हो लें और हाथ में कमल माला लिये सीता को स्वयंवर स्थान में लाने के लिए कञ्चुकी को आदेश दीजिए ।

शतानन्द—ऐसा ही होगा (ऐसा कह कर निकल गये) ।

(प्रवेश कर)

कञ्चुकी—महाराज की जय हो । महाराज का आदेश पूरा कर दिया गया है ।

विश्वामित्र—(देखकर) (हर्षपूर्वक) अरे ! क्या रामचन्द्र की कीर्ति-पताका का दण्डरूप शिव का धनुष उठ ही गया । (पुनः आश्चर्य के साथ) अरे !

राघवेण शिशुनापि किलायं लीलयैव नमितो हरचापः ।
दूरमुल्लसति यस्य समन्तादम्बरेऽपि गमितो गुणघोषः ॥ ४१ ॥

लक्ष्मणः – भगवन् ! एवमेतत्, तथाहि—

पूर्णा एव पुरारिचापकपटच्छन्नाचलग्रामणी-
गूढानेकगुहागभीरकुहरस्फारप्रतिध्वानिभिः ।
मौर्वीभूतभुजङ्गराजवदनश्रेणीविसर्पद्वचः-
प्रारब्धार्यंयशःप्रशस्तिसदृशैर्ज्याघातघोषैर्दिशः ॥ ४२ ॥

अन्वयः – शिशुनाऽपि राघवेण अयम् हरचापः लीलयैव नमितः किल। यस्य अम्बरेऽपि गमितो गुणघोषः समन्तात् दूरम् उल्लसति ।

व्याख्या—शिशुनाऽपि = बालकेनापि, राघवेण = श्रीरामचन्द्रेण, अयम् = एष प्रसिद्धः, हरचापः = शिवधनुः, लीलयैव = अनायासेनैव, नमितः=आरोपितः, किलेति निश्चये । यस्य=नमितस्य शिवधनुषः, अम्बरेऽपि = आकाशेऽपि, गमितः= प्रापितः, गुणघोषः=ज्याशब्दः, समन्तात्=परितः, दूरम्=बहुदूरपर्यन्तम्, उल्लसति= प्रसरति । निश्चितमेव बालकेनापि श्रीरामचन्द्रेण लीलयैव शिवधनुर्नमितं यस्य टङ्कृतिराकाशं भूतलं चाभिव्याप्य वर्तते इति भावः । स्वागता वृत्तम् ॥ ४१ ॥

विश्वामित्रोक्तिं समर्थयन्नाह लक्ष्मणः - पूर्णा एवेति ।

अन्वयः—पुरारिचापकपटच्छन्नाचलग्रामणीगूढानेकगुहागभीरकुहरस्फारप्रतिध्वानिभिः मौर्वीभूतभुजङ्गराजवदनश्रेणीविसर्पद्वचः प्रारब्धाऽऽर्यंयशःप्रशस्तिसदृशैः ज्याघातघोषैः दिशः पूर्णाः एव ।

व्याख्या—पुरारिचापेत्यादिः—पुरारेः = शिवस्य चापः = धनुः, तस्य कपटेन = छलेन, छन्नः = गुप्तः, शिवचापरूपतया प्रच्छन्नो भूत्वा स्थित इति

बालक होकर भी रामचन्द्र के द्वारा शिव का धनुष अनायास ही झुका दिया गया (मालूम पड़ता) है, (क्योंकि) जिस (धनुष) की प्रत्यञ्चा का शब्द (टङ्कार) आकाश में पहुँचाया जाकर भी चारों ओर दूर-दूर तक फैल रहा है ॥ ४१ ॥

लक्ष्मण—भगवन् ! यह ऐसा ही है । जैसे कि—

शिव के धनुष के व्याज से प्रच्छन्न होकर स्थित गिरिश्रेष्ठ हिमालय की

जनक—आः ! किमुच्यते, दिशः पूर्णा इति ? ननु
एतैः श्रीकण्ठकोदण्डचञ्चन्मौर्वीभवैः रवैः ।
चिरात् प्रतिज्ञया साकं पूर्णो मम मनोरथः ॥ ४३ ॥

भावः, य अचलग्रामणी = पर्वतमुख्य हिमालय इत्यर्थ, तस्य गूढा =अन्तर्हिता, अनेकगुहा = बहुकन्दराणि, तासां गभीरकुहराणि गभीराणि = गम्भीराणि, लम्बायमानानीत्यर्थः, यानि कुहराणि=विवराणि, तेषु स्फारम्=प्रचुरं यथा स्यात्तथा प्रतिध्वानिभिः =प्रतिध्वनिं कुर्वद्भिः । मौर्वीभूतेत्यादि मौर्वीभूत = ज्याभूत, य भुजङ्गराज = वासुकि, तस्य या वदनश्रेणी = मुखपङ्क्ति, तस्याः विसर्पद्भिः = निष्क्रामद्भिः, वचोभिः = वचनैः, प्रारब्धा = प्रवृत्ता, आर्यस्य=श्रीरामचन्द्रस्य, या यश प्रशस्तय = कीर्तिवर्णनानि, ताभिः सदृशैः = तुल्यैः, ज्याघातघोषैः = धनुर्गुणाघातरवैः, दिश = आशा, पूर्णा एव = आशा एव । कैतवापह्नुतिरलङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ४२ ॥

अन्वय—श्रीकण्ठकोदण्डचञ्चन्मौर्वीभवैः एतैः रवैः चिरात् मम प्रतिज्ञया साकम् मनोरथ पूर्णः ।

व्याख्या—श्रीकण्ठकोदण्डचञ्चन्मौर्वीभवैः—श्रीकण्ठ = शिव, तस्य कोदण्डस्य = धनुष, चञ्चन्ती = चलन्ती, तस्या आकर्षणानन्तर परित्यागादिति भाव । या मौर्वी = प्रत्यञ्चा, तद्भवैः = तदुत्पन्नैः, एतैः = श्रूयमाणैः, रवैः = शब्दैः, चिरात् = बहुकालात्, मम प्रतिज्ञया साकम् = सह, (मम) मनोरथः = सीतापरिणयरूपोऽभिलाष, पूर्ण = सम्पन्न । सहोक्तिरलङ्कार । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ४३ ॥

अनेक गुफाओं के गहरे छिद्रों में प्रचुरता के साथ प्रतिध्वनित होने वाले, प्रत्यञ्चा बने हुए वासुकिनाग की मुखपङ्क्ति से निकलते हुए वचनों से प्रारम्भ की गयी आर्य (श्रीरामचन्द्र जी) की यश प्रशस्तियों के समान प्रत्यञ्चा के आघात शब्दों से दिशाएँ पूर्ण ही हैं ॥ ४२ ॥

जनक—अरे ! क्या कह रहे हो दिशाएँ पूर्ण हो गयीं ? अरे !—

शिव-धनुष की (खींच कर छोड़ देने से) चलती हुई प्रत्यञ्चा से उत्पन्न इन शब्दों से बहुत समय से की हुई मेरी प्रतिज्ञा के साथ-साथ मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया ॥ ४३ ॥

प्रतीहारी—(कञ्चुकिनं प्रति) आर्य ! पश्य पश्य कौतूहलम् । सीता-रामाभ्यां मिलित्वा पुनर्हरचापारोपणं समग्रीक्रियते । (अज्ज ! पेक्ख पेक्ख कोदूहलम् । सीतारामेहिं मिलिअ उण हरचावारोवणं समग्गीकरीअदि)

कञ्चुकी—(सकौतुकम्) कथमिव ! (विमृश्य, विहस्य च) आं ! ज्ञातम्।

करकिसलयलीलाचारुचण्डीशचापे
दशरथतनयेन स्वैरमाकृष्यमाणे ।
रससरसविकासी सीतया पुङ्खितोऽसौ
कुवलयदलदामश्यामकान्तिः कटाक्षः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—दशरथतनयेन चण्डीशचापे करकिसलयलीलाचारु स्वैरम् आकृष्यमाणे (सति) सीतया रससरसविकासी कुवलयदलदामश्यामकान्तिः असौ कटाक्षः पुङ्खितः ।

व्याख्या—दशरथतनयेन = दशरथपुत्रेण, श्रीरामचन्द्रेण, चण्डीशचापे = शिवधनुषि, करकिसलयलीलाचारु—करः किसलयम् = पल्लवमिवेति कर-किसलयम् ('उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति समासः) तस्य लीला= विलासः, तया चारु = मनोहरं यथा स्यात्तथा, स्वैरम् = स्वच्छन्दं यथा स्यात्तथा, आकृष्यमाणे = नम्यमाने सति ('यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सप्तमी) सीतया = जानक्या, रससरसविकासी—रसेन = अनुरागेण, सरसः = आर्द्रः तथा विकासी = प्रफुल्लः, कुवलयदलदामश्यामकान्तिः—कुवलयदलानाम् = नीलकमलपत्राणाम्, दाम = माला, तद्वत् श्यामकान्तिः = श्यामा कान्तिः = वर्णः, यस्य सः, असौ कटाक्षः पुङ्खितः=कटाक्षरूपः शरो धनुषि योजित इत्यर्थः । उपमालङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥ ४४ ॥

प्रतीहारी—(कञ्चुकी के प्रति) आर्य ! कौतूहल (आश्चर्य) देखिए ! देखिए ! सीता और राम मिल कर फिर से शिवधनुष का चढ़ाना पूर्ण कर रहे हैं ।

कञ्चुकी—(उत्सुकता के साथ) कैसे ? (सोचकर और हँस कर) हाँ, जान गया । रामचन्द्र के द्वारा पल्लवसदृश हाथ की लीला से सुन्दरता-पूर्वक स्वच्छन्दता के साथ शिव का धनुष खींचा जाने पर सीता के द्वारा अनुराग से आर्द्र एवं प्रफुल्ल नीलकमल की पंखुड़ियों के समान श्याम वर्ण कटाक्ष रूप बाण धनुष से जोड़ दिया गया ॥ ४४ ॥

लक्ष्मण — भगवन् ! अत्यद्भुतं वर्तते । नन्वयम् —

भिन्दन्निद्रां मुरारेः सकलभुजभृतां म्लानयन् शौर्यदर्पं,
छिन्दन् दिक्कुम्भिकर्णाञ्चलचलनकलां कम्पयन् कूर्मराजम् ।
आर्यश्लाघागभीरः प्रलयजलधरध्वानधिक्कारधीरः
टाङ्कारः कृष्यमाणत्रिपुरहरधनुर्भङ्गभूराविरस्ति ॥४५॥

अन्वय — मुरारेः निद्रां भिन्दन्, सकलभुजभृतां शौर्यदर्पं म्लानयन्, दिक्कुम्भिकर्णाञ्चलचलनकलां छिन्दन्, कूर्मराजं कम्पयन् आर्यश्लाघागभीरः प्रलयजलधरध्वानधिक्कारधीरः कृष्यमाणत्रिपुरहरधनुर्भङ्गभूः टाङ्कारः आविरस्ति ।

व्याख्या — मुरारेः = (क्षीरसागरे शयानस्य) विष्णोः, निद्राम्, भिन्दन् = उच्चाटयन्, सकलभुजभृताम् = समस्तबाहुशालिनां वीराणामित्यर्थः, शौर्यदर्पम् = वीर्यगर्वम्, म्लानयन् = म्लानं कुर्वन्, दिक्कुम्भिकर्णाञ्चलचलनकलाम् = दिक्कुम्भिनाम् = दिग्गजानाम्, कर्णाञ्चलानि = श्रोत्रप्रभागाः, तेषां चलनकलाम् = स्फुरणशिल्पम्, छिन्दन् = अपहरन्, (घोरं रवं श्रुत्वा गजानां स्तब्धकर्णत्वादेवमुक्तिरिति बोध्यम्) कूर्मराजम् = धराधारभूतं कच्छपम्, कम्पयन् = चालयन्, आर्यश्लाघागभीरः — आर्यस्य = पूज्यस्य अग्रजस्य श्रीरामचन्द्रस्येत्यर्थः, श्लाघया = प्रशंसया, गभीरः = गम्भीरः, सम्भृत इत्यर्थः, प्रलयजलधरध्वानधिक्कारधीरः — प्रलयजलधराणाम् = प्रलयमेघानाम्, ध्वानम् = गर्जनशब्दः, तस्य धिक्कारे = तिरस्कारे धीरः = कुशलः, कृष्यमाणत्रिपुरहरधनुर्भङ्गभूः — कृष्यमाणस्य = आरोप्यमाणस्य, त्रिपुरहरधनुषः = शिवकोदण्डस्य, भङ्गः = त्रोटनम्, तद्भूः = तदुत्थः, टाङ्कारः = "टाम्" इत्यनुकरणात्मको ध्वनिः, आविरस्ति = समुद्भवति । अत्राद्भुतो रसः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ४५ ॥

लक्ष्मण — भगवन् ! अत्यन्त आश्चर्य है !

(क्षीरसागर में सोये हुए) विष्णु की नींद को भङ्ग करता हुआ, समस्त भुजशालियों (वीरों) की वीरता के दर्प को म्लान करता हुआ, दिग्गजों के कर्णप्रान्त के सञ्चालन की कला को अपहृत करता हुआ, (धरा के आधार) कच्छपराज को कम्पित करता हुआ, पूज्य (श्रीरामचन्द्र जी) की प्रशंसा से गम्भीर (भरा हुआ), प्रलय कालीन मेघों के गर्जन को तिरस्कृत करने में कुशल, खींचे गये शिवधनुष के टूटने से उत्पन्न टङ्कारशब्द आविर्भूत हो रहा है (चारों ओर फैल रहा है) ॥ ४५ ॥

प्रतीहारी—

त्रैलोक्यं लङ्घयन् गिरिगभीरगुहासुप्तजाग्रत्सिंह-
स्फारोन्मीलत्कण्ठस्तनितप्रतिरवोद्गारपूर्यमाणे ।
ब्रह्माण्डे भज्यमाने बहुविकटकटत्कारप्राग्भारभीमो-
ऽहो ! भज्यच्चण्डीश्वरधनुष्टणत्कार उद्गच्छति ॥४६॥

(तेल्लोक्कं लङ्घअन्तो गिरिगहिरगुहासुत्तजग्गन्तसीह-
प्फारुम्मिल्लन्तकण्ठत्थणिअपडिरवुग्गारपूरिज्जमाणे ।
बह्मण्डे भज्जमाणे बहुविअडकडक्कारपब्भारभीमो
अम्मो ! भज्जन्तचण्डीसरधणुट्टणक्कारओ उग्गमेइ ॥

अन्वयः—अहो ! त्रैलोक्यम् लङ्घयन् गिरिगभीरगुहासुप्तजाग्रत्सिंहस्फारोन्मीलत्कण्ठस्तनितप्रतिरवोद्गारपूर्यमाणे ब्रह्माण्डे भज्यमाने बहुविकटकटत्कारप्राग्भारभीमः भज्यच्चण्डीश्वरधनुष्टणत्कारः उद्गच्छति ।

व्याख्या—अहो = आश्चर्यद्योतकमव्ययपदमिदम् । त्रैलोक्यम् = त्रिभुवनम्, लङ्घयन् = प्रतीत्य गच्छन्, व्याप्नुवन्नित्यर्थः, गिरिगभीरेत्यादिः—गिरीणाम् = पर्वतानाम्, गभीरासु = गम्भीरासु, गुहासु=कन्दरासु (प्राक्) सुप्ताः, (पश्चात् शब्दश्रवणेन) जाग्रतः = प्रबोधं प्राप्नुवन्तः, ये सिंहाः, तेषां स्फारम् = दीर्घम्, उन्मीलत् = प्रकटीभवत् स्तनितम् = गर्जितम्, तस्य प्रतिरवः = प्रतिध्वनिः तस्य उद्गारः = निर्गमः, तेन पूर्यमाणे = भ्रियमाणे, ब्रह्माण्डे = संसारे, भज्यमाने = विदीर्यमाणे, बहुविकटकटत्कारप्राग्भारभीमः—बहुविकटः = अतिशयभयानकः, कटत्कारः = 'कटत्' इति शब्दः ('कड़-कड़' इति भाषायाम्) तस्य प्राग्भारेण= विस्तारेण भीमः = भयानकः, भज्यच्चण्डीश्वरधनुष्टणत्कारः— भज्यत् = त्रुट्यत्, चण्डीश्वरस्य = शिवस्य, यद् धनुः, तस्य टणत्कारः = 'टणत्' इति शब्दः, उद्गच्छति = उदयते । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ४६ ॥

प्रतीहारी—आश्चर्य का विषय है । तीनों लोकों को लाँघता हुआ, पर्वतों की गहरी कन्दराओं में सोते-सोते (शब्द सुन कर) जगे हुए सिंहों के प्रादुर्भूत गर्जन शब्दों की प्रतिध्वनियों के उद्गम से परिपूर्ण संसार के विदीर्ण होते रहने पर, अत्यन्त भयानक 'कड़कड़' शब्द के विस्तार से भयङ्कर, टूटते हुए शिवधनुष का 'टणत्' ऐसा शब्द (अर्थात् कड़-कड़ की ध्वनि) बढ़ रहा है ॥ ४६ ॥

कञ्चुकी—पश्य कौतुकम्—

क्रीडाभग्नमृगाङ्कमौलिधनुषं सीतार्पितां वक्षसा
बिभ्राणं कमलस्रजं निजगृहं शृङ्गारवीरश्रियोः ।
रामं व्रीडवशादवाञ्चितमुखं भूमीभुजां पश्यतां
चेतः क्रोधविषादविस्मयमुदामूर्मी समालिङ्गति ॥ ४७ ॥

अन्वय—क्रीडाभग्नमृगाङ्कमौलिधनुषम् सीतार्पिताम् कमलस्रजम् वक्षसा बिभ्राणम् शृङ्गारवीरश्रियोः निजगृहम्, व्रीडवशात् अवाञ्चितमुखम् रामम् पश्यताम् भूमीभुजाम् चेतः क्रोधविषादविस्मयमुदाम् ऊर्मी समालिङ्गति ।

व्याख्या—क्रीडाभग्नमृगाङ्कमौलिधनुषम्—क्रीडया = अनायासेनेत्यर्थः, भग्नम् = खण्डितम्, मृगाङ्कमौलेः = चन्द्रशेखरस्य, शिवस्येत्यर्थः, धनुर्येन तम् सीतार्पिताम् सीतया = जानक्या, अर्पिताम् = दत्ताम् प्रतिग्राहितामित्यर्थः, कमलस्रजम् = पद्ममालाम्, वक्षसा = वक्षःस्थलेन, बिभ्राणम् = धारयन्तम्, शृङ्गारवीरश्रियोः = शृङ्गारवीरयोः = तत्तद्रसस्थायिभावयो रत्युत्साहयोरित्यर्थः, श्रियोः = लक्ष्म्योः, निजगृहम् = स्वाश्रयस्थानम् व्रीडवशात् = लज्जापारवश्यात् अवाञ्चितमुखम् = अवाञ्चितम् = अवनमितम्, मुखम् = वदनं यन तम् तादृशम् रामम् = श्रीरामचन्द्रम् पश्यताम् = विलोकयताम्, भूमिभुजां = भूपतीनाम्, चेतः = हृदयम्, क्रोधविषादविस्मयमुदाम्—क्रोधः = कोपः, धनुर्भङ्गेन रामसामर्थ्यं दृष्ट्वा कोपः, विषादः, सीताया अप्राप्त्या विषादः, विस्मयः = आश्चर्यम्, रामस्यालौकिकसामर्थ्यं दृष्ट्वाऽऽश्चर्यम्, मुद् = हर्षः, सीतारामौ योग्यवरकन्ये दृष्ट्वा हर्षः, इत्येतेषां भावानाम्, ऊर्मी = तरङ्गान् समालिङ्गति—स्पृशति शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥४७॥

कञ्चुकी—(यह) आश्चर्य देखिए—

अनायास ही शिव धनुष को तोड़ने वाले, सीता के द्वारा पहिनायी गयी कमलमाला को वक्षःस्थल से धारण किए हुए, शृङ्गार लक्ष्मी (अर्थात् रति स्थायीभाव) और वीरलक्ष्मी (अर्थात् उत्साह स्थायीभाव) के आश्रय-स्थान, लज्जावश मुख नीचे किये हुए राम को देखते हुए भूपतियों का चित्त क्रोध, विषाद, विस्मय और हर्ष की तरङ्गों का आलिङ्गन कर रहा है ॥ ४७ ॥

(प्रविश्य)

शतानन्दः—राजर्षे ! विषीद वा प्रसीद वा, इदं यथादृष्टमुपवर्ण्यते।

ज्यावल्लीं ललिताङ्गुलीकिसलयैराकर्णमाकर्षतो-
न भ्रूर्भङ्गुरतां गता रघुशिशोर्भग्नं धनुर्धूर्जटेः।
नाहङ्कारतरङ्गितो ध्वनिरभूत् कण्ठेऽस्य दीर्यद्धनु-
ष्टङ्कारस्तु चकार तारतरलः शब्दाद्वितीयं जगत् ॥ ४८ ॥

शतानन्द इति। राजर्षे = जनकराज! विषीद=धनुर्भङ्गेन विषादमनुभव। प्रसीद वा = प्रसन्नो भव वा सीतानुरूपवरप्राप्तेः।

अन्वयः—ललिताङ्गुलीकिसलयैः ज्यावल्लीम् आकर्णम् आकर्षतः रघुशिशोः भ्रूः भङ्गुरतां न गता (किन्तु) धूर्जटेः धनुः भग्नम्, अस्य कण्ठे अहङ्कारतरङ्गितः ध्वनिः न अभूत्, तु तारतरलः दीर्यद्धनुष्टङ्कारः जगत् शब्दाद्वितीयम् चकार।

व्याख्या—ललिताङ्गुलीकिसलयैः = ललिताः = सुकोमलाः, अङ्गुल्यः किसलयानि = नूतनकेलपत्राणीव तैः, ज्यावल्लीम् = प्रत्यञ्चालताम्, आकर्णम् = कर्णपर्यन्तम्, आकर्षतः = नमयतः, रघुशिशोः = रघुकुलकिशोरस्य श्रीरामचन्द्रस्येत्यर्थः, भ्रूः = भ्रूकुटिः, भङ्गुरताम् = कुटिलताम् न गता = न प्राप्ता, (किन्तु) धूर्जटेः = हरस्य, धनुः, भग्नम् = त्रुटितम्, अस्य = श्रीरामचन्द्रस्य, कण्ठे = गले, अहङ्कारतरङ्गितः = गर्वजनितः, ध्वनिः = हुमिति शब्दः, न अभूत् = सञ्जातः, तु = किन्तु तारतरलः = कर्कशः प्रसरणशीलश्च, दीर्यद्धनुष्टङ्कारः = दीर्यतः = भज्यमानस्य धनुषः = चापस्य, टङ्कारः = टमिति शब्दः, जगत् = लोकम्, शब्दाद्वितीयम् = शब्दे = ध्वनिविषये अद्वितीयम् = अनुपमम्, कोलाहलातिशय-

(प्रवेश कर)

शतानन्द—राजर्षे! आप अप्रसन्न हों या प्रसन्न; (किन्तु) जैसा देखा है, वर्णन कर रहा हूँ।

सुकोमल किसलय सदृश अङ्गुलियों से प्रत्यञ्चालता को कान तक खींचते हुए रघुकुलकिशोर (श्रीरामचन्द्रजी) की भौंह वक्र (भी) नहीं हुई थी (किन्तु) शिव का धनुष टूट गया। इन (श्रीरामचन्द्र) के कण्ठ में गर्वजनित ('हुम्' ऐसा) शब्द (भी) नहीं हुआ किन्तु टूटते हुए धनुष के कर्कश और

जनक—कथं पुनरेतावतीमतिभूमिमवगाहमानोऽपि वत्सो रामभद्रो भवता न निवारितः ?

शतानन्द—कथङ्कारं वारयामः ?

यावत्कन्दुकलाञ्छनाञ्चितकरः शोणाब्जनालाकृतिः
कौसल्यार्पितमङ्गलप्रतिसरो वत्सस्य दोःकन्दलः ।
किञ्चिच्चञ्चति, तावदेव हि दलच्चण्डीशचापोच्छल-
च्छब्दैकार्णवमग्नमेतदखिलं जातं त्रिलोकीतलम् ॥ ४९ ॥

परिपूर्णमिति भावः, चकार = कृतवान् । उपमालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४८ ॥

जनक इति । एतावतीम् = इयतीम् । अतिभूमिम् = पराकाष्ठाम् । अवगाहमानः = प्रविशन् । धनुराकर्षणमात्रस्याभीप्सितत्वे तद्भञ्जनेऽपि प्रवृत्तो वत्सो रामभद्रः कथं न भवता निवारित इति जनकस्याशयः ।

शतानन्दो वारणासम्भवं दर्शयति—यावदिति ।

अन्वयः—यावत् कन्दुकलाञ्छनाञ्चितकरः शोणाब्जनालाकृतिः कौसल्यार्पितमङ्गलप्रतिसरः वत्सस्य दोःकन्दलः किञ्चित् चञ्चति, तावत् एव हि एतत् अखिलं त्रिलोकीतलम् दलच्चण्डीशचापोच्छलच्छब्दैकार्णवमग्नम् जातम् ।

व्याख्या—यावत् = यस्मिन्नेव समये, कन्दुकलाञ्छनाञ्चितकरः—कन्दुकलाञ्छनेन = कन्दुकक्रीडासमुद्भूतचिह्नेन, अञ्चितः = शोभितः करः = बाहुपुरोभागो यस्य सः, शोणाब्जनालाकृतिः—शोणम् = रक्तम्, अब्जम् = कमलम्, तस्य नालस्य = दण्डस्येवाकृतिः =आकारो यस्य सः, कौसल्यार्पितमङ्गलप्रतिसरः—कौसल्यया = श्रीरामजनन्या अर्पितः = दत्तः, बद्ध इत्यर्थः, मङ्गलप्रतिसरः—

प्रसरणशील टङ्कार ने लोक को, शब्द में अद्वितीय (अर्थात् अतिशय कोलाहल से पूर्ण) कर दिया ॥ ४८ ॥

जनक—तो इस पराकाष्ठा तक पहुँचते हुए भी वत्स रामभद्र आप के द्वारा रोके क्यों नहीं गये ?

शतानन्द—हम रोकते कैसे ?

गेंद के (निरन्तर खेलने से समुद्भूत) चिह्न से शोभित हथेली वाला,

जनकः—तदलं कालातिपातेन। याच्यतामनुमतिर्भगवतो विश्वामित्रस्य जानकीरामभद्रयोः पाणिसङ्घट्टनाय।

रक्षाहस्तसूत्रं यस्मिन् स तथाभूतः (हस्तसूत्रे प्रतिसरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः) वत्सस्य = स्नेहपात्रस्य, श्रीरामचन्द्रस्येत्यर्थः, दोःकन्दलः—नवीनाङ्कुर इव, कोमल इत्यर्थः, बाहुः ('भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः) किञ्चित् = ईषत्, चञ्चति = धनुराकर्षणार्थं प्रसरति, तावत् एव = तस्मिन्नेव समये, हीति निश्चये, एतत् अखिलम् = समस्तम्, त्रिलोकीतलम् = त्रिभुवनम्, दलच्चण्डीशचापोच्छलच्छब्दैकार्णवमग्नम्—दलन् = भज्यमानः, चण्डीशचापः = शिवधनुः, तस्मात् उच्छलत् = उद्भवन् शब्दः = ध्वनिरेव एकः=अद्वितीयः, महानित्यर्थः, अर्णवः= समुद्रः तस्मिन् मग्नम् जातम् भज्यमानशिवधनुर्जनितध्वनिना त्रैलोक्यं व्याप्तमिति भावः। एतावताऽल्पसमयेन श्रीरामचन्द्रेण धनुर्भङ्गरूपकार्यं सम्पादितं यन्निवारणार्थमहमवसरमेव न लब्धवानिति शतानन्दोक्तेराशयः। अक्रमातिशयोक्तिरलङ्कारः, कार्यकारणयोर्युगपत्सत्त्वात्। तल्लक्षणं यथा—'अक्रमातिशयोक्तिः स्याद् युगपत्कार्यकरणे'। इति। शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४९ ॥

जनक इति। कालातिपातेन अलम् = समययापनेन अलम्, अधुना वृथा कालं मा गमयेति भावः। पाणिसङ्घट्टनाय = करसम्मेलनाय, विवाहायेत्यर्थः।

भगवतो विश्वामित्रस्यानुज्ञां लब्ध्वा झटिति सीतारामचन्द्रयोर्विवाहः सम्पाद्यतामिति जनकोक्तेराशयः।

रक्त कमल के दण्ड सदृश आकार वाला, कौशल्या के द्वारा बाँधे गये रक्षाहस्तसूत्र से युक्त, वत्स रामचन्द्र का नवीन अङ्कुर के समान (कोमल) बाहु ज्यों ही (धनुष खींचने के लिए) थोड़ा-सा आगे बढ़ा, त्यों ही समस्त त्रिभुवन टूटते हुए शिवधनुष से उद्भूत शब्दरूप अद्वितीय सिन्धु में डूब गया ॥ ४९ ॥

जनक—तो अब व्यर्थ समय बिताना ठीक नहीं। सीता और राम के पाणिपीडन के लिए मुनि विश्वामित्र से अनुमति माँगी जाय।

शतानन्द —

सद्योविघट्टमानेन धनुषैव पिनाकिनः ।
ननु सङ्घट्टितौ पाणी जानकीरामभद्रयोः ॥ ५० ॥

तदूर्मिलालक्ष्मणयोरेव पाणिसङ्घट्टनाय भगवानभ्यर्थनीयः ।

विश्वामित्र —(विहस्य) अस्त्वेतत्, परन्तु—

पाणीञ्जनककन्याना पीडयद्भिः सहानुजैः ।
सीतायाः रामभद्रो मे पाणिपीडनमिच्छति ॥ ५१ ॥

अन्वयः—सद्यः विघट्टमानेन पिनाकिनः धनुषा एव जानकीरामभद्रयोः पाणी सङ्घट्टितौ ननु ।

व्याख्या—सद्यः = इदानीमेव, विघट्टमानेन = भज्यमानेन, पिनाकिनः = शिवस्य, धनुषा = चापेनैव, जानकीरामभद्रयोः = सीतारामचन्द्रयोः, पाणी = हस्तौ, सङ्घट्टितौ = परस्परं मेलितौ । 'विघट्टमानेन सङ्घट्टितौ' इति विरोधः, भज्यमानेन शिवधनुषा जनकप्रतिज्ञापूर्तिं विदधता सहैव सीतारामचन्द्रयोः पाणी मेलिताविति तत्परिहारः । विरोधाभासोऽलङ्कारः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—जनककन्यानाम् पाणीन् पीडयद्भिः, अनुजैः सह मे रामभद्रः सीतायाः पाणिपीडनम् इच्छति ।

व्याख्या—जनककन्यानाम् = तिसृणां जनककन्यानाम्, पाणीन् = हस्तान्, पीडयद्भिः = स्वीकुर्वद्भिः, माण्डव्यादिभिस्तिसृभिर्जनकपुत्रीभिः सह विवाहं कुर्वद्भिर्भरतादिभिरित्यर्थः, अनुजैः सह, मे = मम, रामभद्रः, वत्सो रामचन्द्रः, सीतायाः पाणिपीडनम् = सीतया सह विवाहमित्यर्थः । इच्छति = वाञ्छति । एतेन श्रीरामस्य भ्रातृवत्सलत्वाऽऽवेद्यते । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ५१ ॥

शतानन्द—अभी अभी टूटते हुए शिवधनुष ने ही (आप [जनक] की प्रतिज्ञा-पूर्ति के साथ साथ) जानकी और रामभद्र के हाथों को सङ्घट्टित कर दिया ॥५०॥

तो ऊर्मिला और लक्ष्मण के ही पाणि पीडन के लिए भगवान् (विश्वामित्र) से अभ्यर्थना करनी चाहिए ।

विश्वामित्र—(हँस कर) यह हो, किन्तु—

जनक की कन्याओं के हाथों को ग्रहण करते हुए (अपने) अनुजों के साथ (ही) मेरे रामभद्र सीता का पाणिग्रहण (करना) चाहते हैं ॥ ५१ ॥

जनकः—(सहर्षम्) कथं माण्डवी-श्रुतकीर्तिभ्यां भरत-शत्रुघ्नयोरपि परिणयमनुसन्धत्ते भगवान् ?

विश्वामित्रः—अथ किम् ?

जनकः—तदगृहीतमिदमधिशेखरमाज्ञाकुसुमं भगवतः। तदागच्छत। समीहितं निष्पादयामः।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

इति तृतीयोऽङ्कः।

जनक इति। अभिसन्धत्ते=अभिप्रैति। अधिशेखरम्=शेखरे इत्यधि शेखरम्=शिरसीत्यर्थः, (विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः)। आज्ञाकुसुमम्=आदेशप्रसूनम्। भवदादेशः शिरोधार्य इति भावः। समीहितम्=अभीष्टम्, रामादीनां सीतादिभिः सह विवाहरूपमिति भावः।

इति विभाख्यायां प्रसन्नराघवव्याख्यायां तृतीयोऽङ्कः।

जनक—(हर्ष के साथ) क्या माण्डवी और श्रुतकीर्ति के साथ भरत और शत्रुघ्न का भी विवाह, अभीष्ट है आप को ?

विश्वामित्र—और क्या ?

जनक—तो आप की आज्ञा कुसुम मुकुट पर ग्रहण किया गया (अर्थात् आप की आज्ञा शिरोधार्य है)। तो आइए। अभीष्ट (रामादि का सीतादि के साथ विवाहरूप कार्य) निष्पन्न करें।

(इस तरह सब निकल गये)

इस प्रकार 'विभा' नामक 'प्रसन्नराघव' की व्याख्या में

तृतीय अङ्क समाप्त हुआ।

चतुर्थोऽङ्कः

(नेपथ्ये ध्रुवा गीयते)

मणिमयमङ्गलदीपो जनकनरेन्द्रस्य मण्डपे ज्वलति ।
चण्डानिलोऽपि प्राप्तो यस्मिन् विफलागमो भवति ॥ १ ॥

(मणिमयमङ्गलदीवो जणअणरेन्दस्स मण्डवे जलइ ।
चण्डाणिलो वि पत्तो जस्सिं विफलागमो होइ ॥)

(पुनर्नेपथ्ये)

अरे क्षत्रिया ! अपसरत लोचनपथात् । नन्वयम्—

नेपथ्य इति । नेपथ्ये = वेशादिरचनास्थाने । ध्रुवा = गीतिविशेष । ध्रुवा गीतेर्लक्षण यथा—'प्रथयति पात्रविशेषान् सामाजिकजनमनासि रञ्जयति । अनुसन्दधाति च रसान् नाट्यविधाने ध्रुवा गीति ' इति राजशेखर ।

अन्वय —जनकनरेन्द्रस्य मण्डपे मणिमयमङ्गलदीप. ज्वलति, यस्मिन् प्राप्त चण्डानिल अपि विफलागम भवति ।

व्याख्या—जनकनरेन्द्रस्य = जनकराजस्य, मण्डपे = भवने, मणिमयमङ्गलदीप —मणिमय = रत्ननिर्मित , मङ्गलदीप = माङ्गलिकदीप , ज्वलति = दीप्यते । यस्मिन् = मणिमयमङ्गलदीपे, प्राप्त = निर्वापणाय समागत , चण्डानिल = प्रबलवेग पवन , अपि, विफलागम —विफल = निरर्थक , आगम = आगमन यस्य स तादृश , भवति = जायते । अत्र ध्रुवाया मणिमयमङ्गलदीपत्वेन राम , चण्डानिलत्वेन कोपन परशुराम विफलागमत्वेन परशुरामागमनस्या किञ्चित्करत्वमित्यादयो सूच्यन्ते । गाथा (आर्या) जाति ॥ १ ॥

(नेपथ्य में ध्रुवा गीति गायी जाती है)

महाराज जनक के प्रासाद में मणिमयमङ्गलदीप जल रहा है, जिस पर बहता हुआ प्रचण्ड वायु भी (बुझाने में) असफल हो जाता है ॥ १ ॥

(पुन नेपथ्य में)

अरे क्षत्रियो ! नेत्र के आगे से हट जाओ । ये—

कुर्वन् कोपादुदञ्चद्रविकिरणसटापाटलैर्दृष्टिपातै-
रद्यापि क्षत्रकण्ठच्युतरुधिरसरित्सिक्तधारं कुठारम् ।
तीव्रैर्निःश्वासपातैः पुनरपि भुवनोत्पातमासूचयद्भि-
र्गर्जन्मौर्वीकचापस्त्रिभुवनविजयी जामदग्न्यः समेति ॥ २ ॥

अन्वयः—कोपात् उदञ्चद्रविकिरणसटापाटलैः दृष्टिपातैः अद्यापि कुठारम् क्षत्रकण्ठच्युतरुधिरसरित्सिक्तधारम् कुर्वन् पुनरपि भुवनोत्पातम् आसूचयद्भिः, तीव्रैः निःश्वासपातैः गर्जन्मौर्वीकचापः त्रिभुवनविजयी जामदग्न्यः समेति ।

व्याख्या—कोपात् = क्रोधात्, उदञ्चद्रविकिरणसटापाटलैः—उदञ्चन् = उदयं गच्छन् यः रविः = सूर्यः, तस्य किरणानां सटाः = जालानि, समूहा इत्यर्थः, तद्वत् पाटलैः = श्वेतरक्तैः, दृष्टिपातैः = दृष्टिनिक्षेपैः, अद्यापि = क्षत्रियविधनवृत्तान्तस्य पुरातनत्वेऽपि जाते, कुठारम् = परशुम्, क्षत्रकण्ठच्युतरुधिरसरित्सिक्तधारम्—क्षत्राणाम् = क्षत्रियाणाम्, कण्ठेभ्यः = गलप्रदेशेभ्यः, च्युता = निर्गता या रुधिरसरित् = शोणितनदी, तया सिक्ता = प्लाविता, धारा = तीक्ष्णाग्रभागो यस्य तम् तादृशम्, कुर्वन् = विदधत्, कोपादरुणनयनाभ्यां जामदग्न्येन विलोक्यमानोऽतएव तन्नेत्रकान्त्या रक्तवर्णः परशुः सद्यः क्षत्रियकण्ठनिर्गतरुधिरस्नात इव लक्ष्यत इवेति सरलार्थः । पुनरपि = मुहुरपि, भुवनोत्पातम् = संसारोपद्रवम्, आसूचयद्भिः = प्रकाशयद्भिः, तीव्रैः = उग्रैः, निःश्वासपातैः = श्वासनिर्गमैः, उपलक्षित इति शेषः । 'इत्थम्भूतलक्षणे' इति तृतीया । गर्जन्मौर्वीकचापः—गर्जन्ती = शब्दायमाना मौर्वी = प्रत्यञ्चा यस्य स गर्जन्मौर्वीकः ('नद्यृतश्च' इति समासान्तः कप्) गर्जन्मौर्वीकः चापः = धनुर्यस्य सः, त्रिभुवनविजयी = त्रिलोकीविजेता, जामदग्न्यः = परशुरामः, समेति = आगच्छति । अतो लोचनपथादपसरतेति पूर्वोक्तेन सम्बन्धः । अत्र पूर्वार्धे इव पदाभावात् प्रतीयमानोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ २ ॥

जो उदित होते हुये (प्रातःकाल के) सूर्य की (लाल) किरणों के समान लाल दृष्टिपातों से (अपने) परशु को ऐसा (लाल) बना रहे हैं कि मानों उसकी धार अभी तक, क्षत्रियों के कण्ठ प्रदेश से निकली हुई रुधिर सरिता से सिक्त (बनी हुई) है, पुनः भी लोकोपद्रव की सूचना देने वाले तीव्र निःश्वासपातों से (उपलक्षित अर्थात् युक्त), गरजती हुई प्रत्यञ्चा वाले धनुष को लिये हुए, त्रिभुवनविजेता परशुराम जी (इधर) आ रहे हैं ॥ २ ॥

(तत प्रविशति जामदग्न्य)

जामदग्न्य —(साटोप परिक्रम्य) अहो ! धृष्टता जनकस्य । हरचापारोपणेन कन्यादानं प्रतिजानीते ।

(परशु विलोक्य)

सकलनृपकठोरकण्ठपीठी-
बहलगलद्रुधिरौघधौतधार ।
तदिदमजनकं जगद्विधत्ते
परशुरयं जमदग्निनन्दनस्य ॥ ३ ॥

जामदग्न्य इति । साटोपम् = सगर्वं यथा स्यात्तथा ।

अन्वय —सकलनृपकठोरकण्ठपीठीबहलगलद्रुधिरौघधौतधार, जमदग्निनन्दनस्य अयम् परशु, तत् इदम् जगत् अजनकम् विधत्ते ।

व्याख्या — सकलेत्यादि —सकला = समस्ता, ये नृपा = राजान, तेषां कठोरकण्ठपीठीभ्य = कठिनगलप्रदेशेभ्य, गलन् = निर्गच्छन्, य रुधिरौघ = रक्तप्रवाह, तेन धौता = प्रक्षालिता, धारा = अग्रभाग यस्य स तादृश, जमदग्निनन्दनस्य = जमदग्निपुत्रस्य, मम परशुरामस्येत्यर्थ, अयम् = एष, परशु = कुठार, तत् = यत्र चापारोपणप्रतिज्ञया मम गुरो शिवस्य तिरस्कार क्रियते तत्, इदम् = एतत्, जगत्=लोकम्, अजनकम् = जनकाख्यनृपतिरहितम्, विधत्ते= कुरुते, करिष्यतीत्यर्थ, अत्र वर्तमानसामीप्ये लट् । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ३ ॥

(तदनन्तर परशुराम प्रवेश करते है)

जामदग्न्य—(गर्व के साथ घूम कर) अहो ! जनक की (भी) कैसी धृष्टता है ! (जो) यह शिवधनुष को चढाने से कन्या के विवाह की प्रतिज्ञा करता है ।

(परशु को देखकर)

समस्त (क्षत्रिय) नृपों के कठोर कण्ठ प्रदेश से अत्यधिक बहते हुए रुधिर प्रवाह से धुली हुई धार वाला, यह जमदग्निनन्दन (परशु राम) का परशु (अभी अभी) इस प्रसिद्ध जगत् को जनक विहीन (१–राजा जनक से विहीन, २–पिता से विहीन अर्थात् अनाथ) बनाये देता है ॥ ३ ॥

(विमृश्य)

उदितोऽर्जुनभुजविपिने ज्वलितस्तुङ्गेषु नृपतिवंशेषु ।
निमिकुलकमलकलापं कोपानल ! किं पुनः स्पृशसि ? ॥ ४ ॥

(पुनर्विचिन्त्य) अलमस्मिन्नुपेक्षया । मनोरथोपनीतजामातृभुजबलावलेपदुर्ललितः खल्वयम् । तथाहि—सन्दिष्टमनेनास्मत्परशोः—(इदं मिश्रम् ३।२६ पुनः पठति) अहो अस्य दुरवलेपः !

अन्वयः—कोपानल ! अर्जुनभुजविपिने उदितः, तुङ्गेषु नृपतिवंशेषु ज्वलितः, पुनः किम् निमिकुलकमलकलापम् स्पृशसि ?

व्याख्या—कोपानल = मम क्रोधपावक ! अर्जुनभुजविपिने—अर्जुनस्य = सहस्रार्जुनस्य, कार्त्तवीर्यस्येत्यर्थः, भुजविपिने = बाहुवने, कार्त्तवीर्यस्य सहस्रबाहुतया तद्बाहूनां वनत्वारोपः । उदितः = आविर्भूतः, तुङ्गेषु = दृप्तेषु, उन्नतेषु वा, नृपतिवंशेषु = नृपकुलेषु, नृपतय एव वंशाः = वेणवः, तेषु वा, ज्वलितः = समृद्धः, प्रज्वलितः, अन्योऽप्यनलः वने तरुशाखानां परस्परसङ्घट्टनेनाविर्भूय वंशान् दहन् प्रज्वलितो भवति । पुनः = भूयः, किम् = किमर्थम्, निमिकुलकमलकलापम् —निमिः = जनकपूर्वपुरुषः, तस्य कुलम् = वंश एव कमलम्, तस्य कलापम् = समुदायम्, स्पृशसि = दग्धुं श्रयसि । येन कार्त्तवीर्यस्य भुजसहस्रं छिन्नम्, एकविंशतिवारांश्चेयं पृथिवी क्षत्रियरहिता कृता स त्वं, मम कोपानल !. कमलकोमलनिमिकुलं हन्तुमिच्छन् न शोभत इति भावः । रूपकालङ्कारः, आर्या जातिः ॥ ४ ॥

पुनर्विचिन्त्येति । अलमस्मिन्नुपेक्षया—अस्मिन् = जनके, उपेक्षया = दयाप्रवृत्येत्यर्थः, अलम्=किञ्चित्साध्यं नास्तीत्यर्थः । 'अयं न हन्तव्यः' इत्यात्मिका

(विचार कर)

हे (मेरे) क्रोधानल ! तू कार्तवीर्य (सहस्रबाहु) के भुजवन में उत्पन्न हुआ, ऊँचे राजकुलरूप बाँसों में प्रज्वलित हुआ, तो फिर क्यों निमिकुल रूप कोमल-कमल समूह का स्पर्श करता है ? (ऐसा करना तुझे शोभा नहीं देता) ॥ ४ ॥

(पुनः सोचकर) इस (जनक) के विषय में उपेक्षा नहीं की जानी

यस्योद्यदघोरधाराञ्चलदलितगलदबाहुशाखासहस्र-
प्रोदगच्छद्रक्तधारानिवहजितनवोन्मीलदर्कांशुजाल ।
क्ष्मापाल कार्त्तवीर्य सुरपुरसुदृशां पुष्पिताशोकशाखि-
भ्रान्ति दत्त्वापि चित्ते निजपुरसुदृशा शोकशाखी बभूव॥५॥

क्षया जनके नोचितेति भाव । मनोरथोपनीतजामातृभुजबलावलेपदुर्ललित — मनोरथोपनीत = अभिलापप्रापितो यो जामाता = कन्यापति (भाविनीक्रिया-माश्रित्यैवमुक्ति), तस्य भुजबलस्य, अवलेपेन = गर्वेण, दुर्विनीत । दुरवलेप = दुरभिमान ।

अन्वय —यस्य उद्यद्घोरधाराञ्चलदलितगलद्बाहुशाखासहस्रप्रोद्गच्छद्रक्त-धारानिवहजितनवोन्मीलदर्कांशुजाल क्ष्मापाल कार्त्तवीर्य, सुरपुरसुदृशाम् चित्ते पुष्पिताशोकशाखिभ्रान्तिम् दत्त्वाऽपि निजपुरसुदृशाम् शोकशाखी बभूव ।

व्याख्या — यस्य = परशो , उद्यदित्यादि—उद्यत् = पराक्रममाणम्, घोर-धाराञ्चलम् = तीक्ष्णाग्रभागप्रान्त , तेन दलितम् = छिन्नम्, अतएव गलत् = पतत् यद् बाहुशाखासहस्रम् = भुजविटपसहस्रम्, तस्मात् प्रोद्गच्छन् = प्रवहमान , रक्तधारानिवहः शोणितप्रवाहसमूह , तेन जितम् = तिरस्कृतम्, नवोन्मीलत = अचिरोदयमानस्य, बालस्येत्यर्थ , अर्कस्य = सूर्यस्य, अंशुजालम् = किरणसमूहो येन स , क्ष्मापाल = भूपाल , कार्त्तवीर्यः = कृतवीर्यस्य पुत्र , अर्जुन इत्यर्थ , सुरपुरसुदृशाम् = स्वर्गसुन्दरीणाम्, चित्ते = मनसि, पुष्पिताशोकशाखिभ्रान्तिम्—पुष्पितस्य = प्रफुल्लस्य, अशोकशाखिन = अशोकाख्यवृक्षस्य, भ्रान्तिम् = भ्रमम्, दत्त्वाऽपि = उत्पाद्याऽपीत्यर्थ , निजपुरसुदृशाम् = स्वनगरसुन्दरीणाम्, शोकशाखी= शोकतरु शोकप्रद इत्यर्थ , बभूव = सञ्जात । बाहुसहस्रवत्तया शाखित्वम्,

चाहिए। यह (जनक) (अपने) मनोरथ के अनुसार पाये हुए जामाता के बाहुबल के गर्व से दुर्विनीत हो रहा है । जैसा कि इसने हमारे परशु को सन्देश दिया है—(स्व मित्रम् ३।३६ पुन पढते हैं) अहो ! इसका कैसा बुरा घमण्ड है !

(मेरे) जिस (परशु) के उठते हुए धार के अग्रभाग से काटे गये, एव गिरती हुई डालों के समान हजार बाहुओं से बहने वाले रक्त प्रवाह से नये निकलते हुए सूर्य के किरण समूहको तिरस्कृत करने वाला राजा कार्त्तवीर्य

अपि च—

येनावध्यत नर्मदाम्बुनिवहः संख्ये च लङ्केश्वर-
स्तद्यस्मिन्निरमज्जदर्जुनभुजक्षोणीरुहां मण्डलम् ।
क्षत्रस्त्रीनयनाम्बुपूरमिपतः खेलन्ति यत्कीर्तय-
स्तत्तादृक्परशुर्ममायमधुना धाराजलं मुञ्चति ॥ ६ ॥

रुधिराप्लावितत्तया च पुष्पितत्वमिति बोध्यम् । कासाञ्चित् कृते योऽशोकशाखी, अपरासां स एव शोकशाखीति विरोधाभासः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—येन नर्मदाम्बुनिवहः, संख्ये लङ्केश्वरः च अवध्यत, अर्जुनभुजक्षोणीरुहाम् तत् मण्डलम् यस्मिन् निरमज्जत् । यत्कीर्तयः क्षत्रस्त्रीनयनाम्बुपूरमिपतः खेलन्ति । तत् तादृक् अयम् मम परशुः अधुना धाराजलम् मुञ्चति ।

व्याख्या—येन = हैहयराजबाहुमण्डलेन, नर्मदाम्बुनिवहः = रेवाजलप्रवाहः, अवध्यत = न्यरुध्यत, संख्ये = सङ्ग्रामे, लङ्केश्वरः = रावणः, च अवध्यत = बद्धः, अर्जुनभुजक्षोणीरुहाणाम्—हैहयराजबाहुशाखिनाम्, तत्=नर्मदाजलप्रवाहस्य रावणस्य च निरोधकम्, मण्डलम् = समूहः, यस्मिन् = मम परशौ, निरमज्जत् = समाप्तिं गतमित्यर्थः । यत्कीर्तयः—यस्य = मम परशोः, कीर्त्तयः = यशांसि, क्षत्रस्त्रीनयनाम्बुपूरमिषतः—क्षत्रललनानाम् = क्षत्रियसुन्दरीणाम्, नयनाम्बुपूरस्य = नेत्रजलप्रवाहस्य मिषतः = छलेन, खेलन्ति = क्रीडन्ति, तत् = विश्वविश्रुतम्, तादृक् = कार्त्तवीर्यभुजसहस्रसमापकम्, क्षत्रियसंहारकञ्च (तादृगिति धाराजलमित्यस्य विशेषणम्) अयम् = एषः, मम परशुः = कुठारः, अधुना = सम्प्रति । धाराजलम् धारा = तीक्ष्णाग्रभाग एव जलम्, मुञ्चति = विसृजति, प्रहरतीति भावः । एकदा रावणः स्वप्रियाभिः सह नर्मदाप्रवाहे क्रीडतिस्म । कार्त्तवीर्येण स्वभुज-

स्वर्ग की सुन्दरियों के मन में पुष्पित अशोकवृक्ष (होने) का भ्रम उत्पन्न करके भी अपने पुर की सुन्दरियों के लिए शोकवृक्ष (शोकोत्पादक) हो गया ॥५॥

और भी—

जिसने नर्मदा के जलप्रवाह को और सङ्ग्राम में रावण को बाँध लिया था, कार्तवीर्य के भुजरूप वृक्षों का वह समूह (भी) जिसमें डूब गया और जिसकी कीर्त्तियाँ क्षत्रियललनाओं के अश्रुप्रवाह के व्याज से (संसार में आज

(विलोक्य) कथमयं शतानन्दशिष्यस्ताण्डचायनः ।

(प्रविश्य)

ताण्डचायनः—भगवन् ! अभिवादये ।

जामदग्न्यः—आयुष्मान् भूयाः । कथय तावत् । अपि नाम भवदुपाध्याययजमानस्य निवृत्ता हरचापारोपणश्रद्धा ?

ताण्डचायनः—निवृत्ता ।

जामदग्न्यः—(सहर्षम्) निवृत्ता ?

सहस्रेण नर्मदाप्रवाहो न्यरुध्यत । तत्र क्रुद्धो रावणः कार्तवीर्येण सह सङ्ग्राममकरोत् । कार्तवीर्येण रावणो बद्ध इति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धेया । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

जामदग्न्य इति । अपि नामेति प्रश्ने । भवदुपाध्याययजमानस्य—भवतः = तव ताण्डचायनस्य उपाध्यायः = आचार्यः शतानन्द इत्यर्थः, तस्य यजमानः = जनक इत्यर्थः, तस्य । हरचापारोपणश्रद्धा = हरचापारोपणविषयकाभिलाषः । कथयं जनकः शिवधनुरारोपणव्यापाराद् विरतोऽभून्न वेति जामदग्न्यस्य प्रश्नाशयः ।

ताण्डचायन इति । निवृत्ता = पूर्णेति ताण्डचायनाशयः ।

जामदग्न्य इति । निवृत्ता = उपसंहृता । हरचापारोपणश्रद्धा जनकेन स्वयं त्यक्तेति प्रसन्नताया विषय इति जामदग्न्यस्याशयः ।

मी) क्रीडा कर रही है अर्थात् विलसित है, मेरा यह परशु उस प्रसिद्ध धारारूप जल को अभी छोड़ता है, अर्थात् जनक के विनाश के लिए इसी समय प्रहार करता है ॥ ६ ॥

(देख कर) क्या यह शतानन्द का शिष्य ताण्डचायन (है) ?

(प्रवेश कर)

ताण्डचायन—भगवन् ! अभिवादन करता हूँ ।

जामदग्न्य—चिरञ्जीवी हो । अच्छा, कहो तो—क्या तुम्हारे उपाध्याय (शतानन्द) के यजमान (जनक) की शङ्कर के धनुष को चढ़ाने की श्रद्धा समाप्त हो गयी ?

ताण्डचायन—समाप्त हो गयी ।

जामदग्न्य—(हर्ष के साथ) समाप्त हो गयी ?

ताण्ड्यायनः—भगवन् ! निवृत्ता सहैव चापेन ।

जामदग्न्यः—(ससंभ्रमम्) किमात्थ ? सहैव चापेन निवृत्तेति ?

ताण्ड्यायनः—अथ किम् ?

जामदग्न्यः—स्फुटं कथय तावत् किं वृत्तमिति ?

ताण्ड्यायनः—कस्यचित्—

अखण्डचण्डिमोद्दण्डभुजदण्डनिपीडितम् ।
भगवन् ! भृगुमार्त्तण्ड ! भग्नं भर्गशरासनम् ॥ ७ ॥

जामदग्न्यः—(सक्रोधम्) कस्य ?

ताण्ड्यायन इति । निवृत्ता सहैव चापेन = जनकस्य हरचापारोपणश्रद्धापि निवृत्ता = पूर्णा, चापोऽपि निवृत्तः=समाप्तः, भग्न इत्यर्थः, इति ताण्ड्यायनाशयः ।

अन्वयः—भगवन् ! भृगुमार्तण्ड ! अखण्डचण्डिमोद्दण्डभुजदण्डनिपीडितम् भर्गशरासनम् भग्नम् ।

व्याख्या—भगवन्=षड्विधैश्वर्यसम्पन्न ! भृगुमार्तण्ड=भृगुकुलसूर्य ! अखण्डचण्डिमोद्दण्डभुजदण्डनिपीडितम् = अखण्डः = पूर्णो यश्चण्डिमा = प्रचण्डता, तेन उद्दण्डौ = दुर्दमौ यौ भुजदण्डौ, ताभ्यां निपीडितम् = आकृष्टम्, भर्गशरासनम् = भर्गस्य = शिवस्य, शरासनम् = धनुः, भग्नम् = त्रुटितम् । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ७ ॥

ताण्ड्यायन—भगवन् ! समाप्त हुई, और धनुष के साथ ही समाप्त हुई।

जामदग्न्य—(आवेग के साथ) क्या कहा ? धनुष के साथ ही समाप्त हुई ?

ताण्ड्यायन—और क्या ?

जामदग्न्य—अच्छा, साफ-साफ कहो, क्या हुआ ?

ताण्ड्यायन—भगवन् ! भृगुकुलसूर्य ! किसी के, पूर्णप्रचण्डता से दुर्दम भुजदण्डों के द्वारा खींचा गया शिव का धनुष टूट गया ॥ ७ ॥

जामदग्न्य—(क्रोध के साथ) किसके (भुजदण्डों द्वारा खींचा गया) ?

ताण्ड्यायन —

सुबाहुमारीचपुरस्सरा अमी
निशाचरा कौशिकयज्ञघातिनः ।
वशे स्थिता यस्य

जामदग्न्य — अलम्, अतः परं ज्ञातं खलु खलानामग्रणीर्निशाचर-ग्रामणी ।

ताण्ड्यायन — (स्वगतम्) कथं दशकण्ठेन धनुर्भग्नमिति प्रतीतं भगवता ? भवतु तावत् ।

जामदग्न्य — (सक्रोधम्) अयमिदानीम् ।

अन्वय — कौशिकयज्ञघातिनः सुबाहुमारीचपुरस्सरा अमी निशाचरा, यस्य वशे स्थिता (सन्ति) ।

व्याख्या — कौशिकयज्ञघातिनः — विश्वामित्रयज्ञविध्वंसकाः, सुबाहुमारीच-पुरस्सराः = सुबाहुमारीचप्रमुखाः, अमी = प्रसिद्धाः, निशाचराः = राक्षसाः, यस्य = जनस्य वशे = आधीन्ये, स्थिताः = वर्तमानाः (सन्ति) । ताण्ड्यायनस्याशयो यद्रामेण धनुर्भग्नम् किन्तु परशुरामेण ज्ञातं यद्रावणेन धनुः खण्डितम् । इत्य-पूर्णश्लोकार्थः ॥ ८ ॥

जामदग्न्य इति । अलम् = पर्याप्तम्, अतः परं मा ब्रूहीति भावः । खला-नामग्रणी = दुष्टानामग्रगण्यः । निशाचरग्रामणी — निशाचराणाम् = राक्षसानाम्, ग्रामणी = अधिपः, रावण इत्यर्थः ।

ताण्ड्यायन — विश्वामित्र के यज्ञ को विध्वस्त करने वाले सुबाहु मारीच आदि प्रसिद्ध राक्षस जिसके वश में स्थित *

विशेष — इस अपूर्ण वाक्य से परशुराम ने समझा कि रावण ने धनुष तोड़ा है ।

जामदग्न्य — बस करो, इसके आगे जान लिया कि निश्चय ही दुष्टों का अगुआ, निशाचरों का राजा (रावण, धनुष तोड़ने वाला है) ।

ताण्ड्यायन — (मन ही मन) क्या भगवान् (परशुराम) ने ऐसा समझ लिया कि रावण ने धनुष तोड़ा है ? अच्छा ।

जामदग्न्य — (क्रोध के साथ) अभी यह —

नृपशतसुकुमारकण्ठनालीकदनकलाकुशलः परश्वधो मे ।
दशवदनकठोरकण्ठपीठीकदनविनोदविदग्धतां दधातु ॥ ९ ॥

(विमृश्य) अथवा—

यः कर्त्ताऽर्जुनभूरुहाद्भुतभुजाशाखासहस्रच्छिदां
दम्भोलेर्गिरिकूटपाटनपटोः शौण्डीर्यतो लज्जते ।
तस्यैतस्य परेतराजसदनद्वारः कुठारस्य मे
का श्लाघा दशकण्ठकण्ठकदलीकाण्डावलीखण्डने ॥ १० ॥

अन्वयः—नृपशतसुकुमारकण्ठनालीकदनकलाकुशलः मे परश्वधः दशवदन-कठोरकण्ठपीठीकदनविनोदविदग्धताम् दधातु ।

व्याख्या—नृपशतेत्यादिः—नृपशतस्य=नरपतिसमुदायस्येत्यर्थः, सुकुमाराः= कोमलाः, कण्ठनाल्यः = कण्ठा एव नाल्यः = कमलदण्डा इत्यर्थः, तासां कदने = खण्डने या कला = नैपुण्यम्, तस्यां कुशलः = पटुः, मे = मम, परश्वधः=परशुः, दशवदनकठोरकण्ठपीठीकदनविनोदविदग्धताम्—दशवदनस्य=रावणस्येत्यर्थः, याः कठोराः = दृढाः, कण्ठपीठ्यः = गलप्रदेशाः, तासां कदने = कर्त्तने यो विनोदः = आनन्दः, तस्मिन् विदग्धताम् = नैपुण्यम्, दधातु = धारयतु । नृपाणां कोमल-कण्ठनिवहकर्त्तनेन कृताभ्यासो मम परशुः सम्प्रति कठोरं रावणकण्ठनिवहं छिन्-त्स्यतीति भावः ॥ पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—अर्जुनभूरुहाद्भुतभुजाशाखासहस्रच्छिदां कर्ता यः गिरिकूटपाटन-पटोः दम्भोलेः शौण्डीर्यतो लज्जते, परेतराजसदनद्वारः तस्य एतस्य मे कुठारस्य दशकण्ठकण्ठकदलीकाण्डावलीखण्डने का श्लाघा ?

व्याख्या—अर्जुनभूरुहाद्भुतभुजाशाखासहस्रच्छिदाम्—अर्जुनः = कार्त्तवीर्यः सहस्रार्जुन एव भूरुहः = वृक्षः, तस्य अद्भुताः भुजाः एव शाखाः = विटपाः,

---

सैकड़ों राजाओं के कोमल-कण्ठरूप कमलदण्डों को छेदन-कला में पटु मेरा परशु, दशानन (रावण) के कठोर कण्ठों के काटने के आनन्द में नैपुण्य धारण करे ॥ ९ ॥

(विचार कर) अथवा—

सहस्रार्जुनरूप वृक्ष की भुजा रूप सहस्र शाखाओं को काटने वाला जो

(पुनर्विचिन्त्य) तथाप्यनुचितमुदासितुमेतस्मिन् कृतागसि रक्षसि । तदिदानीं —

तासां सहस्रम् = दशशती, तस्य छिदाम् = कर्त्तनम्, कर्ता, कर्त्तेति तृजन्तपदेन योगात् 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इति कर्मणि षष्ठीनिषेधात् छिदामित्यत्र कर्मणि द्वितीयैवेतिबोध्यम् । यः = परशुः, गिरिकूटपाटनपटोः —गिरिकूटस्य = पर्वतसमूहस्य, पाटने = विदारणे, पटोः = कुशलस्य, दम्भोलेः = वज्रस्य (दम्भोलिरशनिर्द्वयोरित्यमरः) शौण्डीर्यतः = शुण्डा = गर्वोऽस्त्यस्येति विग्रहे शुण्डा इरन् ततः स्वार्थेऽण्, शौण्डीरः = अभिमानी, तस्य भावः शौण्डीर्यम्, ततः, अहङ्कारादित्यर्थः, शौण्डीरशब्दात् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति भावे ष्यञ् । लज्जते = त्रपते । कार्त्तवीर्यभुजसहस्रकर्त्तनकुशलो मे परशुर्गिरिकूट-पाटने पराक्रमप्रदर्शनावसरमप्राप्य वज्रस्य पुरतः तस्य अहङ्कारात्लज्जत इति सरलार्थः । परेतराजसदनद्वार —(षष्ठ्यन्तमिदं पदम्) परस्मिन् = लोके, इताः = गताः, इति परेताः = प्रेताः, तस्य राजा = स्वामी, यम इत्यर्थः, तस्य सदनस्य = गृहस्य, द्वारः = द्वारभूतस्य (स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहार इत्यमरः) तस्य= प्रसिद्धस्य, एतस्य = अस्य, मे = मम कुठारस्य = परशोः, दशकण्ठकण्ठकदली-काण्डावलीखण्डने —दशकण्ठस्य = रावणस्य कण्ठाः = गलाः एव कदलीकाण्डाः = कदलीस्तम्भाः, तेषामावली = श्रेणिः, तस्याः खण्डने = कर्त्तने, का = किंस्वरूपा, श्लाघा = प्रशंसा, न कापीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १० ॥

तथापि = दशकण्ठकण्ठखण्डने मत्कुठारस्य श्लाघाऽभावेऽपि । उदासितुम् = दययावस्थितुम् । कृतागसि = कृतम् = विहितम्, आगः = अपराधो येन तस्मिन्, कृतापराधे । रक्षसि = राक्षसे, रावण इत्यर्थः ।

(मेरा परशु) पर्वत-समूह के विदारण में कुशल वज्र के अहङ्कार से (पराक्रम प्रदर्शन का कभी वैसा अवसर न पाने के कारण) लज्जित होता है, यमराज के सदन के द्वारभूत (अर्थात् यमपुरी में प्रवेश कराने वाले) प्रसिद्ध इस मेरे परशु की, रावण के कण्ठरूप केले के खम्भों को काटने में क्या प्रशंसा है ? (अर्थात् कुछ भी प्रशंसा नहीं है) ॥ १० ॥

(पुनः सोचकर) तथापि इस अपराधी राक्षस (रावण) के विषय में उदासीन होना अनुचित है ।

दक्षिणस्याम्बुधेर्मध्ये कृत्वा कोङ्कणमष्टमम्।
मद्बाणजन्मा दहनो लङ्कातङ्काय जायताम् ॥ ११ ॥

(इति साटोपं परिक्रामति)

ताण्ड्यायनः—(स्वगतम्) दिष्ट्या स्वस्ति क्षत्रियकुलाय।

(नेपथ्ये)

अहो नियोगिनः ! कृतविवाहमङ्गलयोः सीतारामचन्द्रयोः स्वस्तिवाचनिका द्विजा आहूयन्ताम्।

अन्वयः—दक्षिणस्य अम्बुधेः मध्ये अष्टमम् कोङ्कणम् कृत्वा मद्बाणजन्मा दहनः लङ्कातङ्काय जायताम्।

व्याख्या—दक्षिणस्य = दक्षिणदिगवस्थितस्य, अम्बुधेः = समुद्रस्य, मध्ये = अन्तराले, अष्टमम् कोङ्कणम् = कोङ्कणाख्यदेशविशेषं, कृत्वा मद्बाणजन्मा = मम बाणात् जन्म = उत्पत्तिर्यस्य सः, दहनः = अनलः, लङ्कातङ्काय = लङ्कायाः आतङ्काय = भीत्यै, जायताम् = भवतु। अत्रेदं रहस्यं, समुद्रशोषणानन्तरम्, प्राक्तनसप्तकोङ्कणातिरिक्तमष्टमं कोङ्कणदेशविशेषं निर्माय लङ्काभयाय जायताम्। पुरा कश्यपाय भुवं दत्त्वा स्वनिवासाय स्वशरैः समुद्रशोषणं कृत्वा जामदग्न्यः सप्त कोङ्कणान् निर्मितवानिति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धेया ॥ ११ ॥

नेपथ्य इति। नियोगिनः = कार्यकर्त्तारः। स्वस्तिवाचनिकाः = स्वस्तिपाठकारिणः।

तो सम्प्रति—मेरे बाण से उत्पन्न अनल दक्षिण समुद्र के बीच (पहिले के निर्मित सात कोङ्कण प्रदेशों के अतिरिक्त) आठवाँ कोङ्कण बना कर लङ्का के आतङ्क के लिये हो (अर्थात् लङ्का को भस्म करे) ॥ ११ ॥

(ऐसा कह कर अहङ्कार के साथ घूमते हैं)

ताण्ड्यायन—(मन ही मन) भाग्य से क्षत्रियकुल का कल्याण (हुआ)

(नेपथ्य में)

अरे ! कर्मचारियो ! सीता और रामचन्द्र के विवाह के बाद (अब) स्वस्तिवाचन करने वाले ब्राह्मणों को बुलाओ।

जामदग्न्य —(परिवृत्य, सक्रोधम्) आ ब्रह्मबन्धो ! कथमलीकदशकण्ठकीर्त्तिदानेन प्रतारितोऽस्मि । नन्वयमन्य कोऽपि जनकजामाता ।

ताण्ड्यायन —भगवन ! मम को वाऽपराध ? अर्धोक्त एव भगवता भ्रान्त, मयापि सम्भ्रान्तम् ।

जामदग्न्य — तन्निश्शेष तावत् कथय ।

ताण्ड्यायन —

शराग्रवर्तिनः

प्रतापलेशस्य गता पराभवम् ॥ ८ ॥

जामदग्न्य इति । आ = क्रोधद्योतकमव्ययपदम् । प्रतारित = वञ्चित । ब्रह्मबन्धो = ब्राह्मणाधम ! इति भाव ।

ताण्ड्यायन इति । भगवता भ्रान्तम = रावणेन धनुर्भङ्ग कृत इति भवता ज्ञातम् । मयापि सम्भ्रान्तम् = मयापि सम्भ्रम कृत , भवन्त क्रुद्ध दृष्ट्वा भयान्मया भवद्भ्रान्तिनिराकरणोत्साहो न कृत इति भाव ।

जामदग्न्य इति । नि शेषम् = सम्पूर्णम् । कथय = वद । अर्धोक्त पूरयेति भाव । ताण्ड्यायन सुबाहुमारीचेत्यादि पूर्वोक्त पद्य पूरयति—शराग्रवर्तिन इति ।

अन्वय —(कौशिकयज्ञघातिन सुबाहुमारीचपुर सरा अमी निशाचरा यस्य) शराग्रवर्त्तिन प्रतापलेशस्य (वशे स्थिता) पराभवम् गता ।

व्याख्या—(कौशिकयज्ञघातिन सुबाहुमारीचपुर सरा अमी निशाचरा यस्य = रामस्य) शराग्रवर्तिन = शरस्य = बाणस्य, अग्रे = पुरो भागे वर्तते

जामदग्न्य—(लौट कर, क्रोध के साथ) आ ब्रह्मबन्धो ! (अर्थात् झूठ मूठ ब्राह्मण कहाने वाला अधम ताण्ड्यायन !) क्यों तू ने झूठ-मूठ रावण की कीर्ति के वर्णन से (अर्थात् रावण को धनुर्भञ्जक बता कर) मुझे धोखा दिया ? जनक का दामाद तो कोई दूसरा ही (व्यक्ति) है ।

ताण्ड्यायन—भगवन् ! मेरा क्या अपराध (है) ? मेरे आधा (वाक्य) कहने पर ही आप ने भ्रान्ति की, और मैंने भी जल्दबाजी की (अर्थात् आप के भय से आप का प्रतिवाद नहीं किया) ।

जामदग्न्य – तो पूरी बात कहो ।

ताण्ड्यायन—(विश्वामित्र के यज्ञ को विध्वस्त करने वाले सुबाहु-मारीच

(तथैव अखण्डचण्डिया ४.७ पुनः पठति)

जामदग्न्यः—कः पुनरयं मारीचदमनः ?

ताण्ड्यायनः—

ये ऋश्यशृङ्गचरुभागभुवः कुमाराः
सञ्जज्ञिरे दशरथस्य वधूजनेन ।
तेषामयं निरुपमः प्रथमः कुमारो
रामाभिधः कुशिकराजतनूजशिष्यः ॥ १२ ॥

इति तच्छीलस्य प्रतापलेशस्य=पराक्रमलवस्य (वशे स्थिताः) पराभवं गताः = नाशं प्राप्ताः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—दशरथस्य वधूजनेन ऋष्यशृङ्गचरुभागभुवः ये कुमाराः सञ्जज्ञिरे, तेषां प्रथमः निरुपमः कुशिकराजतनूजशिष्यः अयम् रामाभिधः कुमारः (अस्ति) ।

व्याख्या—दशरथस्य = अयोध्याधिपतेर्दशरथाख्यनृपस्य, वधूजनेन = तिसृभिः महिषीभिरित्यर्थः, ऋष्यशृङ्गचरुभागभुवः—ऋष्यशृङ्गस्य = ऋष्यशृङ्गनाम्नो मुनेः चरोः = हव्यपाकस्य (हव्यपाके चरुः पुमानित्यमरः) भागः = अंशः, तस्माद् भूः = जन्म येषां ते, ये कुमाराः = पुत्राः, संजज्ञिरे = उत्पादिताः, तेषां प्रथमः = आद्यः, निरुपमः = नास्त्युपमा यस्य सः, अलौकिक इत्यर्थः, कुशिकराजतनूजशिष्यः—कुशिकराजः = गाधिः, तस्य तनूजः = पुत्रः, विश्वामित्र इत्यर्थः, तस्य शिष्यः = अन्तेवासी, अयम् = निकटवर्ती, रामाभिधः—राम इत्यभिधा = संज्ञा यस्य सः, कुमारः = बालः (अस्ति) स एव मारीचदमन इति जानीहीति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १२ ॥

आदि प्रसिद्ध निशाचर जिस (राम) के बाण के सामने पड़ कर, पराक्रम के लेशमात्र के वशवर्ती होकर पराभव को प्राप्त हुए ॥ ८ ॥

(उसी प्रकार अखण्डचण्डिमा आदि ४.७ पद्य फिर से पढ़ता है ।)

जामदग्न्य—यह मारीच का दमन करने वाला कौन है ?

ताण्ड्यायन—दशरथ की रानियों ने ऋष्यशृङ्ग के हव्यपाक से होने वाले जिन कुमारों को जन्म दिया उनमें ज्येष्ठ अनुपम विश्वामित्र के शिष्य राम नामक कुमार (मारीच दमन) हैं ॥ १२ ॥

जामदग्न्य —(क्षणं विभाव्य, सामर्षम्)

दुर्धर्षा सुरसिद्धकिन्नरनरैस्त्यक्तक्रमं वक्रतां
प्राप्ते यत्र विधातरीव तरसा तिस्रोऽपि दग्धाः पुरः ।
तद्भग्नं यदि राघवेण शिशुना चण्डीपतेः कार्मुकं
ताण्ड्यायन —(स्वगतम्) किमधुना वक्ष्यति ?
जामदग्न्य —
तन्मग्नं कुलमेव तर्कय रघोर्मत्कृत्तधाराम्भसि ॥ १३ ॥

अन्वय —सुरसिद्धकिन्नरनरैः दुर्धर्षाः तिस्रोऽपि पुरः विधातरीव यत्र वक्रतां प्राप्ते त्यक्तक्रमं दग्धाः चण्डीपतेः तत् कार्मुकं शिशुना राघवेण तरसा भग्नं यदि ।

व्याख्या—सुरसिद्धकिन्नरनरैः - सुराः -देवाः, सिद्धाः = देवयोनिविशेषाः, किन्नराः = तेऽपि देवयोनिविशेषाः, नराः = मनुष्याश्च तैः, (यक्षगन्धर्वकिन्नराः, पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः इत्यमरः) दुर्धर्षाः = अनतिक्रमणीयाः तिस्रोऽपि पुरः = नगर्यः इति भावः । विधातरीव = ब्रह्मणीव, दैव इवेत्यर्थः, यत्र = यस्मिन् शिवचापे इत्यर्थः, वक्रतां प्राप्ते = कौटिल्यं गते आकृष्टे सतीत्यर्थः, पक्षान्तरे तु प्रतिकूलतां गते इत्यर्थः, त्यक्तक्रमम् = त्यक्तः क्रमो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा समकालमेवेति भावः । दग्धाः = भस्मीकृताः । चण्डीपतेः = शिवस्य, तत् = प्रसिद्धम्, कार्मुकम् = धनुः, शिशुना = बालेन, राघवेण = रामेण, तरसा = बलेन, भग्नम् = खण्डितम्, यदि = चेत् ।

परशुरामस्तदर्धापूर्णं पद्यं पूरयति—तन्मग्नमिति ।

अन्वय —तत् मत्कृत्तधाराम्भसि रघोः कुलमेव मग्नं तर्कय ।

व्याख्या—तत् = तर्हि, मत्कृत्तधाराम्भसि – मम कृत्तस्य = कुठारस्य धारा = तीक्ष्णाग्रभाग एव अम्भः = जलम्, तस्मिन् रघोः कुलमेव = रघुवंश

जामदग्न्य—(थोड़ा देर विचार कर, क्रोध के साथ)

सुरों, सिद्धों, किन्नरों और नरों से अनतिक्रमणीय (त्रिपुर) की तीनों पुरियाँ, भाग्य के समान जिसके वक्र (१–कुटिल २–विपरीत) होने पर एक साथ ही जल गयी उसी शिवधनुष को यदि बालक राम ने बल से तोड़ डाला है

ताण्ड्यायन—(मन ही मन) अब (आगे) क्या कहेंगे ?

जामदग्न्य—तो समझ लो कि रघु का कुल ही मेरे परशु के धाररूप

ताण्ड्यायनः—संरब्धोऽयं भगवान्। तदिमं वृत्तान्तमुपाध्यायस्य कथयामि। (इति निष्क्रान्तः)

जामदग्न्यः—(विलोक्य) अभिनवविवाहमङ्गलतया तर्कयामि स एष रामः सानुज इति (सहर्षं, निर्वर्ण्य) अर्धमुग्धः खल्वयं जनो यदेनं काम इति वक्तव्ये राम इति जल्पति। (पुनर्निर्वर्ण्य)

सौन्दर्यं मदनादपि प्रथयति प्रौढिप्रकर्षं पुरां
भेत्तारं मदनारिमप्यधरयत्युद्दामदोःक्रीडितम्।
मुग्धत्वं मदनारिमौलिशशिनोऽप्युत्कर्षमालम्बते
मूर्तैस्तत् किमसौ रसैर्विरचितः शृङ्गारवीराद्भुतैः ?॥१४॥

एव मग्नम् = ब्रुडितम् इति तर्कय = विचारय, जानीहीति भावः। श्रीरामचन्द्रेण शिवधनुः खण्डितं चेत्तर्हि मत्कुठारेण समस्तरघुकुलमेव विनाशितमिति जानीहि। 'विघातरीवे'त्यत्रोपमालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ १३॥

ताण्ड्यायन इति। अयं भगवान् जामदग्न्यः। संरब्धः = कुपितः। उपाध्यायस्य = शतानन्दस्येत्यर्थः।

जामदग्न्य इति अर्धमुग्धः = अर्धमूढः। अंशतो विवेकहीन इत्यर्थः। जामदग्न्यो रामसौन्दर्यं वर्णयन्नाह—**सौन्दर्यमिति**।

अन्वयः—सौन्दर्यम् मदनादपि प्रौढि प्रथयति, उद्दामदोः क्रीडितम् पुरां भेत्तारम् मदनारिमपि अधरयति, मुग्धत्वम् मदनारिमौलिशशिनोऽपि उत्कर्षम् आलम्बते, तत् असौ मूर्तैः शृङ्गारवीराद्भुतैः रसैः विरचितः किम्?

व्याख्या—सौन्दर्यम् = मनोज्ञता, मदनादपि = कामादपि, प्रौढिप्रकर्षम् = रामणीयकातिशयम्, प्रथयति = प्रकटयति। उद्दामदोः क्रीडितम्—उद्दामं =

जल में डूब चुका है॥ १३॥

ताण्ड्यायन—ये भगवान् (परशुराम) कुपित हैं। तो इस वृत्तान्त को उपाध्याय से कहता हूँ। (ऐसा कह कर निकल गया)

जामदग्न्य—(देखकर) नूतन वैवाहिक मङ्गल पदार्थों को धारण करने से मैं समझता हूँ कि यही सानुज राम हैं। (हर्ष पूर्वक, देखकर) यह लोक आधा मूर्ख है जो इसे 'काम' कहने के स्थान पर 'राम' कहता है। (पुनः देखकर)

सौन्दर्य, कामदेव से भी प्रौढता के प्रकर्ष को प्रकट कर रहा है (अर्थात्

(ततः प्रविशतो रामलक्ष्मणौ)

लक्ष्मणः —(सकौतुकम्)

मौर्वीं धनुस्तनुरियं च बिभर्ति मौञ्जीं
बाणाः कुशाश्च विलसन्ति करे सिताग्राः ।
धारोज्ज्वलः परशुरेव कमण्डलुश्च,
तद्वीरशान्तरसयोः किमयं विकारः ? ॥ १५ ॥

महत्, दोष्णोः = बाह्वोः यत् क्रीडितम् = विलासः, पराक्रम इत्यर्थः, पुरां भेत्तारम् = त्रिपुरनगरीदाहकम्, मदनारिमपि = हरमपि, अधरयति = तिरस्करोति। मुग्धत्वम् = बाल्योचित मार्दवम्, मदनारिमौलिशशिनोऽपि—मदनारिः = शिवः, तस्य मौलेः = शिरसः, शिरोऽलङ्कारभूत इति भावः, यः शशी = चन्द्रः, बालचन्द्र इत्यर्थः, ततोऽपि उत्कर्षम् = उत्कृष्टताम्, आलम्बते = भजते। तत् = एवं स्थितौ असौ = बालो रामः, मूर्तैः = देहधारिभिः, शृङ्गारवीराद्भुतैः। रसैः = रसपुङ्गवाह्विस्मयस्थायिभावकैः तत्तद्रसैः, विरचितः = निर्मितः, किम् ? (किमिति वितर्के जिज्ञासायां वा) श्रीरामचन्द्रः कामादप्यधिकसौन्दर्यशालितया मूर्तिमान् शृङ्गाररस इव, त्रिपुरदाहकशिवादप्यधिकपराक्रमशालितया मूर्तिमान् वीररस इव, शिवशिरोभूषणभूतबालचन्द्रादप्यधिकमार्दवशीलतया मूर्तिमानद्भुतरस इव लक्ष्यत इति भावः। एवमुपमानादुपमेयस्याधिक्यवर्णनादत्र व्यतिरेकालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १४ ॥

लक्ष्मणो जामदग्न्यं वर्णयन्नाह—मौर्वीमिति।

अन्वयः —धनुः मौर्वीम्, इयं तनुश्च मौञ्जीं बिभर्ति। करे बाणाः कुशाश्च विलसन्ति। सिताग्राः धारोज्ज्वलः एष परशुः कमण्डलुश्च, तत् वीरशान्तयोः अयं विकारः किम् ?

व्याख्या—धनुः = चापः, मौर्वीम् = प्रत्यञ्चां बिभर्ति = धारयति, तनुः

सौन्दर्य कामदेव को भी तिरस्कृत कर रहा है), विशाल बाहुओं का विलास (अर्थात् पराक्रम) त्रिपुरनगरी को भस्म करने वाले मदनारि शिव को भी तिरस्कृत कर रहा है, मुग्धता शिव के सिर पर अलङ्कारभूत चन्द्र से भी उत्कृष्टतर है, तो यह (बाल राम) मूर्तिमान् शृङ्गार वीराद्भुत रसों से विरचित हुआ है क्या ? ॥१४॥

(तदनन्तर राम और लक्ष्मण प्रवेश करते हैं)

लक्ष्मण—(कौतूहलपूर्वक)

धनुष प्रत्यञ्चा को, और यह शरीर मौञ्जी मेखला को धारण कर रहा है।

आर्य ! किं पुनरिदं ब्रह्मक्षत्रवर्णात्मकं चित्रमिव स्फुरति ?

रामः—वत्स ! न विदितं ते ! नन्वयं स भगवान् भार्गवः—

वेध्यं क्रौञ्चमहीधरस्य शिखरं देयं धरित्रीतलं
प्रत्यग्रक्षितिखण्डखण्डनविधिक्रीडाविधेयोऽम्बुधिः ।
जेयस्तारकसूदनो युधि करक्रीडाकुठारस्य च
च्छेद्यं यस्य बभूव हैहयपतेरुद्दामदोःकाननम् ॥ १६ ॥

आततज्यं वर्तते इति भावः, इयम् = पुरो दृश्यमाना, तनुश्च = देहश्च, मौञ्जीम् = मुञ्जनिर्मितां मेखलाम्, बिभर्ति = धारयति । करे = हस्ते बाणाः=शराः कुशाश्च= दर्भाश्च, विलसन्ति = शोभन्ते । सितायाः सितम् = शुभ्रम्, अयः = लौहं यस्य स तादृशः, धारोज्ज्वलः—परशुपक्षे धारायाम् = तीक्ष्णाग्रभागे, कमण्डलुपक्षे—धारया = जलधारयेत्यर्थः, उज्ज्वलः = प्रकाशमानः, एषः = पुरो दृश्यमानः, परशुः = कुठारः कमण्डलुश्च (विराजते), तत् = तस्मात् कारणात्, वीर-शान्तयोः = वीररसस्य शान्तरसस्य च अयम् = पुरःस्थितः, विकारः=रूपान्तरम् किम् ? आततज्यशरासनेन, बाणैः कुठारेण च मूर्तिमान् वीररसः, मौञ्ज्या कुशैः कमण्डलुना च मूर्तिमान् शान्तरसश्च पुरतो दृश्यत इति भावः । 'सितायाः' इत्यस्य स्थाने 'शितायः' इति पाठान्तरे शितम् = तीक्ष्णम् ('शो तनू करणे' इत्यस्माद्धातोः क्तः) अयम् = अग्रभागः, धारेत्यर्थः यस्य स तथाभूत इत्यर्थो बोध्यः । 'धारोज्ज्वलः' इत्यत्र श्लेषालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—यस्य क्रौञ्चमहीधरस्य शिखरम् वेध्यम्, धरित्रीतलम् देयम्, अम्बुधिः प्रत्यग्रक्षिति खण्डखण्डनविधिक्रीडाविधेयः, युधि तारकसूदनः जेयः, हैहयपतेः उद्दामदोः काननम् करक्रीडा कुठारस्य च छेद्यम् बभूव ।

व्याख्या—यस्य = परशुरामस्य, क्रौञ्चमहीधरस्य=क्रौञ्चनाम्नः पर्वतस्य,

हाथ में बाण और कुश विलसित हैं । श्वेत लौह वाला, धार से उज्ज्वल यह परशु और जल धारा से उज्ज्वल कमण्डलु है, अतः वीर और शान्त रस के ये (जामदग्न्य) विकार हैं क्या ? ॥ १५ ॥

आर्य ! ये क्या ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्णात्मक चित्र के समान दीप्त हो रहे हैं ?

राम—वत्स ! तुम नहीं जानते हो, ये भगवान् भार्गव (परशुराम) हैं । जिन्होंने क्रौञ्च पर्वत के शिखर को विद्ध किया था, भूतल का दान कर

लक्ष्मण —तर्हि विस्मयनीयशीलोऽय भगवान ।

राम —विस्मयनीयशीलाना शिखामणिरिति वक्तव्यम । अथ हि-

एक स्वर्णमहीधरा क्षितिमिमा स्वर्णैकशृङ्गी यथा
गामेका प्रतिपाद्य कश्यपमुनौ न स्वात्मने श्लाघते ।
किञ्च क्रौञ्चगिरि गिरीशतनयस्याविद्धशक्तिक्षत
विद्ध्वा बाणगणैरुदारहृदयो वैलक्ष्यमालम्बते ॥ १७ ॥

शिखरम = शृङ्गम बध्यम – भदनाधम, (भद्यमिति पाठान्तरेऽपि नायभेद) यभूव एव परशौरि सवत्र योज्यम । धरित्रीतलम = समस्त भूमण्डलम, देयम = दातव्य बभूव । अम्बुधि = समुद्र प्रत्यग्रक्षितिखण्डदण्डनविधिक्रीडाविधेय प्रत्यग्रम = अभिनव क्षितिखण्डम = भूभाग समद्र प्रत्योऽयाभिनव कृत भूखण्डमित्यथ, तेन दण्डनविधि = दण्डकरणविधानम स एव क्रीडा = खेला तस्या विधय = आज्ञाधा य बभूव । युधि = युद्ध क्षामे, तारकसूदन = तारकासुरस्य जेता, कार्तिकेय इत्यथ, जेय = जेत या बभूव । हैहयपत = हैहयराजस्य, कार्त्तवीर्यस्येत्यथ, उद्दामदा काननम—उद्दाम = उद्धतम्, दा काननम = भुजवनम् करक्रीडाकुठारस्य = बाहुविनाशपरशो, छेद्यम = छेदनीय बभूव । सोऽय भगवान् भार्गव इति पूर्वोक्तेन सम्बन्ध । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम ॥ १६ ॥

अन्वय —एक स्वर्णमहीधराम इमाम क्षितिम स्वर्णैकशृङ्गीम् एकाम् गा यथा कश्यपमुनौ प्रतिपाद्य स्वात्मने न श्लाघते । किञ्च गिरीशतनयस्य आविद्ध शक्तिक्षतम क्रौञ्चगिरिम बाणगणै विद्ध्वा उदारहृदय वैलक्ष्यम आलम्बते ।

व्याख्या—एक = अद्वितीय, परशुराम इत्यथ, स्वर्णमहीधराम् स्वर्ण मस्ति यस्मिन स स्वर्ण, (स्वर्णशब्दात 'अश आदिभ्योऽच' इत्यच्) स्वर्ण

दिया था, (समुद्र को सुखा कर) नूतन भूखण्ड निर्माण से समुद्र को दण्डित किया था युद्ध में तारकासुरविजेता कार्तिकेय को (भी) जीत लिया था, (अपने) भुजविलास परशु से हैहयराज कार्तवीर्य के भुज वन को काटा था ॥ १६ ॥

लक्ष्मण—तब तो ये भगवान विस्मय योग्य स्वभाव वाले हैं ।

राम—ऐसा कहिये कि विस्मय योग्य स्वभाव वालों के शिरोमणि हैं क्योंकि ये अद्वितीय (परशुराम) स्वर्ण पर्वत वाली इस पृथ्वी को एक स्वर्ण शृङ्ग

(उभौ परिक्रामतः)

रामः—(अञ्जलिं बद्ध्वा) भगवन् ! भृगुकुलशिरःशेखरशिखण्डक ! एष सानुजस्य मे परमोन्नतिरमणीयपरिणामः प्रणामः ।

महीधरः = पर्वतः, यस्यां तां तादृशीम्, इमाम्, क्षितिम् = भूमिम्, स्वर्णैकशृङ्गीम् — सुवर्णखचितैकविषाणाम्, एकाम्, गां यथा = धेनुमिव, कश्यपमुनौ प्रतिपाद्य = दत्त्वा (अत्र कारकस्य विवक्षाधीनत्वात् अधिकरणत्वविवक्षा) स्वात्मने = स्वचरिताय ('श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः' इति चतुर्थी) न श्लाघते = न प्रशंसति । किञ्च, गिरीशतनयस्य — गिरीशः शिवः, तस्य तनयः = पुत्रः, कार्त्तिकेय इत्यर्थः, तस्य, आविद्धशक्तिक्षतम् — आविद्धा = प्रक्षिप्ता या शक्तिः = तदाख्यमस्त्रम्, तया क्षतम् = व्रणितम्, न तु भिन्नमिति भावः, क्रौञ्चगिरिम् = क्रौञ्चाख्यपर्वतम्, बाणगणैः = शरसमूहैः विदृध्वा = विदार्य, उदारहृदयः = महामनाः, वैलक्ष्यम् = लज्जाम्, आलम्बते = भजति । परशुरामः कार्तिकेयेन सह शिवाद् धनुर्वेदमधीते स्म । एकदा गुरुणा शिवेन 'कः क्रौञ्चगिरिं स्वास्त्रेण भिनत्ति' इति परीक्षा कृता । कार्तिकेयेन स्वशक्तिः प्रक्षिप्ता किन्तु तया क्रौञ्चगिरिर्व्रणितोऽभवत् न तु भिन्नः । परशुरामेण स्वशरसमूहैः क्रौञ्चगिरिर्भिन्नस्तथापि महामना अयं स्वपराक्रमं न्यूनमेव मन्यमानो लज्जामेवान्वभवदित्याशयः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १७ ॥

राम इति । भृगुकुलशिरः शेखरशिखण्डक—भृगुकुलस्य शिरः शेखरः = शिरोभूषणम्, तस्य शिखण्डकः = काकपक्षः, काकपक्षस्थानीय इत्यर्थः, अलङ्कारभूत इति भावः, तत्सम्बुद्धौ । परमोन्नतिरमणीयपरिणामः—परमोन्नतिः = उत्कृष्टाभ्युदय एव रमणीयः = सुन्दरः, परिणामो यस्य स, तादृशः । प्रणामः =

से युक्त एक गाय के समान कश्यपमुनि को देकर अपनी प्रशंसा नहीं करते हैं, और कार्तिकेय की छोड़ी गयी शक्ति (बाण) से क्षत क्रौञ्चपर्वत को बाणों से विद्धकर उदारहृदय (होने के कारण) लज्जा का अवलम्बन करते हैं (अर्थात् अपने पराक्रम पर गर्व नहीं करते हैं ।) ॥ १७ ॥

(दोनों घूमते हैं)

राम—(हाथ जोड़कर) भृगुकुलशिरोभूषण ! यह अनुजसमेत मेरा (आप

जामदग्न्य —समरविजयी भूयाः ।

राम —भगवन् ! भृगुकुलमौलिमाणिक्य ! अनुगृहीतोऽस्मि ।

भार्गव —(स्वगतम्) (सकरुणम्)

रामे चन्द्राभिरामे विनयवति शिशौ किं प्रकुप्यातिमात्रं

(विमृश्य सक्रोधम्)

हुं चापं चन्द्रमौलेश्चपलमतिरसाविक्षुदण्डं बभञ्ज ।

प्रणति । सानुजमत्कर्तृक उत्कृष्टाभ्युदयरूपफलप्रदो भवत्कर्मक प्रणामो विलसत्विति भाव ।

राम इति । प्रथमचरणस्यान्वय —चन्द्राभिरामे विनयवति शिशौ रामे अतिमात्रम् प्रकुप्य किम् ।

व्याख्या—चन्द्राभिरामे = चन्द्र इवाभिराम = सुन्दर, तस्मिन्, विनयवति = विनयसम्पन्ने, शिशौ = बाले, रामे = रामचन्द्रे, अतिमात्रम् = अत्यन्तम, प्रकुप्य = प्रकोप कृत्वा, किम् = किं प्रयोजन सेत्स्यति । अत्र कारणाभावात्कोप कर्तुं नोचितमिति भाव ।

हुं चापमिति । द्वितीयपादस्यान्वय —हुम्, चपलमति असौ चन्द्रमौले चापम् इक्षुदण्डम् बभञ्ज ।

व्याख्या—हुम् = क्रोधद्योतकमव्ययपदम् । चपलमति = चपला = चञ्चला, मति = बुद्धिर्यस्य स तादृश, असौ = राम, चन्द्रमौले = शिवस्य, चापम् = धनु, इक्षुदण्डम्—इक्षुदण्डमिवेत्यर्थ, बभञ्ज (अत्र भञ्जनक्रियाया परशुरामस्य परोक्षत्वाल्लिट्)

को) उत्कृष्टाभ्युदयप्रदायक प्रणाम है ।

जामदग्न्य—संग्राम विजेता बनो ।

राम—भगवन् ! भृगुकुलशिरोमणे ! मैं अनुगृहीत हूँ ।

भार्गव—(मन ही मन)

(करुणा पूर्वक) चन्द्र के समान अभिराम और विनय सम्पन्न बालक राम के विषय में अत्यधिक कोप करके क्या (होगा) ?

(विचार कर क्रोधपूर्वक) हुं, चपलमति इसने शिव के धनुष को इक्षुदण्ड के समान तोड दिया ।

(पुनः सानुक्रोशम्)

बाला वैधव्यदीक्षां जनकनृपसुता नार्हतीयं मदस्त्रात्

(पुनर्विचिन्त्य, सामर्षम्)

आः ! शान्तो मे कुठारः कथमयमधुना रेणुकाकण्ठशत्रुः ।। १८ ।।

(प्रकाशम्) दाशरथे ! इयमसौ मे त्वयि सदाचारानुसारिणी वाग्वृत्तिरेव ।

बालेति । तृतीयपादस्यान्वयः—बाला इयम् जनकनृपसुता मदस्त्रात् वैधव्यदीक्षाम् न अर्हति ।

व्याख्या—बाला = बाल्यावस्थोपेता, इयम् जनकनृपसुता = सीता, मदस्त्रात् = मम परशोः, वैधव्यदीक्षाम्—विगतः = मृतः, धवः = पतिर्यस्याः सा विधवा, तस्याः भावो वैधव्यम्, तस्य दीक्षाम्, विधवात्वोपदेशम्, प्राप्तुमिति शेषः, न अर्हति । ममास्त्रेण रामं हत्वा सीता विधवा क्रियेतेत्यनुचितमिति भावः ।

आः शान्त इति । चतुर्थपादस्यान्वयः—आः रेणुकाकण्ठशत्रुः अयम् मे कुठारः अधुना कथम् शान्तः ?

व्याख्या—आः = कोपद्योतकमव्ययम् । रेणुकाकण्ठशत्रुः—रेणुकायाः = रेणुकाख्याया मज्जनन्याः, कण्ठशत्रुः = कण्ठच्छेत्ता पितुर्जमदग्नेराज्ञयेति भावः । अयम्, मे = मम, कुठारः = परशुः, अधुना = सम्प्रति, रामस्य शिरश्छेदनावसर इति भावः कथम् = केन कारणेन, शान्तः = दण्डव्यापारे न प्रवर्तत इति भावः ।

प्रकाशमिति । दाशरथे—दशरथस्यापत्यं पुमान् दाशरथिः = राम इत्यर्थः, तत्सम्बुद्धौ । वाग्वृत्तिः = वचनव्यापारः । सदाचारमनुसृत्य 'समरविजयी भूयाः' इत्याशिषं वचसा ददामि, वस्तुतस्तु मम मनोवृत्तिस्त्वय्यनुकूला नास्तीति भावः ।

(पुन. दया पूर्वक) बाला यह सीता मेरे अस्त्र से वैधव्यव्रत पाने के योग्य नहीं है ।

(पुनः सोचकर क्रोध पूर्वक) आः ! रेणुका के कण्ठ को काटने वाला मेरा यह कुठार इस समय शान्त कैसे है ? ।। १८ ।।

(प्रकट रूप में) दशरथपुत्र ! (मैंने तुम्हें जो 'समरविजयी भूया.'—ऐसा आशीर्वचन कहा है) यह तुम्हारे विषय में सदाचार का अनुसरण करने वाला वचन व्यापारमात्र है ।

राम —(विहस्य) मनोवृत्तिस्तु कीदृशी ?

भार्गव —

चण्डीशकार्मुकविमर्दविवर्धमान
दर्पावलेपसविशेषविकासभाजो ।
बाह्वोस्तवाहमधुना मधुना समान-
राराधयामि रुधिरैः कठिनं कुठारम् ॥ १९ ॥

राम —भगवन् ! निग्रहानुग्रहयोः स्वाधीनोऽयं जनः ; परं ते कोपबीजं ज्ञातुमिच्छामि ।

अन्वय —चण्डीशकार्मुकविमर्दविवर्धमानदर्पावलेपसविशेषविकासभाजो तव बाह्वो मधुना समानैः रुधिरैः अधुना अहम् कठिनम् कुठारम् आराधयामि ।

व्याख्या — चण्डीशकार्मुकेत्यादि —चण्डीशस्य = शिवस्य, कार्मुकम् = धनुस्तस्य विमर्देन = भञ्जनेन विवर्धमानः = उपचीयमानो यो दर्पावलेपः = गर्वावलिप्तत्वम्, गर्वातिशयमित्यर्थः, तेन सविशेषम् = अधिकं विकासम्=प्रफुल्लतां भजतः = आश्रयतः, इति तयोः, तव = रामस्येत्यर्थः, बाह्वोः = भुजयोः, मधुना समानैः = सदृशैः, प्रगाढैः, रक्तवर्णैश्चेति भावः । रुधिरैः = शोणितैः, अधुना = सम्प्रति, अहम् = यस्य गुरोर्धनुस्त्वया भग्नं सोऽहमिति भावः । कठिनम् = घोरम्, कुठारम्=निजं परशुम्, आराधयामि = प्रसादयामि । शिवधनुर्भङ्गजनितदर्पावलिप्तयोस्तव भुजयोः रुधिरैः सम्प्रत्यहं स्वपरशुं पूजयित्वा प्रसादयामीदृशी मम मनोवृत्तिरिति भावः । 'मधुना समानैः' इत्यत्रोपमालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१९॥

राम इति । निग्रहानुग्रहयोः —निग्रहे = दण्डे, अनुग्रहे = दयायां च, इति तयोः । अयं जनः = रामोऽस्मीत्यर्थः । स्वाधीनः = आत्मायत्तः । अहं दण्डे, दयायां च भवतोऽधीनोऽस्मि । कोपबीजम् = क्रोधकारणम् ।

राम—(हँस कर) तो (आप की) मनोवृत्ति कैसी है ?–(यह भी कहिये)।

भार्गव—शिव धनुष के तोड़ने से बढ़ते हुए गर्वातिशय से सविशेष प्रफुल्ल, तुम्हारी भुजाओं के, मधु के समान रुधिर से सम्प्रति मैं (अपने) कठिन कुठार को प्रसन्न करना चाहता हूँ । (यह है मेरी मनोवृत्ति है) ॥ १९ ॥

राम—भगवन् ! यह जन (राम) दण्ड और दया के विषय में आप के अधीन है, किन्तु आप के कोप का कारण जानना चाहता हूँ ।

भार्गवः—अहो ! दर्पान्धता, यदात्मना कृतमस्माभिरुक्तमपि नावधारयसि निजदुर्विनयम् । ननु रे !

येनोपदिष्टमद्यापि पुरस्त्रीविरहव्रतम् ।
न भुग्नं तत्त्वया भग्नं जगद्गुरुशरासनम् ॥ २० ॥

रामः—भगवन् ! अलीकलोकवार्त्तया निरपराधे मयि मुधा कोपकलङ्कितोऽसि ।

भार्गव इति । निजदुर्विनयम् = स्वौद्धत्यम् ।

अन्वयः—येन अद्यापि पुरस्त्रीविरहव्रतम् उपदिष्टम्, न भुग्नं तत् जगद्गुरुशरासनम् भग्नम् ।

व्याख्या—येन = हरधनुषा, अद्यापि = अद्यपर्यन्तमित्यर्थः, पुरस्त्रीविरहव्रतम्—त्रिपुरासुरनारीभ्यो वैधव्यव्रतम्, उपदिष्टम्, पुरस्त्रियो विधवा कृता इति भावः । न भुग्नम् = केनापि न नमितम्, तत् = प्रसिद्धम्, जगद्गुरुशरासनम्—जगद्गुरोः = शिवस्येत्यर्थः, शरासनम् = धनुः, त्वया भग्नम् = खण्डितम् । इदमेव मे कोपकारणम्, कथमपि नास्ति क्षन्तव्यस्तवापराध इति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २० ॥

राम इति । अलीकलोकवार्त्तया = मिथ्याजनवचनेन । मुधा = व्यर्थम् । कोपकलङ्कितः कोपेन कलङ्कितः, मयि निरपराधे भवतः कोपो न युक्त इति भावः। भार्गव इति । हरकार्मुकाय = शिवधनुषे ('नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च' इति चतुर्थी) । स्वस्ति = कल्याणम्, किम् ? किं शिवधनुरखण्डितमेवेति भावः ।

भार्गव—अहो ! तुम्हारी दर्पान्धता (भी) कैसी है ! जो कि तुम अपने से किये गये दुर्विनय (अपराध) को मेरे कहने पर भी नहीं जान रहे हो । रे !

जिसने आज तक त्रिपुरासुर की स्त्रियों को वैधव्यव्रत का उपदेश किया और जो किसी के द्वारा नहीं झुकाया गया, उसी शिवधनुष को तोड़ डाला । (यही मेरे क्रोध का कारण है) ।

राम—भगवन् ! निरपराध मेरे ऊपर, मिथ्यालोकवार्ता से कोप कर आप व्यर्थ कलङ्कित होते हैं ।

भार्गव —तत् किं स्वस्ति हरकार्मुकाय ?

राम —नहि नहि ।

भार्गव —तत् कथं निरपराधोऽसि ?

राम —

मया स्पृष्टं न वा स्पृष्टं कार्मुकं पुरवैरिणः ।
भगवन्नात्मनैवेदमभज्यत करोमि किम् ? ॥ २१ ॥

भार्गव —आः ! कथं रे चन्दनदिग्धं नाराचं निधाय हृदये मे शीतलयसि ! तदलमनेन । (कुठारमुद्यम्य) ।

अन्वय —पुरवैरिणः कार्मुकम् मया स्पृष्टम्, न वा स्पृष्टम्, भगवन् ! इदम् आत्मनैव अभज्यत । किं करोमि ।

व्याख्या—पुरवैरिणः = हरस्य, कार्मुकम् = धनुः, मया = रामचन्द्रेण, स्पृष्टं न वा स्पृष्टम्—ईषत्स्पृष्टमिव कृतमिति भावः । भगवन् ! इदम् = शिवधनुः, आत्मनैव = स्वयमेव, मदायास विनैवेति भावः । अभज्यत = भग्नम् । किं करोमि= अहं किमपि कर्तुमसमर्थ आसम्, अतोऽनपराद्धोऽस्मीति भावः ॥ २१ ॥

भार्गव इति । चन्दनदिग्धम् = चन्दनलिप्तम् । नाराचम् = शरम् । शीतलयसि = शीतलं करोषि ('तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्) ।

भार्गव—तो क्या शिवधनुष का कुशल है ? (अर्थात् क्या शिवधनुष सुरक्षित है ?)

राम—नहीं नहीं ।

भार्गव—तो कैसे निरपराध हो ?

राम—शिव धनुष को मैंने छुआ, या छुआ नहीं कि (अर्थात् किञ्चिन्मात्र ही छुआ) इतने में यह अपने आप टूट गया तो मैं क्या करूँ ? ॥ २१ ॥

भार्गव—आः ! क्यों रे ! चन्दनलिप्त नाराच को रख कर मेरे हृदय को शीतल करता है । ऐसा नहीं करना चाहिए । (कुठार उठा कर)

हे राम ! कामरिपुकार्मुकमर्मघातसञ्जातपातक ! तवैष कठोरधारः।
सीताकरव्यतिकरप्रतिकूलबन्धुः कण्ठं पुरा विशतु निष्करुणः कुठारः।२२।
तत्प्रवीरो भव।

रामः—हारः कण्ठं विशतु यदि वा तीक्ष्णधारः कुठारः,
स्त्रीणां नेत्राण्यधिवसतु नः कज्जलं वा जलं वा।
सम्पश्यामो ध्रुवमिह सुखं प्रेतभर्तुर्मुखं वा,
यद्वा तद्वा भवतु न वयं ब्राह्मणेषु प्रवीराः॥ २३॥

अन्वयः—कामरिपुकार्मुकमर्मघातसञ्जातपातक ! हे राम ! कठोरधारः सीताकरव्यतिकरप्रतिकूलबन्धुः निष्करुणः एषः कुठारः, तव कण्ठम् पुरा विशतु।

व्याख्या—कामरिपुकार्मुकमर्मघातसञ्जातकपातक —कामस्य = कामदेवस्य रिपुः = शत्रुः, शिव इत्यर्थः, तस्य तत् कार्मुकम् = धनुः, तस्य मर्मघातः = भञ्जनम्, तस्मात् सञ्जातम् = समुत्पन्नम्, पातकम् = पापं यस्य तत्सम्बुद्धौ, हे राम ! कठोरधारः – कठोरा = तीक्ष्णेत्यर्थः, धारा = अग्रभागो यस्य स तादृशः सीताकरव्यतिकरप्रतिकूलबन्धुः—सीतायाः करव्यतिकरः = पाणिग्रहणम्, तस्य प्रतिकूलबन्धुः = विरोधी, निष्करुणः = निर्दयः, एषः कुठारः, तव एव कण्ठं पुरा = पूर्वम् 'निकटा गामिके पुरा' इत्यमरः) विशतु = प्रविशतु—कण्ठं छिनत्त्विति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २२ ॥

तदिति। प्रवीरो भव—प्रकृष्टो वीर इति प्रवीरः ('कुगति प्रादयः' इति समासः) शौर्यसम्पन्नो भव, युद्धायोद्यतो भवेति भावः।

अन्वयः—हारः यदि वा तीक्ष्णधारः कुठारः कण्ठं विशतु, नः स्त्रीणां नेत्राणि कज्जलं वा जलं वा अधिवसतु। इह ध्रुवम् सुखम्, वा प्रेतभर्तुः मुखम्, सम्पश्यामः, यद्वा तद्वा भवतु। वयम् ब्राह्मणेषु प्रवीराः न (भविष्यामः)।

व्याख्या—हारः = विवाहोचितं मुक्तामाल्यम्, यदि वा = अथवा तीक्ष्ण-

हे शिवधनुष को तोड़ कर पाप कमाने वाला ! राम ! तीक्ष्णधार वाला, सीता के पाणि ग्रहण का विरोधी (अत एव) निर्दय यह परशु पहिले तेरे कण्ठ में प्रविष्ट हो ॥ २२ ॥

तो शौर्यसम्पन्न हो जाओ (अर्थात् युद्ध के लिए तैयार हो)

राम—(चाहे) कण्ठ में (विवाहोचित) हार प्रविष्ट हो अथवा तीक्ष्ण-

जामदग्न्य — आ ! कथं मामपि प्रणतिपात्रं ब्राह्मणमात्रमिव मन्यसे ? (पुनः सामर्षम्)

जानीषे नहि जामदग्न्यमपि रे ! यद्दीर्घदोर्दण्डल-
द्वन्द्वास्फन्दितबाहुना रणभुवि स्कन्देन मन्दौजसा ।
नास्राक्षीद् भुजसम्पद मम कथं वक्त्रानुसारादिति
क्रुद्धेनोद्धतमैक्षि शङ्करकरन्यस्तं विधातुः शिरः ॥ २४ ॥

धारः — तीक्ष्णाग्रभागः कुठारः = परशुः, कण्ठं विशतु, कण्ठो हारेण विलसतु यदि वा कुठारेण छिद्यतामिति भावः । नः = अस्माकम्, स्त्रीणां नेत्राणि कज्जलं वा जलं अश्रु वा अधिवसतु 'उपान्वध्याङ्वसः' इत्याधारस्य कर्मत्वान्नेत्राणीत्यत्र द्वितीया । अस्माकमङ्गना सौभाग्येन नेत्रेषु कज्जलं धारयन्तु यदि वा वैधव्येनाश्रूणि मुञ्चन्त्विति भावः । इह = अस्मिल्लोके, ध्रुवम् = नित्यम्, चिरस्थायि इति भावः, सुखम्=आनन्दम्, अथवा सुखम् =सुखपूर्वकं ध्रुवम् = विवाहसमये दर्शनीय नक्षत्रविशेषम्, वा-अथवा, प्रेतभर्तुः=यमराजस्य मुखं सम्पश्याम =अवलोकयाम, यद्वा तद्वा भवतु-यत्किमपि भवतु तद्भवतु किन्तु वयम्=रघुवंश्या ,ब्राह्मणेषु प्रवीरा = युद्धायोद्यता, न (भविष्यामः) । यत्किमपि भवतु किन्तु ब्राह्मणेषु रघुवंश्या शौर्यप्रदर्शनं कदापि न कुर्वन्तीत्यस्माकं नियम इति भावः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥२३॥

जामदग्न्य इति । प्रणतिपात्रम् = प्रणामभाजनमात्रम् । ब्राह्मणमात्रमिव = सामान्यब्राह्मणमिव । धरा क्षत्रियरहिता कृतवन्तमपि प्रणाममात्रेण प्रसीदन्तमपकारे कृतेऽपि क्षमिष्यन्तम् जानासीति भावः ।

अन्वयः —रे ! यद्दीर्घदोर्दण्डलद्वन्द्वास्फन्दितबाहुना रणभुवि मन्दौजसा मम वक्त्रानुसारात् भुजसम्पदं कथम् न असाक्षीत् इति क्रुद्धेन स्कन्देन शङ्करकरन्यस्तम् विधातुः शिरः उद्धतम् ऐक्षि, (तम्) जामदग्न्यमपि नहि जानीषे ।

व्याख्या—रे अधिक्षेपद्योतकम् पदम्, एतेन रामस्य मन्दप्रज्ञता द्योतिता ।

धार वाला कुठार, हमारी स्त्रियों के नेत्रों में काजल रहे अथवा जल (आँसू हम इस संसार में नित्य सुख देखें अथवा यमराज का मुँह । जो हो, वह हो, किन्तु हम ब्राह्मणों के प्रति प्रवीर नहीं (होंगे) ॥ २३ ॥

जामदग्न्य — आ , क्या मुझे भी प्रणाम का पात्र ब्राह्मण मात्र सा समझता है ? (पुनः क्रोधपूर्वक)

रे ! जिसके विशाल बाहुदण्डयुगल से पराभूत बाहु वाले, युद्ध में मन्द

(पुनः सामर्षम्) किमात्थ रे किमात्थ ? । 'न वयं ब्राह्मणेषु प्रवीराः' इति कथं क्षत्रियजातिगर्वितो ब्राह्मणजातिं तृणाय मन्यसे ? तदिदानीमावयोः का गरीयसीति सङ्ग्रामतुलैव निर्णेष्यते ।

यद्दीर्घदोःकन्दलाद्वन्द्वास्कन्दितबाहुना—यस्य मम परशुरामस्येत्यर्थः, दीर्घेण = महता, दोः कन्दलाद्वन्द्वेन = बाहुदण्डयुग्मेन, आस्कन्दितौ = पराभूतौ, बाहू = भुजौ यस्य तेन रणभुवि = युद्धक्षेत्रे, मन्दौजसा—मन्दम् = लघु, ओजः = वीर्यं यस्य तेन, मम = कार्तिकेयस्य, वक्त्रानुसारात् = मुखानि तु षड्दलानि, तेषां सङ्ख्यानुसारेण भुजसम्पदम् = द्वादशबाहूनित्यर्थः, कथम् = किमिति, न अस्राक्षीत् = न सृष्टवान्, द्वादशबाहुभ्यसत्त्वेवेदृशं पराजयं लब्धवानहमिति विचिन्त्य क्रुद्धेन = कोपाभिभूतेन, स्कन्देन = कार्तिकेयेन, शङ्करकरन्यस्तम्—'शङ्करस्य = शिवस्य, करे = करतले, न्यस्तम् = स्थापितम्, विधातुः = ब्रह्मणः' शिरः = मुण्डम्, पञ्चममीति भावः । उद्धतम् = साधिक्षेपमिति भावः, ऐक्षि = दृष्टम्, (तम्) जामदग्न्यम् = परशुरामम्, यदि न हि जानीषे, साधारणान् वीरान् न जानासीति तु भवितुं शक्यं तेषामप्रसिद्धत्वात्, येन स्कन्दोऽपि पराभूतस्तादृशं मामपि न जानासीत्यहो ते मन्दप्रज्ञतेति परशुरामस्याशयः । कदाचित्क्रुद्धः शिवो ब्रह्मणः पञ्चमं शिरश्छित्त्वा स्वकरे स्थापितवानिति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धेया । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २४ ॥

पुनः सामर्षमिति । तृणाय मन्यसे = तृणवन्मत्वा नाद्रियसे । 'मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु इति 'तृणाय' इत्यत्र चतुर्थी । आवयोः = मम तव च । का = का जातिः, गरीयसी = महत्तरा । सङ्ग्रामतुलैव निर्णेष्यते = निर्णयं

पराक्रम वाले, 'मेरे (छः) मुख के अनुसार (बाहर) भुजाएँ क्यों नहीं बनायीं'—ऐसा सोच कर क्रुद्ध कार्तिकेय ने, शङ्कर के करतल पर स्थापित ब्रह्मा के पञ्चम शिर को तिरस्कारपूर्वक देखा; ऐसे जामदग्न्य (परशुराम) को भी तू नहीं जानता है ॥ २४ ॥

(पुनः क्रोध पूर्वक) क्या कहा ? रे ! क्या कहा ! 'हम ब्राह्मणों के प्रति प्रवीर नहीं ऐसा । क्यों, क्षत्रिय जाति का होने से गर्वयुक्त तू ब्राह्मण जाति को

राम —भो ब्रह्मन् ! भवता समं न घटते सङ्ग्रामवार्त्तापि न,
सर्वे हीनबला वयम्, बलवतां यूयं स्थिताः मूर्द्धनि ।

लक्ष्मण —जामदग्न्य ! एवमेतत् ।

यस्मादेकगुणं शरासनमिदं सुव्यक्तमुर्वीभृता-
मस्माकम्, भवतां पुनर्नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम् ॥ २५ ॥

करिष्यसि । अथुनैव सङ्ग्रामे त्वां जित्वा ब्राह्मणजात्युत्कर्षं दर्शयामीति परशुरामस्याभिप्राय ।

अन्वय —भो ब्रह्मन् ! भवता समम् न, सङ्ग्रामवार्त्ता अपि न घटते । सर्वे वयम् हीनबला, यूयम्, बलवताम् मूर्धनि स्थिता ।

व्याख्या —भो ब्रह्मन् ! भवता समम्=भवता ब्राह्मणेन सह, न अस्माकम् क्षत्रियाणाम्, सङ्ग्रामवार्त्ता अपि = सङ्ग्रामस्य का कथा, तद्वार्त्ताऽपि, न घटते = न युज्यते । सर्वे, वयम् = क्षत्रिया इति भाव । हीनबला = अल्पशक्तय, यूयम् = ब्राह्मणास्त्विति भाव । बलवताम् = शक्तिमताम्, मूर्धनि = शिरसि, स्थिता । भवन्त सर्वथा गरीयांसो बलवत्तानिर्णायकस्य सङ्ग्रामस्य नास्ति काप्यावश्यकतेति भाव ।

लक्ष्मण —कटूक्त्या रामोक्तिं समर्थयन् आह—यस्मादेकगुणमिति ।

अन्वय —यस्मात् अस्माकम् उर्वीभृताम् इदम् शरासनम् एकगुणम् सुव्यक्तम्, पुन भवताम् नवगुणम् यज्ञोपवीतम् बलम् ।

व्याख्या—यस्मात् = यत, अस्माकम् उर्वीभृताम् = राज्ञाम्, इदम् = निकटवर्त्ति, शरासनम् = धनु, एकगुणम् = एकज्यम् ('मौर्वी ज्या शिञ्जिनी

गुण समान समझता है ? तो इसी समय हम दोनों की जातियों में कौन-सी जाति गुरुतर है, इसका निर्णय सग्राम की तराजू कर देगी।

राम—ब्रह्मन् ! आप के साथ हमारी सग्राम की बात-चीत भी उचित नहीं है (सग्राम करना तो दूर रहे) । हम सब अल्प बल वाले हैं और आप लोग बलवानों में मूर्धन्य हैं।

लक्ष्मण—जामदग्न्य ! यह ठीक है।

क्योंकि हम राजाओं का यह धनुष बल है जिसमें एक गुण (प्रत्यञ्चा)

रामः—अलमिह माननीये मुनौ दुर्विनयवैदग्ध्येन ।

जामदग्न्यः—अस्य को दोषः ?

दारैर्मुक्तकुचांशुकैः परिवृतं प्राचीनमेषां नृपं
नाहिंसीद्यदसौ कुठारहतकस्तस्यैतदुज्जृम्भितम् ।
यन्नारीकवचान्वयप्रणयिनां क्षत्राधमानामिमा
दुर्वाचः प्रविशन्ति मे श्रवणयोर्धिक् क्षत्रगोत्रे कृपाम्॥२६॥

गुणः' इत्यमरः) सुव्यक्तम् = सुस्पष्टम्, पुनः = किन्तु, भवताम् = युष्माकम्, नवगुणम्=नवसूत्रम्, नवभिः सूत्रैर्निर्मितमिति भावः । ('गुणो ज्यासूत्रतन्तुषु' इति हैमः) यज्ञोपवीतं बलम् । असत्यपि भुजबले, भवन्तो नवगुणनिर्मितयज्ञोपवीतबलोपेताः सन्तः सर्वथैकगुणोपेतशरासनवद्भ्योऽस्मद्गरीयांस इति भावः । ब्राह्मणानां तु केवलं यज्ञोपवीतबलं, न हि बाहुबलमिति लक्ष्मणस्याशयः ।

राम इति । इह = अस्मिन् । माननीये = पूजनीये । मुनौ = परशुरामे । दुर्विनयवैदग्ध्येन = उद्दण्डतापाटवेन, अलम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—मुक्तकुचांशुकैः दारैः परिवृतम् एषाम् प्राचीनम् नृपम् यत् असौ कुठारहतकः न अहिंसीत् तस्य एतत् उज्जृम्भितम् । यत् नारीकवचान्वयप्रणयिनाम् क्षत्राधमानाम् इमाः दुर्वाचः मे श्रवणयोः प्रविशन्ति । क्षत्रगोत्रे कृपाम् धिक् ।

व्याख्या—मुक्तकुचांशुकैः = त्यक्तस्तनवस्त्रैः, दारैः जायाभिः ('भार्या जायाऽथपुंभूम्नि दाराः' इत्यमरः) परिवृतम् = वेष्टितम्, स्त्रीभिः प्रसारितस्वाञ्चलैः प्रच्छाद्य रक्षितमिति भावः, एषाम् = सूर्यवंश्यानां लक्ष्मणादीनाम्, प्राचीनम् = पूर्वजम्, नृपम् = राजानम्, मूलकराजनामानमिति भावः, यत् असौ कुठारहतकः = निन्दितः परशुः, न अहिंसीत् = न हतवान्, तस्य = अहननस्य,

---

सुस्पष्ट है । किन्तु आप का बल यज्ञोपवीत है, जिसमें नवगुण (सूत्र) ॥२५॥

राम—माननीय इन मुनि के प्रति अविनय का चातुर्य न करो ।

जामदग्न्य—इसका क्या दोष (है) ?

स्त्रियों द्वारा स्तनों पर से हटाकर अपने पसारे आँचलों से ढककर बचाये गये सूर्यवंशियों के पूर्वज (मूलकराज) नृप को जो इस कुत्सित परशु ने नहीं

राम —अलमिह क्षीरकण्ठे कठोरकोपतया तत्क्षम्यताम् ।
जामदग्न्य —आ ! किमुच्यते क्षीरकण्ठ इति । विषकण्ठ खल्वसौ ।
लक्ष्मण —भगवन् ! शितिकण्ठशिष्येण विशेषतः क्षन्तव्यम् ।

एतत् उज्जृम्भितम् —फलम् । नारीकवचान्वयप्रणयिनाम्—नार्य एव कवचं = रक्षा हेतुर्यस्य स नारीकवचः मूलकराजस्तस्य अन्वयः = वंशः प्रणयिनाम् मूलकराज वंशजातानामिति भावः । क्षत्राधमानाम् = क्षत्रियदुष्टानाम् लक्ष्मणसदृशानाम् इमा अधमाधमा दुर्वाचः = दुर्वचांसि मे = मम अविमृश्य दयापरस्येति भावः श्रोत्रयोः = कर्णयोः प्रविशन्ति । स्त्रीभिः प्रसारिताञ्चलवर्तिनमेषां पूर्वजं मूलक राजं तदा नाहं न्यहनिष्यम् तर्हीदानीमेषां मूलकवंश्यानां दुर्वचांसि नाश्रोष्यमिति भावः । (अतएव सम्प्रति) क्षत्रगात्रे – क्षत्रियगात्रे कृपां धिक् । कृपाविधान-मनुचितमनिष्टफलत्वादिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २६ ॥

राम इति । इह – अस्मिन् लक्ष्मणे इत्यर्थः । क्षीरकण्ठे = दुग्धमुखे बाले इत्यर्थः । कठोरकोपतया—कठोरः कोपो यस्य तस्य भावस्तत्ता तया ।

जामदग्न्य इति । विषकण्ठः = विषं कण्ठे यस्य स विषकण्ठः विषमदृश कटुभाषित्वादिति भावः ।

लक्ष्मण इति । शितिकण्ठशिष्येण—शितिकण्ठः = नीलकण्ठः शिव इत्यर्थः, तस्य शिष्येण । शिवोऽपि विषकण्ठोऽपि च भवद्गुरुः विषकण्ठस्तत्ते गुरुसदृशस्य ममापराधो विशेषतः क्षन्तव्य इति लक्ष्मणोक्तेराशयः ।

मारा था, उसी का यह फल है कि (उस) नारीकवच (नारियाँ ही जिसकी रक्षा का हेतु बनी) के वंश में उत्पन्न अधम क्षत्रियों के दुर्वचन मेरे कानों में प्रवेश कर रहे हैं । क्षत्रियवंश पर कृपा को धिक्कार है ॥ २६ ॥

राम—इस दुधमुँहे बच्चे पर कठोर कोप नहीं करना चाहिए अतः क्षमा करें।

जामदग्न्य—आ आ, क्या कह रहे हो—'दुधमुँहा है' ? यह तो विषकण्ठ (विषमुँहा) है।

लक्ष्मण—भगवन् ! (यदि मैं विषकण्ठ अर्थात् शिव हूँ तब तो) शिव के शिष्य (आप) के द्वारा विशेष रूप से क्षमा करनी चाहिए ।

जामदग्न्यः—आः ! कथं विषकण्ठनामसाम्येन त्वमपि मे गुरुः ?

लक्ष्मणः—(विहस्य) अन्याभिसन्धानेन मयेदमुक्तं यत् किल—

किरीटमधिरूढेऽपि बाले प्रालेयरोचिषि ।
शितिकण्ठस्य किं चित्ते धत्ते कोपाङ्कुरः पदम् ? ॥ २७ ॥

जामदग्न्यः—(स्वगतम्) अहो ! अस्य क्षत्रियबटोर्वाक्परिपाटीपाटवम् ! भवतु । (प्रकाशम्) तदिदं सोढमेव मया, अयं तु न क्षमते प्रकृतिकठोरः कुठारः । शीलं न वेत्सि कथमस्य ?

जामदग्न्य इति । आः = कोपाधिक्यद्योतकमव्ययम् । कथम्=केन प्रकारेण । विषकण्ठनामसाम्येन = विषकण्ठ इति नाम्नैवेति भावः ।

लक्ष्मण इति । अन्याभिसन्धानेन = अन्याभिप्रायेण । भवतो गुरुरतिक्षमावान्, तद् भवताऽपि क्षमाशीलेन भाव्यमित्यभिप्रायः ।

तदेवाभिसन्धानं प्रदर्शयन्नाह—किरीटमिति ।

अन्वयः—बाले प्रालेयरोचिषि किरीटम् अधिरूढे अपि शितिकण्ठस्य चित्ते कोपाङ्कुरः पदं धत्ते किम् ?

व्याख्या—बाले = कलात्मके, शिशौ च, प्रालेयरोचिषि = शीतांशौ, चन्द्र इत्यर्थः, किरीटम् = शिरः प्रदेशमपि अधिरूढे = समाश्रयति सतीति भावः; शितिकण्ठस्य = शिवस्य, चित्ते = मनसि, कोपाङ्कुरः = क्रोधोदयः, पदम् = स्थानम्, धत्ते = धारयति, किम् ? यथा चन्द्रे शिवशिर आरोहत्यपि तस्य मनसि कोपो नोदेति तथैव तच्छिष्येण भवता मादृशे बालेऽपराधं कुर्वत्यपि क्रोधो न कर्त्तव्य इति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २७ ॥

जामदग्न्य इति । क्षत्रियबटोः = क्षत्रियबालकस्य । वाक्परिपाटीपाटवम् =

विशेष—परशुराम ने लक्ष्मण को विषकण्ठ 'विषमुँहा' की अर्थ दृष्टि से कहा था किन्तु लक्ष्मण ने उसका 'शिव' अर्थ लेकर उत्तर दिया है ।

जामदग्न्य—आः, क्यों, विषकण्ठ नाम की समानता से तू भी मेरा गुरु है ?

लक्ष्मण—(हँस कर) मैंने दूसरे ही अभिप्राय से यह कहा है, जो कि—

बाल चन्द्रमा (शिव) के शिर पर अधिरूढ है, तो भी शङ्कर के चित्त में क्रोध का अङ्कुर क्या उत्पन्न होता है ? (अर्थात् नहीं) ॥ २७ ॥

जामदग्न्य—(मन ही मन) इस क्षत्रिय बालक का वचन बोलने का

क्रीडाविनिर्मितसुदुर्मददोर्विलास-
नि शेपराजकवधस्य परश्वधस्य ।
कीलालकीकसकचै परितो विचित्य
येन द्विधापि विदधे पृथिवी त्रिवर्णा ॥ २८ ॥

वचनप्रक्रमवैदग्ध्यम् ।: प्रकृतिकठोर —प्रकृत्या = स्वभावेन कठोर = निर्दय । (प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम इति तृतीया) शीलम् = स्वभावम् ।

जामदग्न्य स्वपरशुशील वर्णयन्नाह—क्रीडेति ।

अन्वय —क्रीडाविनिर्मितसुदुर्मददोर्विलासनि शेपराजकवधस्य परश्वधस्य (अस्य शील कथ न वेत्सि इति पूर्वेण वाक्येन सम्बन्ध) येन कीलालकीकसकचै परित विचित्य द्विधापि पृथिवी त्रिवर्णा विदधे ।

व्याख्या—क्रीडाविनिर्मितेत्यादि —क्रीडया = अनायासेन विनिर्मित = विहित , सुदुर्मद = अतिदृप्त , दोर्विलास = भुजलीला यस्य तस्य नि शेपराजकस्य = सकलराजसमूहस्य वधो येन तस्य परश्वधस्य = परशो (अस्य शीलम् = स्वभावम्, कथम् = केन प्रकारेण, न वेत्सि = न जानासीति पूर्वेण वाक्येन सम्बन्ध)। येन = परशुना, कीलालकीकसकचै = शोणितास्थिकेशै ('शोणितेऽम्भसि कीलालम्' इत्यमर , कीकस कुल्यमस्थि च' इति च) परित = सर्वत , विचित्य = व्याप्य, द्विधाऽपि = द्वाभ्या प्रकाराभ्यामपि, पृथिवी = धरित्री, त्रिवर्णा = क्षत्रियाणा विनाशेन ब्राह्मण वैश्य-शूद्रैर्वर्णत्रयो पेता, रक्तशुक्लश्यामाभिधवर्णत्रयोपेता च (शोणितेन रक्तवर्णा, अस्थिभि श्वेतवर्णा, केशै श्यामवर्णा चेति बोध्यम्) विदधे = चकार । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ २८ ॥

कैसा नैपुण्य है ! अच्छा, (प्रकट रूप में) तो यह मैंने क्षमा कर ही दिया किन्तु स्वभाव से कठोर यह कुठार क्षमा नहीं करता है। इसका स्वभाव क्या तू नहीं जानता ?

दुर्धर्ष भुजविलास वाले समस्त क्षत्रियनृपो का लीलापूर्वक (अनायास) वध करने वाले इस परशु का (स्वभाव क्या तू नहीं जानता है ?) जिसने रुधिर, हड्डियो और केशों मे सर्वत्र व्याप्त कर दोनो प्रकार से पृथिवी को तीन वर्ण वाली (क्षत्रियो को मार कर ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों से युक्त, और हड्डी और केशों से लाल, श्वेत और काला इन तीन वर्णो से युक्त) बना दिया ॥२८॥

(पुनः सामर्षम्) कथमस्य हरप्रसादपरशोः शीलमपरिशीलितं ते ?
यत्र क्रामति सङ्गराङ्गणभुवं दुर्वारधाराञ्चल-
क्षुण्णक्षत्रकिशोरकण्ठरुधिरैर्नीरेणुका भूरभूत् ।
तादृग्वीरवरस्वयंवरपरस्वर्लोककन्याकर-
क्रीडापुष्करदामरेणुभिरभूद्द्यौरेव रेणूत्कटा ॥ २९ ॥

पुनरिति । अस्य = एतस्य, हरप्रसादपरशोः—हरस्य शिवस्य, प्रसादरूपो यः परशुस्तस्य । शीलम् = स्वभावः, ते = त्वयेति भावः (कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येवेति नियमात् षष्ठी) कथम् = केन प्रकारेण, अपरिशीलितम् = अपरिचितम् ।

अन्वयः—यत्र समराङ्गणभुवं क्रामति दुर्वारधाराञ्चलक्षुण्णक्षत्रकिशोरकण्ठरुधिरैः भूः नीरेणुका अभूत् । तादृग्वीरवरस्वयंवरपरस्वर्लोककन्याकरक्रीडापुष्करदामरेणुभिः द्यौः एव रेणूत्कटा अभूत् ।

व्याख्या—यत्र = यस्मिन् परशौ, समराङ्गणभुवम्—युद्धप्राङ्गणभूमिम्, क्रामति=प्रवर्तति सति, (यस्य च भावेन भावलक्षणमिति सप्तमी) दुर्वारेत्यादिः-दुर्वारेण = निवारयितुमशक्येन, धाराञ्चलेन = तीक्ष्णाग्रभागप्रान्तेन, क्षुण्णानाम् = निहतानाम्, क्षत्रकिशोराणाम् = क्षत्रियकुमाराणाम्, कण्ठाः=गलाः, तेषां रुधिरैः= शोणितैः, भूः = पृथिवी, नीरेणुका—निर्गता रेणवो यस्याः सा = रजोरहिता, अभूत् । तादृग्वीरवरेत्यादिः—तादृशा = समराङ्गणे मया परशुना छिन्ना ये क्षत्रियकुमारा इत्यर्थः, वीरवराः = वीरश्रेष्ठाः, तेषां स्वयंवरपराः = स्वयंवरपरायणाः, याः स्वर्लोककन्याः = देवकुमार्यः, तासां करेषु = हस्तेषु, क्रीडापुष्कर-दामानि क्रीडया = विलासेन, पुष्करदामानि = कमलमालाः, तेषां रेणुभिः = परागैः, द्यौरेव=स्वर्ग एव, रेणूत्कटा=रेणुभि =धूलिभिः, उत्कटा=व्याप्ता, अभूत् = जाता । मया कृत्तानां क्षत्रियकिशोराणां रुधिरैः पृथिव्यां रेणवो विनष्टाः,स्वर्गश्चोतां

(पुनः क्रोधपूर्वक) क्या शङ्कर से प्रसाद स्वरूप प्राप्त इस परशु के स्वभाव से अपरिचित हो ?

सङ्ग्रामभूमि में जिस (परशु) के उतरने पर दुर्वार धार से निहत क्षत्रिय कुमारों के कण्ठों के रुधिर से पृथिवी नीरेणुका (धूलिरहित) हो गयी, और

लक्ष्मणः—भगवन्! एतत्सत्यम्। यत्किल भवत्कुठारधाराञ्चलविलसितेन नीरेणुका भूरभूदिति।

जामदग्न्यः—(स्वगतम्) आः! कथं रेणुकावृत्तान्तेन मर्म विध्यति? भवतु। (प्रकाशम्) अये क्षत्रियपोत! अलमिह निरपराधे भवति मुधा परश्वधपातनेन। तदयं मे प्रकृतिकठोरभाषिणं भवत्कण्ठमेव शातयति कुठारः।

तथा शूरश्रेष्ठानां वरणाय नर्तितानां देवकन्यानां करस्थकमलमालापरागधूलिरहितोऽपि स्वर्गो धूलिधूसरो जात इति भावः। अत्र पृथिवी नीरेणुका अभूत् इत्यनेन परशुना रेणुकाकण्ठकर्तनम्पापोऽपि ध्वन्यते 'नीरेणुका' इत्यस्य रेणुकया परशुरामजनन्या रहितेत्यर्थस्याप्यवबोधकत्वात्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २६ ॥

लक्ष्मण इति। नीरेणुका = निर्गता रेणुका = परशुरामजननी यस्याः सा। परशुधाराविनिहतक्षत्रियाणां रुधिरैः पृथिवी नीरेणुका (धूलिरहिता) अभूदिति तु न जाने किन्तु भवदीयपरशुधाराछिन्नाया तव जनन्या रेणुकायाः सत्यामिव पृथिवी नीरेणुका (रेणुकारहिता) अभूदिति सम्यग् जानामीति लक्ष्मणोक्तराशयः।

जामदग्न्य इति। आः = अतिशयकोपद्योतकमव्ययपदम्। रेणुकावृत्तान्तेन—रेणुकायाः—मम परशुरामस्य जनन्याः वृत्तान्तेन = कथया मम—कोमलतरस्थानम् हृदयस्थलमित्यर्थः, विध्यति = ताडयति। क्षत्रियपोत = क्षत्रियबालक। मुधा = व्यर्थम्। प्रकृतिकठोरभाषिणम्—प्रकृत्या कठोरम् = कटु भाषते तच्छील

(परशु के द्वारा मारे गये) वीर योद्धाओं के स्वयंवर में परायण स्वर्ग लोक की कन्याओं के करों में क्रीडाकमलों की मालाओं के परागों से आकाश ही धूलि धूसरित हो गया। २६ ॥

लक्ष्मण—भगवन्! यह सत्य है कि आप के कुठार की धार के विलास से पृथिवी (परशु द्वारा आप की माता रेणुका के मारे जाने से) नीरेणुका (रेणुका से रहित) हो गयी।

जामदग्न्य—(मन ही मन) आः किस प्रकार से रेणुका के वृत्तान्त से मेरे अन्तस्थल को बेध रहा है? अच्छा (प्रकट रूप में) अरे! क्षत्रियबालक

(नेपथ्ये)

अये जामदग्न्य ! कथमति प्रगल्भसे ? तदिदमिदानीं भवच्छासनाय शरासनमानीयते ।

जामदग्न्यः—(विहस्य) कथमयं जनकः ? (उच्चैः) अये याज्ञवल्क्यशिष्य ! किं भवतः शरासनेन ? पद्मासनमेवावलम्बस्व ।

(पुनः सोत्प्रासम्) ।

स्तम्, शातयति = छिनत्ति । निरपराधं त्वां परित्यज्य तव कण्ठमेव छिनत्ति, यतो यस्मादेव ईदृश्यो दुर्वाचो निर्गच्छन्तीति परशुरामोक्तेराशयः ।

नेपथ्य इति । अतिप्रगल्भसे = अतिशयधाष्ट्यं करोषि । भवच्छासनाय—भवतः = तव, शासनाय = निग्रहाय ।

जामदग्न्य इति । शरासनेन = धनुषा । पद्मासनम् = योगशास्त्रोक्तासनविशेषम् । जनकस्योपहासार्थं परशुरामोक्तिरियम् । याज्ञवल्क्यस्य शिष्यत्वात्त्वं योगविद्यायामेव निपुणो न हि वीरधर्मनिर्वाहिकस्तस्मात् पद्मासनमेवालम्ब्य तूष्णीं तिष्ठेति तदाशयः ।

निरपराध तुझ पर व्यर्थ परशुप्रहार की आवश्यकता नहीं। तो मेरा यह कुठार स्वभावतः कठोरभाषी (अत एव अपराधी) तेरे कण्ठ को ही काट देता है।

(नेपथ्य में)

अरे जामदग्न्य ! क्यों अधिक धृष्टता दिखा रहे हो ? तो अब तुम्हें दण्ड देने के लिए यह धनुष लाया जा रहा है।

जामदग्न्य—(हँसकर) क्या यह जनक (हैं) ? (ऊंचे स्वर से) अरे याज्ञवल्क्य के शिष्य ! तुम्हें धनुष से क्या (प्रयोजन) ? पद्मासन ही का अवलम्बन कीजिए।

(पुनः उपहास के साथ)

युष्माकं भो सुघटितबहुन्यस्तपद्माक्षकण्ठा
मिथ्योत्कण्ठा किमिति समिति क्षत्रियश्रोत्रियाणाम् ?
तेऽन्ये चञ्चत्करतलचलच्चण्डनिस्त्रिंशधारा
धौतारातिद्विपमदमसीपङ्कपूरा प्रवीराः ॥ ३० ॥

तदलं भवता, एतावेव तावत् क्षत्रियस्फुलिङ्गौ निर्वापयामि।

अन्वय—भो सुघटितबहुन्यस्तपद्माक्षकण्ठा ! क्षत्रियश्रोत्रियाणाम् युष्माकम् समिति किमिति मिथ्योत्कण्ठा चञ्चत्करतलचलच्चण्डनिस्त्रिंशधाराधौताराति द्विपमदमसीपङ्कपूरा ते अन्ये प्रवीराः।

व्याख्या—भो – हे सुघटितबहुन्यस्तपद्माक्षकण्ठा—सुघटितानि = सुरचितानि बहूनि = अनेकानि न्यस्तानि = स्थापितानि पद्माक्षाणि = पद्मबीजानि यस्मिन् स तादृशः कण्ठो यस्य तत् तत्सम्बोधन। हे पद्मबीजमालाविभूषितकण्ठ! योगाभ्यासरता इति भावः। क्षत्रियश्रोत्रियाणाम् क्षत्रियेषु श्रोत्रियाणाम् = वैदिकानाम् युष्माकम् = भवताम् समिति = सङ्ग्रामे किमिति – किमर्थम्, मिथ्योत्कण्ठा मिथ्या – निष्फला उत्कण्ठा – अभिलाषः ? चञ्चत्करतलेत्यादि—चञ्चत – चञ्चलं यत् करतलम् तस्मिन् चलन् – भ्रमन् चण्डः = भयङ्करो यो निस्त्रिंशः = खड्गः तस्य धारया – तीक्ष्णाग्रभागेन धौत – प्रक्षालित अरातीनाम् – अरीणाम् ये द्विपाः = गजास्तेषां मदः दानजलम् एव मसीपङ्कः = कज्जलकर्दमः, तस्य पूरः = प्रवाहो यैस्ते ते – तादृशाः अन्ये – त्वदितरे प्रवीराः – योद्धारः (सन्ति) रूपकालङ्कारः। मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ ३० ॥

तदलमिति। तत् = तस्मात् भवता अलम् = त्वया किञ्चित्साध्यं नास्तीत्यर्थः। क्षत्रियस्फुलिङ्गौ = क्षत्रियावेव स्फुलिङ्गौ – अग्निकणौ एतौ अग्निकणसदृशौ क्षत्रियवीरबालकौ इत्यर्थः। निर्वापयामि = शमयामि।

अरे सुन्दर गढ़े हुए पद्मराजों की माला को कण्ठ में धारण करने वाले ! (जनक) क्षत्रियों में वैदिक तुमको युद्ध के विषय में मिथ्या उत्सुकता क्यों (हो रही है) ? चञ्चल करतल में चलते हुए तीक्ष्ण खड्ग की धार से शत्रुओं के गजों के मदजल रूप कज्जल कर्दम को धोने वाले वीर दूसरे ही (हैं तुम जैसे नहीं) ॥ ३० ॥

अतः आप से प्रयोजन नहीं। पहिले इन्हीं दोनों क्षत्रिय चिनगारियों को बुझाता हूँ।

(पुनर्नेपथ्ये)

अये जामदग्न्य ! कथं तथा शमधनसमृद्धस्य जमदग्नेस्तनयोऽपि शमदुर्गतोऽसि संवृत्तः ?

जामदग्न्यः—कथमयमाङ्गिरसः ? (उच्चैः) अये शतानन्द ! कथय तावत्, इदमेवंविधं शमाभिधानं कस्मादुपात्तम् ? भगवतो गौतमाद्वा गोत्रभिदो वा ?

पुनरिति । शमधनसमृद्धस्य—शमः = शान्तिरिन्द्रियनिग्रह इति भावः । स एव धनम् = सम्पद्, तेन समृद्धस्य = सम्पन्नस्य । शमदुर्गतः—शमे = शान्ति-विषये दुर्गतः = दुर्दशाग्रस्तः, दरिद्र इत्यर्थः, शान्तिशून्य इति भावः ।

जामदग्न्य इति । आङ्गिरसः = शतानन्दः । गौतमात्—गौतमः = शता-नन्दस्य पिता, अहल्यापतिः, यः कोपाविष्ट इन्द्रसंसर्गेण दूषितामहल्यां पाषाणमयीं चकार, तस्मात् । गोत्रभिदः = इन्द्राद् वा । जामदग्न्योक्तेरयमभिप्रायः—शतानन्द ! कथय, त्वयाऽयं शमः कस्माद् गृहीतः ? स्वपितुर्गौतमाद् ? यस्य पत्न्याः शील-भङ्गमिन्द्रश्चकार, ततो यः स्वपत्नीं पाषाणमयीं चकार । इन्द्राद् वा ? यस्तव मातुर्जारो गौतमशापमङ्गीकृत्य सहस्राक्षो बभूव ? एवं त्वं व्यभिचारिणीपुत्र इति ।

(पुनः नेपथ्य में)

अरे जामदग्न्य ! वैसे शान्ति के धनी जमदग्नि के पुत्र होते हुए भी तुम शान्ति के विषय में दरिद्र कैसे हो गये हो ?

जामदग्न्य—क्या, ये आङ्गिरस (शतानन्द) हैं ? (ऊँचे स्वर से) अरे शतानन्द ! पहिले कहो, ऐसा शान्ति नामक यह पदार्थ किससे तुमने प्राप्त किया ? भगवान् गौतम से या इन्द्र से ?

विशेष—परशुराम ने शतानन्द की निन्दा करने के अभिप्राय से ऐसा कहा है । अभिप्राय है कि तुम उस गौतम के पुत्र हो जिसकी पत्नी का शीलभङ्ग इन्द्र ने किया था । इस प्रकार तुम एक व्यभिचारिणी के पुत्र हो । एवम् इन्द्र तुम्हारी माँ का जार था जो गौतम के शाप को अङ्गीकार कर सहस्राक्ष हो गया था ।

(नेपथ्ये)

अये क्षत्रियापुत्र ! निजजननीकण्ठनाण्डवितकुठार ! कुलाङ्गार ! कथं तपस्तुङ्गमाङ्गिरसमपि कुलं कलङ्कयसि ?

जामदग्न्य :—आः पाप ! कुलपांसन ! पांसुलापुत्र ! कथं भृगूणामग्रे तपस्ताण्डवं मण्डयसि ?

राम :—भगवन् ! सकललोकविख्यातमिदं भृगूणामङ्गिरसां च कुलं तपोविशेषेणस्तु भर्गशिष्यस्य । अत एव विज्ञापयामि—

नेपथ्य इति । क्षत्रियापुत्र – क्षत्रिया = क्षत्रजातीया रेणुका तस्याः सुतः = पुत्र ! परशुरामस्यात्राक्षेपसम्बुद्धिः । निजजननीकण्ठताण्डवितकुठार–निजजनन्याः स्वमातुः कण्ठे गले, ताण्डवितं नर्तितं सञ्चारित इत्यर्थः, कुठारः – परशुर्येन स तत्सम्बुद्धौ स्वमातृहन्त ! कुलाङ्गार = कुलनाशक इत्यर्थः । तपस्तुङ्गम = तपश्चरणोन्नतम् ।

जामदग्न्य इति । आः = कोपद्योतकमव्ययपदम् । पाप = पापमस्त्यस्येति पापस्तत्सम्बुद्धौ । 'अर्श आदिभ्योऽच्' इत्यच् । कुलपांसन = कुलकलङ्क । पांसुलापुत्र = व्यभिचारिणीपुत्र ।

राम इति । भर्गशिष्यस्य भर्ग = शिवस्तस्य शिष्यस्तस्य (हरः स्मरहरो भर्ग ' इत्यमरः) परशुरामस्येत्यर्थः ।

(नेपथ्य में)

अरे क्षत्रियापुत्र ! (परशुराम) अपनी माता के कण्ठ पर (मारने के लिए) कुठार को नचाने वाले ! कुलनाशक ! तपस्या से उन्नत आङ्गिरस वंश को भी क्यों कर कलङ्कित कर रहे हो ?

जामदग्न्य—आह ! पापी ! वंशकलङ्क ! व्यभिचारिणीपुत्र ! क्या भृगु वंशियों के सामने तपस्या का ताण्डवनृत्य को मण्डित कर रहे हो (अर्थात् तपस्या का आडम्बर रचते हो ?)

राम—भगवन् ! भार्गव और आङ्गिरस ये दोनों कुल सकल संसार में विख्यात हैं, उस पर भी शिव के शिष्य (परशुराम) का कुल तपस्याविशेष से (सकल संसार में विख्यात है) । इसी से निवेदन कर रहा हूँ—

तपःशान्तं चेतः स्फटिकमणिमालापरिकरः,
कुशाः कुण्डी दण्डः, सततमुटजावासनिरतिः ।
मुनीनामेतद्वः समुचितमुदग्रं न वचनं
न वक्रभ्रूभङ्गो न शरधनुषी, नाऽपि परशुः ॥ ३१ ॥

(पुनः सविस्मयम्) भवानेव तावद्विचारयतु ।

अन्वयः—चेतः तपःशान्तम्, स्फटिकमणिमालापरिकरः, कुशाः कुण्डी दण्डः, सततम् उटजावासनिरतिः, मुनीनाम् वः एतत् समुचितम्, उदग्रं वचनं न (समुचितम्) वक्रभ्रूभङ्गः न (समुचितः) शरधनुषी न (समुचिते) परशुः अपि न (समुचितः) ।

व्याख्या—चेतः हृदयम्, तपःशान्तम्–तपसा = तपश्चरणेन शान्तम् = शमसम्पन्नम्, स्फटिकमणिमालापरिकरः–स्फटिकमणीनां माला, तस्यां परिकरः = यत्नः, ('यत्नाऽऽरम्भौ परिकरौ' इति त्रिकाण्डशेषः) कुशाः = दर्भाः, कुण्डी = कमण्डलुः ('अस्त्री कमण्डलुः कुण्डी' इत्यमरः) दण्डः = पलाशदण्ड इत्यर्थः, सततम् = अनवरतम्, उटजाऽऽवासनिरतिः–उटजावासे पर्णशालानिवासे निरतिः निष्ठा, मुनीनाम्, वः = युष्माकम्, एतत् = इदम्, तपः शान्तचेतस्त्वादिकमिति भावः । समुचितम् = समीचीनम् (वर्तते) उदग्रम् = कठोरम्, वचनम् = वाक्, न (समुचितम्) वक्रभ्रूभङ्गः = कुटिलभ्रूकुटिलता, न (समुचितः) शरधनुषी = वाणशरासने न (समुचिते) परशुरपि = कुठारोऽपि न (समुचितः) शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३१ ॥

चित्त तपस्या से शान्त, स्फटिकमणि की माला को धारण करने में यत्न, कुश, कमण्डलु, पलाशदण्ड, अनवरत पर्णकुटी में निवास करने की अभिरुचि, यह सब आप मुनियों के लिए समीचीन हैं। न (तो) कठोरवचन, टेढ़ी भौंह न वाण-धनुष और न ही परशु उचित हैं ॥ ३१ ॥

(पुनः विस्मयपूर्वक) भला आप ही विचारें ।

क्व परशुरशुभस्ते ? कुत्र गोत्रं पवित्रं ?
क्व धनुरिदमुदग्रं ? निर्मलं कुत्र शीलम् ? ।
घनसमरकराला कुत्र नाराचहेला ?
कुशकिसलयलीला कुत्र वा पर्णशाला ? ॥ ३२ ॥

जामदग्न्य :—कथमन्यमिव मां प्रणतिपात्रं मुनिमात्रं मन्यसे ?

स एष जामदग्न्य एवाहम्—

अन्वय :—अशुभः परशुः क्व ? पवित्रम् ते गोत्रम् कुत्र ? उदग्रम् इदम् धनुः क्व ? निर्मलम् शीलम् कुत्र ? घनसमरकराला नाराचहेला कुत्र ? वा कुशकिसलयलीला पर्णशाला कुत्र ?

व्याख्या—अशुभः = अमङ्गलरूपः, परशुः-कुठारः, क्व-कुत्र ? पवित्रम् = पूतम् ते = तव परशुरामस्य, गोत्रम् = कुलम् कुत्र ? द्वयोरत्रावस्थितिर्न शोभते इति भावः । एवं परत्रापि । उदग्रम् = उद्धतम् इदम् निकटस्थम् धनुः = कार्मुकम् क्व = कुत्र ? निर्मलम् = निर्दूषणम् शीलम् = चरितम् कुत्र ? घनसमरकराला—घनः = भयङ्करः इत्यर्थः समरः = युद्धः, करालाः = भीषणा नाराचहेला = बाणविलासः कुत्र ? वा = अथवा, कुशकिसलयलीला—कुशानाम् = दर्भाणाम् किसलयानां च = पल्लवानां च लीला-विलासः यत्र तादृशी पर्णशाला-पर्णकुटी कुत्र ? क्षत्रियपद्धतिं परित्यज्य ब्राह्मणोचितपद्धतिरेव भवता ग्राह्येति भावः । अत्र विषमालङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—'विषमं यद्यनौचित्यादनेकान्वयकल्पनम्' इति । मालिनी वृत्तम् ॥ ३२ ॥

अमङ्गलरूप परशु कहाँ ? और आप (परशुराम) का पवित्र कुल कहाँ ? (दोनों में महान् अन्तर है)। यह भयङ्कर धनुष कहाँ ? और उज्ज्वल चरित कहाँ ? भयङ्कर युद्ध में भीषण बाणविलास कहाँ ? और कुशों एवं पल्लवों के विलास से विलसित पर्णशाला कहाँ ? ॥ ३२ ॥

जामदग्न्य—क्या अन्य के समान मुझे (भी) प्रणामपात्र सामान्य मुनि समझते हो ?

यह मैं वह जामदग्न्य हूँ—

क्षुण्णक्षत्रकठोरकण्ठविगलत्कीलालधारासरि-
न्निर्वृत्ताभिषवस्य कृत्तशिरसां केशान्कुशान्कुर्वतः ।
गृह्णन् रक्तजलाञ्जलीन् पितृगणो यस्य क्षणं विस्मितः
सन्तोषेण जुगुप्सया करुणया त्रासेन हासेन च ॥ ३३ ॥

अन्वयः—क्षुण्णक्षत्रकठोरकण्ठविगलत्कीलालधारासरिन्निर्वृत्ताभिषवस्य कृत्तशिरसाम् केशान् कुशान् कुर्वतः यस्य पितृगणः रक्तजलाञ्जलीन् गृह्णन् सन्तोषेण जुगुप्सया करुणया हासेन च क्षणम् विस्मितः ।

व्याख्या—क्षुण्णाः = कृत्ताः, क्षत्राणाम् = क्षत्रियाणाम् ये कठोरकण्ठाः = कठिनगलाः, तेभ्यो विगलन्ती = प्रवहमाना या कीलालधारा = शोणितप्रवाहः, सैव सरित् = नदी, तस्यां निर्वृत्तः = निष्पादितः, अभिषवः = स्नानं येन तस्य, कृत्तशिरसाम्—कृत्तानि = छिन्नानि यानि शिरांसि = मुण्डानि, क्षत्रियाणामिति भावः। तेषां केशान् = शिरोरुहान्, कुशान् = दर्भान्, कुर्वतः = विदधतः, कुशस्थाने केशान् गृह्णन् इत्यर्थः, यस्य = मम परशुरामस्य, पितृगणः = पित्रादिपूर्वजसमूहः, रक्तजलाञ्जलीन्—शोणितरूपस्य जलस्य अञ्जलीन् गृह्णन् = पिबन्, सन्तोषेण = वैरनिर्यातनजन्यया प्रीत्या, जुगुप्सया = रक्तपानजन्यया घृणया, करुणया = हतेषु क्षत्रियेषु दयया, त्रासेन = असंख्यमृतक्षत्रियदर्शनजातेन भयेन, हासेन च = सन्तोषजन्येन हासेन च, क्षणम्=कञ्चित्कालम् ('कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया) विस्मितः = विस्मयमापन्नः । स एषोऽहं जामदग्न्य इति पूर्वेण सम्बन्धः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३३ ॥

काटे गये क्षत्रियों के कठोर कण्ठ से बहती हुई शोणितधारा रूप नदी में स्नान करने वाले, काटे गये क्षत्रियों के मुण्डों के केशों को (तर्पणनिमित्त) कुश बनाने वाले जिस मेरे पितर लोग रक्त की जलाञ्जलियों को ग्रहण करते हुए क्षणभर के लिए सन्तोष से, घृणा से, करुणा से, भय से और हास से आश्चर्यचकित हो गये ॥ ३३ ॥

तदलमिदानीमरि—

कृत्वा त्रिःसप्तकृत्वः समिति विशसनं पूर्वमुर्वीपतीनां
कृत्वाऽन्यत्सप्तकृत्वः पुनरपि कदनं दुर्मदानां नृपाणाम्।
निर्माय क्ष्मापतीनां प्रतिसमरहृतैरुत्तमैरुत्तमाङ्गैः
कापालीमक्षमालां झटिति भगवतो भैरवस्याऽर्पयामि ॥ ३४॥

अन्वयः—पूर्वम्, समिति उर्वीपतीनाम् त्रिःसप्तकृत्वः विशसनम् कृत्वा पुनः अपि दुर्मदानाम् नृपाणाम् अन्यत् सप्तकृत्वः कदनम् कृत्वा प्रतिसमरहृतैः क्ष्मापतीनाम् उत्तमैः उत्तमाङ्गैः कापालीम् अक्षमालाम् निर्माय भगवतः भैरवस्य झटिति अर्पयामि।

व्याख्या—पूर्वम् = पुरा, समिति = सङ्ग्रामे, उर्वीपतीनाम् = राज्ञाम्, त्रिःसप्तकृत्वः = एकविंशतिवारम्, विशसनम् = हिंसनम्, कृत्वा, पुनरपि=भूयोऽपि, दुर्मदानाम् = मदोन्मत्तानाम्, नृपाणाम् = राज्ञाम्, अन्यत् = अपरम्, पूर्वकृतनृपवधाद्भिन्नमित्यर्थः, सप्तकृत्वः = सप्तवारम्, कदनम् = वधम्, कृत्वा = विधाय, प्रतिसमरहृतैः — प्रतिसमरात् = सम्मुखयुद्धात्, हृतैः =छित्वाऽऽनीतैः, क्ष्मापतीनाम्= भूपालानाम्, उत्तमैः = उत्कृष्टैः, उत्तमाङ्गैः = शिरोभिः कापालीम्=मुण्डमयीम्, अक्षमालाम् = रुद्राक्षमालाम्, निर्माय = विरचय्य, मुण्डैर्निर्मिताम्क्षमालामित्यर्थः, भगवतः = षडैश्वर्यसम्पन्नस्य, भैरवस्य=भैरवायेत्यर्थः, (सम्बन्धमात्रविवक्षायामत्र चतुर्थ्यर्थे षष्ठी) झटिति = शीघ्रम्, अर्पयामि = उपहरामि (वर्तमानसामीप्ये लट्) स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ३४॥

—, बस (अपने विषय में पुरानी बातें बहुत कुछ कह चुका)। सम्प्रति भी पहिले युद्ध में इक्कीस बार भूपतियों का संहार कर फिर भी दुर्धर्ष नृपों का पहिले के अतिरिक्त दुबारा सात बार वध कर सम्मुख युद्ध में काटे गये भूपतियों के उत्तम मुण्डों से नरकपालमयी अक्षमाला तैयार कर भगवान् भैरव को तुरन्त समर्पित करता हूँ ॥ ३४॥

राम.—

प्रसीद त्वं, रोषाद्विरम, कुरु मे चेतसि गिरं,
चिरं यच्चायासैर्बहुभिरिह वारैर्जितमभूत् ।
यशोवृत्तं वित्तं कितव इव विक्षोभतरलं
तदेतस्मिन्वारे भृगुतिलक ! मा हारय मुधा ॥ ३५ ॥

जामदग्न्यः—कथं रे हारयिष्यामि ? (विमृश्य) अथवा—

अन्वयः—भृगुतिलक ! त्वम् प्रसीद; रोषाद् विरम, चेतसि मे गिरं कुरु, चिरम् आयासैः बहुभिः वारैः यत् यशः वित्तम् इह जितम् अभूत्, तत् कितवः वित्तमिव एतस्मिन् वारे विक्षोभतरलम् मुधा मा हारय ।

व्याख्या—भृगुतिलक = हे भृगुश्रेष्ठ ! त्वम् प्रसीद = प्रसन्नो भव, रोषाद् विरम = कोपं त्यज, चेतसि = मनसि, मे = मम, गिरम् = भाषितम्, कुरु, मम वचः सावधानमनसा शृणिवत्यर्थः, चिरम् = बहुकालेन, आयासैः = परिश्रमैः, बहुभिः वारैः = एकविंशतिवारैरित्यर्थः, यत् यशोवृत्तम् = यशः कथा, इह = युद्धविषये, जितम् = अर्जितम् अभूत्, तत् = यशोवृत्तम्, कितवः = धनधूर्तः ('धूर्तोऽक्षदेवी कितवोऽक्षधूर्तो द्यूतकृत्समाः' इत्यमरः) वित्तमिव = बहुना कालेन बहुभिर्वारैरायासैर्जितं धनमिवेत्यर्थः एतस्मिन् वारे = समये विक्षोभतरलम् = विक्षोभेण तरलम् = चञ्चलं यथास्यात्तथा, मुधा = व्यर्थम्, मा हारय = मा विनाशय । चिरं प्रयत्नार्जितं यशो विक्षोभजन्यचाञ्चल्येन सहसा मा गमयेति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३५ ॥

राम—भृगुश्रेष्ठ ! प्रसन्न हो जाओ, क्रोध छोड़ो, मेरा वचन सावधान मन से सुनो बहुत समय में परिश्रम से बहुत (इक्कीस) बार में युद्ध के विषय में जो यश आप के द्वारा अर्जित हुआ है, उसे जुआरी जैसे धन को गँवाता है उसी तरह विक्षोभ वश मन की चञ्चलता से इस बार व्यर्थ में ही मत हारें ॥ ३५ ॥

जामदग्न्य—क्यों रे ! मैं हारूँगा ? (विचार कर) अथवा—

किं नाम वाग्डम्बरपण्डितेषु युष्मासु वाणी प्रचुरा प्रयुञ्ज ।
बाणान् रिपुप्राणहरान्मदीयान् सर्वेऽपि यूयं सहिता सहध्वम् ॥ ३६ ॥

राम — किमन्यैः ? नन्वहमेव हरशरासनारोपणोपनीतजानकीकरकिसलयलीलानिहितकमलमालिकामिलदलिकुलकोलाहलमञ्जीरयशःपरिमलं वक्षःस्थलं सहिष्ये ।

अन्वय — वाग्डम्बरपण्डितेषु युष्मासु प्रचुरां वाणीं किं नाम प्रयुञ्ज ? सर्वे अपि यूयं सहिताः रिपुप्राणहरान् मदीयान् बाणान् सहध्वम् ।

व्याख्या — वाग्डम्बरपण्डितेषु वाचाम् = वाणीनाम् डम्बरे = आडम्बरे पण्डिताः = निपुणाः तेषु तादृशेषु युष्मासु भवत्सु (मिथ्याशूरेषु) प्रचुरां = बहुलां वाणीं = वाचं किं नाम = किमिति प्रयुञ्ज = व्याहरामीत्यर्थः । सर्वे अपि यूयं धनुर्यज्ञ समागता राजादयः सहिताः = सम्मिलिताः सन्तः रिपुप्राणहरान् = शत्रुप्राणविनाशकान् मदीयान् = मत्सम्बन्धिनः मया त्यक्तान् निश्चयेन बाणान् = शरान् सहध्वम् = सहत । वाग्विस्तरेण किम् ? अधुना युद्धे सर्वान् युष्मान् हनिष्यामीति भावः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ३६ ॥

राम इति । किमन्यैः = अन्यैः निरपराधैः हननेनालमिति भावः । हरशरासनेत्यादि — हरस्य = शिवस्य यत् शरासनम् = धनुः तस्य आरोपणेन = सज्जीकरणेन उपनीता = प्राप्ता या जानकी = सीता तस्याः करौ किसलये इव = पल्लवे इव, तयोः लीलया = विलासेन निहिता = स्थापिता परिधापितेत्यर्थः या कमलमालिका = सरोजमाला तस्याम् मिलत् = सङ्गच्छमानस्य, अलिकुलस्य = भ्रमरसमूहस्य कोलाहलेन = ध्वनिना सञ्जातम् = समुच्चरितम् यशः = कीर्तिरेव परिमलः = सुगन्धो यस्मिन् तेन एतादृशेन वक्षःस्थलेन सहिष्ये ।

वाग्डम्बर में निपुण तुम जैसों (मिथ्याशूर) के प्रति अधिक वचन क्या कहूँ तुम सब के सब (यहाँ) इकट्ठे होकर शत्रुविनाशक मेरे बाणों को झेलो ॥ ३६ ॥

राम — दूसरों से क्या मतलब ? केवल मैं ही शिव के धनुष को चढ़ाने से प्राप्त सीता के करकिसलयों से विलासपूर्वक पहिनायी गयी कमलमाला पर दौड़कर आने वाले भ्रमरसमूह के कोलाहल से गाये गये यशोरूप सुगन्धवाले (अपने) वक्षःस्थल से झेलूँगा ।

जामदग्न्यः—

ईशत्यक्तपुराणचापदलनप्रोद्भूतगर्वोद्धति-
व्यग्रस्त्वं कतरः स मे तव गुरुः सोढुं न शक्तः शरान् ।
तुष्टादिष्टवरप्रदाद्भगवतः पद्मासनात् सादरं
मन्नाराचभयादयाचत किल ब्राह्मीं तनुं कौशिकः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—ईशत्यक्तपुराणचापदलनप्रोद्भूतगर्वोद्धतिव्यग्रः त्वं कतरः ? स तव गुरु मे शरान् सोढुम् न शक्तः । तुष्टात् इष्टवरप्रदात् भगवतः पद्मासनात् कौशिकः मन्नाराचभयात् ब्राह्मीम् तनूम् सादरम् अयाचत किल ।

व्याख्या—ईशत्यक्तेत्यादिः-ईशेन = शिवेन, त्यक्तः = विसर्जितो यः पुराणः = जीर्णः, चापः = धनुस्तस्य दलनेन = भञ्जनेन, प्रोद्भूतः = समुत्पन्नो यो गर्वः = अभिमानस्तेन या उद्धतिः = औद्धत्यम्, तया व्यग्रः = आकुलः, आक्रान्त इत्यर्थः, त्वम् कतरः = किंजातीयः ? सः = प्रसिद्धः, तव गुरुः = विश्वामित्र इत्यर्थः, मे = मम, शरान् = बाणान्, सोढुम् = प्रतिकर्त्तुमित्यर्थः, न शक्तः = न समर्थः, तव गुरुर्विश्वामित्रोऽपि यत्रासमर्थस्तत्र किं पुनः त्वं शिष्य इति भावः । गुरोर्विश्वामित्रस्यासामर्थ्यं प्रतिपादयन्नाह-तुष्टादिति । तुष्टात् = तपसा प्रसन्नात् (अतएव) इष्टवरप्रदात् = अभीष्टवरदात्, भगवतः = सकलैश्वर्यसम्पन्नात्, पद्मासनात् = ब्रह्मण इत्यर्थः, कौशिकः = क्षत्रियकुलोत्पन्नो विश्वामित्रः, मन्नाराचभयात्-क्षत्रियसंहारकस्य मम = परशुरामस्य यो नाराचः = बाणविशेषस्तस्माद् यद् भयम् = भीतिः, तस्मात्, ब्राह्मीम्-ब्रह्मणः = ब्राह्मणस्येयं ब्राह्मी ताम् ब्राह्मणत्वविनीम्, तनूम् = शरीरम्, सादरम् अयाचत = याचितवान् । किलेति सम्भावनायाम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३७ ॥

जामदग्न्य—शिव के द्वारा त्याग दिये गये जीर्ण धनुष को तोड़ने से समुत्पन्न गर्व की उद्धत भावना से व्यग्र तुम कौन हो ? तुम्हारे गुरु विश्वामित्र मेरे बाणों को झेल नहीं सके (तभी तो) विश्वामित्र ने (तप से) प्रसन्न हुए अभीष्ट वरदान देने वाले भगवान् ब्रह्मा से मेरे बाणों के भय के कारण ही ब्राह्मण शरीर को बड़े आदर से माँगा ॥ ३७ ॥

राम —(स्वगतम्) कथं भगवन्तं विश्वामित्रमधिक्षिपति ? तदतः परं न सहिष्ये । (प्रकाशम्)

ईशत्यक्तपुराणचापदलनप्रोद्भूतगर्वोद्धति
  स्त्वत्तोऽहं कतरः स ते मम गुरुः सोढुं न शक्तः शरान् ।
तुष्टादिष्टवरप्रदाद्द्रुहिणतः पद्मासनात्सादरं
  त्वन्नाराचभयाद्ययाचत किल ब्राह्मीं तनुं कौशिकः ॥ ३८ ॥

(इति पदव्यत्यासेन पुनः श्लोकं पठतः । पुनः साटोपम्) अये जामदग्न्य !

तत्कोदण्डं कुलिशकठिनं भग्नमेतेन भग्नं
  भग्नं शल्यं तव हृदि महद्भग्नमेतावता किम् ।
त्र्यक्षो वा भवतु, यदि वा नाम नारायणीयं
  नैनत् किञ्चिद् गणयति स मे दुर्मदो दोर्विलासः ॥ ३९ ॥

राम इति । अधिक्षिपति = निन्दति ।

ईशत्यक्तेति । अत्र गुरुनिन्दया क्रुद्धो रामः स्वक्रोधं व्यञ्जयितुं पूर्वोक्तं श्लोकमेव युष्मदस्मत्पदव्यत्यासपूर्वकं पठयतो न व्याख्यायतेऽयम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः —कुलिशकठिनम् तत् कोदण्डम् भग्नम् भग्नम् एतेन किम् ? । तव हृदि महत् शल्यम् भग्नम् भग्नम् एतावता किम् ? । त्र्यक्षः वा यदि वा नारायणीयम् भवतु न मे सः मे दुर्मदः दोर्विलासः किञ्चित् न गणयति ।

व्याख्या —कुलिशकठिनम् कुलिशम् = वज्रम् इव कठिनम् – कठोरम् तत्=

राम—(मन ही मन) कैसे, भगवान विश्वामित्र की यह निन्दा कर रहे हैं ? तो अब इससे अधिक नहीं सहूँगा । (प्रकट रूप में)

शिव के द्वारा त्याग दिये गये जीर्ण धनुष को तोड़ने से समुत्पन्न गर्व की उद्भावना से व्याप्त मैं कौन हूँ ? मेरे गुरु विश्वामित्र आप के बाणों को सह नहीं सके (तभी तो) विश्वामित्र ने (तप से) प्रसन्न हुए अभीष्ट वरदान देने वाले भगवान् ब्रह्मा से आप के बाणों के भय के कारण ही ब्राह्मण शरीर को बड़े आदर से माँगा ? ॥ ३८ ॥

(इस तरह युष्मद् और अस्मद् शब्द से सम्बन्धित पदों को उलट-पुलट कर पुनः ईशत्यक्तपुराण श्लोक को पढ़ते हैं । पुनः अभिमान के साथ) अरे जामदग्न्य !

वज्र के समान कठोर वह धनुष टूट गया (तो) टूट गया इससे क्या ?

जामदग्न्यः—(सहर्षम्) साधु रे क्षत्रियपोत ! साधु, यत्किल जामदग्न्यनामचण्डधाम्नः पुरतः खद्योत इव विद्योतसे । किमात्थ रे किमात्थ ?

प्रसिद्धम्, कोदण्डम् = धनुः, भग्नम् = त्रुटितम्, एतेन = अनेन, किम् = किं जातम् ? न किमपीत्यर्थः । तव = परशुरामस्य, हृदि = हृदये, महत् = विशालम्, शल्यम् = शङ्कुः, दुःखशङ्कुरित्यर्थः, मग्नम् = निविष्टम्, मग्नम् = निविष्टम्, उपेक्षायामद्विरुक्तिः । एतावता किम् = धनुर्भञ्जनेन, तव हृदि दुःखशङ्कुनिवेशेन च न किमपि मे भयमिति भावः । भग्नमिति पदस्य स्थाने मुग्नमिति पाठे वक्रमित्यर्थो बोध्यः । एतत् = इदं मद्भग्नं धनुः, त्रैयक्षम्—त्रीणि अक्षीणि यस्य स त्र्यक्षः, 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' इति समासान्तः षच् । त्र्यक्षस्येदमिति त्रैयक्षम्, 'तस्येदम्' इत्यण्, 'न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्' इत्यैजागमः । त्रैयक्षम् = शिवसम्बन्धि, यदि वा = अथवा, नारायणीयम्—नारायणस्य = विष्णोरिदमिति नारायणीयम् = विष्णुसम्बन्धि, भवतु, नामेति सम्भावनायाम् । सः = धनुर्भञ्जकः, मे = मम, दुर्मदः = गर्वोद्धतः, दोर्विलासः = भुजविलास, भुजबलमित्यर्थः, एतत् = इदम्, किञ्चित् = किमपि, न गणयति = नो विगणयति । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ ३९ ॥

जामदग्न्य इति । क्षत्रियपोत = क्षत्रियबालक ! (पोतः पाकोऽर्भकोडिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः.' इत्यमरः) चण्डधाम्नः = सूर्यस्य । सूर्यस्य पुरतः खद्योत इव त्वं मम पुरतो मन्दप्रकाश इति तदाशयः ।

तुम्हारे हृदय में महान् दुःखशङ्कु गड़ गया (तो) गड़ गया, इतने से क्या ? यह धनुष (चाहे) शिव का हो अथवा नारायण का हो, मेरा वह (धनुर्भञ्जक) गर्वीला भुजविलास (अर्थात् बाहु-बल) इसकी कुछ भी परवाह नहीं करता है ॥ ३९ ॥

जामदग्न्य—(हर्ष के साथ) वाह रे क्षत्रिय के बच्चे ! वाह ! जो तू जामदग्न्य नामक सूर्य के आगे जुगनू की तरह चमक रहा है । क्या कहा रे क्या कहा ?

राम —(तदेव पठति) नन्विद भूयोऽप्युच्यते ।

(पुनस्तदेव पठति)।

जामदग्न्य —साधु स्मारितोऽस्मि ।

राम —किं तत् ?

जामदग्न्य —

कराघाताद्विष्णोस्तरलवनमालापरिमल-
भ्रमद्भृङ्गध्वानद्विगुणितविकास समजनि ।
स यस्य ज्याघोष सुररिपुवधूवर्गरुदित-
ध्वनिस्वाध्यायाना प्रणव इव तत्कार्मुकमिदम् ॥ ४० ॥

राम—इति । इदम् = पूर्वोक्त गद्यप्रकाशक वच । भूयोऽपि = पुनरपि ।

जामदग्न्य इति । स्मारितोऽस्मि='वैष्णव वा धनु यदि वा नाम नारायणीय-मिति त्वदुक्त्या मया (परशुरामेण) स्मृत यन्नारायणधनुर्मम करे स्थितमिति तदाशय ।

अन्वय —विष्णो = कराघातात् तरलवनमालापरिमलभ्रमद्भृङ्गध्वानद्वि-गुणितविकास समजनि सुररिपुवधूवर्गरुदितध्वनिस्वाध्यायानाम् प्रणव इव यस्य स ज्याघोष (अस्ति) इदम् तत् कार्मुकम् (वर्तते) ।

व्याख्या - विष्णो = नारायणस्य, कराघातात् = आकर्षणकाले करकृत-पीडनात्, तरलवनमालेत्यादि – तरला = चञ्चला या वनमाला = वनकुसुम ग्रथिताऽऽजानुलम्बिनी माला ('आजानुलम्बिनी माला सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वला । मध्यस्थूलकदम्बाढ्या वनमालेति कीर्तिता' इति) तस्या परिमलाय = सुवासाय, भ्रमन्त = परितो मण्डलाकारेण चलन्तो ये भृङ्गा = भ्रमरा, तेषा ध्वानेन =

राम—(उसी तत्कोदण्डमित्यादि श्लोक को पढ़ते हैं) इसे मैं फिर भी कह रहा हूँ—

(पुन उसी श्लोक को पढ़ते हैं)।

जामदग्न्य—अच्छी याद दिलायी ।

राम—वह क्या ?

जामदग्न्य—यह वह (नारायणीय) धनुष (मेरे पास) है जिसकी

रामः—

करपङ्केरुहक्रोडे क्रीडितं येन शार्ङ्गिणः ।

तदेतत् ?

जामदग्न्य —

अथ किम् ? यदि शक्तोऽसि गृहाण विगृहाण वा ॥ ४१ ॥

गुञ्जनेन, द्विगुणितः = द्विगुणाकृतः, विकासः = शब्दप्रसारो यस्य स तादृशः समजनि = सञ्जातः, सुररिपुवधूवर्गेत्यादिः—सुराणाम् = देवानाम्, रिपवः = शत्रवः, दैत्या इत्यर्थस्तेषां वधूवर्गस्य = रमणीसमूहस्य यो रुदितध्वनिः = क्रन्दनजन्यशब्दः, स एव स्वाध्यायः = वैदिकपाठः, तेषाम् प्रणवः=ओङ्कार इव, यस्य= विष्णुधनुषः, सः = विश्रुतः, ज्याघोषः = प्रत्यञ्चाशब्दः (अस्ति) इदम् = एतत् तत् = प्रसिद्धम्, कार्मुकम् = धनुः (वर्तते) । यथा प्रणवः स्वाध्यायस्य प्रारम्भरूपस्तथैव विष्णुकार्मुकस्य ज्याघोषो दैत्यस्त्रीणां रोदनोपक्रमरूप इति भावः । रूपकालङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—येन शार्ङ्गिणः करपङ्केरुहक्रोडे क्रीडितं (तदेतत् ?) अथ किम् ? शक्तोऽसि यदि, गृहाण वा विगृहाण ।

व्याख्या—येन = धनुषा, शार्ङ्गिणः = विष्णोः, करपङ्केरुहक्रोडे = करकमलमध्यभागे, क्रीडितम् = विलसितम् (तत् = विश्वविश्रुतम्, एतत् = इदं धनुरिति रामोक्तिः प्रश्नरूपा । अथ किम् ? = आम्, शक्तः = समर्थः असि यदि= चेत्, गृहाण = इदं धनुर्गृहीत्वाऽऽरोपयेत्यर्थः, वा = अथवा, विगृहाण = मया सह युद्ध्यस्वेति विकल्प इति परशुरामोक्तिरुत्तररूपा । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ४१ ॥

प्रत्यञ्चा की टङ्कार, विष्णु के हाथ के धक्के से चञ्चल वनमाला की सुगन्ध के लिए मँडराते हुए भौंरों की गुञ्जार से दूनी हो गयी, एवं दैत्यों की स्त्रियों की रुदनध्वनिरूप वैदिक पाठों का ओङ्कार-सी हो गयी (अर्थात् उसकी ध्वनि सुनते ही दैत्यस्त्रियों का रुदन प्रारम्भ हो गया) ॥ ४० ॥

राम—जिसने विष्णु भगवान् के करकमलों के मध्यभाग में क्रीडा की थी वह है यह क्या ?

जामदग्न्य—और क्या ? समर्थ हो तो (इसे) ग्रहण करो अथवा युद्ध करो ॥ ४१ ॥

राम —गृह्णामि ।

जामदग्न्य —तदेहि, बाष्पायमाणभवद्बन्धुजनबन्धुरां वसुन्धरामतिक्रम्य समरक्षमां क्षमामवतराम ।

(इति निष्क्रान्तौ)

लक्ष्मण —(विलोक्य सहर्षं सकौतुकञ्च)

मा शाम्भवं धनुरिवेदमपि प्रयातु
भङ्गप्रसङ्गमिति मन्दचलद्भुजेन ।
आर्येण कार्मुकमपीदमहो ! सहेलं
चक्रीकृतं भगवतो गरुडध्वजस्य ॥ ४२ ॥

जामदग्न्य इति । बाष्पायमाणभवद्बन्धुजनबन्धुराम् —बाष्पायमाणाः = बाष्पाणि = अश्रूणि, उद्वमन्त = अश्रुपूर्णपर्याकुलनेत्रा इत्यर्थः ('बाष्पोष्मभ्यामुद्वमने' इति क्यङन्तात् शानच्) भवद्बन्धुजनाः = त्वद्बान्धवाः, तैर्बन्धुराम् = व्याप्ताम्, वसुन्धराम् = पृथिवीम्, अतिक्रम्य = उल्लङ्घ्य, परित्यज्येत्यर्थः, समरक्षमाम् = युद्धयोग्याम् क्षमाम् = पृथिवीम्, अवतराम = गच्छाम । रङ्गभूमौ युद्धप्रदर्शनं निषिद्धत्वादन्यत्र गमनप्रस्ताव इति ।

रामकर्तृकं विष्णुधनुरानमनं वर्णयन्नाह—मा शाम्भवमिति ।

अन्वय —शाम्भवम् धनुरिव इदमपि भङ्गप्रसङ्गम् मा प्रयातु इति मन्दचलद्भुजेन आर्येण भगवतः गरुडध्वजस्य इदम् कार्मुकम् अपि सहेलम् चक्रीकृतम्, अहो !

व्याख्या—शाम्भवम् —शम्भोरिदमिति शाम्भवम् ('तस्येदम्' इत्यण्) शिवसम्बन्धि, धनुरिव, इदमपि = निकटस्थितं नारायणीयमपि धनुः, भङ्गप्रसङ्ग

राम—(इसे) ग्रहण करता हूँ ।

जामदग्न्य तो आओ, आँसू गिराते हुए तुम्हारे बन्धुजनों से (व्याप्त होने के कारण) ऊँची-नीची जमीन को छोड़ कर सङ्ग्राम-योग्य जमीन पर उतरें ।

(इस प्रकार दोनों निकल गये)

लक्ष्मण—(देख कर, हर्ष और कौतूहल के साथ)

'शिव के धनुष की तरह यह भी (कहीं) टूटने के अवसर को प्राप्त न हो

(नेपथ्ये)

अहो ! कौतुकम् ।

उद्भिन्नश्चापचक्रादमरपरिहृतव्योमरन्ध्रावगाही
बाणोऽयं राघवस्य त्रिदशपुरगतिच्छेदकृद्भार्गवस्य ।
हंसीभूतः सुरस्त्रीकरकमलगलत्पुष्पसौरभ्यलुभ्यद्
भृङ्गीसङ्गीतभङ्गीपरिचलितयशाः स्वर्गपर्यङ्कमेति ॥४३॥

मा प्रयातु = खण्डितं मा भवत्वित्यर्थः, इति = इत्थं विचार्य, मन्दचलद्भुजेन मन्दम् = मन्थरं यथा स्यात्तथा, मङ्क्षुवेगेन न सवेगमिति भावः, चलन्तौ=प्रसरन्तौ भुजौ = बाहू यस्य तेन, आर्येण = पूज्येन, श्रीरामचन्द्रेणेत्यर्थः, भगवतः = षडैश्वर्यसम्पन्नस्य, गरुडध्वजस्य = विष्णोः, इदम् = निकटस्थितम्, कार्मुकमपि = धनुरपि, सहेलम् = सलीलम्, अवहेलयासमित्यर्थः, चक्रीकृतम् = कर्णप्रदेशपर्यन्त-माकृष्टमित्यर्थः । अहो इत्याश्चर्ये । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—चापचक्रात् उद्भिन्नः अमरपरिहृतव्योमरन्ध्रावगाही भार्गवस्य त्रिदशपुरगतिच्छेदकृत् राघवस्य अयम् बाणः हंसीभूतः (सन्) सुरस्त्रीकरकमल-गलत्पुष्पसौरभ्यलुभ्यद्भृङ्गीसङ्गीतभङ्गीपरिचलितयशाः (सन्) स्वर्गपर्यङ्कम् एति ।

व्याख्या—चापचक्रात् = कर्णपर्यन्तमाकर्षणेन कुण्डलीकृताद् वैष्णवधनुषः, उद्भिन्नः = निर्गतः, अमरपरिहृतव्योमरन्ध्रावगाही—अमरैः = देवैः, परिहृतम् = त्यक्तं भयादिति भावः, यद् व्योम = आकाशम्, तस्य रन्ध्रम् = छिद्रम्, अवकाश-मित्यर्थः, अवगाहते = प्रविशति तच्छील इति, भार्गवस्य = परशुरामस्य, त्रिदश-पुरगतिच्छेदकृत्—त्रिदशाः = देवास्तेषां पुरम् = नगरम्, तत्र गतिः = गमनम्, तस्यच्छेदं करोतीति तथोक्तः, परशुरामस्य स्वर्गगमनानरोधक इत्यर्थः, राघवस्य=

जाय'-ऐसा सोचकर धीरे से बाहुओं को आगे बढ़ाने वाले आर्य (श्रीरामचन्द्र) ने भगवान् विष्णु के इस धनुष को भी खेल ही खेल में चढ़ा दिया, आश्चर्य है ॥ ४२ ॥

(नेपथ्य में)

अहो ! आश्चर्य है !

धनुश्चक्र (अर्थात् कान तक खींचे जाने से चक्राकार बने धनुष) से छूटा

(ततः प्रविशतो रामजामदग्न्यौ)

जामदग्न्य —(रामं विलोक्य, निर्वर्ण्य च स्वगतम्) ।

त्रिलोकी कोकीव मुदमुदयताऽनेन लभते
विकासं वा धत्ते मुनिजनमनःपङ्कजवनम् ।
अये ! कोऽयं बालः ! कुवलयदलश्यामलतनु-
र्जगद्योतिर्ज्योतिः, कथमिदमहो तत्परिणतम् ? ॥४४॥

श्रीरामचन्द्रस्य, अयम् = एष, बाणः, हंसीभूतः (सन्) = हंसवदाचरन्, सुरस्त्रीभ्यादि –सुरस्त्रियः =देवाङ्गनास्तासां करा एव कमलानि, तेभ्यः गलताम्= पतताम्, पुष्पाणां सौरभ्ये = सुगन्धे लुभ्यन्तः = अभिलाषातिशयशालिन्यो याः भृङ्ग्यः = भ्रमर्यः, तासां सङ्गीतभङ्गी = गुञ्जनपद्धतिः, तया परिचलितः=परितः प्रसृतः, यशः = कीर्तिर्यस्य सः एतादृशः (सन्) स्वर्गपर्यङ्कम्—स्वर्गरूपं पर्यङ्कम् (पर्यङ्कशब्देन स्वर्गस्य सुखास्पदत्वं विश्रामोचितत्वं च सूचितम्) एति=गच्छति । रामचन्द्रशरस्यामोघत्वात्तेन परशुरामस्य स्वर्गगतिर्निरुद्धेति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धेया । वृत्त्यनुप्रासालङ्कारः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ४३ ॥

विजितः परशुराम आह -त्रिलोकीति ।

अन्वयः —उदयता अनेन इयम् त्रिलोकी कोकी मुदम् लभते, वा मुनिजनमनःपङ्कजवनम् विकासम् धत्ते । अये ! कुवलयदलश्यामलतनुः अयम् बालः कः ? जगद्योतिः तत् ज्योतिः इदम् कथम् परिणतम् ? अहो !

व्याख्या—उदयता = उदयं गच्छता, अनेन = श्रीरामचन्द्रेण, इयम् =

हुआ, (अथवा) देवताओं के द्वारा खाली कर दिये गये आकाश के छिद्र में प्रवेश करने वाला एवं परशुराम के स्वर्ग गमन का प्रतिबन्धक, रामचन्द्र का यह बाण हंस के समान आचरण करता हुआ, देवाङ्गनाओं के करकमलों से बरसाये जाते हुए पुष्पों की सुगन्ध के लिए लोभ करती हुई भ्रमरस्त्रियों की गुञ्जार में विस्तीर्ण यश वाला (होता हुआ) स्वर्ग रूप पलंग पर चढ रहा है ॥ ४३ ॥

(तदनन्तर राम और जामदग्न्य प्रवेश करते हैं)

जामदग्न्य—(राम को देखकर और पुनः ध्यान से देखकर, मन ही मन) ।

उदित होते हुए इनसे यह त्रिलोकी रूप चक्रवाकी प्रसन्नता को प्राप्त करती

(पुनर्विमृश्य)

आपूरणाय पुरवैरिशरासनस्य
बाणात्मना परिणतः किल लीलया यः ।
आरोपणाय पुनरस्य स एव शङ्के
बालात्मना परिणतः पुरुषः पुराणः ॥ ४५ ॥

एवा, त्रिलोकी—त्रयाणां लोकानां समाहार इति त्रिलोकी = त्रिभुवनम्, सैव कोकी = चक्रव को ('कोकश्चक्रवाकः' इत्यमरः) मुदम् = हर्षम्, लभते = प्राप्नोति, वा = अथवा, मुनिजनमनः—पङ्कजवनम्—मुनिजनमनांसि = ऋषिजन-चेतांसि, तान्येव पङ्कजानि = कमलानि, तेषां वनम् = समूहः, विकासम् = प्रफुल्लतां धत्ते = धारयति । अये इत्याश्चर्यद्योतकम्, कुवलयदलश्यामलतनुः—कुवलयम् = नीलोत्पलम् ('नीलोत्पलं कुवलयम्' इत्यमरः) तस्य दलमिव = पत्रमिव, श्यामला = श्यामवर्णा, तनुः = शरीरं यस्य स एतादृशः, अयम् = निकटस्थः; बालः = किशोरः, कः = किंपरिचयः ? जगद्योनिः—जगतः = संसारस्य, योनिः = जन्मस्थानम्, मूलकारणमित्यर्थः, तत् = प्रसिद्धम्, ज्योतिः= परं तेजः, इदम् = रामरूपम्, कथम् = किम्, परिणतम् = अवतीर्णम्, अहो = आश्चर्यद्योतकम् । रूपकालङ्कारः, शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—यः पुरवैरिशरासनस्य आपूरणाय लीलया बाणात्मना परिणतः किल, स एव पुराणः पुरुषः पुनः अस्य आरोपणाय बालात्मना परिणतः (इति) शङ्के ।

व्याख्या—यः = पुराणः पुरुषः, पुरवैरिशरासनस्य पुरवैरी = पुरारिः शिव इत्यर्थः, तस्य शरासनम् = धनुः, तस्य, आपूरणाय = समग्रतासम्पादनाय, लीलया=विलासेन, बाणात्मना=बाणरूपेण, परिणतः = परिणामं गतः, बाणत्वं गत इत्यर्थः, किलेति सम्भावनायाम्, स एव पुराणः = सनातनः, पुरुषः=भगवान्

कर रही है तथा मुनिजनों का मन रूप कमल-वन विकसित हो रहा है । अरे ! नीलकमल के पत्रसदृश श्यामल शरीर वाला यह बालक कौन है ? जगत् का कारण वह (ब्रह्मरूप) तेज क्या (बाल रूप में) अवतीर्ण हुआ है ? ॥ ४४ ॥

(पुनः विचार कर)

जो शिव धनुष को पूर्ण (अर्थात् शर-युक्त) करने के लिए लीलापूर्वक

(प्रकाशम्)—वत्स ! इत ।

(रामः सलज्जमधोमुखस्तिष्ठति)

जामदग्न्यः—(उपसृत्य) (रामस्य चिबुकमुन्नमय्य च) किमिति लज्जास्थानम् ?

कमलबन्धुविलोचन ! यस्त्वया स्वमहिमोन्नमनैरधरीकृतः ।
न किमसावधरीकुरुते नरस्त्रिदशकोटिकिरीटमणीनपि ? ॥ ४६ ॥

विष्णुरित्यर्थः, पुनः=भूयः, अस्य=शिवधनुषः, आरोपणाय आनमनाय, बालात्मना=रामाख्यबालकभावेन, परिणतः = अवतीर्णः । (पुरा विष्णुः स्वयं त्रिपुरदहन-काले शिवशरासनस्य बाणत्वं गत इति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धेया ।) (इति=इत्थम्) शङ्के = सम्भावयामि । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥४५॥

अन्वयः—कमलबन्धुविलोचन ! त्वया स्वमहिमोन्नमनैः यः अधरीकृतः, असौ नरः त्रिदशकोटिकिरीटमणीन् अपि किं न अधरीकुरुते ?

व्याख्या—कमलबन्धुविलोचन = कमलसदृशलोचन ! त्वया = विष्णुना स्वमहिमोन्नमनैः - स्वमहिम्नः = आत्मपराक्रमस्य, उन्नमनैः = प्रख्यापनैः, यः = मादृशो जनः, अधरीकृतः = तिरस्कृतः, असौ नरः = प्रसिद्धो जनो मादृश इति भावः, त्रिदशकोटिकिरीटमणीन्—त्रिदशानाम् = देवानां, कोटिः = समुदायः, तस्याः किरीटमणीन् = शिरोरत्नानि, अपि, किमिति प्रश्ने । न अधरीकुरुते = न तिरस्करोति, तिरस्करोत्येवेत्यर्थः भवता पराभूतोऽहं सकलदेवैः प्रणम्योऽस्मि भवान्

बाणरूप में परिणत हुए ये वही पुराण पुरुष (विष्णु) पुनः इस धनुष को चढ़ाने के लिए बालरूप में परिणत हुए हैं—ऐसा मैं सम्भावना करता हूँ ॥ ४५ ॥

(प्रकट रूप में) वत्स ! इधर (आओ)

(राम लज्जापूर्वक नीचे मुँह किये रहते हैं)

जामदग्न्य—(समीप जाकर) (राम की ठुड्डी ऊपर की ओर उठाकर) लज्जा की क्या बात (है) ?

कमलसदृश नेत्र वाले ! तुमने अपनी महिमा के संवर्धन से जिसे नीचा दिखाया है, वह करोड़ों देवताओं की मुकुटमणियों को भी क्या नीचा नहीं दिखाता है ?

विशेष—परशुराम के कहने का आशय यह है कि देवसमुदाय मेरे सामने झुकता है, उसी मुझको आप ने नीचा दिखाया है, अतः आप सर्वोत्कृष्ट हैं, इसमें

रामः—(अञ्जलिं बद्ध्वा) भगवन् ! अलमनेन । दुर्विनयपङ्कमलिनीकृतमात्मानं तावद्भवच्चरणनखकिरणतरङ्गिणीजलेन क्षालयामि ।

चण्डमेव किल तिग्मरोचिषः,
सौम्यमेव किल शीतरोचिषः ।
चण्डसौम्यमिति कौतुकावहं
नौमि तावकमहं महन्महः ॥ ४७ ॥

सर्वोत्कर्षेण वर्तते इति भावः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति ॥ ४६ ॥

राम इति । दुर्विनयपङ्कमलिनीकृतम्—दुर्विनयः=औद्धत्यम्, स एव पङ्कः = कर्दमः, तेन मलिनं कृतम् । भवच्चरणनखकिरणतरङ्गिणीजलेन - भवतश्चरणयोर्नखानां किरणा एव तरङ्गिणी = नदी, तस्या जलेन, क्षालयामि=प्रक्षालयामि । स्वीयमौद्धत्यं परिहर्तुं भवच्चरणौ प्रणमामीति भावः ।

श्रीरामचन्द्रेण परशुरामः स्तूयते—चण्डमेवेति ।

अन्वयः—तिग्मरोचिषः (महः) चण्डमेव किल, शीतरोचिषः (महः) सौम्यमेव किल । चण्डसौम्यमिति कौतुकावहम् तावकम् महत् महः अहम् नौमि ।

व्याख्या - तिग्मरोचिषः— तिग्मम् = तीक्ष्णं रोचिः = तेजो यस्य स तस्य तिग्मरोचिषः = सूर्यस्य, (महः = तेजः) चण्डमेव = उग्रमेव,, न तु शीतलम्, किलेति निश्चये । शीतरोचिषः=चन्द्रस्य, (महः = तेजः) सौम्यम्=शीतलमेव, न तु तीक्ष्णम्, किलेति प्रसिद्धौ । चण्डसौम्यम् = उग्रशीतलम्, दुर्जनं प्रत्युग्रम्, सज्जनं प्रति सौम्यमिति भावः । इति = अनेन हेतुना, कौतुकावहम् = विस्मयोत्पादकम्, तावकम् = त्वदीयम्, महत् = उत्कृष्टम्, महः = तेजः, अहम् = रामः, नौमि = स्तौमि । व्यतिरेकालङ्कारः । तल्लक्षणं यथा-'आधिक्यमुपमेयस्योपमा-

आप के लिए लज्जा की क्या बात है ? जो इस प्रकार लज्जान्वित हो रहे हैं ? ॥ ४६ ॥

राम—(हाथ जोड़ कर) भगवन् ! इसकी आवश्यकता नहीं । सर्वप्रथम मैं अविनीततारूप पङ्क से मलिन किये गये अपने को आप के चरणों की नख-किरण रूप नदी के जल से धोता हूँ ।

सूर्य का तेज तीक्ष्ण ही है और चन्द्रमा का तेज शीतल ही है । तीक्ष्ण किन्तु

(इति पादयो पतति)

जामदग्न्य —अयि कल्याणनिधे ! आशीरुक्तिरपि त्वयि पुनरुक्तिरेव। तथापीदमाशास्महे ।

> यश पूर दूर तनु सुतनुनेत्रोत्पलवनी
> तमस्तन्द्राचण्डातप ! तप सहस्राणि शरदाम् ।
> इयं चास्ता युष्मच्छरशमित नङ्केश्वरशिर-
> श्रितोत्सङ्गा नन्दत्सुरनरभुजङ्गा त्रिजगती ॥ ४८ ॥

ना॰पूनराघवा । व्यतिरेक ॥ इति । रथोद्धता वृत्तम् । तल्लक्षण यथा—'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति ॥ ४७ ॥

परशुरामो राम प्रत्याशिष वदति—यश पूरमिति ।

अन्वय —सुतनुनेत्रोत्पलवनी—तमस्तन्द्राचण्डातप ! यश पूरम् दूरम् तनु, शरदाम सहस्राणि तप । इयम् त्रिजगती च युष्मच्छरशमितलङ्केश्वरशिर श्रितोत्सङ्गा नन्दत्सुरनरभुजङ्गा भास्ताम ।

व्याख्या—सुतनुनेत्रोत्पलवनीतमस्तन्द्राचण्डातप—सुतनूनाम् = रमणीना, नेत्राण्येव उत्पलानि = कमलानि, तेषा वनी = समुदाय, तस्या तमस्तन्द्रा = अन्धकारजन्यनिमीलनम् तत्र चण्डातप = सूर्य, तत्सम्बुद्धौ, रमणीनेत्रप्रसादक ! रामभद्र ! इति भाव । यश पूरम्—यशस = कीर्त्तेः, पूरम् = प्रवाहम्, समुदायमित्यर्थ, दूरम् = दिगन्त यावत, तनु = विस्तारय, यशस्वी भवेति भाव । शरदाम् = वर्षाणा सहस्राणि = दशशतानि, अपरिमितकाल यावदितिभाव तप = विकासशीलता प्राप्नुहि, राज्य कुरु इति भाव । इयम् = एषा, त्रिजगती = त्रिलोकी च युष्मच्छरशमितलङ्केश्वरशिरश्रितोत्सङ्गा युष्माकम् = भवता शरै = बाणै , शमितस्य = शान्तिगतस्य, हतस्येति भाव , लङ्केश्वरस्य =

साथ ही शीतल होने से आश्चर्यजनक आप के महान् तेज की मैं स्तुति करता हूँ ॥ ४७ ॥ (ऐसा कहकर चरणों पर गिरते हैं)

जामदग्न्य—हे कल्याणों के आश्रय रूप ! (राम !) (यद्यपि) आप के विषय में आशीर्वाद कहना पुनरुक्तिमात्र है तथापि हम यह इच्छा करते हैं—

रमणियों के नेत्र कमलों के अन्धकारजन्य सङ्कोच को दूर करने के लिए सूर्यरूप (अर्थात् सुन्दरियों के नेत्रों को प्रफुल्लित करने वाले राम !) कीर्ति-

तदनुजानीहि माम्। (इति निष्क्रान्तः)।

रामः—(लक्ष्मणं प्रति) ननु कथं नयनपथमतिक्रान्त एव भगवान्? तदेहि। भृगुकुलतिलकवियोगखिन्नमात्मानं बन्धुजनविलोकनेन विनोदयावः। (इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति चतुर्थोऽङ्कः।

रावणस्य शिरोभिः = मस्तकैः श्रितः = अधिष्ठितः, उत्सङ्गः = मध्यभागो यस्याः सा तादृशी, नन्दत्सुरनरभुजङ्गा—नन्दन्तः = आनन्दमनुभवन्तः सुराः = देवाः स्वर्लोकवासिन इत्यर्थः, नराः मानवाः मर्त्यलोकवासिनः इत्यर्थः, भुजङ्गाः = सर्पाः, पाताललोकवासिन इत्यर्थः, यस्या सा तादृशी, आस्ताम् = तिष्ठतु। अत्र वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः। रूपकालङ्कारश्च। शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४८ ॥

राम इति। नयनपथमतिक्रान्तः=नेत्रमार्गमतीत्य गतः, दूरं गत इति भावः। भृगुकुलतिलकवियोगखिन्नम्—भृगुकुलस्य तिलकः = परशुराम इत्यर्थः, तस्य वियोगेन खिन्नम्।

इति विभाख्यायां प्रसन्नराघवव्याख्यायां चतुर्थोऽङ्कः।

समूह को दूर-दूर तक फैलाओ, हजार वर्षों (अर्थात् अपरिमित काल) तक राज्य करो, यह त्रिलोकी तुम्हारे बाणों से काटे गये रावण के सिरों से युक्त अङ्कवाली और सुप्रसन्न सुरनर-नागों से सम्पन्न हो ॥ ४८ ॥

तो मुझे अनुज्ञा दो (ऐसा कहकर निकल गये)

राम—(लक्ष्मण के प्रति) क्या भगवान् (परशुराम) नेत्रमार्ग से ओझल हो गये! तो आओ। भृगुकुलभूषण (परशुराम जी) के वियोग से खिन्न अपने को (हम) बान्धवजनों के दर्शन से विनोदित करें।

(इस प्रकार सब निकल गये)

इस प्रकार 'विभा' नामक 'प्रसन्नराघव' की हिन्दी व्याख्या में

चतुर्थ अङ्क समाप्त हुआ।

अथ पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशतो गङ्गायमुने)

गङ्गा—सखि कालिन्दि ! किमिति दुर्मनायसे ?

यमुना—भगवति भागीरथि ! अस्ति कारणम् (भअवदि भाईरहि ! अत्थि कालणम्)

गङ्गा—कीदृशं तत् ?

यमुना—एष तावत्, अस्ति मम भ्राता सुग्रीव इति। (एक्क दाव अत्थि मह भादा सुग्गीवो त्ति)

गङ्गा—(सकौतुकम्, आत्मगतम्) अये ! कथमस्याः कपिकुलोत्पन्नोऽपि भ्राता ? (विमृश्य) उपपन्नमिदम्। अनयोः खल्वेक एवाय प्रसविता सविता। (प्रकाशम्) अथ किन्तस्य ?

गङ्गेति। दुर्मनायसे—दुर्मना इव आचरसीति दुर्मनायसे = दुःखिताऽसि। ('कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति क्यङ्, सकारस्य लोपश्च, तदन्ताल्लट्)

गङ्गेति। विमृश्य=विचार्य। इदम्=सुग्रीवस्य यमुनाभ्रातृत्वम्। उपपन्नम्= युक्तम्। प्रसविता = जनकः। सविता = सूर्यः।

(तदनन्तर गङ्गा और यमुना प्रवेश करती हैं)

गङ्गा—सखि ! यमुने ! क्यों दुःखी हो रही हो ?

यमुना—भगवति ! गङ्गे ! कारण है।

गङ्गा—कैसा वह (कारण) है ?

यमुना—एक (कारण) तो यह है कि सुग्रीव नामक मेरा भाई है।

गङ्गा—(आश्चर्यपूर्वक, मन ही मन) वानरकुल में पैदा हुआ (सुग्रीव) भी इसका भाई कैसे हुआ ? (विचार कर) यह ठीक बात है। इन दोनों के एक ही जनक सूर्य हैं। (प्रकट रूप में) उसका क्या हुआ ?

यमुना—सोऽतिवलिष्ठेन दुष्टवलीमुखेन वालिनामधेयेन परिभूत एकदुर्गमात्रशरणः कतिपयपरिवारस्तिष्ठति। (सोतिवलिठ्ठेण दुट्ठवलीमुहेण वालिणामहेएण परिहूदो एक्कदुग्गमत्तसरणो कइपयपरिवारो चिट्ठदि)

गङ्गा—ननु इमावपि भ्रातरौ। तत् किमनयोरीदृशं वैरायितम् (इत्यर्धोक्त एव) अथवा 'एकामिषाभिलाषो हि बीजं वैरमहातरोः' इति स्थानमेतत्। तत्किमनेन। द्वितीयमपि कारणं कथय तावत्।

यमुना—कस्मिन्नपि दिवसे गृहीततपस्याविव मन्मथवसन्तौ द्वावपि तरुणौ जटाधरौ एका चक्रवाकस्तनी चन्द्रवदना मामुत्तीर्य दक्षिणं चलितु-मुपक्रान्ताः। (कस्सिवि दिअहे गहीअतवस्सा विअ मम्महवसन्ता दोवि तरुणा जटाहरा एक्का चक्कवाअत्यणी चन्दवअणा मं उत्तरिअ दक्खिणं चलिदुं उवक्कन्ता)।

यमुनेति। दुष्टवलीमुखेन = दुष्टवानरेण। परिभूतः = पराजितः। कतिपय-परिवारः = स्वल्पपरिवार इत्यर्थः।

गङ्गेति। वैरायितम्—'शब्दवैरकलहाभ्रकण्व-मेघेभ्यः करणे' इति क्यङ्, तदन्तात् क्तप्रत्ययः। एकामिषाभिलाषः—एकम्=समानम्, आमिषम्=भोग्यवस्तु, तत्राभिलाषः = मनोरथः। ('आमिषं पुंनपुंसकम्। भोग्यवस्तुनि संभोगेऽप्युत्कोचे पललेऽपि च'। इति मेदिनी।) वैरमहातरोः—वैरम् = शत्रुत्वमेव महातरुः = विशालवृक्षस्तस्य। बीजम् = कारणम्।

यमुनेति। गृहीततपस्यौ—गृहीता = स्वीकृता तपस्या याभ्यां तौ। मन्मथ-वसन्तौ = कामदेववसन्तौ। चक्रवाकस्तनी—चक्रवाकौ = चक्रवाकनामानौ पक्षिणौ, ताविव स्तनौ = कुचौ यस्याः सा तादृशी।

यमुना—वे अत्यन्त बलशाली वालिनामक दुष्ट वानर से पराजित होकर कुछ परिवारों के साथ एक किले में शरण लिये हुए हैं।

गङ्गा—ये दोनों तो भाई हैं। तो इन दोनों में क्यों ऐसा वैर हो गया? अथवा 'एक भोग्यवस्तु में (दो को) अभिलाषा ही वैररूप महावृक्ष का बीज है' यह प्रसिद्ध बात है। तो इससे क्या? दूसरा भी कारण कहो।

यमुना—किसी दिन तपस्या का व्रत ग्रहण किये हुए कामदेव और वसन्त से जटाधारी दो युवक और चक्रवाक के समान स्तनों वाली एक चन्द्रमुखी (स्त्री) मुझे पार कर दक्षिण की ओर चलने के लिए तत्पर हुए।

गङ्गा—ततस्ततः ?

यमुना—ततश्च तया क्षणं विलम्ब्य प्रणम्य मुकुलितकरकमलयुगलयाऽहमीदृशं भणिता—अयि देवि दिनकरनन्दिनि ! पुनरपि निजकुटुम्बस्य दर्शनप्रसादं कुरुष्व। (तदो अ तीए खणं विलम्बिअ पणमिअ मुउलिअकरकमलजुअलाए अहमेरिसं विण्णत्ता। 'अयि देवि दिणअरणन्दिणि ! पुणोवि णिअकुटुम्बस्स दंसणप्पसादं करेसु' त्ति)

गङ्गा—तत्कथं सम्भावयसि ?

यमुना—(गङ्गाया कर्णे) एवमेव। (एव्वमेव)

गङ्गा—असम्भावनीयमिदम्। तन्नूनमावर्त्तशतभ्रमितहृदया किमप्यलीकमनुभूतवती। (विमृश्य) अथवा को जानाति विधेः संविधानवैदग्ध्यम् ?

यमुनेति। विलम्ब्य = स्थित्वा। मुकुलितकरकमलयुगलया—मुकुलितम् = कुड्मलितं बद्धमित्यर्थः, करकमलयुगलम् = हस्तकमलद्वयं यया सा तया तत्या। भणिता = उक्ता, प्रार्थितेत्यर्थः। दिनकरनन्दिनि—दिनकरस्य = सूर्यस्य नन्दिनी= पुत्री, तत्सम्बुद्धौ। निजकुटुम्बस्य = स्ववंश्यस्य, राघवस्य, लक्ष्मणस्य च मम चेत्यर्थः। दर्शनप्रसादम् = दर्शनानुग्रहम्। वयं कुशलिनः प्रत्यावृत्य पुनरपि भवतीं पश्यामेत्याशिषं दद्याविति भावः।

गङ्गेति। तत्कथं सम्भावयसि = तेषां विषये कीदृशीं सम्भावनां करोषीति भावः।

यमुनेति। एवमेव-अनेन प्रकारेणापवार्य यमुनया रामवनगमनवृत्तं सूचितम्।

गङ्गेति। असम्भावनीयमिदम् = नैदं कथमपि भवितुं शक्यम्। आवर्त्तशत—

गङ्गा—उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ) ?

यमुना—उसके बाद उस (सुन्दरी) ने थोड़ी देर ठहर कर, प्रणाम कर दोनों करकमलों को जोड़े हुए मुझसे ऐसा कहा—सूर्यनन्दिनि ! (यमुने !) अपने परिवार (अर्थात् सूर्यवंशीय हम सब) को दुबारा भी दर्शन देने का अनुग्रह करना।

गङ्गा—तो कैसी सम्भावना करती हो ?

यमुना—(गङ्गा के कान में) ऐसा ही।

गङ्गा—यह हो नहीं सकता। अवश्य, सैकड़ों भँवरों (आवर्त) से अस्थिर

यमुना—यदि संवृत्तस्तत्कथं भगवत्या न गोचरोऽयं वृत्तान्तः ? ।
(जइ संवुत्तो ता कहं भअवदीए ण गोअरो इमो वुत्तन्तो)

गङ्गा—न किञ्चिदेतत् । मया हि ब्रह्मलोकादागतायाः सरस्वत्याः समागमसुखव्यग्रचित्तया स्थितम् । तदेहि । इयमदूरे सरयूः । तेन हि तन्मुखादेव निरूपयावः ।

(इति परिक्रामतः)

(प्रविश्य)

सरयूः—देव्यौ ! नमो वाम् ।

भ्रमितहृदया—आवर्त्तानाम् = पयसां भ्रमाणाम्, शतेन=समुदायेनेत्यर्थः, भ्रमितम्= अस्थिरीकृतं, हृदयम् = मनः यस्याः सा, एतादृशी त्वं यमुना । अलीकम्=मिथ्या । चित्तस्यावर्त्तपर्याकुलत्वात्त्वमसत्यमनुभूतवतीति मन्ये नूनमित्याशयः । ('स्यादावर्त्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः) । विधे.=विधातुः । संविधानवैदग्ध्यम्—संविधानस्य= रचनायाः, वैदग्ध्यम् = चातुर्यम् ।

यमुनेति । संवृत्तः = सञ्जातः । भगवत्या = भवत्या गङ्गयेत्यर्थः । गोचरः = ज्ञात इत्यर्थः । सर्वज्ञया भवत्याऽवश्यमेवायं वृत्तान्तो ज्ञातव्यो भवेदित्याशयः ।

गङ्गेति । समागमसुखव्यग्रचित्तया—समागमः = सम्मिलनम्, तस्य यत् सुखम् = आनन्दः, तस्मिन् व्यग्रम् = व्यस्तं, चित्तं यस्यास्तथा । अदूरे = निकटे । निरूपयामः = निर्धारयामः ।

हृदयवाली तुमने मिथ्या अनुभव किया है । (सोचकर) अथवा विधि के विधान चातुर्य को कौन जानता है ?

यमुना—यदि (ऐसा) हुआ है तो आप को यह वृत्तान्त क्यों नहीं ज्ञात हुआ ?

गङ्गा—यह कुछ नहीं । ब्रह्मलोक से आयी हुई सरस्वती के मिलन-सुख में मैं व्यग्रचित्त थी । तो आओ । यह सरयू निकट ही है; तो उन्हीं के मुख से साफ-साफ जान लें ।

(दोनों ऐसा कह कर घूमती हैं)

(प्रवेश कर)

सरयू—देवियो ! आप दोनों को नमस्कार है ।

उभे—आलि ! अवितथमङ्गला भव ।

गङ्गा—(सरयू हस्ते गृहीत्वा) सखि ! कथं तापनिमग्नमङ्गकन्ते ?

सरयू—भगवति ! प्रतीपमाभायसे । ननु लज्जापङ्कनिमज्जनमनुभवन्त्या मेऽर्घावलम्बनोऽयमङ्गसन्ताप इति ।

गङ्गा—स्पष्टं तावदावेदय ।

सरयू—बहलगलितैः सन्तापोष्णैस्तटान्तविहारिभि-
र्दशरथपुरीपौरस्त्रीणां विलोचनवारिभिः ।
उपचयवतीं सन्तापोष्णां निजां दधती तनू-
मिह मुहुरहं मातर्लज्जां वहामि जहामि च ॥ १ ॥

उभे इति । अवितथमङ्गला—अवितथं = सत्यम्, मङ्गलम् = कल्याणं यस्याः सा ।

गङ्गेति । तापनिमग्नम् = सातिशय सन्तापयुक्तम् । अङ्गकम्=अनुकम्पनीयं शरीरम्, ('अनुकम्पायाम्' इति कन्, सन्तापदर्शनप्रभवाऽनुकम्पोऽत्रेति बोध्यम्)

सरयूरिति । प्रतीपम् = विपरीतम् । लज्जापङ्कनिमज्जनम्—लज्जा=व्रीडा एव पङ्कः = कर्दमः तत्र निमज्जनम् । अर्धावलम्बन =ईषदवलम्बः सञ्जात इति भावः । अहमधुना लज्जापङ्के निमज्जामीव, अयमङ्गसन्ताप एव सम्प्रति ममावलम्बः सञ्जातो येन जीवामीति सरयूरेराशय ।

सरयूः स्वलज्जासन्तापकारणं प्रतिपादयति—बहलगलितैरिति ।

अन्वयः—मातः ! बहलगलितैः सन्तापोष्णैः तटान्तविहारिभिः दशरथपुरीपौरस्त्रीणाम् विलोचनवारिभिः उपचयवतीम् सन्तापोष्णाम् निजाम् तनूम् दधती अहम् इह लज्जाम् वहामि जहामि च ।

व्याख्या—मातः !—हे जननि ! गङ्गे ! बहलगलितैः = सातिशयपतितैः,

दोनों—सखि ! सत्यमङ्गल से सम्पन्न रहो ।

गङ्गा—(सरयू का हाथ पकड कर) सखि ! तुम्हारा शरीर गरम क्यों है ?

सरयू—भगवति ! आप उलटा कह रही हैं । लज्जापङ्क में डूबने का अनुभव करती हुई मेरा यह अङ्ग सन्ताप—आधा सहारा हो गया ।

गङ्गा—अच्छा, साफ साफ बताओ ।

सरयू—अत्यन्त अधिक गिरे हुए, (रामवनवास और दशरथ मरण से

गङ्गा—(सातङ्कम्) किं पुनरासामश्रुवृष्टेः कारणम् ?

सरयूः—(गङ्गायाः कर्णे) एवमेवम् ।

गङ्गा—हा इन्दुमतिनन्दन ! हा सकललोकहृदयानन्दन चन्दन ! हा महाकोदण्डदण्डित! हा आखण्डलप्रियसख! हा निजतनयनिविशेषप्रीतिपरिपालितसकललोक ! हा रामभद्रैकजीवित ! (इति मूर्च्छति)

सन्तापोष्णैः = रामवनवासदशरथमरणजन्यशोकेन उष्णैः = तप्तैः, तटान्तविहारिभिः – तटान्ते = तटप्रदेशे, विहारिभिः = विहरणशीलैः प्रवहमानैरित्यर्थः, दशरथपुरीपौरस्त्रीणाम् – दशरथस्य पुरी = नगरी, तस्याः पौरस्त्रियः = नगरनिवासिस्त्रियः, तासाम्, विलोचनवारिभिः = नेत्रजलैः, उपचयवतीम् = वृद्धिं गताम्, प्रवर्धमानजलामित्यर्थः, (अतएव) सन्तापोष्णाम्—सन्तापेन = शोकेन उष्णाम् = सन्तप्ताम्, निजाम् = स्वीयाम्, तनूम् = शरीरम्, प्रवाहमित्यर्थः; दधती = धारयन्ती, अहम् = सरयूः, इह = अस्मिन् काले, लज्जाम् = त्रपाम्, वहामि = धारयामि, अनुभवामीत्यर्थः, जहामि च = (लज्जाम्) त्यजामि च ।· पौरस्त्रीणामश्रुजलैः स्वशरीरोपचये लज्जामनुभवामि, सन्तापप्रकाशनेन च तां त्यजाम्यपीत्याशयः । हरिणी वृत्तम् ॥ १ ॥

सरयूरिति । एवमेवम्–एवमेवमित्यनेन दशरथनिधनं सूचितम् ।

गङ्गेति । इन्दुमतिनन्दन–इन्दुमती = अजपत्नी, तस्याः नन्दन = पुत्र, ('ङयापोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम्' इति संज्ञायां ह्रस्वः) । सकललोकहृदयानन्दनचन्दन–सकललोकस्य = सम्पूर्णजनस्य, हृदयस्य = चित्तस्य, आनन्दने = सुख-

---

उत्पन्न शोक के कारण) तप्त, तटप्रदेश में बहते हुए, अयोध्यापुरी की स्त्रियों के आँसुओं से वृद्धि को प्राप्त, शोक से उष्ण अपने शरीर को धारण करती हुई मैं, इस समय लज्जा का अनुभव कर रही हूँ और (साथ ही साथ) लज्जा को छोड़ भी रही हूँ ॥ १ ॥

गङ्गा—(भय के साथ) इन स्त्रियों की अश्रुवृष्टि का कारण क्या है ?

सरयू—(गङ्गा के कान में) ऐसा ऐसा………।

गङ्गा—हा इन्दुमती के पुत्र ! हा सकल लोगों के हृदय को आनन्दित करने में चन्दन सदृश ! हा महाधनुर्धर ! हा इन्द्र के प्रिय मित्र ! हा अपने पुत्र

सरयू—(स्वगतम्) (अस्यैव विलसितमेतत्।

गङ्गा—महाराज! दशरथ! (इति मूर्च्छिता पतति)

यमुना—(अंशुकाञ्चलेन वीजयन्ती) भगवति! समाश्वसिहि समाश्वसिहि, नन्वेतैरेव गुणैरशोचनीयोऽसौ राजा। (भअवदि! समास्ससिहि समास्ससिहि, ण इमेहिं जेव्व गुणेहिं असोअणिज्जो सो राआ)

गङ्गा—(सरयू प्रति) सखि! तवैव न केवलमयं तापः, सर्वजनसाधारणः खल्वसौ। तदेनं रामभद्रच्छत्रच्छायययाऽपनोदयाम।

प्रदाने चन्दन = चन्दनलेपसदृश। आखण्डलप्रियसख—आखण्डलस्य = इन्द्रस्य, प्रियसख = प्रियमित्र। निजतनयनिर्विशेष प्रीति परिपालितसकललोक—निजतनयनिर्विशेषा = स्वपुत्रसदृशी या प्रीति, तया परिपालित = रक्षित, सकल = समग्र, लोक = प्रजाजनो येन तत्सम्बुद्धौ। रामभद्रैकजीवित—रामभद्र = रामचन्द्र, एकम् = केवलम्, जीवितम् = जीवन यस्य तत्सम्बुद्धौ।

सरयूरिति। अस्यैव = रामभद्रजीवितत्वस्यैवेत्यर्थ। विलसितम् = कार्यम्। रामवनवासादेव राज्ञो दशरथस्य मरण सञ्जातमिति भाव।

यमुनेति। एतैरेव गुणै —भवत्या प्रतिपादितै सकललोकहृदयानन्दनचन्दनत्वादिभि विशिष्टै गुणै।

गङ्गेति। सर्वजनसाधारण—सर्वजने = सकललोके, साधारण = सामान्य। असौ = ताप। न केवल त्वमेव दशरथविरहजन्यतापविधुरा, सकललोकस्यापि तावत् त्वत्तुल्या दशा दृश्यत इति भाव। एनम्=तापम्। रामभद्रच्छत्रच्छायया—

के समान ही प्रीतिपूर्वक सकल लोगों का पालन करने वाले! हा राममय जीवन वाले! (ऐसा कहकर मूर्च्छित हो जाती है)।

सरयू—(मन ही मन) इसी (राममय जीवन होने) का ही यह (दशरथमरण) परिणाम है।

गङ्गा—हा महाराज! दशरथ! (ऐसा कहकर मूर्च्छित होकर गिरती है)।

यमुना—(वस्त्र के आंचल से हवा करती हुई) भगवति! धैर्य धारण करो! इन्हीं गुणों के कारण राजा (दशरथ) शोचनीय नहीं है।

गङ्गा—(सरयू के प्रति) सखि! यह दुःख तुम्हीं को नहीं है, बल्कि वह

सरयूः—(निश्वस्य) भगवति ! न खल्वप्रोषितसलिलसेकः कमलकेदारः परिशुष्यति ।

गङ्गा —स्पष्टं तावत्कथय ।

(सरयूरधरस्फुरणं नाटयति)

गङ्गा – अलमलम् । कथं दावानलशोषितायां तरुशाखायां कुठारमारोपयितुमिच्छसि ? अथवा कथय तावत् ।

सरयूः —(स्वगतम्) अहो !

रामभद्रस्य = रामचन्द्रस्य, छत्रम् = आतपत्रम्, तस्य छायया, रामचन्द्रकृतपरिरक्षणेन दशरथमरणजन्यं तापं विस्मराम इत्यर्थः ।

सरयूरिति । अप्रोषितसलिलसेकः—अप्रोषितः = अदूरीकृतः, सलिलस्य = जलस्य, सेकः = सेचनं यस्य सः । कमलकेदारः = कमलक्षेत्रम् । रामचन्द्रे समीपस्थे सति दशरथमरणमेव न भवेदिति । कुतोऽस्माकं रामच्छत्रच्छायाप्राप्तिरिति भावः । 'कलमकेदारः' इति पाठान्तरे कलमाः = शालयः, तेषां केदारः = क्षेत्रमित्यर्थः ।

गङ्गेति । दावानलशोषितायाम्—दावानलेन = वनाग्निना, शोषितायाम् = दग्धायाम्, दशरथमरणं श्रुत्वा खिन्नायामितिभावः । तरुशाखायाम् = वृक्षविटपे । परशुम् = कुठारम् रामविषयकाप्रियवृत्तरूपमिति भावः । आरोपयितुमिच्छसि = प्रहारं चिकीर्षसि । दशरथमरणश्रवणखिन्नां मां रामचन्द्रविषयकाप्रियवृत्तं श्रावयित्वा कथं खिन्नतरां कर्तुमिच्छसि ?

सभी को एक समान है। तो इसे रामभद्र की छत्रच्छाया में (हम सब) मिटावें ।

सरयू—(निःश्वास लेकर) भगवति ! जलसंसर्ग विना दूर हुए, कमल का क्षेत्र सूखता नहीं है ।

गङ्गा—साफ साफ कहें ।

(सरयू ओष्ठ स्फुरण का अभिनय करती हैं)

गङ्गा—बस ! बस (करो) । क्या दावानल से झुलसी हुई वृक्षशाखा में कुल्हाड़ा मारना चाहती हो ? अथवा कह ही डालो ।

सरयू—(मन ही मन) अहो !

न ज्ञातुं नाप्यनुज्ञातुं नेक्षितुं नाप्युपेक्षितुम् ।
सुजनः स्वजने जातं विपत्पातं समीहते ॥ २ ॥

(प्रकाशम्) रामभद्रमभिषेक्तुं कृतमनोरथं दशरथमेत्य कैकेयी
प्रथमं तावदिदमुक्तवती ।

इदमेव नरेन्द्राणां स्वर्गद्वारमनर्गलम् ।
यदात्मनः प्रतिज्ञा च प्रजा च परिपाल्यते ॥ ३ ॥

अन्वयः—सुजनः स्वजने जातं विपत्पातम् न ज्ञातुम्, नाऽपि अनुज्ञातुम्, न ईक्षितुम्, नाऽपि उपेक्षितुं समीहते ।

व्याख्या—सुजनः = सज्जनः, स्वजनः इति पाठान्तरे स्वात्मीयजन इत्यर्थो बोध्यः । स्वजने = आत्मीयजने, जातम् = समुद्भूतम्, विपत्पातम् = विपदागमम्, न, ज्ञातुम् = बोद्धुम्, नाऽपि = न तु, अनुज्ञातुम् = अनुमन्तुम्, ज्ञात्वाऽपि स्वीकर्तुमित्यर्थः, न, ईक्षितुम् = द्रष्टुम्, नाऽपि = न तु, उपेक्षितुम् = तिरस्कर्तुम्, समीहते = वाञ्छति । स्वजने विपद्ग्रस्ते सति सज्जनोऽतिविषमां दशां गच्छतीति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २ ॥

अन्वयः—यत् आत्मनः प्रतिज्ञा च प्रजा च परिपाल्यते, नरेन्द्राणाम् इदमेव अनर्गलम् स्वर्गद्वारम् ।

व्याख्या—यत् आत्मनः = स्वस्य, प्रतिज्ञा = प्रतिश्रुतिः, प्रजा च जनश्च, परिपाल्यते = रक्ष्यते, 'प्रजावत्' इति पाठान्तरे तु राज्यजनवदित्यर्थो बोध्यः । नरेन्द्राणाम् = राज्ञाम्, इदमेव = एतदेव, प्रतिज्ञायाः, प्रजायाश्च परिपालनमेवेत्यर्थः, अनर्गलम् न विद्यते अर्गला = कीलकः यस्मिंस्तत्, निष्प्रतिरोधमित्यर्थः, स्वर्गद्वारम् = स्वर्गस्य देव = लोकस्य, द्वारम् = प्रवेशद्वारम्, साधनमिति भावः ।

सज्जन आत्मीयजन पर पड़ी विपत्ति को न जानने की, न तो अनुमोदन करने की, न देखने की, न ही उपेक्षा करने की इच्छा करता है । (अर्थात् उसकी मनोदशा कुछ विलक्षण सी हो जाती है ।) ॥ २ ॥

(प्रकट रूप में) रामभद्र का अभिषेक करने की इच्छा करने वाले दशरथ के पास आकर कैकेयी ने सर्वप्रथम यह कहा—

क्योंकि अपनी प्रतिज्ञा का तथा प्रजा का सम्यक् पालन, यही राजाओं के

गङ्गा—(स्वगतम्) अनेनैव तावदकल्याणरुचिः सूचिता दुराशया। (प्रकाशम्) चरमं च किम्?

सरयूः—

त्वया देयं यन्मे द्वयमभिहितं, देहि तदिदं
वनं कौशल्येयो विशतु, युवराजोऽस्तु भरतः।

गङ्गा—(सोद्वेगम्) ततः किं वृत्तम्?

प्रतिज्ञायाः प्रजायाश्च परिपालनमेव स्वर्गप्राप्तेर्निष्प्रतिरोध उपायो नरेन्द्राणामिति भवताऽपि स्वप्रतिज्ञायाः प्रजायाश्च परिपालनेन स्वर्गद्वारमनर्गलं कर्तव्यमिति भावः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ३ ॥

गङ्गेति—अनेनैव = कैकेय्याः पूर्वोक्तवचनेनैव। अकल्याणरुचिः—अकल्याणे= अमङ्गले, रुचिः = इच्छा यस्यास्तादृशी। दुराशया—दुः = दुष्टः, आशयः = अभिप्रायः यस्याः सा तादृशी। चरमम् = परिणामः।

अन्वयः—त्वया यत् द्वयम् मे देयम् अभिहितम् तत् इदम् देहि। कौशल्येयः वनं विशतु, भरतः युवराजः अस्तु।

व्याख्या—त्वया = दशरथेनेत्यर्थः' यत् द्वयम् = वरद्वयमित्यर्थः, मे=मह्यम्, कैकेय्यै, देयम् = दातव्यम्, अभिहितम् = उक्तम्, तत् = वरद्वयम् इदम् = एतत्स्वरूपं देहि = प्रयच्छ। कौसल्येयः—कौसल्याया अपत्यं पुमान् कौसल्येयः = श्रीरामचन्द्रः, ('स्त्रीभ्यो ढक्' इति कौशल्याशब्दात् ढक् प्रत्ययः) वनम् = काननम्, विशतु = प्रविशतु भरतः = मम पुत्रः, युवराजः, अस्तु = भवतु।

लिए स्वर्ग का खुला हुआ दरवाजा है ॥ ३ ॥

गङ्गा—(मन ही मन) दुष्ट स्वभाव वाली कैकेयी ने इसीसे ही अमङ्गल में अपनी रुचि प्रकट कर दी। (प्रकट रूप में) अन्त क्या हुआ?

सरयू—आप ने जो दो वर मुझे देने को कहा था, तो ये दीजिए कि राम वन जायें और भरत युवराज हों।

गङ्गा—(व्याकुलता के साथ) उसके बाद क्या हुआ?

सरयू —

इतीदं कैकेय्या वचनमधिगम्याऽऽकुलमते
पितुः पादौ नत्वा मुदितहृदयोऽसौ वनमगात् ॥ ४ ॥

गङ्गा—यमुने ! तदिदं यत्कथितवत्यसि (सविषादम्) हा ! रघुकुलकुटुम्बं निहतमिति !

यमुना—भगवति ! एकं किं रघुकुलकुटुम्बकम् ? ननु मृगमहर्षिवनदेवता परिहृत्य सकल एव जीवलोको रामचन्द्रमुखचन्द्रविलोकनविहीनत्वेन निहतः। (भअवदि एक्कं किं रघुउलकुडुम्बअम् । मिअमहेसिवणदेवदाओ परिहरिअ सअलो जेव्व जीअलोओ रामचन्दमुहचन्दविलोअणविहीणत्तणेण णिहदो)

अन्वयः—कैकेय्याः इति इदम् वचनम् अधिगम्य आकुलमतेः पितुः पादौ नत्वा मुदितहृदयः असौ वनम् अगात् ।

व्याख्या—कैकेय्याः = भरतमातुः, इति = इत्थम्, इदम्=एतत्, वचनम् = वाक्यम्, अधिगम्य = बुद्ध्वा, आकुलमतेः—आकुला = व्यग्रा मतिः = बुद्धिर्यस्य स तस्य पितुः = जनकस्य, दशरथस्येत्यर्थः, पादौ = चरणौ, नत्वा = नमस्कृत्य, मुदितहृदयः—मुदितम् = प्रसन्नम्, हृदयम् = चेतो यस्य सः, असौ = रामचन्द्रः वनम् = अरण्यम्, अगात् = गतः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४ ॥

गङ्गेति । यत् कथितवत्यसि—कस्मिन्नपि दिवसे गृहीततपस्याविवेत्यादिनेति भावः ।

यमुनेति । मृगमहर्षिवनदेवता परिहृत्य = हरिणमहर्षिवनदेवीर्वर्जयित्वा, वने निवसतो रामस्य दर्शनेन मुदितत्वादिति भावः । सकल एव जीवलोकः = समग्र एव प्राणिसमुदायः । रामचन्द्रमुखचन्द्रविलोकनविहीनत्वेन—रामचन्द्रस्य

सरयू—कैकेयी के इस तरह इस वचन को जानकर, व्याकुल बुद्धि वाले पिता के चरणों को प्रणाम कर प्रसन्न हृदय वे (राम) वन चले गये ॥ ४ ॥

गङ्गा—यमुने ! यह वही बात है जिसे तुम कह चुकी हो। (विषादपूर्वक) हाय ! रघुकुल का कुटुम्ब मारा गया।

यमुना—भगवति ! केवल रघुकुलकुटुम्ब (ही) क्यों ? अरे मृगों, महर्षियों

सरयूः—एवमेतत् ।

प्रोषितवति रजनिकरे, बन्धुतया न खलु कैरवाण्येव ।
म्लायन्ति, किन्तु सहसा भुवनान्यपि तमसि मज्जन्ति ॥ ५ ॥

गङ्गा—एवमेतत् । परं सखि सरयु ! कथय तावत्, कीदृशी वृत्तिः सीतालक्ष्मणयोर्वत्सरामभद्रे ।

सरयूः—तौ हि तस्य सदैव सन्निहितौ चन्द्रिकाप्रसादाविव चन्द्रमसः । अतो जानास्येव यादृशी चन्द्रिकाप्रसादयोश्चन्द्रमसि ।

मुखमेव चन्द्रस्तस्य विलोकनम् = दर्शनम्, तेन विहीनः = वञ्चितः, तस्य भावस्तत्त्वं तेन ।

अन्वयः—रजनिकरे प्रोषितवति (सति) बन्धुतया कैरवाणि एव न खलु म्लायन्ति किन्तु भुवनान्यपि तमसि सहसा मज्जन्ति ।

व्याख्या—रजनिकरे = चन्द्रमसि, प्रोषितवति = दूरङ्गते, अस्तङ्गते सतीत्यर्थः, बन्धुतया = सौहार्देन, कैरवाणि एव = कुमुदान्येव, न खलु म्लायन्ति= न हि दुःखमनुभवन्ति, सङ्कुचितत्वादिति भावः, किन्तु = अपि तु, भुवनान्यपि = लोका अपि, तमसि अन्धकारे, सहसा = एकपद एव, मज्जन्ति = निलीमानि भवन्ति । यथा चन्द्रमसि प्रवासं गते सति कैरवैः सह सकललोका म्लायन्ति तथैव रामे वनं गते तद्बन्धुभिः सह सकललोकाः क्लेशमनुभवन्तीति सरलार्थः । आर्या जातिः ॥ ५ ॥

गङ्गेति । वृत्तिः = व्यवहारः ।

सरयूरिति । तौ = सीतालक्ष्मणौ । तस्य = रामचन्द्रस्य । सन्निहितौ =

और वनदेवताओं को छोड़कर समस्त प्राणि-समुदाय रामचन्द्र के मुखचन्द्र का दर्शन न पाने से मारा गया है ।

सरयू—यह ऐसा ही है (अर्थात् ठीक है) ।

चन्द्रमा के अस्तंगत होने पर सौहार्द के कारण कुमुद ही नहीं म्लान होते हैं; अपि तु समस्त लोक अन्धकार में सहसा विलीन हो जाते हैं ॥ ५ ॥

गङ्गा—यह ठीक है । किन्तु सखि ! सरयु ! कहो तो, वत्स रामभद्र के विषय में सीता और लक्ष्मण की वृत्ति कैसी रही ?

सरयू—जैसे चन्द्रिका और प्रसाद (नैर्मल्य) सदैव चन्द्रमा के पास रहते

गङ्गा—(स्वगत, सहर्षम) कथं सहैव वनं गतावित्युक्तं भवति ? (प्रकाशम) सखि ! जीवितास्मि तावदनेन वागमृतेन । क्षणमपि हि रामचन्द्रविरहमनुभवितुमसहा मे वत्सा जानकी ।

सरयू—एवमेतत् । रामचन्द्रेण हीदमुक्ता जानकी—

'अम्बा शुश्रूषमाणा मे शरद कतिचिन्नय' ।

इदमाकर्ण्य तथामूर्च्छिता जानकी, यथा स्वजनकरोपनीतशीत-शीकरासारसिक्ताऽपि न प्रबुद्धा ।

समीरम्यौ चन्द्रिकाप्रसादौ–चन्द्रिका = ज्योत्स्ना, प्रसाद = औज्ज्वल्यम् । यथा चन्द्रिकाप्रसादयोश्चन्द्रादभिन्नत्वं तथैव सीतालक्ष्मणयो रामादभिन्नत्वमिति भाव ।

गङ्गेति । कथं सहैव वनं गतावित्युक्तं भवति–किं रामेण सहैव सीता-लक्ष्मणावपि वनं गताविति सरयूक्तेरभिप्राय ? वागमृतेन=वचनसुधया । असहा= असमर्था ।

अन्वय —(जानकि !) मे अम्बा शुश्रूषमाणा कतिचित् शरद नय ।

व्याख्या—(जानकि !) मे=मम, अम्बा = मातृ , कौसल्याकैकेयी-सुमित्रा इत्यर्थ , शुश्रूषमाणा = परिचरन्ती (सती) कतिचित् शरद = कतिपय-वर्षाणि, चतुर्दशवर्षाणीत्यर्थ , नय = अतिगमय ।

इदमिति । इदम = अम्बा = शुश्रूषमाणा मे शरद कतिचिन्नयेत्याकारक

है वैसे ही वे दोनों (सीता और लक्ष्मण) सदैव उन (राम) के पास ही रहते हैं । अत आप जानती ही हैं चन्द्रमा में चन्द्रिका और प्रसाद की जैसी वृत्ति होती है ।

गङ्गा—(मन ही मन, हर्ष के साथ) क्या, वे दोनों (भी) साथ ही वन को गये, यह अर्थ निकलता है ? (प्रकट रूप में) सखि ! इस वचनामृत से मैं जी गयी । मेरी वात्सल्यभाजन सीता क्षण भर के लिए भी रामचन्द्र के विरह का अनुभव करने में असमर्थ है ।

सरयू—यह ऐसा ही है । रामचन्द्र ने जानकी से यह कहा—

'मेरी माताओं की सेवा करती हुई तुम कुछ वर्षों को बिताओ' ।

यह सुन कर जानकी ऐसी मूर्च्छित हुई कि स्वजनों के हाथों से लाये गये

यमुना—तत्पुनः कथं प्रबुद्धा ? (ता उण कहं पबुद्धा ?)

सरयूः—

'वने वनजपत्राक्षि ! समागच्छ सहैव वा' ॥ ६ ॥

इत्यनेन रामवचनामृतेनैव ।

गङ्गा—उचितमिद जानकीस्नेहस्य ।

यमुना—अपि नाम रामलक्ष्मणयोरपि कोऽपि संवादः संवृत्तः ? अवि णाम रामलक्खणाणं वि कोवि संवादो सवुत्तो)

सरयूः—अथ किम् ? इदमुक्तो हि रामचन्द्रेण लक्ष्मणः—

रामवचनम् । आकर्ण्य = श्रुत्वा । जानकी = सीता । तथा = तेन प्रकारेण । मूर्च्छिता = संज्ञारहिता सञ्जाता । स्वजनकरोपनीत-शीतशीकरासारसिक्ता—स्वजनानाम् = आत्मीयजनानाम्, सखीनामित्यर्थः, करैः = हस्तैः, उपनीताः = आनीताः, शीतशीकराः = शीतलसलिलकणाः, तेषाम् आसारैः = वर्षणैः, सिक्ता= उक्षिता, सखीजनेन शीतलसलिलादिनोपचरिताऽपीत्यर्थः । न प्रबुद्धा = संज्ञां न प्राप्तवती ।

वनमिति ।

अन्वयः—वनजपत्राक्षि ! वा सहैव वनम् समागच्छ ।

व्याख्या—वनजपत्राक्षि—वनजम् = जलजम् ('पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम् इत्यमरः ।) तस्य पत्रमिव दलमिवाक्षिणी = नेत्रे यस्यास्तत्सम्बुद्धौ । वा = अथवा, मां विनाऽयोध्यां स्थातुं न शक्नोपि चेदिति भावः । सहैव = मया सार्धमेव । वनम् = काननम्, समागच्छ = आयाहि । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ६ ॥

ठण्डे (जल के) छींटों से सींची जाने पर भी होश में नहीं आयी ।

यमुना—तो फिर, कैसे होश में आयी ?

सरयू—'कमलपत्राक्षि ! अथवा वन को मेरे साथ आओ ॥ ६ ॥

राम के इस वचनामृत से ही (होश में आयी) ।

गङ्गा—जानकी के स्नेह को यह उचित है ।

यमुना—क्या, राम-लक्ष्मण का भी कुछ संवाद हुआ ?

सरयू—और क्या ? रामचन्द्र ने लक्ष्मण से यह कहा—

गमय वत्स ! निमील्य विलोचने
कतिचिदत्र निमेषसमा समाः ।
अपि च मामिव शीलसुशीतल
शुभरत भरत परिशीलय ॥ ७ ॥

इदमुक्त च लक्ष्मणेन ! अये रघुनाथ !

त्वया समं मे चत्वारि यामा एव युगान्यपि ।
चतुर्दश समा स्यातु विना मन्वन्तराणि मे ॥ ८ ॥

अन्वय — वत्स ! विलोचने निमील्य निमेषसमाः कतिचित् समाः अत्र गमय अपि च शीलसुशीतलम् शुभरतम् भरतम् मामिव परिशीलय ।

व्याख्या—वत्स ! = स्नेहभाजन ! लक्ष्मण ! विलोचने = नेत्रे, निमील्य = मुद्रयित्वा शममालम्ब्येति भावः । निमेषसमाः—क्षणतुल्याः, झटिति व्यतिगामिनीरिति भावः । कतिचित् समाः = वर्षाणि, अत्र = अयोध्यायाम्, गमय = नय । अपि च = तथा, शीलसुशीतलम्—शीलेन = सदाचरणेन, सुशीतलम् = सुखकरम्, शुभरतम्—शुभे = कल्याणे, रतम् = प्रवृत्तम्, भरतम् = कैकेयीपुत्रम्, मामिव परिशीलय = यथा मां सेवसे तथैव शुश्रूषस्वेत्यर्थः । 'निमेषसमाः समाः' इत्यत्र, 'शुभरत भरतम्' इत्यत्र च यमकालङ्कारः । द्रुतविलम्बित वृत्तम् ॥ ७ ॥

त्वयेति ।

अन्वय —त्वया समम् मे चत्वारि युगान्यपि यामा एव । (त्वया) विना चतुर्दशसमाः स्यातुम् मे मन्वन्तराणि ।

व्याख्या—रघुनाथ ! त्वया समम् = भवता सह, मे = मम, चत्वारि युगान्यपि = कृतत्रेताद्वापरकलियुगान्यपि, युगचतुष्टयरूपो दीर्घकालोऽपीति भावः । यामा एव = प्रहरा एव, सुदीर्घकालोऽपि सुखेन याप्य इति भावः । त्वया विना

वत्स ! आँखें मूँदकर निमेष के समान कुछ वर्षों को यहाँ (अयोध्या में) बिताओ और शीतल स्वभाव वाले कल्याण में रत भरत की मेरे समान ही सेवा करो ॥ ७ ॥

और लक्ष्मण ने (राम से) यह कहा—

आप के साथ चारों युग भी मेरे लिए (चार) पहर के ही समान हैं ।

अपि च—

त्वया मम समेतस्य कल्पा अपि समासमाः ।
भवता विप्रयुक्तस्य कल्पकल्पः क्षणोऽपि मे ॥ ९ ॥

गङ्गा—अपि नाम कौसल्ययापि किञ्चिच्छिक्षितो रामभद्रः ?

सरयूः—अथ किम् ? सा हि—'अयि वत्स ! रामभद्र ! सीताम्' इत्यर्धोक्त एव बाष्परुद्धकण्ठीदमुक्तवती ! 'अथवा वत्स ! लक्ष्मणे रक्षितरि को भवान् सीतासमीक्षणस्य ? तदिदं तावदभ्यर्थयामि ।

चतुर्दश समाः = चतुर्दशवर्षाणि स्थातुम् मे = मम, मन्वन्तराणि = दिव्ययुगानामेकसप्ततिः (सन्ति) ('मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः' इत्यमरः) भवता वियुक्तस्य मम चतुर्दशवर्षात्मकः स्वल्पोऽपि कालो दुःखेन याप्यत्वाद् मन्वन्तरमिव सुदीर्घो भवेदिति भावः ॥ ८ ॥

अन्वयः—त्वया समेतस्य मम कल्पा अपि समासमाः । भवता विप्रयुक्तस्य मे क्षणः अपि कल्पकल्पः ।

व्याख्या—त्वया = भवता, रामेणेत्यर्थः, समेतस्य = सहितस्य, मम = लक्ष्मणस्य, कल्पाः = प्रलयावधिकालाः, समासमाः—समाभिः = वर्षावधिकालैः, समाः = तुल्याः (सन्ति) । भवता = आर्येण, श्रीरामेणेत्यर्थः, विप्रयुक्तस्य = रहितस्य, मे = मम, क्षणः = निमेषः, अपि, कल्पकल्पः-कल्पतुल्यः, दुःखमयत्वादिति भावः । 'समासमाः' इत्यत्र, 'कल्पकल्पः' इत्यत्र च यमकं नामालङ्कारः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ९ ॥

सरयूरिति । सीताम् = जानकीम्, सीतां रक्षेति कौसल्याया विवक्षितं वाक्यं

आप के बिना (यहां अयोध्या में) चौदह वर्ष रुकना (चौदह) मन्वन्तर के बराबर है ॥ ८ ॥

और भी—

आप के साथ रहने पर मेरे लिए कल्प भी वर्ष के बराबर हैं, आप से वियुक्त मेरे लिए क्षण भी कल्प के समान है ॥ ९ ॥

गङ्गा—क्या, कौसल्या ने भी रामभद्र को कुछ शिक्षा दी ?

सरयू—और क्या ? उन्होंने तो 'हे वत्स ! रामभद्र ! सीता को'''ऐसा

इह दुग्धमुख वत्से लक्ष्मण दक्षिणो भव।
अपि राज्योपभोगेभ्यो यस्य त्वं सहजप्रिय ॥ १० ॥

इदमुक्तं च रामभद्रेण अयि मातः ! निजजीवितेऽपि दक्षिणेन भवितव्यमित्यपि शिक्षणीयमेव ?

गङ्गा—तन्नूनं ततः प्रभृति सहजसौन्दर्यमेवाभरणं वत्सरामस्य।

बोध्यम। रक्षितरि = रक्षके। सीतासमीक्षणस्य = जानकीरक्षणस्य, सति लक्ष्मण रक्षके सीतारक्षणे कापि चिन्ता त्वया न कर्त्तव्या इति भावः।

अन्वयः—राज्योपभोगेभ्यः अपि यस्य त्वम् सहजप्रियः (असि) (तादृशे) इह दुग्धमुखे वत्से लक्ष्मणे दक्षिणः भव।

व्याख्या—राज्योपभोगेभ्यः =राज्यसुखानुभवेभ्यः अपि यस्य = लक्ष्मणस्य, त्वम् = राम इत्यर्थः सहजप्रियः = स्वभावतः प्रियः (असि), (तादृशे) इह = अस्मिन् दुग्धमुखे = स्तन्यपायिनि, अत्यल्पवयस्के इत्यर्थः, वत्से = वात्सल्यभाजने लक्ष्मणे, दक्षिणः = उदारः, रक्षणावहितः इत्यर्थः, भव = भवेः। राज्यसुखमपि त्यक्त्वा यस्त्वामनुगच्छति तस्य बालस्य लक्ष्मणस्य रक्षणे त्वया सततं सावधानेन भाव्यमिति भावः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १० ॥

इदमिति। निजजीवितेऽपि = स्वजीवनेऽपि। स्वजीवनसमे प्रिये लक्ष्मणे मयाऽवहितेन भाव्यमिति शिक्षा नापेक्ष्यत इति भावः।

गङ्गेति। सहजसौन्दर्यम् = स्वाभाविकी सुन्दरता। आभरणम् = अलङ्कारः। वनं प्रतिष्ठमानेन श्रीरामचन्द्रेण राजोचिताभरणानां परित्यज्यमानत्वादिति भावः।

आधा ही कहने पर आँसुओं से रुँधे कण्ठ वाली होकर यह कहा—'अथवा वत्स ! लक्ष्मण के रक्षक रहने पर सीता की देखभाल के लिए आप कौन है ? तो सर्वप्रथम यह अभ्यर्थना करती हूँ—

राज्य सुख के उपभोगों से भी (अधिक) जिसे तुम स्वभावतः प्रिय हो इस दुधमुँहे वत्स लक्ष्मण के विषय में उदार (अर्थात रक्षा में सावधान) रहना ॥१०॥

और रामचन्द्र ने यह कहा—हे माता ! जीवन के विषय में उदार रहना चाहिए—यह भी सिखाने की बात है क्या।

गङ्गा—तो निश्चय ही उसी समय से वत्स राम का स्वाभाविक सौन्दर्य ही आभूषण (बन गया होगा, अर्थात कृत्रिम आभूषण शरीर से उतार दिये गये होंगे)।

सरयू:—अन्यदप्येकम्। विमुञ्चन्सकलमाभरणजातमित्थमभ्यर्थितः कौसल्यया रामभद्रः।

हस्तावलम्बदानाय सीतामाङ्गल्यसम्पदः।
इदं विमुञ्च मा वत्स राम! रत्नाङ्गुलीयकम्॥ ११॥

इदमन्यच्च ते कथयामि। धीरा समाकर्णय।

गङ्गा—तदेतावदाकर्णितवतीमपि मामधीरामाशङ्कसे।

अन्वयः—वत्स! राम! सीतामाङ्गल्यसम्पदः हस्तावलम्बदानाय इदम् रत्नाङ्गुलीयकम् मा विमुञ्च।

व्याख्या—वत्स = वात्सल्यभाजन! राम! सीतामाङ्गल्यसम्पदः—सीतायाः माङ्गल्यम् = सौभाग्यम् एव सम्पद् = धनं तस्याः, हस्तावलम्बदानाय—कर-साहाय्यप्रदानाय, रक्षणायेति भावः। इदम् = एतत्, रत्नाङ्गुलीयकम् = रत्न-खचितमङ्गुलिपरिधेयं भूषणविशेषम्, मा विमुञ्च = मा त्यज। सकलान्याभरणानि तु त्यक्तवानेव, सीतासौभाग्यसम्पद्रक्षणायेदं रत्नाङ्गुलीयकं त्यक्तुं नार्हसीत्यभि-प्रायः। अनेनाऽङ्गुलीयकद्वारा सीतोपलब्ध्यादिकं भाविफलं सूचितम्। अनुष्टुब्-वृत्तम्॥ ११॥

सरयू—एक अन्य (बात) भी है। सकल आभूषणों को उतारते हुए रामचन्द्र से कौसल्या ने अभ्यर्थना की—

'हे वत्स! राम! सीता की सौभाग्यसम्पत्ति को हाथ का सहारा देने के लिए (अर्थात् सौभाग्य की रक्षा के लिए) इस रत्नखचित अँगूठी को मत उतारो'॥ ११॥

और यह दूसरी बात तुमसे कह रही हूँ। धीर होकर सुनो—

गङ्गा—तो इतना (सब) सुन चुकने वाली भी मुझको अधीरा ही समझ रही हो।

सरयू —

निकाम रामस्य प्रमुदितमुखाम्भोरुहरुचे-
जटावल्लीमल्लीमुकुलसदृशैर्बाष्पपृषतैः ।
निषिञ्चन् सौमित्रि कथमपि वितेने खलु यदा
तदा जात मात. ! करुणमयमेतज्जगदपि ॥ १२ ॥

यमुना—अपि नाम तस्मिन् समये सीताऽपि किमपि शिक्षिता बन्धुजनेन ? (अवि णाम तस्सि समये सीदावि किंवि सिक्खिदा बन्धुअणेण ?)

अन्वय —मात ! निकामम् प्रमुदितमुखाम्भोरुहरुचे रामस्य जटावल्ली मल्लीमुकुलसदृशै बाष्पपृषतै निषिञ्चन् सौमित्रि कथमपि यदा वितेने खलु, तदा एतत् जगदपि करुणमयम् जातम् ।

व्याख्या—मात ! निकामम् = अत्यन्तम्, प्रमुदितमुखाम्भोरुहरुचे — प्रमुदिता = प्रसन्ना, मुखाम्भोरुहस्य = मुखकमलस्य, रुचि = कान्तिर्यस्य स तस्य, रामस्य जटावल्ली = सटालता ('व्रतिनस्तु जटा सटा' इत्यमर) मल्लीमुकुलसदृशै —मल्ली = मल्लिका (बेलीति भाषायाम्) तस्या मुकुलसदृशैः = कुड्मलतुल्यै , (अनेनाश्रुबिन्दूना शुक्लत्व स्थूलत्व च द्योत्यते) बाष्पपृषतै = अश्रुबिन्दुभि , निषिञ्चन्=आर्द्रीकुर्वन्, सुमित्राया अपत्यं पुमान् सौमित्रि = सुमित्रातनयो लक्ष्मणः, कथमपि = केनापि प्रकारेण महता कष्टेनेत्यर्थ , यदा = यस्मिन् काले, वितेने = रचितवान्, खलु तदा = तस्मिन् काले, एतत् = इदम्, जगदपि = भुवनमपि, न केवलमयोध्यैवेति भाव । करुणमयम् = करुणार्द्रम, जातम् = अभूत् ! मल्लीमुकुलसदृशैर्बाष्पपृषतैरित्यत्रोपमालङ्कार । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १२ ॥

सरयू—हे माता ! अत्यन्त प्रसन्न मुखकमलकान्ति वाले राम की जटा वल्लियों को बेली पुष्प की कलियों के समान अश्रु बिन्दुओं से आर्द्र करते हुए लक्ष्मण ने किसी तरह (अर्थात् बडे दुःख से) जिस समय बनाया, उस समय यह (समस्त) जगत् भी शोकाकुल हो गया ॥ १२ ॥

यमुना—उस समय बन्धुजनों ने सीता को भी कुछ शिक्षा दी ?

सरयूः—अयि देवि ! विपरीतमालपसि ।

गहनविपिनवासोत्कण्ठया सम्प्रयातं
प्रियतममनुयान्त्या तत्क्षणं राजपुत्र्या ।
चरणकमलगुञ्जन्मञ्जुमञ्जीरशब्दैः
स्फुटतरमुपदिष्टा बान्धवाः साधु वृत्तम् ॥ १३ ॥

सरयूरिति । विपरीतमालपसि—सीता न किमपि बन्धुजनेन शिक्षिता, अपि तु सीतयैव किमपि बन्धुजनः शिक्षित इति सरयूक्तेराशयः ।

अन्वयः–गहनविपिनवासोत्कण्ठया सम्प्रयातम् प्रियतमम् तत्क्षणम् अनुयान्त्या राजपुत्र्या चरणकमलगुञ्जन्मञ्जुमञ्जीरशब्दैः बान्धवाः साधु वृत्तम् स्फुटतरम् उपदिष्टाः ।

व्याख्या—गहनविपिनवासोत्कण्ठया—गहनम् = घनं यत् विपिनम् = वनं तत्र वासः = निवासस्तस्मिन् उत्कण्ठा = उत्कटाभिलापस्तया सम्प्रयातम् = सम्प्रस्थितम्, प्रियतमम् = दयितम्, राममित्यर्थः, तत्क्षणम् = तत्कालम्, विलम्बमकृत्वेति भावः । अनुयान्त्या = अनुसरन्त्या, राजपुत्र्या—राज्ञः = जनकस्येत्यर्थः, पुत्री = सुता सीतेत्यर्थस्तया, चरणकमलगुञ्जन्मञ्जुमञ्जीरशब्दैः—चरणकमलयोः = पादपद्मयोः, गुञ्जन्तः = शब्दायमानाः ये मञ्जुमञ्जीराः = मनोहरनूपुरास्तेषां शब्दैः = ध्वनिभिः, ('पादाङ्गदं तुलाकोटिर्मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियामित्यमरः ।) बान्धवाः = स्वजनाः, साधु वृत्तम् = सदाचरणम्, पतिव्रताचारित्र्यमित्यर्थः, स्फुटतरम् = सुस्पष्टं यथा स्यात्तथा, उपदिष्टाः = शिक्षिताः । प्रियतमं राममनुसरन्त्या सीतया पुरस्त्रियः पतिव्रताचारित्र्यं शिक्षिता इति भावः । 'मञ्जीरशब्दैर्बान्धवाः साधु वृत्तमुपदिष्टाः' इत्यत्रोत्प्रेक्षा । सा च इवादिप्रयोगाभावात् प्रतीयमाना । मालिनी वृत्तम् ॥ १३ ॥

सरयू—हे देवि ! उल्टा कह रही हो ।

गहन वन में निवास के अभिलाष से प्रयाण कर चुके हुए प्रियतम (राम) का तत्काल अनुगमन करती हुई राजपुत्री (सीता) ने (ही) चरण कमलों में शब्दायमान मनोहर नूपुरों के शब्दों से बान्धवों को सदाचरण (अर्थात् पतिव्रता के धर्म) की सुस्पष्ट शिक्षा दी ॥ १३ ॥

इद तु वृत्तम् ।

पुर कान्त यान्त विपिनमनुयान्त्या सरभस
तदादौ सीताया किसलयनिभौ वीक्ष्य चरणौ ।
मुहु शीतास्तप्ता किमपि च मुहुर्बन्धुनयनै
सम मुक्ता मुक्तासदृशरुचयो बाष्पकणिका ॥१४॥

गङ्गा—हर्षविषादयोर्विलसितमेतत ।

अन्वय —पुर विपिनम या तम् कान्तम सरभसम अनुयान्त्या सीताया तदादौ किसलयनिभौ चरणौ वीक्ष्य बन्धुनयनै मुहुं मुहु किमपि शीता तप्ता च मुक्तासदृशरुचय बाष्पकणिका समम् मुक्ता ।

व्याख्या—पुर =अग्रे, विपिनम = वनम् यान्तम् = गच्छन्तम् कान्तम= दयितम् रामभित्यथ, सरभसम् = सवगम, सहप वा ('रभसो वेगहर्षयो' इति विश्व), अनुयान्त्या, सीताया = ज नक्या, तदादौ = अनुगमनप्रारम्भे, किसलयनिभौ = नूतनपल्लवसदृशौ, अतिकोमलाविति भाव । चरणौ = पादौ, वीक्ष्य = दृष्ट्वा, बन्धुनयनै = स्वजननेत्रै, मुहु मुहु = वार वारम्, किमपि = अत्यधिक यथा स्यात्तथेत्यथ, शीता = शीतला, कान्तमनुयान्ती सीता दृष्ट्वा हर्षजाता इति भाव । तप्ता = उष्णा, सीतावियोगशोकजन्या इति भाव । च = अपि, मुक्तासदृशरुचय —मुक्तासदृशी = मौक्तिकतुल्या, रुचि = कान्तिर्यासा ता, बाष्पकणिका = अश्रुबिन्दव, समम = सहैव, समकालमेवेत्यर्थ, मुक्ता = पातिता । उपमाऽलङ्कार । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १४ ॥

गङ्गेति । एतत् = शीतोष्णबाष्पकणिकाना युगपत्पतनम । हर्षविषादयो = आनन्दशोकयो विलसितम = विचेष्टितम ।

और यह हुआ—आगे आगे वन का जाते हुए प्रियतम (राम) का सहर्ष अथवा सवेग अनुगमन करती हुई सीता के, अनुगमन के आरम्भ में किसलयसदृश (लाल एवं कोमल) चरणों को देखकर बान्धवजनों के नेत्रों ने बार बार अत्यधिक शीतल और उष्ण मुक्तासदृशकान्ति वाले अश्रुकण एक साथ गिराये ॥ १४ ॥

गङ्गा—यह (एक ही समय में शीतल और उष्ण आंसुओं का गिरना) हर्ष और विषाद का परिणाम है ।

सरयूः—इदं बन्धुजनेन शिक्षितो रामभद्रः—

वाला विदेहतनया, तरलौ भवन्तौ,
दिग् दक्षिणा च रजनीचरचक्रदुष्टा ।
तद्वत्स ! वत्सलतयेदमुदाहरामो
मा राम ! गच्छ नयदक्षिण ! दक्षिणाशाम् ॥ १५ ॥

गङ्गा—ततस्ततः ?

सरयूः—ततस्तामेव दिशं प्रति—

अन्वयः—विदेहतनया बाला, भवन्तौ तरलौ, दक्षिणा दिक् च रजनीचर-चक्रदुष्टा (वर्तते) तत् वत्स ! वत्सलतया इदम् उदाहरामः-नयदक्षिण ! राम ! दक्षिणाशाम् मा गच्छ ।

व्याख्या—विदेहतनया = सीता, बाला=किशोरावस्थापन्ना, एतेन सीतायाः स्वाभाविकं भीरुत्वं द्योत्यते । भवन्तौ = युवाम्, रामलक्ष्मणावित्यर्थः' तरलौ = चञ्चलौ, स्वभावतोऽनवधानयुक्तावित्यर्थः । दक्षिणा दिक् च रजनीचरचक्रदुष्टा— रजनीचराणाम् = निशाचराणां चक्रेण = मण्डलेन, समूहेनेत्यर्थः दुष्टा = भीषणा (वर्तते) तत् = तस्मात्, वत्स = वात्सल्यभाजन ! वत्सलतया = स्नेहभावेन, न तु वञ्चकत्वेनेति भावः । इदम् = वक्ष्यमाणम्, उदाहरामः = कथयामः किन्त-दित्याह-नयदक्षिण = नीतिकुशल ! राम ! दक्षिणाशाम् = दक्षिणदिशम्, मा गच्छ = नो याहि । अनेन भाविसीताहरणलक्ष्मणचाञ्चल्यादिकं सूचितम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १५ ॥

सरयू—बन्धुजनों ने रामचन्द्र को यह शिक्षा दी—

सीता (अभी) किशोरी हैं, आप दोनों चञ्चल (अर्थात् अनवधान युक्त) हैं । और दक्षिण दिशा निशाचरसमूह से भीषण है; अतः वत्स ! स्नेहभावना से हम यह कह रहे हैं कि नीतिकुशल राम ! दक्षिण दिशा की ओर मत जाओ ॥ १५ ॥

गङ्गा—उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ) ?

सरयू—तदनन्तर उसी (दक्षिण) दिशा की ओर—

सुरमुरजगभीरघोरनादद्विगुणगुणध्वनिचापदत्तहस्त ।
पुरजननयनैः कृत दधान कुवलयदाम जगाम रामभद्र ॥ १६ ॥

यमुना—क पुन सोऽवसर. सुरमुरजशब्दस्य ? (को उण सो अवसरो सुरमुरअसद्दस्स ?)

गङ्गा—सखि ! न जानासि? गभीर ध्वनद्भि खलु सुरमुरजै किमपि गभीरमेव ध्वनितम् । (पुन सविषादम्) हा दशरथ ! सकलगुणसम्पदा भाजनं भूत्वाऽपि कथमेकस्य भाजन न जातोऽसि ?

अन्वय —सुरमुरजगभीरघोरनादद्विगुणगुणध्वनिचापदत्तहस्त पुरजननयनै कृतम् कुवलयदाम दधान रामभद्र (तामेव दिशं प्रति) जगाम ।

व्याख्या—सुरमुरजे यादि -सुराणाम् = देवानाम्, मुरजा =मृदङ्गास्तेषा यो गभीर = गम्भीरो घोरश्च नाद = ध्वनिस्तेन द्विगुण = द्विगुणीकृत , गुणस्य= ज्याया , ध्वनि = टङ्कारो यस्य तादृशो यश्चाप = धनुस्तत्र दत्त = न्यस्त , हस्त = करो येन स , पुरजननयनै = नगरनिवासिलोचनै , कृतम् = रचितम् = कुवलयदाम = नीलकमलमालाम्, निर्निमेषदृष्ट्याऽवलोकनेन पुरजननयनकुवलयैरेव रचिता मालामिति भाव । दधान = धारयन्, रामभद्र = श्रीरामचन्द्र , (तामेव दिश प्रति =वन्युजननिषिद्धामेव दक्षिणदिश प्रति) जगाम = ययौ । पुष्पिताग्रा वृत्तम् । अत्रारोप्यस्य प्रकृतार्योपयोगित्वात्परिणामालङ्कार ॥ १६ ॥

गङ्गेति । ध्वनद्भि = शब्द कुर्वद्भि । सुरमुरजै = देवाना मृदङ्गै । गभीरमेव = रहस्यमेव । ध्वनितम् = सूचितम् । सकलगुणसम्पदाम्–सकला =

देवताओं के मृदङ्गों की गम्भीर एवं धीर ध्वनि से दूनी हुई प्रत्यञ्चा की टङ्कार वाले धनुष पर हाथ रक्खे हुए (अर्थात् धनुष को हाथ में लिए), पुरवासियों के नेत्रों से बनायी गयी नीलकमलों की माला को धारण करते हुए (अर्थात् पुरवासियों के द्वारा निर्निमेष दृष्टि से देखे जाते हुए) रामभद्र चले गये ॥ १६ ॥

यमुना—देवताओं के मृदङ्गों की ध्वनि के लिए वह कौन सा अवसर (था) ?

गङ्गा—सखि ! नहीं जानती हो ? निश्चय ही गम्भीरध्वनि करते हुए

यमुना—कथं पुनः स राजा युष्माभिः प्रशस्यते येन तादृशोऽपि तनयस्तृणमिव मुक्तः ? (कहं उण सो राआ तुम्हेहिं पसंसीअदि जेण तारिसोऽवि तणओ तुणं विअ मुक्को ?)

सरयूः—शान्तं पापम् ।

नरेन्द्रः कैकेयीवचनपरिपाटीविगलितः
क्षणं मोह-क्रोध-प्रसरभरयोरन्तरचरः ।
सुतं चोरग्रस्तो मणिमिव करस्थं न कृपण-
स्तृणानीव प्राणान् पुनरयममुञ्चद्दशरथः ॥ १७ ॥

समग्रा ये गुणाः = दयादाक्षिण्यादयः, त एव सम्पदः = सम्पत्तयस्तासाम्, भाजनम् = पात्रम् । एकस्य = भाग्यवत्त्वात्मकगुणस्य ।

अन्वयः—कैकेयीवचनपरिपाटीविगलितः अयं नरेन्द्रः दशरथः क्षणम् मोह-क्रोधप्रसरभरयोः अन्तरचरः (सन्) चोरग्रस्तः कृपणः करस्थम् मणिमिव, सुतम् न, पुनः तृणानीव प्राणान् अमुञ्चत् ।

व्याख्या—कैकेयीवचनपरिपाटीविगलितः—कैकेय्याः = भरतजनन्याः, वचनपरिपाट्या = वचनक्रमेण विगलितः = च्युतः, विपण्ण इत्यर्थः अयं नरेन्द्रः = राजा, दशरथः, क्षणम् = कश्चित्कालम्, मोहक्रोधप्रसरभरयोः—मोहः = रामवनगमनाम्यर्थनाजन्यः खेदः, क्रोधः = कैकेय्या दुष्टत्वजन्यः कोपस्तयोः प्रसरः = विस्तारस्तस्य भरयोः = भारयोः, अन्तरचरः = मध्यवर्ती (सन्) चोरग्रस्तः—चोरेण = तस्करेण, ग्रस्तः = वृतः, कृपणः, करस्थम् = हस्तस्थितम्, मणिमिव =

देवों के मुवङ्गों ने कुछ गम्भीर (रहस्य) ही सूचित किया । (पुनः विषाद के साथ) हा दशरथ । सकलगुण सम्पत्तियों के पात्र होकर भी कैसे एक (भाग्यवत्ता) गुण के पात्र नहीं हुए ?

यमुना—तुम उस राजा की प्रशंसा कैसे कर रही हो जिसने वैसे भी पुत्र का तृण के समान परित्याग कर दिया ?

सरयू—पाप शान्त हो । (अर्थात् ऐसा कहना पाप है) ।

कैकेयी के बात करने के ढंग से दुःखी राजा दशरथ ने कुछ समय तक मोह (खेद) और क्रोध के प्रवाह में बहते हुए, चोर के द्वारा पकड़े गये कृपण जैसे

यमुना—अपि नाम भरतस्य नानुमतमिदम् ? (अवि णाम भरदस्स णाणुमदमिदम् ?)

सरयू —अये ! भरतस्य मातुकुलादागतस्य कैकेय्याश्च संवाद एवोत्तरं दास्यति ।

गङ्गा—कीदृशः पुनरसौ ?

सरयू —

मातस्तात क्व यातः ? सुरपतिभवनं, हा ! कुतः ? पुत्रशोकात्,
कोऽसौ पुत्रश्चतुर्णां त्वमवरजतया यस्य जातः, किमस्य ? ।
प्राप्तोऽसौ काननान्तं, किमिति? नृपगिरा, किं तयाऽसौ बभाषे ?
मद्वाग्बद्धः, फलन्ते किमिह ? तव धराऽधीशता, हा हतोऽस्मि ॥१८॥

रत्नमिव, सुतम् = पुत्रम्, राममित्यर्थः न (अमुञ्चत् = त्यक्तवान्) पुनः = किन्तु, तृणानीव, प्राणान् अमुञ्चत् = मरयजत् । यथा कश्चिच्चोरग्रस्तः कृपणः करस्थं मणिं न जहाति, प्राणांस्तु त्यजति तथैव राजा दशरथो रामं नात्यजत् किन्तु स्वजीवनमत्यजदिति भावः । उपमालङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १७ ॥

अन्वयः—मातः ! तात क्व यातः ? सुरपतिभवनम्, हा ! कुतः ? पुत्रशोकात्, असौ कः पुत्रः ? चतुर्णाम् यस्य त्वम् अवरजतया जातः, अस्य किम् ? असौ काननान्तं प्राप्तः, किमिति ? नृपगिरा, असौ तया किं बभाषे ? मद्वाग्बद्धः (सन् बभाषे) इह ते किम् फलम् ? तव धराधीशता, हा हतोऽस्मि ।

व्याख्या—मातः ! तातः = पिता, दशरथ इत्यर्थः, क्व यातः = कुत्र गतः ? इति भरतस्य प्रश्नः । सुरपतिभवनम्—सुरपतेः = इन्द्रस्य, भवनम् = गृहम्,

मुट्ठी में पकड़ी हुई मणि को (नहीं छोड़ता है, प्राणों को भले ही छोड़ देता है) ठीक उसी प्रकार राम को नहीं छोड़ा, भले ही प्राणों को छोड़ दिया ॥ १७ ॥

यमुना—क्या यह भरत से स्वीकृत नहीं था ?

सरयू—अरे ! (इसका) उत्तर तो ननिहाल से आये हुए भरत और कैकेयी का संवाद ही देगा ।

गङ्गा—यह कैसा (संवाद) था ?

सरयू—(भरतजी–) माँ ! पिता कहाँ गये ? (कैकेयी–) इन्द्र लोक को ।

स्वर्गमित्यर्थः, गत इति शेषः इति कैकेय्या उत्तरम् । हेति खेदे । कुतः = कस्मात्, पितुः स्वर्गगमने को हेतुरिति भरतस्य प्रश्नः । पुत्रशोकात्—पुत्रस्य = रामस्येत्यर्थः, शोकात् = विरहजन्यमनोदुःखादिति कैकेय्या उत्तरम् । असौ कः पुत्र—असौ कतमः पुत्रो यस्य शोकाज्जनकेन प्राणास्त्यक्ता इति भरतजिज्ञासा । चतुर्णाम् = पुत्रचतुष्टयस्य मध्ये, यस्य = रामस्येत्यर्थः, त्वम् = भरत इत्यर्थः, अवरजतया = कनिष्ठतया, जातः = उत्पन्नः, यस्तवाग्रजस्तस्य शोकात्तव पिता प्राणानत्याक्षीदिति भाव इति कैकेय्याः समाधानम् । अस्य = ममाग्रजस्य, किम् = कीदृश्यवस्था, अभूत् = समजनि, यच्छोकात् पिता प्राणांस्त्यक्तवानिति भरतस्य जिज्ञासा । असौ = राम इत्यर्थः, काननान्तं प्राप्तः = वनप्रदेशं गत इति कैकेय्याः समाधानम् । किमिति = किमर्थं, ममाग्रजो रामो वनं गत इति भरतस्य जिज्ञासा । नृपगिरा—नृपस्य = राज्ञः, दशरथस्येत्यर्थः, गिरा = वाण्या, नृपस्यादेशेनेति कैकेय्याः समाधानम । असौ = पिता, दशरथः, तथा = तेन प्रकारेण, किम् = किमर्थम्, बभाषे = भाषितवान्, इति भरतस्य प्रश्नः । मद्वाग्बद्धः—मम वाचा = वाण्या, बद्धः = संयमितः (सन् तथा बभाषे) इति कैकेय्या उत्तरम् । इह = अस्मिन् विषये, ते = तव, किं फलम् = कः परिणामः, किमुद्दिश्यैतादृशे दुष्कर्मणि त्वं प्रवृत्तेति भरतस्य प्रश्नः । तव धराधीशता = तव भूपतित्वम्, त्वं भूपतिर्भविष्यसीत्येव फलमिति कैकेय्याः प्रतिवचनम् । हेति खेदे । हतोऽस्मि = नष्टोऽस्मि, पितुः स्वर्गमने, ज्येष्ठभ्रातुर्वनवासे त्वं कारणमवगत्य भरतो नितरां विषादं गत इति भावः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ १८ ॥

(भरत—) हा ! कैसे ? (कैकेयी—) पुत्रशोक से ? (भरत—) यह कौन पुत्र है ? (कैकेयी—) चारो पुत्रों में जिससे तुम छोटे होकर पैदा हुए हो । (भरत—) इनका क्या हुआ ? (कैकेयी—) ये वन चले गये । (भरत—) क्यों ? (कैकेयी—) राजा के कहने से । (भरत—) उन्होंने वैसा क्यों कहा ? (कैकेयी—) मेरे वचनों से बँध कर । (भरत—) इसमें तुम्हारा क्या लाभ हुआ ? (कैकेयी—) तुम्हारा भूपति होना । (भरत—) हा ! मैं नष्ट हुआ ॥ १८ ॥

गङ्गा—(सहर्षम्) वत्स भरत ! भवसि रामानुजन्मा।

सरयू—

राम प्राप्ते वनान्तं कथमपि भरतश्चेतनां प्राप्य तातं
नीत्वा देवेन्द्रलोकं मुनिजनवचनादूर्ध्वदेहक्रियाभिः।
भ्रातुः शोकाभितप्तः स्वजनपरिवृतः पालयामास नन्दि-
ग्रामे तिष्ठन्नयोध्यां रघुपतिपुनरागामिभोगापवीरः ॥ १९ ॥

गङ्गेति—रामानुजन्मा—रामस्य अनुजन्मा = अनुजः, सवयाः एव राम-वदुदारहृदयोऽसीति गङ्गाभिप्रायः।

अन्वयः—रामे वनान्तम् प्राप्ते भरतः कथमपि चेतनाम् प्राप्य मुनिजन-वचनात् ऊर्ध्वदेहक्रियाभिः तातम् देवेन्द्रलोकम् नीत्वा भ्रातुः शोकाभितप्तः स्वजन परिवृतः नन्दिग्रामे तिष्ठन् रघुपतिपुनरागामिभोगापवीरः अयोध्याम् पालयामास।

व्याख्या—रामे वनान्तम् = वनप्रदेशम् प्राप्ते = गते, भरतः, कथमपि = यन केन प्रकारेण चेतनाम् = संज्ञाम् प्राप्य = लब्ध्वा, मुनिजनवचनात्—मुनि जनस्य = वसिष्ठादेरित्यर्थः वचनात् = कथनात्, ऊर्ध्वदेहक्रियाभिः = श्राद्धादिभिः, तातम् = पितरम्, देवेन्द्रलोकम् = स्वर्गम्, नीत्वा = प्रापय्य, भ्रातुः = रामस्येत्यर्थः, शोकाभितप्तः—शोकेन = वियोगजदुःखेन, अभितप्तः = पीडितः, स्वजन परिवृतः—स्वजनैः = बान्धवैः, परिवृतः = वेष्टितः, संयुक्त इत्यर्थः नन्दिग्रामे = तदाख्ययोध्यासमीपवर्तिनि नगरे, तिष्ठन् = निवसन्, रघुपतिपुनरागामिभोगा पवीरः—रघुपतेः = रामस्य पुनरागामी = भविष्यन् यो भोगः = राज्यसुखम्, तस्मात् अपवीरः = विरक्तः (भूत्वा) अयोध्यां, पालयामास = ररक्ष, शासन सूत्रं चालयामासेत्यर्थः। स्रग्धरा वृत्तम् ॥ १९ ॥

गङ्गा—(हर्ष के साथ) वत्स भरत! (सचमुच) तुम राम के छोटे भाई होते हो।

सरयू—राम के वन जाने पर किसी तरह चेतना (होश) को पाकर भरत ने मुनिजनों के वचनानुसार और्ध्वदेहिक संस्कारों (श्राद्धादि) से पिता को स्वर्ग में पहुँचा कर राम के (वियोगजन्य) शोक से सन्तप्त होते हुए, स्वजनों से संयुक्त, नन्दिग्राम में रहते हुए, राम के पुनर्भावी (राज्य) के उपभोगों से विमुख होकर अयोध्या का पालन किया (अर्थात् शासनसूत्र चलाया) ॥१९॥

यमुना—ततस्ततः ! (तदो तदो)

सरयूः—अहमेतावदेव जानामि । ततः परं तद्वृत्तान्तनिरूपणाय निजजलकमलवनवासी कोऽपि कलहंसः प्रस्थापितो मया ।

(प्रविश्य)

कलहंसः—देव्यः ! इदं नमो वः ।

तिस्रः—अयि कमलावतंस ! कलहंस ! मङ्गलमन्दिरं भव ।

गङ्गा—अये ! कथय तावद्वत्सानां मे प्रथमतः प्रभृति पथि चरितानि ।

सरयूरिति । एतावदेव = एतत्परिमाणमेव वृत्तान्तम् । तद्वृत्तान्तनिरूपणाय तस्य वृत्तान्तस्य निरूपणाय = निश्चयात्मकज्ञानाय । निजजलकमलवनवासी—निजे = स्वकीये, जले यत् कमलवनं तत्र वासी = निवसनशीलः । कलहंसः = राजहंसः । प्रस्थापितः = प्रेषितः ।

गङ्गेति । वत्सानाम् = वत्सौ = रामलक्ष्मणौ, वत्सा = सीता चेति वत्साः, ('पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः ।) तेषाम् । प्रथमतः प्रभृति = आदितः प्रभृति ।

यमुना—उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ) ?

सरयू—मैं इतना ही जानती हूँ । उसके आगे के उस वृत्तान्त को जानने के लिए मैंने अपने जल के कमलवन में रहने वाले एक कलहंस को भेजा है ।

(प्रवेश कर)

कलहंस—देवियो ! तुम लोगों को यह (मेरा) नमस्कार (है) ।

तीनों—हे कमलों के भूषण ! कलहंस ! मङ्गलमन्दिर बनो (अर्थात् तुम्हारा मङ्गल हो) ।

गङ्गा—अये (कलहंस) ! मेरे बच्चों (राम, लक्ष्मण और सीता) के मार्ग के चरितों को आरम्भ से कहो ।

हंस —

विघ्नानिवानुसरतो विनिवार्य पौरा-
नग्रे स्वयं नय इवैष जगाम रामः ।
एवं विभूतिरिव सानुजगाम सीता
तां लक्ष्मणस्तु सुखलाभ इवान्वगच्छत् ॥ २० ॥

गङ्गा—ततस्ततः ?

हंस —ततः कियत्यपि दूरे पथिकलोकेनेदमवतस्ते वत्सवर्गः.—

अन्वय —एष रामः अनुसरतः पौरान् विघ्नानिव विनिवार्य स्वयम् नय इव अग्रे जगाम । एनम् सा सीता विभूतिरिव अनुजगाम । लक्ष्मणः तु सुखलाभ इव ताम् अन्वगच्छत् ।

व्याख्या—एष = अयम्, रामः, अनुसरतः = पश्चाच्चलतः, पौरान् = नागरिकान्, विघ्नानिव = प्रत्यूहानिव, ('विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः' इत्यमरः) विनिवार्य = निषिध्य, परावर्त्येत्यर्थः, स्वयम् = आत्मना, नयः इव = नीतिरिव, अग्रे = पुरतः, जगाम । नयो यथा विघ्नान् विनिवार्य स्वयमग्रे गच्छति तथैव रामः पौरान् विनिवार्याग्रे जगामेति स्पष्टार्थः । एनम् = अग्रे गच्छन्तं रामम्, सा = प्रसिद्धा, सीता, विभूतिरिव = सम्पत्तिरिव, अनुजगाम = अनुवव्राज । यथा विभूतिर्नयमनुगच्छति तथैव सीता राममनुजगामेत्यर्थः । लक्ष्मणस्तु सुखलाभ इव, ताम्=सीताम्, अन्वगच्छत् । यथा सुखलाभो विभूतिमनुगच्छति तथैव लक्ष्मणोऽपि सीतामन्वगच्छत् । अग्रे रामो मध्ये सीता, ततः पश्चाल्लक्ष्मणश्चलति स्मेति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २० ॥

हंस—ये राम अनुसरण करते हुए नगरवासियों को विघ्नों के समान रोक कर स्वयं नय (नीति) के समान आगे बढ़े । आगे जाते हुए राम का, सम्पत्ति के समान सीता ने अनुगमन किया और सुखलाभ के समान लक्ष्मण ने सीता का अनुगमन किया ॥ २० ॥

गंगा—उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ) ?

हंस—तदनन्तर कुछ ही दूर पर तुम्हारे (गङ्गा के) वत्सों (राम, लक्ष्मण और सीता) से पथिकों ने यह कहा—

पन्थाः समः सिकतिलो मृदुशाद्वला भू-
र्वेतस्वती सरिदियं शिशिरा न दूरे ।
अग्रे चकास्ति सरसी सकुमुद्वतीयं
कादम्बकूजितकरम्बितहंसनादा ॥ २१ ॥

अन्यच्च—तरुरयमितः शीतच्छायः स्रवन्मधुशीकरः,
सरिदियमितः स्वच्छस्वल्पप्रवाहमनोहरा ।
इदमिदमितः स्निग्धामोदं मुहुर्मधुरध्वन-
न्मधुकरवधूमुग्धाभोगं वनं सरसीरुहाम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—पन्थाः समः सिकतिलः, भूः मृदु शाद्वला इयम् शिशिरा वेतस्वती सरित् न दूरे (अस्ति) । अग्रे सकुमुद्वती कादम्बकूजितकरम्बितहंसनादा इयम् सरसी चकास्ति ।

व्याख्या—पन्थाः = मार्गः, समः = निम्नोन्नतत्वरहितः, सिकतिलः = वालुकामयः (अस्ति) । 'सिकताः सन्त्यस्मिन्देशे' इति विग्रहे 'देशेलुविलचौ च' इतीलच् । भूः = पृथिवी, मृदुशाद्वला = नवघासयुक्ता (अस्ति) ('शाद्वलकोऽल्पतृणं घासः' इत्यमरः) । इयम् = एषा, शिशिरा = शीतला, वेतस्वती = वेत्रलतायुक्ता (च) सरित् = नदी, न दूरे = समीप एव (अस्ति) । अग्रे = पुरः, सकुमुद्वती = कुमुदिनी सहिता ('कुमुद्वती कुमुदिन्याम्' इत्यमरः) कादम्बकूजितकरम्बितहंसनादा—कादम्बाः=कलहंसाः, तेषां कूजितैः=शब्दैः, करम्बितः= मिलितः, हंसानाम् = साधारणहंसानाम्, नादः = शब्दः, यस्यां सा तादृशी, इयम् = एषा, सरसी = सरः, चकास्ति = शोभते । एभिर्वचनैर्मार्गस्य सुगमत्वं, पिच्छलतारहितत्वं मनोरञ्जकत्वं सुखकरत्वं च द्योतितानि । वसन्ततिलकं वृत्तम्।२१।

अन्वयः—इतः शीतच्छायः स्रवन्मधुशीकरः अयं तरुः । इतः स्वच्छस्वल्पप्रवाहमनोहरा इयम् सरित् । इतः स्निग्धामोदम् मुहुः मधुरध्वनन्मधुकरवधूमुग्धाभोगम् सरसीरुहाम् इदम् वनम् ।

व्याख्या—इतः = अस्मिन् प्रदेशे, (सार्वविभक्तिकस्तसिः) शीतच्छायः—

मार्ग समतल एवं बालुकामय (अत एव मृदु) है, भूतल नूतन मृदु घासों से आच्छादित है, यह शीतल एवं वेत्रलताओं से युक्त नदी दूर नहीं है, सामने कुमुदिनियों से सम्पन्न सरोवर शोभित हो रहा है जिसमें हंसों (साधारण हंसों) का शब्द, कलहंसों (उत्तम जाति के हंसों) के शब्दों से मिश्रित हो रहा है।२१।

और भी—इधर शीतल छाया वाला वृक्ष है, जिससे मकरन्द के कण भर रहे

गङ्गा—अहो ! अध्वभ्रमशमनानि पथिकजनवचनानि ।

यमुना—ततस्ततः । (तदो तदो)

हंस —तत्र प्रियतममनुगच्छन्ती जानकी—

शीता = शीतला छाया यस्य स, स्रवन्मधुशीकर—स्रवन्त = च्यवमाना, मधुन = मकरन्दस्य, शीकरा = कणा यस्मात्तथाभूत, अयम् = सन्निकटस्थ, तरु = वृक्ष (वर्त्तते) । इत = अस्मिन् अपरस्मिन् भाग इत्यर्थ, स्वच्छस्वल्पप्रवाहमनोहरा—स्वच्छ = निर्मल, स्वल्प = क्षीणश्च प्रवाह = जलधारा, तेन मनोहरा = रमणीया, इयम्=एषा, अविदूरे दृश्यमानेत्यर्थ, सरित्=नदी (अस्ति)। इत = अपरस्यां दिशि, स्निग्धामोदम्—स्निग्ध = प्रिय, आमोद = सुगन्धो यस्य तत्, मुहु = पुन पुन, मधुरध्वनन्मधुकरवधूमुग्धाभोगम्—मधुर यथा स्यात्तथा ध्वनन्तीभि = गुञ्जन्तीभि मधुकराणा वधूभि = भ्रमरीभि, मुग्ध = मनोहर, आभोग = विस्तार, मण्डलमित्यर्थ, यस्य तत्तादृशम् सरसीरुहाम् = कमलानाम्, इदम् = पुरो विद्यमानम्, वनम् (अस्ति) । सर्वथाऽप्य वनप्रदेश-सुखकर इति भाव । हरिणी वृत्तम् ॥ २२ ॥

गङ्गेति । अध्वभ्रमशमनानि—अध्वनि=मार्गे, मार्गविषय इत्यर्थ, यो भ्रम = दुर्गमत्वादिरूपा भ्रान्ति, तस्य शमनानि = उन्मूलकानि । पथिकजनवचनानि = पथिकजनानाम् = पान्थानाम्, वचनानि=वाक्यानि । पथिकजनवचनैरिव रामादीनां मार्गदुर्गमत्वादिरूपा भ्रान्तिनिराकृतेति भाव ।

हैं । इधर स्वच्छ एवं क्षीण धारा से मनोरम यह नदी है । इधर स्निग्ध सुगन्ध से सम्पन्न यह कमलों का वन है, जिसका मण्डल मधुर गुञ्जन करती हुई भ्रमरियों से मनोहर है ॥ २२ ॥

गङ्गा—अहो ! पथिकों के वचन मार्गविषयक (दुर्गमतारूप) भ्रम को दूर करने वाले हैं । (अर्थात् रामादि के मन में 'वनमार्ग दुर्गम होता है'—जो ऐसी भ्रान्ति थी उसे पथिकों के वचनों ने दूर कर दिया ।)

यमुना—उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ) ?

हंस—उसके बाद प्रियतम का अनुगमन करती हुई जानकी ने—

भीतं विलोक्य हरिणं करुणार्द्रचित्ता
पत्युर्निजेन पिदधे धनुरंशुकेन ।
केदारसीम्नि सदयं च यवप्ररोह-
मादाय साधु विदधे श्रवणावतंसम् ॥ २३ ॥

अन्यच्च—

तटभुवि सरसीनां सैकते निम्नगानां
परिसरमपहातुं चक्रवाकीं प्रियस्य ।
क्षणमपि न समर्थां लोलमालोकयन्ती
पथि जनकतनूजा प्राप हर्षं शुचं च ॥ २४ ॥

अन्वयः—हरिणम् भीतम् विलोक्य करुणार्द्रचित्ता (सीता) पत्युः धनुः निजेन अंशुकेन पिदधे । केदारसीम्नि च यवप्ररोहम् सदयम् आदाय साधु श्रवणावतंसम् विदधे ।

व्याख्या—हरिणम्=मृगम्, भीतम्=रामधनुषो दर्शनेन भययुतम्, विलोक्य= दृष्ट्वा, करुणार्द्रचित्ता—करुणया = दयया, आर्द्रं चित्तम् = मानसं यस्यास्तथाभूता (सीता) पत्युः = स्वामिनः, रामस्येत्यर्थः, धनुः, निजेन अंशुकेन = परिधेयवस्त्राञ्चलेन पिदधे=तिरोहितवती । केदारसीम्नि च=क्षेत्रसीमायां च, यवप्ररोहम् = यवाङ्कुरम्, सदयम् = दयापूर्वकम्, आदाय=गृहीत्वा, साधु=शोभनं यथा स्यात्तथा, श्रवणावतंसम् = कर्णभूषणम्, विदधे = चक्रे । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—सरसीनाम् तटभुवि, निम्नगानाम् सैकते (च) प्रियस्य परिसरम् क्षणमपि अपहातुम् न समर्थाम् चक्रवाकीम् लोलम् आलोकयन्ती जनकतनूजा पथि हर्षम् शुचम् च प्राप ।

व्याख्या—सरसीनाम् = सरोवराणाम्, ('कासारः सरसी सरः' इत्यमरः)

(धनुष से) डरे हुए हरिण को देखकर दयार्द्रचित्तवाली होकर पति (राम के) धनुष को अपने वस्त्र से छिपा दिया और खेतों की सीमा में यव के अङ्कुर को दयापूर्वक लेकर सुन्दर ढंग से कर्णभूषण बनाया ॥ २३ ॥

और भी—

सरोवरों के तटप्रदेश में तथा नदियों के वालुकामय पुलिन प्रदेश में प्रिय

गङ्गा—एवमनुकम्पनीयवत्सला मे जानकी। (पुन सस्नेहम्) अपि तावन् पथिकनीतिशीतलानि मे वत्साना शीलानि ?

हंस —कीदृशी पुन पथिकनीति ?

तटभुवि = तीरप्रदेशे, निम्नगानाम् = नदीनाम्, सैकते = बालुकामयपुलिनप्रदेशे च, प्रियस्य = दयितस्य, चक्रवाकस्येत्यर्थ , परिसरम् = सामीप्यम्, क्षणमपि = कञ्चिदपि कालम्, अपहातुम् = त्यक्तुम्, न समर्थाम् = न शक्ताम्, चक्रवाकीम् = कोकीम्, लोलम् = चञ्चल यथा स्यात्तथा, आलोकयन्ती = पश्यन्ती, जनकतनूजा = जनककन्या, सीतेत्यर्थ , पथि = वनगमनमार्गे, हर्षम् = चक्रवाक्या प्रियतमसामीप्यदर्शनजन्या प्रसन्नता शुच च = चक्रवाक्या रात्रौ भाविवियोगजन्य शोक च, प्राप = प्राप्तवती। एतेन सीताया भाविरामवियोग सूचित । मालिनी वृत्तम् ॥ २४ ॥

गङ्गेति। अनुकम्पनीयवत्सला-अनुकम्पनीयेपु = दयनीयेपु, वत्सला = सस्नेहा। पथिकनीतिशीतलानि-पथिकानाम् = पान्थानाम्, नीति = आचरणम्, तया शीतलानि = युक्तानीत्यर्थ ।

(चक्रवाक) के सामीप्य को क्षणभर के लिए भी छोड़ने में असमर्थ चक्रवाकी को चञ्चलता पूर्वक देखती हुई सीता मार्ग में हर्ष और शोक को प्राप्त हुई।

विमर्श—यहाँ सीता के हर्ष का कारण था—चक्रवाकी का पति (चक्रवाक) के प्रति अविचल प्रेम, तथा शोक का कारण था—चक्रवाकी का पति (चक्रवाक) से रात्रिकालीन वियोग।

यहाँ नाटककार ने चक्रवाकी की स्थिति की झाँकी प्रस्तुत कर, राम से सीता के भावी वियोग की सूचना दी है ॥ २४ ॥

गङ्गा—इस तरह मेरी जानकी दयायोग्य प्राणियों पर स्नेह करने वाली है। (पुन स्नेह के साथ) क्या मेरे बच्चों के चरित्र पथिकनीति से सुसयुक्त हैं ?

हंस—(वह) पथिकनीति कैसी (होती है) ?

गङ्गा—यावत्कर्णं तपति तपनस्तावदेव प्रयाणं,
विश्रामश्च प्रसरति रवेरंशुजाले कराले ।
यात्रोद्योगः पुनरपि रवेर्लम्बमाने विमाने,
यावन्मीलत्यथ कमलिनी तावदावासबन्धः ॥ २५ ॥

हंसः—भगवति ! अनवस्थितमिदं नित्यपथिकानाम् ।

अन्वयः—तपनः यावत् कर्णं तपति तावदेव प्रयाणम् । रवेः कराले अंशुजाले प्रसरति विश्रामः च । रवेः विमाने लम्बमाने पुनरपि यात्रोद्योगः । अथ यावत् कमलिनी मीलति तावत् आवासबन्धः ।

व्याख्या—तपनः = सूर्यः, यावत् = यावत्कालपर्यन्तम्, कर्णम् = श्रोत्रम्, तपति = सन्तप्तं करोति, तावदेव = तावत्कालपर्यन्तमेव, प्रयाणम् = गमनम् (कर्त्तव्यम्) । रवेः = सूर्यस्य, कराले = भीषणे, अंशुजाले = किरणसमूहे, प्रसरति = व्यापके (सति), विश्रामः च = प्रयाणविरामश्च । सूर्योदयादारभ्य सार्द्धमेकं प्रहरं यावद् गमनं कर्त्तव्यं परतस्तु सूर्यस्य व्योममध्यगतत्वाद्विश्रामः कर्त्तव्य इति भावः । रवेः = सूर्यस्य, विमाने = रथे, मण्डल इत्यर्थः, लम्बमाने = पश्चिमोन्मुखे, अपराह्ण इति भावः । पुनरपि = भूयोऽपि, यात्रोद्योगः—यात्रायाम् = प्रयाणे, उद्योगः = उद्यमः (कर्त्तव्यः) । अथ = अनन्तरम्, यावत् = यदेत्यर्थः, कमलिनी = कमलसमूहः, मीलति = सङ्कुचति, तावत् = तदेत्यर्थः, आवासबन्धः = निवासस्थानग्रहणं करणीयम् । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ २५ ॥

हंस इति । भगवति=गङ्गे ! नित्यपथिकानाम्=प्रतिदिनं गमनशीलजनानाम् । अनवस्थितम् = अस्थिरम् । ये प्रतिदिनमितस्ततः प्रचरन्ति तैः त्वदुक्तपान्थनीतिः पालयितुं न शक्यत इति भावः ।

गङ्गा—सूर्य जब तक कान को सन्तप्त करता है, तभी तक (अर्थात् सूर्योदय से डेढ़ प्रहर तक) यात्रा, सूर्य की भीषण किरणों का प्रसार होने पर (अर्थात् मध्याह्न में) विश्राम, तथा सूर्य के रथ के लम्बमान (अर्थात् पश्चिमोन्मुख) होने पर (अपराह्ण में) फिर से गमनोद्योग, इसके बाद जब कमलिनी सङ्कुचित होती है तब (अर्थात् सूर्यास्त के समय (रात के) निवास स्थान का प्रबन्ध (यही पथिक नीति है) ॥ २५ ॥

हंस—भगवति ! नित्य यात्रा करने वालों का यह सब अव्यवस्थित होता है।

गङ्गा—हन्त ! कथं कठोरातपस्पर्शमपि जानन्ति जानकीललिताङ्गानि ?

हंस—अलं कातरतया ।

अपि तपति पतङ्गे चण्डचण्डैर्मयूखैः
पथि जनकतनूजा नैव सन्तापमाप ।

गङ्गा—(सकौतुकम्) कथमिव ?

हंस—अपरिचितनिमेषालोकमालोकयन्ती
कुवलयदलदामश्याममङ्गं प्रियस्य ॥ २६ ॥

गङ्गेति । हन्तेति खेदसूचकमव्ययपदम् । जानकीललिताङ्गानि—जानक्या = सीतायाः, ललितानि = कोमलानि, अङ्गानि = शरीरावयवाः । कठोरातपस्पर्शम्—कठोरस्य = प्रचण्डस्य, आतपस्य स्पर्शम् = घर्मजन्यं कष्टमित्यर्थः । जानन्ति = अनुभवन्ति । हन्तेति खेदे ।

पूर्वार्द्धान्वय—चण्डचण्डैः मयूखैः पतङ्गे तपति अपि जनकतनूजा पथि सन्तापम् नैव आप ।

व्याख्या—चण्डचण्डैः = अत्युग्रैः, मयूखैः = किरणैः, पतङ्गे=सूर्ये, तपति अपि = ताप कुर्वत्यपि, जनकतनूजा = जनकपुत्री, सीतेत्यर्थः, पथि=वनगमनमार्गे, सन्तापम् = उष्णताजन्यं कष्टमित्यर्थः, नैव आप = नैव प्राप्तवती ।

उत्तरार्द्धान्वय—प्रियस्य अपरिचितनिमेषालोकम् (यथा स्यात्तथा) कुवलयदलदामश्यामम् अङ्गम् आलोकयन्ती (जनकतनूजा पथि सन्तापं नैवापेति पूर्वेण सम्बन्धः)

व्याख्या—प्रियस्य = वल्लभस्य, रामस्येत्यर्थः, अपरिचितनिमेषालोकम्—

गङ्गा—हाय ! क्या जानकी के कोमल अङ्ग कठिन घाम के स्पर्श का भी अनुभव कर रहे हैं ?

हंस—कातर होने की आवश्यकता नहीं ।

अत्यन्त प्रचण्ड किरणों से सूर्य के तपते रहने पर भी सीता जी मार्ग में सन्ताप को नहीं प्राप्त हुई ।

गङ्गा—(उत्सुकता पूर्वक) कैसे ?

हंस—प्रिय (राम) के नील कमल की पङ्खुड़ियों की माला के समान

गङ्गा—प्रियतमस्नेहशीलतया सीतया न केवलमात्मा वयमपि जीविताः ।

सरयूः—पालिताश्च ।

हंसः—

अप्युच्चण्डैस्तपनकिरणैस्तापितायां पृथिव्या-
मप्यन्येषां कठिनवपुषां दुर्गमे मार्गसीम्नि ।
प्रेमार्द्रेण प्रगुणितधृतिश्चेतसा शीतशीतान्
मेने सीता प्रियतमपदैरङ्कितान् भूमिभागान् ॥ २७ ॥

अपरिचितः = अज्ञातः, निमेषः=पक्ष्मपातः, यस्मिन् स तादृशः आलोकः=अवलोकनं यस्मिन्कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा, निर्निमेषमित्यर्थः, कुवलयदलदामश्यामम्—कुवलयस्य = नीलकमलस्य, दलानि = पत्राणि, तेषां दाम = माल्यम्, तद्वत् श्यामम् = श्यामवर्णम्, अङ्गम् = तनुम्, आलोकयन्ती = पश्यन्ती (जनकतनूजा पथि सन्तापं नैगमेति पूर्वेण सम्बन्धः) । कुवलयदलदामश्याममित्यत्रोपमाऽलङ्कारः। मालिनी वृत्तम् ॥ २६ ॥

गङ्गेति । प्रियतमस्नेहशीलतया—प्रियतमे = वल्लभे, रामे इत्यर्थः, यः स्नेहः = प्रीतिः, स एव शीलम् = स्वभावः यस्याः सा, तस्या भावस्तत्ता, तया । सीता यथोचितमाचरन्ती न केवलमात्मानं सार्थकीकृतवती, अपि तु तादृशाचरणेनास्मानपि प्रसादितवतीति गङ्गोक्तेराशयः ।

अन्वयः—अपि उच्चण्डैः तपनकिरणैः तापितायां पृथिव्याम् कठिनवपुषाम् अन्येषामपि दुर्गमे मार्गसीम्नि प्रेमार्द्रेण चेतसा प्रगुणितधृतिः सीता प्रियतमपदैः अङ्किताम् भूमिभागान् शीतशीतान् मेने ।

व्याख्या—उच्चण्डैः = अत्युग्रैः, तपनकिरणैः—तपनस्य = सूर्यस्य, किरणैः=

श्याम शरीर को निर्निमेष देखती हुई (सीता जी सन्ताप को नहीं प्राप्त हुई) ॥ २६ ॥

गङ्गा—प्रियतम में स्नेहशील होने से सीता ने केवल अपने को नहीं, हम लोगों को भी जिला लिया ।

सरयू—(इसके साथ ही) पालन भी किया है ।

हंस—अत्यन्त प्रचण्ड सूर्य की किरणों से तप्त की गयी भूमि पर कठोर

यमुना—अयि तात दिनकर ! कथं निजकुटुम्बेऽपि निष्करुणोऽसि संवृत्तः ? (अइ ताद ! दिणअर ! कहं णिअकुडुम्बेवि णिक्करुणो सि संवुत्तो)

सरयू—अयि देवि वसुधे ! कथं निजसुतायामपि सीतायामेव निर्दयासि संवृत्ता ।

गङ्गा—(विहस्य) अलमनयोरुपालम्भनेन । न खलु स्नेहानुगुणप्रवृत्तयो महाभूतवर्गस्य ।

अंशुभिः, तापितायाम्—उष्णीकृतायाम् पृथिव्याम् = भुवि कठिनवपुषाम्—कठिनम् = कठोरम्, वातातपसहत्वमिति भावः, वपुः = शरीरं येषां तेषाम् अन्येषाम् = अपरेषामपि वनचरादीनामित्यर्थः दुर्गमे = दुःसञ्चरे मार्गसीम्नि = मार्गप्रदेशे प्रणयेन = स्नेहसिक्तेन, चेतसा = हृदयेन प्रगुणितधृतिः—प्रगुणिता = वर्द्धिता धृतिः धैर्यं यस्याः सा तादृशी सीता = जानकी प्रियतमपदैः = रामभद्रचरणैः अङ्कितान् = चिह्नितान्, भूमिभागान् = भूप्रदेशान् शीतशीतान् = अतिशीतलान् मेने = अनुबभूव । अत्र भूमिभागानामतिशीतलत्वस्योपपादनाय सीतायाश्चेतसः प्रणयार्द्रत्वं प्रगुणितधृतित्वं भूमिभागानां प्रियतमपदैरङ्कितत्वं च हेतुरूपेणोपन्यस्तमिति काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते इति । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ २७ ॥

गङ्गेति । अनयोः = दिनकरवसुधयोः । महाभूतवृत्तयः—महाभूतानाम् = पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानामित्यर्थः, वृत्तयः = व्यवहाराः । स्नेहानुगुणप्रवृत्तयः—स्नेहानुगुणा—प्रणयानुकूला प्रवृत्तिः = प्रवर्तनं यासां ताः, तादृश्यः । दिनकर-

शरीर वाले अन्य लोगों के लिए भी दुर्गम मार्ग प्रदेश में स्नेहसिक्त हृदय से बढ़े हुए धैर्यवाली जानकी ने रामचन्द्र के चरणचिह्नों से अङ्कित भूभाग को शीतल से शीतल अनुभव किया ॥ २७ ॥

यमुना—अयि पिता जी सूर्य ! अपने कुटुम्ब के विषय में भी आप कैसे निर्दय हो गये हैं ?

सरयू—अयि देवि पृथिवि ! अपनी पुत्री सीता में भी ऐसी निर्दय कैसे हो गयी हो ?

गङ्गा—(हँसकर) इन दोनों को उलाहना न दो । महाभूतों (पृथिवी

हंसः—

कान्तेनाथ प्रणयमधुरं किञ्चिदाचञ्चलेन
श्रान्ता श्रान्ता जनकतनया वल्कलस्याञ्चलेन ।
चक्रे वीतश्रमजलकणस्निग्धमुग्धाननश्रीः
श्रान्तः श्रान्तः स पुनरनया लोचनस्याञ्चलेन ॥ २८ ॥

वसुधादयः स्नेहानुकूलं न प्रवर्त्तन्त इति तत्तिरस्कारेण किञ्चित्साध्य नास्तीति गङ्गोक्तेराशयः ।

अन्वयः—अथ श्रान्ता श्रान्ता जनकतनया कान्तेन किञ्चित् आचञ्चलेन वल्कलस्य अञ्चलेन प्रणयमधुरम् वीतश्रमजलकणस्निग्धमुग्धाननश्रीः चक्रे । पुनः श्रान्तः श्रान्तः सः अनया लोचनस्य अञ्चलेन (प्रणयमधुरं वीतश्रमजलकण-स्निग्धमुग्धाननश्रीः चक्रे) ।

व्याख्या—अथ = अनन्तरम् । श्रान्ता श्रान्ता = प्रव्रजनेनातिश्रान्ता, जनकतनया = सीता, कान्तेन = रामभद्रेण, किञ्चिदाचञ्चलेन = स्तोकं चलता, वल्कलस्य = परिधानीयत्वेन धृतस्य तरुत्वचः, अञ्चलेन = प्रान्तभागेन, प्रणय-मधुरम्—प्रणयेन = स्नेहेन, मधुरम् = मनोहरं यथा स्यात्तथा, सस्नेहमित्यर्थः, वीतश्रमजलकणस्निग्धमुग्धाननश्रीः—वीताः = अपसृताः, शुष्कतां नीता इत्यर्थः, श्रमजलस्य = श्रमजन्यवारिणः, प्रस्वेदस्येत्यर्थः, कणाः = बिन्दवः, तैः स्निग्धा = मसृणा, मुग्धा = मनोहरा च आननस्य = मुखस्य, श्रीः = शोभा यस्याः सा, तादृशी चक्रे = विहिता । पुनः = भूयः, श्रान्तः श्रान्तः = अतिपरिश्रान्तः, सः = प्रियतमो रामचंद्रः, अनया = सीतया, लोचनस्य = नयनस्य, अञ्चलेन = प्रान्त-भागेन, कटाक्षेणेत्यर्थः, (प्रणयमधुरं = सस्नेहमित्यर्थः, वीतश्रमजलकणस्निग्ध-मुग्धाननश्रीः—वीतश्रमजलकणैः = अपगतप्रस्वेदबिन्दुभिः, स्निग्धा मुग्धा = मनोहरा च आननश्रीः = मुखशोभा यस्य स तादृशः, चक्रे = विहितः) ।

जल, तेज, वायु और आकाश) का व्यवहार स्नेहानुकूल नहीं होता । अर्थात् ये स्नेह की परवशता से अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं ।

हंस—(मार्ग गमन से) थकी-थकी सीता को प्रिय (राम) ने कुछ चञ्चल (वस्त्र के स्थान पर धारण किये गये) वल्कल से सस्नेह (हवा कर)

गङ्गा—अहो ! विनिमयस्य कमनीयता !
यमुना—ततस्ततः ? (तदो तदो ?)
हंसः—ततः ।

प्रत्यासन्ने भवति निलये सम्प्रयाता पुरस्ता-
त्तूर्णं क्षिप्तैः कतिपयपदैश्चापमादाय हस्तात् ।
श्रान्तं कान्तं नवकिसलयैः सानुजं वीजयन्ती
जाता सीता समुचितविधिप्रक्रियावैजयन्ती ॥ २९ ॥

रामभद्रः किञ्चिद् दोलायितेन वल्कलाञ्चलेन परिश्रान्तायाः सीतायाः श्रमापनोदं कृत, सीतया च कटाक्षनिरीक्षणेन रामभद्रोऽपगतश्रमः कृत इति भावः । अत्रान्योन्याख्योऽलङ्कारः 'अन्योऽन्यमुभयोरेकक्रियायाः करणं मिथः' इति तल्लक्षणात् । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—निलये प्रत्यासन्ने भवति तूर्णम् क्षिप्तैः कतिपयपदैः पुरस्तात् सम्प्रयाता सीता हस्तात् चापम् आदाय नवकिसलयैः सानुजं श्रान्तम् कान्तम् वीजयन्ती समुचितविधिप्रक्रियावैजयन्ती जाता ।

व्याख्या—निलये = आवासस्थाने, प्रत्यासन्ने = समीपस्थे, भवति = जायमाने तूर्णम् = शीघ्रम्, क्षिप्तैः = न्यस्तैः, कतिपयपदैः = कतिपयपादप्रक्षेपैः, पुरस्तात् = अग्रे, सम्प्रयाता = गता (सती) सीता, हस्तात् = (रामस्य) करात्, चापम् = धनुः, आदाय = गृहीत्वा, नवकिसलयैः = प्रत्यग्रपल्लवैः, सानुजम् = सलक्ष्मणम्, श्रान्तम्=क्लान्तम् कान्तम्=प्रियतमं रामम्, वीजयन्ती=

सुखाये गये स्वेद बिन्दुओं से स्निग्ध एवं मनोहर मुखशोभा से युक्त कर दिया। और फिर इसी तरह थके थके रामचन्द्र को सीता ने कटाक्ष से (सस्नेह देख कर प्रस्वेदबिन्दुओं को सुखाकर स्निग्ध एवं मनोहर मुखशोभा से युक्त कर दिया ॥ २८ ॥

गङ्गा—अहो ! अदला बदली का कैसा सौन्दर्य है ?
यमुना—उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ) ?
हंस—तदनन्तर—
आवास स्थान के निकट आने पर जल्दी जल्दी रक्खे गये कुछ पगों से आगे

(पुनः सकौतुकम्) इदमन्यच्च सरसपेशलं कथयामि ते ।
जनकतनयाहस्तन्यस्तैर्मुहुर्नवपल्लवैः
शिशिरमसृणस्तत्कालं यः समेति समीरणः ।
प्रशममसुना स्वेदोद्भूतं जगाम कपोलयोः
सलिलमनयोः शोकोद्भूतं शशाम न नेत्रयोः ॥ ३० ॥

व्यजनपवनेन सेवमाना, समुचितविधिप्रक्रियावैजयन्ती—समुचितः = पतिव्रतायोग्यो यो विधिः = सदाचारविधानम्, तस्य प्रक्रिया = अनुष्ठानम्, तस्याः वैजयन्ती = पताका जाता = सम्पन्ना । आवासस्थाने समीपस्थे सति सा ता शीघ्रं तत्र समुपस्थाय पश्चादागतस्य रामस्य हस्ताद्धनुरादाय समुचितस्थाने तत् संस्थाप्य नवपल्लवैः सानुजं रामं वीजयन्ती कुलाङ्गनोचितसमुदाचारानुष्ठानेन पतिव्रतानाम-ग्रगण्या सञ्जातेति भावार्थः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ २९ ॥

अन्वयः—जनकतनयाहस्तन्यस्तैः नवपल्लवैः तत्कालं मुहुः यः शिशिरमसृणः समीरणः समेति अमुना कपोलयोः स्वेदोद्भूतम् सलिलम् प्रशमम् जगाम (किन्तु) अनयोः नेत्रयोः शोकोद्भूतम् सलिलम् न शशाम ।

व्याख्या—जनकतनयाहस्तन्यस्तैः—जनकतनयायाः = सीतायाः, हस्ते=करे, न्यस्तैः = स्थितैः, नवपल्लवैः = नूतनकिसलयैः, तत्कालम् = रामवीजनकाले, मुहुः = वारं वारम्, यः शिशिरमसृणः—शिशिरः = शीतलः, मसृणः = स्निग्धः, समीरणः = वायुः, समेति = आविर्भवति, अमुना = तादृशेन वायुना, कपोलयोः= (सानुजस्य रामस्य) गण्डस्थलयोः, स्वेदोद्भूतम् = घर्मजनितम् वारि= जलम्,

बढ़ी हुई सीता (प्रिय के) हाथ से धनुष लेकर (उसे समुचित स्थान पर रख कर) नूतन किसलयों से भाई-सहित थके हुए प्रियतम (राम) को हवा करती हुई समुचित सदाचारविधान की पद्धति की पताका बन गयीं (अर्थात् कुलाङ्गना के लिए उचित कर्त्तव्यनिर्वाह कर पतिव्रताओं में अग्रगण्य हो गयी) ॥ २९ ॥

(पुनः उत्सुकता के साथ) और यह दूसरी सरस और कोमल (बात) तुमसे कह रहा हूँ ।

सीता के हाथ में स्थित नूतन किसलयों से तत्काल बार-बार जो शीतल

अपि च—

कृत स्थाने स्थाने विहितवरिवस्यापरिकर

सुमित्रापुत्रेण श्रमशमनशीतो रघुपति ।

असावेतेनाऽपि क्षणविरहबाष्पाञ्चितदृशा

कृतालोकश्चक्रे गलितसकलायासशिशिर ॥ ३१ ॥

प्रशमम् = समाप्तिम्, जगाम = प्राप । (किन्तु) अनयो = एतयो , सीता-दुरवस्था पश्यतोरित्यर्थ , नेत्रयो = नयनयो , शोकोद्भूतम् = शोकजन्यम्, सलिलम = जलम्, अश्रु, न शशाम = न विरराम । सीतया नवकिसलयैरुपवीज्यमानस्य सानुजस्य रामस्य कपोलयो स्वेदबिन्दवोऽशुष्यन् किन्तु दुरवस्थापन्ना सीता पश्यतो नेत्रयो शोकजनित जल नाशुष्यदिति भाव । हरिणी वृत्तम् ॥३०॥

अन्वय —सुमित्रापुत्रेण स्थाने स्थाने विहितवरिवस्यापरिकर रघुपति श्रमशमनशीत कृत । असौ अपि क्षणविरहबाष्पाञ्चितदृशा एतेन कृतालोक (सन्) गलितसकलायासशिशिर चक्रे ।

व्याख्या—सुमित्रापुत्रेण = लक्ष्मणेन, स्थाने स्थाने = सर्वत्र वासस्थाने, विहितवरिवस्यापरिकर = विहित = कृत , वरिवस्यायाम् = शुश्रूषायाम्, परिकर = यत्न यस्य स , ('वरिवस्या तु शुश्रूषा' इत्यमर , 'यत्नारम्भौ परिकरौ' इति त्रिकाण्डशेष) तादृशो रघुपति = रामभद्र , श्रमशमनशीत = श्रमस्य = अध्वगमनजनितखेदस्य शमनेन = निवारणेन शीत = शीतल , सुस्थ इत्यर्थ , कृत = विहित । असावपि = लक्ष्मणोऽपि, क्षणविरहबाष्पाञ्चितदृशा—क्षणविरहात् = कार्यवशादन्यत्र गमने स्वल्पकालस्थायिनो वियोगात् समुत्पन्नो यो बाष्प = अश्रु, तेन अञ्चिते = युक्ते दृशौ = नेत्रे यस्य तेन, एतेन = रामचन्द्रेण, कृतालोक = कृत = विहित , आलोक = अवलोकन यस्य स , अव

एव स्निग्ध वायु आविर्भूत होता था, उससे (भाई सहित राम के) कपोलों पर के पसीने का जल तो सूख गया किन्तु (सीता की यह दुरवस्था देखने वाले) इनके नेत्रों में शोकजन्य जल (अश्रु) नहीं सूखा ॥ ३० ॥

और भी—

स्थान-स्थान पर लक्ष्मण ने शुश्रूषा के प्रयत्न से थकान दूर कर रामचन्द्र

सरयूः—कियता पुनरह्ना परिवर्त्तेन रघुराष्ट्रमतिक्रान्तं वत्सैः ?
हंसः—अयि कथमजानती वर्त्तसे रघूणामाधिपत्यम् ?
एते हि स्वरसावनम्रनिखिलक्ष्मापालमौलिज्वल-
न्माणिक्यस्फुरदंशुमांसलपदप्रेङ्खन्नखज्योतिषः ।
दूरोन्मुक्तचतुःसमुद्रलहरीविक्षिप्तशुक्तिस्खल-
न्मुक्तापङ्क्तिविनिर्मितैकवलयं भूमण्डलं भुञ्जते ॥३२॥

लोकितः सन्निस्यर्थः, गलितसकलयासशिशिरः = गलितः = विनष्टः, सकलः = समस्तः, आयासः = श्रमः, तेन शिशिरः = शीतलः, शान्तः सुस्थश्चेत्यर्थः, चक्रे= कृतः । लक्ष्मणः शुश्रूषया राममपगतश्रममकरोत्, रामोऽपि क्षणविरहजन्याश्रुपूर्ण नेत्राभ्यां लक्ष्मणं पश्यन् विगतश्रममकरोदिति भावः । अत्राप्यन्योन्यालङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हि स्वरसावनम्रनिखिलक्ष्मापालमौलिज्वलन्माणिक्यस्फुरदंशुमांसलपदप्रेङ्खन्नखज्योतिषः एते दूरोन्मुक्तचतुःसमुद्रलहरीविक्षिप्तशुक्तिस्खलन्मुक्तापङ्क्तिविनिर्मितैकवलयम् भूमण्डलम् भुञ्जते ।

व्याख्या—हि = यतः, स्वरसेत्यादिः—स्वरसेन = स्वेच्छया, अवनम्राः = नताः, निखिलाः = समस्ताः, ये क्ष्मापालाः = भूपतयः, तेषां मौलिषु = मुकुटेषु, ज्वलताम् = दीप्यमानानाम्, माणिक्यानाम् = रत्नानाम्, स्फुरद्भिः = भासमानैः, अंशुभिः = किरणैः, मांसलानि = समेधितानि, पदयोः = चरणयोः, प्रेङ्खन्ति = दोलमानानि, नखानाम्, ज्योतींषि = कान्तयो येषां ते, एते = रघुकुलोत्पन्ना राजानः, दूरोन्मुक्तेत्यादिः—दूरात् = विप्रकृष्टप्रदेशात् उन्मुक्ता = उत्थिताः, चतुर्णां समुद्राणां या लहर्यः = तरङ्गाः, ताभिः विक्षिप्ताः = प्रक्षिप्ता या शुक्तयः, ताभ्यः स्खलन्त्यः = पतन्त्यः या मुक्ताः = मुक्तामणयस्तासां पङ्क्तिभिः =

को शीतल कर दिया और राम ने लक्ष्मण को भी, क्षण भर के विरह में (भी) आँसुओं से पूर्ण नेत्रों से देखते हुए सारी थकान दूर कर शीतल बना दिया । ३१॥

सरयू—अच्छा कितने दिनों में बच्चों ने रघुराष्ट्र को पार किया ।

हंस—अरे ! क्या रघुवंशियों के आधिपत्य को तुम नहीं जानती हो ?

क्योंकि, स्वेच्छा से झुके हुए समस्त भूपतियों के मुकुटों में चमचमाते हुए

उत्तरकोसलास्त्रिचतुरैरेवाहोभिरतिक्रान्ता। अथ पुरमथनमौलिमालतीमाला मन्दाकिनीमचिरेण च कलिन्दगिरिकपोलमदवारिधारा कालिन्दीमप्यतिक्रान्ताः।

गङ्गा—(यमुना प्रति) सखि! तदिदं यत्कथितवत्यसि।

श्रेणीभिः, विनिर्मितम् = विरचितम्, एकम् = अद्वितीयम्, वलयम् = प्राकाररूपमण्डलं यस्य तत्तथोक्तम्, भूमण्डलम् = पृथ्वीवलयम्, भुञ्जते = पालयन्ति। रघुवंश्या राजानः आसमुद्रक्षितिं पालयन्त्यत कियता पुनरह्ना परिवर्त्तनं रघुराष्ट्रमतिक्रान्तं वत्सैरिति भवत्या न प्रत्येयमिति भावः। अत्रोदात्तालङ्कारः। तल्लक्षणं यथा—'लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते। यद्वाऽपि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत्'। इति। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३२ ॥

उत्तरकोसला इति। पुरमथनमौलिमालतीमाला—पुरमथनस्य = त्रिपुरारेः शिवस्य, मौले = शिरसः, मालतीमालाम् = मालतीस्रजम्, धावल्यात्सरलत्वाच्च मालतीमालारूपमिति भावः। मन्दाकिनीम् = गङ्गाम्। कलिन्दगिरिकपोलमदवारिधाराम्—कलिन्दो नाम गिरिरेव करी = हस्ती, तस्य कपोलयोः = गण्डस्थलयोः मदवारिधाराम् = मदजलाङ्कितम्, नीलवर्णत्वेन गजमदजलधारासदृशीमिति भावः। कालिन्दीम् = यमुनाम्।

रत्नों की मासमान किरणों से वृद्धि को प्राप्त, चरण-नखों की दमकती हुई ज्योति से सम्पन्न ये रघुवंशी राजा, दूर से उठी हुई चारों समुद्रों की लहरों से फेंकी गयी शुक्तियों (सीपियों) से निकलने वाले मोतियों की कतारों से विनिर्मित एक प्रकार (घेरा) से युक्त भूमण्डल का भोग (अर्थात् शासन करते हैं) ॥३२॥

उत्तर कोसल को तीन-चार दिनों में ही (ये लोग) पार कर गये इसके बाद शिव जी के सिर में मालती माला के समान (शोभित) मन्दाकिनी को, और कुछ ही समय में कलिन्दगिरि रूप गज के कपोल की मदजलधारा सदृश (कृष्ण वर्ण) यमुना को भी पार कर गये।

गङ्गा—(यमुना के प्रति) सखि! यह वह (बात) है जिसे तुम कह चुकी हो।

सरयूः—

तपनसुतया देव्या यद्वा भगीरथकन्यया
विपुलविपुलैर्वीचीहस्तैश्चिरादपि किं कृतम् ।
ललितलवलीभङ्गैरङ्गैर्वनं चलिता सती
जनकतनया पाणौ धृत्वा न यद्विनिवारिता ॥ ३३ ॥

गङ्गा—(विहस्य) सखि ! कथं परोक्ष इव समक्षेऽपि नितान्तमुपालम्भसे ?

यमुना—ततस्ततः ? (तदो तदो ?)

अन्वयः—तपनसुतया यद्वा देव्या भगीरथकन्यया विपुलविपुलैः वीचीहस्तैः चिरादपि किम् कृतम् ? यत् ललितलवलीभङ्गैः अङ्गैः जनकतनया वनम् चलिता सती पाणौ धृत्वा न विनिवारिता ।

व्याख्या—तपनसुतया—तपनस्य = सूर्यस्य, सुतया=कन्यया, यमुनयेत्यर्थः, यद्वा = अथवा देव्या भगीरथकन्यया = भगीरथस्य कन्यया = पुत्र्या, गङ्गयेत्यर्थः । विपुलविपुलैः = अतिविस्तृतैः, वीचीहस्तैः = तरङ्गकरैः, चिरादपि = बहुकालेनापि, किम् कृतम् = न किमपि कृतमिति काकुध्वनिः । यत् ललितलवलीभङ्गैः—ललिता = सुकोमला या लवली = लवलीलता तस्याः भङ्गैः = खण्डैः, लक्षणया लवलीपत्रखण्डसदृशैः, सुकुमारैरिति भावः । अङ्गैः = शरीरावयवैः, उपलक्षितेति शेषः । ('इत्थंभूतलक्षणे' इति तृतीया) जनकतनया—सीता, वनम् = अरण्यम् प्रति, चलिता = गन्तुं प्रवृत्ता सती, पाणौ = करे, धृत्वा = गृहीत्वा, न विनिवारिता = न निषिद्धा । अत्र तपनसुतायां भगीरथकन्यायाञ्च वीचीहस्तानां वैयर्थ्योपपादनायोत्तरार्द्धवाक्यस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः हरिणी वृत्तम् ॥

सरयू—सूर्यपुत्री (यमुना) अथवा देवी भगीरथ की कन्या (गङ्गा) ने अतिविस्तृत तरङ्ग रूप करों से बहुत समय में भी क्या किया ? (अर्थात् कुछ नहीं किया) जो सुकोमललवलीलता के खण्ड सदृश (सुकुमार) अङ्गों से (युक्त) वन को जाती हुई सीता को हाथ पकड़ कर नहीं रोका ॥ ३३ ॥

गङ्गा—(हँसकर) सखि ! सामने भी परोक्ष को तरह क्यों उलाहना दे रही हो ?

यमुना—उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ) ?

हंस—ततश्च शबरशरदलितविन्ध्यकरिकुम्भतटीविमुक्तमुक्ताफलप्रकरतारकिततीरलतावितानपरिच्छदां शर्मदां नर्मदामतीत्याचिरेण चपलकर्णाञ्चलपरिमिलित-मदकरिकपोलचलितसहचरसमागममुदित-मधुकरवधूमधुरसरसकुसुमकेसरं गोदावरीपरिसरं प्रयाताः।

यमुना—हा धिक्! हा धिक्! तत्र हि लङ्केश्वरभगिनी क्षणेन प्रमत्ता शूर्पणखा नाम राक्षसी परिभ्रमति। (हद्धि! हद्धि! तत्थ हि लङ्केसरभइणी क्खणेण पमत्ता सुप्पणहा णाम रक्खसी परिब्भमई)

हंस—इति। शबरशरेत्यादि—शबराणाम् = किरातानाम् ('किरातशबरपुलिन्दा' इत्यमरः) शरैः = बाणैः, दलिता = भिन्ना, विन्ध्यस्य=विन्ध्यगिरेः, करिणाम् = गजानां या कुम्भतट्यः = शिरःपिण्डप्रदेशाः, ताभ्यः विमुक्तः = विक्षिप्तः, मुक्ताफलप्रकरः = मौक्तिकसमूहः, तेन तारकितम् = सञ्जाततारकमिव कृतम्, तीरलतानाम् वितानम् = मण्डपः, तदेव परिच्छदः = आच्छादनम् यस्याः सा ताम्। शर्मदाम् = सुखदाम्। अतीत्य = उत्तीर्य। चपलकर्णाञ्चलेत्यादि—चपलेन = दोलायमानेन, कर्णाञ्चलेन = कर्णप्रान्तेन, परिमिलिताः = सङ्घट्टिताः, ये मदकरिणाम् = मदस्राविगजानाम्, कपोलाः = गण्डप्रदेशाः, तेभ्यः चलिताः = उड्डीय प्रत्यागताः, ये सहचराः = वल्लभाः, भ्रमरा इत्यर्थः, तेषां समागमेन = सङ्गमेन, मुदिताः = प्रसन्नाः, याः मधुकरवध्वः = मधुकराणाम् = भ्रमराणाम्, वध्वः = स्त्रियः, भ्रमर्य इत्यर्थः, ताभिः मधुरम् = माधुर्यपेशलम्, मनोहरमित्यर्थः, सरसम् = रसयुक्तम्, कुसुमकेसरम् यत्र तथाभूतम्। गोदावरीपरिसरम् = गोदावरीतटभागम्, प्रयाताः = गताः।

यमुनेति। हंसोक्तिमाकर्ण्य सविषादमाह—हा धिगिति। हा धिगिति निर्वेद-

हंस—उसके बाद किरातों के बाणों से विदीर्ण विन्ध्यगिरि के गजों के कुम्भप्रदेश से गिरे हुए मोतियों के समूह से तारों वाले (अर्थात् चित्रित) तटवर्ती लतावितान रूप आच्छादन वाली कल्याणदायिनी नर्मदा को पार कर थोड़े ही समय में चञ्चल कानों के अग्रभाग से छुए गये मदवाले हाथियों के कपोलों से उड़े हुए सहचरों (भौरों) के मिलन से प्रसन्न भ्रमरियों से मधुर एवं सरस पुष्प-केसरों से युक्त गोदावरी के तट-प्रदेश को चले गये।

यमुना—हा धिक्! हा धिक्! वहाँ तो लङ्केश्वर (रावण) की बहिन,

हंसः—अतिप्रमत्तेति वक्तव्यम्। सा हि सौमित्रिशरदलितनिज-नासिकारुधिरसीधुरसमास्वादितवती।

गङ्गा—(तदाकर्ण्य) (सातङ्कम्) किं प्रतिपन्नं जनस्याननिवासिना निशाचरचक्रेण ?

विषादयोः। वीप्सया तयोरतिशयो द्योत्यते। विषादकारणं प्रतिपादयति—तत्रेति। तत्र = गोदावरीपरिसरे। लङ्केश्वरभगिनी—लङ्काया ईश्वरः = अधिपतिः, तस्य भगिनी = स्वसा। शूर्पणखा—शूर्पवन्नखा यस्याः सा शूर्पणखा ('पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति नस्य णत्वम्) शूर्पणखाभिधेया राक्षसी क्षणेन प्रमत्ता = क्षणे मुस्या क्षणे प्रमत्तेति भावः। परिभ्रमति = विचरति।

हंस इति। शूर्पणखाविषये = 'क्षणेन प्रमत्ता' इति यमुनोक्तिं प्रतिवदन् हंस आह–अति प्रमत्तेति। 'प्रमत्ता' इत्यस्य स्थानेऽतिप्रमत्तेति वक्तव्यम्। तत्र कारणमाह-सेति। सौमित्रिशरेत्यादिः—सौमित्रेः = लक्ष्मणस्य, शरेण=बाणेन, दलिता= छिन्ना, या निजा = स्वकीया, नासिका तस्या रुधिर एव सीधुः = मदिरा, तस्य रसम् = आस्वादम्।

गङ्गेति। तदाकर्ण्य–तत्='गोदावरीपरिसरे शूर्पणखापरिभ्रमणम्, आकर्ण्य= श्रुत्वा। सातङ्कम्–आतङ्केन सह यथा स्यात्तथा, सभयमित्यर्थः, आहेति शेषः। निशाचरचक्रेण निशाचराणाम् = राक्षसानाम्, चक्रेण=समुदायेन। किं प्रतिपन्नम्= किं कृतम्। लक्ष्मणे शूर्पणखाया नासिकां कृत्तवति सति राक्षसैः किं कृतमिति गङ्गाया जिज्ञासा।

क्षण भर में मतवाली हो जाने वाली शूर्पणखा नामक राक्षसी घूमा करती है।

हंस—'अत्यन्त मतवाली'—ऐसा कहना चाहिए क्योंकि उसने तो लक्ष्मण के बाण से काटी गयी अपनी नासिका के रक्तरूपी मदिरा का पान किया।

गङ्गा—(उसे सुनकर, भय के साथ) जनस्थान के रहने वाले निशाचर समुदाय ने (तदनन्तर) क्या किया ?

हस – करकलितकराल-कुन्त-करवालकार्मुकेण निशाचरचक्रेण राम प्रति प्रचलितम।

गङ्गा—ततस्तत ?

हस —ततश्चेद विज्ञप्त सौमित्रिणा रामभद्र । आर्य ! अय मे—

नक्तञ्चरेन्द्रभगिनीसुकुमारनासा-
निर्मुक्तरक्तलवलिप्तशितैकधार ।
उत्कण्ठते कठिनराक्षसकण्ठजाना
पानाय कर्दमसृजामसृजा कृपाण ॥ २४ ॥

हस इति । करकलितेत्यादि —करे = हस्ते, कलितानि = गृहीतानि, करालानि = भयानकानि, कुन्त = प्रास, करवाल = खड्ग, कार्मुकम् = धनूंषि यानि येन स तेन।

अन्वय –नक्तञ्चरेन्द्रभगिनीसुकुमारनासानिर्मुक्तरक्तलवलिप्तशितैकधारः कृपाण कठिनराक्षसकण्ठजानाम् कर्दमसृजाम् असृजाम् पानाय उत्कण्ठते ।

व्याख्या –नक्तञ्चरेत्यादि –नक्तञ्चराणाम् = निशाचराणाम्, इन्द्रस्य = अधिपस्य, रावणस्येत्यर्थ, भगिन्या = स्वसु, शूर्पणखाया इत्यर्थ, सुकुमार-नासाया = कोमलनासिकात, निर्मुक्तम् = नि सृतम्, यद्रक्तम् = शोणितम्, तस्य लवै = कणै, लिप्ता = व्याप्ता, शिता = तीक्ष्णा, एका = अद्वितीया, धारा = अग्रभाग यस्य स तादृग, कृपाण = खड्ग, कठिनराक्षसकण्ठजानाम्–कठिना = कठोरा ये राक्षसाना कण्ठा = गलप्रदेशास्तेभ्यो जातानाम = नि सृतानामित्यर्थ, कर्दमसृजाम् = पङ्कोत्पादकानाम्, प्रवाहरूपेण वहमानानामिति भाव । असृजाम् = रुधिराणाम्, पानाय = पातुम्, उत्कण्ठते = अभिलषति। निशाचरभगिनी-

हस – हाथो में भयानक भाला, तलवार और धनुष लिये हुए निशाचर समुदाय ने राम पर धावा बोल दिया।

गङ्गा —उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ) ?

हस—तदनन्तर लक्ष्मण ने राम से यह निवेदन किया—आर्य ! यह मेरा—

राक्षसेन्द्र (रावण) की बहिन (शूर्पणखा) की कोमल नाक से निकले रक्त की बूँदों से व्याप्त तेज धारा वाला खड्ग, राक्षसों के कठोर कण्ठों से निकले

इदमुक्तञ्च रामभद्रेण—वत्स! अस्त्येतत्। प्रकृतिभीरुः खल्वबलाजनः। तेन हि जानकीसनाथगर्भां पर्णशालामेव समुत्खातकरवालः पालयतु भवान्। 'अयमहमचिरात्' इत्यर्धोक्त एव निशाचरचक्रं प्रति प्रचलितः सम्मिलितश्च।

गङ्गा:—(सत्रासम्) अनन्तरं किं वृत्तम् ?

हंसः—

अथाहूतस्तादृक्समरजयसंरम्भरभस-
प्रसर्पद्गम्भीरध्वनिगरिमगर्जद्दशदिशम्।
मुहूर्तात् सौमित्रिः····

नासिकाकर्तनानन्तरं निशाचराणां हननयाज्ञां देहीति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३४ ॥

इदमिति। वत्स! = वात्सल्यभाजन! अस्त्येतत् = त्वदुक्तिर्युक्तैवेति भावः। प्रकृतिभीरुः—प्रकृत्या = स्वभावेन भीरुः। जानकीसनाथगर्भाम्—जानक्या=सीतया, सनाथः = सहितः, गर्भः=अभ्यन्तरभागः, यस्याः सा ताम्, तादृशीम्। समुत्खातकरवालः—समुत्खातः = समुद्धृतः, कोषादिति भावः, करवालः = खड्गः, येन सः। पालयतु = रक्षतु।

अन्वयः—अथ मुहूर्तात् तादृक्समरजयसंरम्भरभसप्रसर्पद्गम्भीरध्वनिगरिमगर्जद्दशदिशम् सौमित्रिः आहूतः।

व्याख्या—अथ = युद्धार्थं निर्गते रामे, मुहूर्तात्=क्षणेन, तादृक्समरेत्यादिः—

हुए, पङ्कोत्पादक (अर्थात् प्रवाह रूप में बहते हुए रुधिर को पीने के लिए समुत्सुक हो रहा है ॥ ३४ ॥

और रामचन्द्र ने (लक्ष्मण से) यह कहा—'वत्स! यह (ठीक) है। किन्तु स्त्रियाँ स्वभावतः डरपोक होती हैं। अतः तुम (म्यान से) खड्ग निकाले हुए, सीता से युक्त भीतरी भाग वाली पर्णकुटी की रक्षा करो। 'यह मैं थोड़े समय में हो'—ऐसा आधाही कह कर राक्षस-समुदाय की ओर चल पड़े और जाकर शामिल (भी) हो गये।

गङ्गा—(भयपूर्वक) उसके बाद क्या हुआ ?

हंस—युद्ध के लिए राम के निकलने पर, थोड़ी देर में वैसे युद्ध की विजय

सरयू—तत् किं रामेण ?

हंस—नहि नहि ।

सरयू—अयि देवि भागीरथि ! त्रायस्व माम् ! नूनं निशाचरचक्रेणेति वक्ष्यति ।

हंस— विपिनचरनक्तञ्चरचमू-
वधक्रीडाकिञ्चिन्मुकुलितरुषा रामधनुषा ॥ ३५ ॥

तादृशि समरे = महति युद्धे यो जय, तस्मिन् य सरम्भरभस = क्रोधवेग ('रभसो वेगहर्षयो' इत्यमर) तेन प्रसर्पन् = व्याप्नुवन् यो गम्भीरो ध्वनि = शब्द, तस्य यो गरिमा = गौरवम्, तेन गर्जन्त्य = शब्दायमाना, दश दिशो यत्र कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा, सौमित्रि = लक्ष्मण, आहूत = आकारित ।

सरयूरिति । तत् किं रामेण ? = तादृशे महति सङ्ग्रामे निशाचरचक्रेणाच्छन्नो विपत्तिग्रस्तो रामो लक्ष्मणमाह्वयेदिति सम्भाव्य सरयूर्हंसमपृच्छत्–'तत् किं रामेण सौमित्रिराहूत' ? इति ।

हंस इति । हंसोऽपूर्णश्लोकं पूरयन्नुत्तरयति–विपिनचरेति ।

अन्वय —विपिनचरनक्तञ्चरचमूवधक्रीडाकिञ्चिन्मुकुलितरुषा रामधनुषा (सौमित्रिराहूत इति पूर्वेण अन्वय) ।

व्याख्या—विपिनचरेत्यादि –विपिनचराणाम् = अरण्यचराणाम्, नक्तञ्चराणाम् = निशाचराणाम्, या चमू = सेना, तस्या वध =मारणमेव क्रीडा=खेला, तया किञ्चित्=ईषत्, मुकुलिता=महता, रुट्=क्रोधो यस्य तत्, तेन रामधनुषा—रामस्य धनुषा=कार्मुकेण (सौमित्रिराहूत) । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३५ ॥

में कोप के आवेग से व्याप्त होने वाले गम्भीरनाद की गुरुता से दसों दिशाओं को शब्दायमान कर लक्ष्मण को बुलाया ।

सरयू—तो क्या राम ने (लक्ष्मण को बुलाया) ?

हंस—नहीं, नहीं ।

सरयू—अरी देवि भागीरथि ! मुझे बचाओ । निशाचर-समुदाय ने (बुलाया) निश्चय ही ऐसा कहेगा ।

हंस—वन में विचरने वाले राक्षसों की सेना की वध रूप क्रीडा से कम हुए क्रोध वाले, राम के धनुष ने (लक्ष्मण को बुलाया) ॥ ३५ ॥

सरयूः—दिष्टचा जीवितास्मि। सेयं प्रथमदर्शिततीव्रातपा पीयूषवृष्टिः।

यमुना—ततस्ततः? (तदो तदो?)

हंसः—ततः प्रमुदितमुनिजनशतसमुद्भूतसाधुवादश्रवणविनोदेन कतिचिदहानि नयन्ति स्म।

अथाविरासीत् कुरुविन्दलोचनो
द्रुमान्तरे विद्रुमशृङ्गशोभितः।
विभक्तमुक्तामयचित्रमण्डनो
मनोऽपहारी हरिणो हिरण्मयः॥ ३६॥

सरयूरिति। प्रथमदर्शिततीव्रातपा—प्रथमं दर्शितः, तीव्रः आतपः = तीक्ष्णः घर्मः, यस्यां तादृशी पीयूषवृष्टिः = अमृतवर्षणम्। तीव्रातपसदृश्या रामपराजयसम्भावनया विषण्णा सरयूः पीयूषवृष्टिसदृश्या रामविजयवार्तया सुप्रसन्ना जातेति भावः।

हंस इति। प्रमुदितमुनिजन—प्रमुदिताः = प्रसन्नाः, निशाचराणां संहारेणेति भावः, ये मुनिजनाः, तेषां शतं, तेन समुद्भूतः = समुत्पन्नः, दत्त इत्यर्थः, यः साधुवादः = स्तुतिपरकवचनम्, तस्य श्रवणम् = आकर्णनम्, तस्य विनोदेन।

अन्वयः—अथ कुरुविन्दलोचनः विद्रुमशृङ्गशोभितः विभक्तमुक्तामयचित्रमण्डनः मनोऽपहारी हिरण्मयः हरिणः द्रुमान्तरे आविरासीत्।

व्याख्या—अथ = गच्छत्सु कतिपयदिवसेषु, कुरुविन्दलोचनः—कुरुविन्दः = पद्मरागः, स इव लोचने = नेत्रे यस्य सः, रक्तनेत्र इत्यर्थः, विद्रुमशृङ्गशोभितः = विद्रुममयाभ्याम् = प्रवालमयाभ्याम्, शृङ्गाभ्याम् = विषाणाभ्याम्, शोभितः =

सरयू—भाग्य से जीवित हो गयी हूँ। यह तो पहिले तीव्र गर्मी दिखाने वाली अमृतवृष्टि (के समान बात हुई)।

यमुना—उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ)?

हंस—उसके बाद प्रसन्न सैकड़ों मुनिजनों के द्वारा दिये गये साधुवाद के सुनने के आनन्द से कतिपय दिन (वहाँ, उन लोगों ने) बिताया।

कुछ दिन बीतने पर पद्मराग के समान नेत्रों वाला, मूँगे की सींगोंसे

गङ्गा—(स्वगतम) नूनमयमनर्थाङकुर । (प्रकाशम) ततस्तत ।

हस —

भ्रूवल्लीविजितमनोजचारुचाप-
श्चापश्रीजितयुवतीमनोरमभ्रू ।
सीतायास्तमनुससार लोचनान्त
कान्तश्च स्फुरदसितोत्पलाभिराम ॥ ३७ ॥

सुन्दर, रक्तस्रृङ्ग इत्यय विभक्तमुक्तामयचित्रमण्डन—विभक्तानि = विभज्य स्थितानि मुक्तामयानि = मुक्तानिर्मितानि चित्राणि = विचित्राणि मण्डनानि = आभूषणानि यस्य तादृश, मनोऽपहारी = हृदयग्राही, हिरण्मय = सुवर्णमय, हरिण = मृग, द्रुमान्तरे = वृक्षाणा मध्ये, आविरासीत = कुतश्चिदागत्य सहसा प्रकटितोऽभवत् । वंशस्थ वृत्तम् ॥ ३६ ॥

अन्वय—भ्रूवल्लीविजितमनोजचारुचाप स्फुरदसितोत्पलाभिराम सीताया लोचनान्त चापश्रीजितयुवतीमनोरमभ्रू स्फुरदसितोत्पलाभिराम कान्त च तम् अनुससार ।

व्याख्या—भ्रूवल्लीत्यादि—भ्रूवल्ल्या = भृकुटिलतया विजित = तिरस्कृत, मनोजन्य = कामदेवस्य चारु = मनोरम, चाप = धनुर्येन स तादृश, स्फुरदसितोत्पलाभिराम—स्फुरत = चञ्चलम, यत असितम् = नीलम, उत्पलम् = कमलम, तद्वत अभिराम = मनोरम, सीताया, लोचनान्त = कटाक्ष, तथा च चापश्रीजितयुवतीमनोरमभ्रू—चापस्य = स्वकार्मुकस्य श्रिया=शोभया जिता = पराजिता, युवतीनाम् = तरुणीनाम, मनोरमा = मनोहरा, भ्रुव = भृकुट्यो येन स, स्फुरदसितोत्पलाभिराम—चञ्चलनीलोत्पलसुन्दर, कान्त = प्रिय, राम

शोभित, विभिन्न मुक्तानिर्मित विचित्र आभूषणो वाला, मनोहर सुवर्णमय हरिण वृक्षों की झुर-मुट में (कहीं से आकर सहसा) प्रकट हुआ ॥ २६ ॥

गङ्गा—(मन ही मन) निश्चय ही यह अनर्थ का अङ्कुर (कारण) है। (प्रकट रूप में) उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ) ?

हस—भ्रूलता से कामदेव के मनोरम धनुष को तिरस्कृत करने वाले, चञ्चल नील कमल के समान सुन्दर सीता के कटाक्ष ने तथा (अपने) धनुष की शोभा

ततः—

त्रासातुरेण हरिणेन सहैव तेन
दूरं प्रयाति हृदये जनकात्मजायाः ।
सौमित्रिराश्रमपदात्कृतचापपाणि-
र्द्राङ्निर्जगाम च, विवेश च कोऽपि भिक्षुः ॥ ३८ ॥

इत्यर्थः, च = अपि, तम् = द्रुमान्तरम् आविष्कृतं मृगम्, अनुससार=अनुदधाव। सीताया साऽभिलाषं मृगो दृष्टः, प्रियाऽभिलाषं जानता रामेणापि तत्कालमेव हननाय सोऽनुसृत इति भावः। क्रमेण प्रथमचरणं लोचनान्त इति पदस्य, द्वितीयचरणं च कान्त इति पदस्य विशेषणम्, तेनात्र यथासंख्यमलङ्कारः। तल्लक्षणं यथा—'यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्।' इति। प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥३७॥

अन्वयः—त्रासातुरेण तेन हरिणेन सहैव जनकात्मजायाः हृदये दूरं प्रयाति (सति) कृतचापपाणिः सौमित्रिः आश्रमपदात् द्राक् निर्जगाम, कोऽपि भिक्षुः च विवेश।

व्याख्या—त्रासातुरेण = भयाकुलेन, रामशराविति शेषः, तेन = पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टेन, हरिणेन सहैव = मृगेण सममेव, जनकात्मजायाः = सीतायाः, हृदये = मनसि, दूरं प्रयाति = दूरं गच्छति सति, रामस्य विपदाशङ्कया सीता हृदये-चिन्तातुरे जाते सतीति भावः। कृतचापपाणिः—कृतः = धृतः, चापः = धनुः, पाणौ = करे येन स तथोक्तः, सौमित्रिः = लक्ष्मणः, आश्रमपदात् = आश्रमस्थानात्, द्राक् = शीघ्रम्, निर्जगाम = बहिर्गतः, (तत्कालमेव) कोऽपि =

से तरुणियों की मनोहर भौंहों को पराजित करने वाले, चञ्चल नीलकमल के समान अभिराम राम (कान्त) ने उस (मृग) का अनुसरण किया। (अर्थात् सीता ने साभिलाप मृग को देखा और प्रिया के अभिलाप को जानने वाले राम ने तत्काल ही मारने के लिए उसका पीछा किया ॥ ३७ ॥

उसके बाद—

(राम के शर से) भयाकुल उस मृग के साथ ही सीता के हृदय के दूर चले जाने पर (अर्थात् राम की विपत्ति की आशङ्का से सीता के हृदय के चिन्तातुर होने पर) हाथ में धनुष लिये हुए लक्ष्मण आश्रमस्थान से शीघ्र ही

गङ्गा—ततस्ततः ?

हंसः—ततः —

इतो बाणं रामः क्षिपति हरिणे मुक्तकरुणः
सचापः सौमित्रिः स्वजनमनुयाति द्रुतमितः ।
इतः सीता भिक्षामुपनयति भिक्षोः करतले,
अथ व्योम्नि प्रेङ्खन्युगपदहमालोकयमिदम् ॥ ३९ ॥

कश्चित्, भिक्षुः = भिक्षुकः, च = अपि, विवेश = प्रविष्टः, आश्रमपदमिति शेषः । अत्र सहोक्तिरलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः—इतः रामः मुक्तकरुणः (सन्) हरिणे बाणम् क्षिपति । इतः सचापः सौमित्रिः द्रुतम् स्वजनम् अनुयाति । इतः सीता भिक्षोः करतले भिक्षाम् उपनयति । व्योम्नि प्रेङ्खन् अहम् इदम् त्रयम् युगपत् आलोकयम् ।

व्याख्या—इतः = एकस्यां दिशि, रामः = श्रीरामचन्द्रः, मुक्तकरुणः— मुक्ता = त्यक्ता, करुणा = दया येन तादृशः, निर्दयः सन्नित्यर्थः, एतेन क्षिप्यमाणस्य बाणस्यामोघत्वं द्योत्यते । हरिणे = मृगे, बाणम् = शरम्, क्षिपति = प्रहरति । इतः = अपरस्यां दिशि, सचापः = धृतधनुर्बाणहस्त इत्यर्थः, सौमित्रिः = लक्ष्मणः, द्रुतम् = शीघ्रम्, स्वजनम् = स्वबन्धुम्, राममित्यर्थः, अनुयाति = अनुसरति । इतः = इह, सीता = जानकी, भिक्षोः = याचकस्य, रावणस्येत्यर्थः, करतले=हस्ते, भिक्षाम् = याचितमन्नम्, उपनयति=समर्पयति । व्योम्नि=गगने, प्रेङ्खन् = उड्डीयमानः, अहम् = हंसः, इदम् = पूर्वोक्तम्, त्रयम् = कार्यत्रयम्, युगपत् = समकालमेव, आलोकयम् = अपश्यम् । 'व्योम्नि प्रेङ्खन्' इत्यनेन तत्र तत्र तत्तत्क्रियमाणकार्यविषयदर्शनसम्भावना द्योत्यते । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३९ ॥

बाहर चले गये (उसी समय) किसी भिक्षुक ने भी (आश्रमस्थान में) प्रवेश किया ॥ ३८ ॥

गङ्गा—उसके बाद, उसके बाद क्या हुआ ?

हंस—उसके बाद—

इधर राम निष्करुण होकर मृग पर बाण का प्रहार करते हैं, उधर लक्ष्मण शीघ्र अपने बन्धु राम का अनुसरण करते हैं और उधर सीता भिक्षुक के हाथ में भिक्षा देती हैं । आकाश में उड़ते हुए मैंने इन तीनों (कार्यों) को एक साथ देखा ॥३९॥

सरयूः—ततस्ततः ?

हंस—ततः—

कनकहरिणगात्रे बाणपातावलोकाद्
विमुखहृदयवृत्तिर्लोचने सन्निमील्य ।
कथयितुमयि ! चेदं रामवृत्तान्तजातं
सरयु ! तव तटान्तं तूर्णमेवाऽवतीर्णः ॥ ४० ॥

तदनुजानीत मां देव्यः ! सलिलावगाहनाय, श्रान्तोऽस्मि ।

अन्वयः—अयि सरयु ! कनकहरिणगात्रे बाणपातावलोकात् विमुखहृदयवृत्तिः लोचने सन्निमील्य इदम् रामवृत्तान्तजातम् कथयितुम् च तव तटान्तम् तूर्णमेव अवतीर्णः ।

व्याख्या—अयि सरयु = हे सरयु ! कनकहरिणगात्रे—कनकहरिणः = काञ्चनमृगः, तस्य गात्रे = शरीरे, बाणपातावलोकात्—बाणस्य = शरस्य पातः= प्रहारः, तस्य अवलोकात् = दर्शनात्, विमुखहृदयवृत्तिः—विमुखा = विरक्ता हृदयस्य = मनसः, वृत्तिः = व्यापारः यस्य स तथोक्तः, (अहम्) लोचने = नयने सन्निमील्य = मुद्रयित्वा, कारुण्यवशाद् रामकर्तृकशरप्रहारेण मृगवधं द्रष्टुमशक्तत्वादिति भावः । इदम् = एतत्, रामवृत्तान्तजातम् = रामचन्द्र-सम्बन्धिसमाचारसमूहम्, कथयितुम् = वक्तुम्, चेत्यनेन विलम्बाभावो द्योत्यते । तव = भवत्याः, सरय्वा इत्यर्थः, तटान्तम्, तूर्णमेव = शीघ्रमेव, अवतीर्णः = गगनादवातरम् । मालिनी वृत्तम् ॥ ४० ॥

सरयू—उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ) ?

हंस—उसके बाद—

हे सरयु ! स्वर्णमृग के शरीर पर शर-प्रहार के देखने से विमुख मनोवृत्ति वाला मैं आँखों को मूँद कर, यह रामविषयक सारा वृत्तान्त कहने के लिए आप के तट प्रदेश पर शीघ्र ही (आकाश से) उतर पड़ा हूँ ॥ ४० ॥

तो देवियो ! मुझे जलविहार के लिए अनुज्ञा दें (क्योंकि) मैं थक गया हूँ ।

विद्य—विहरास्मिन रमणीये शुचिपयसि स्मेरनीरज सरसि ।
पुरतरुणीचरणरणन्मणिनूपुरकूजितोत्कुतुक ॥४१॥
(हस प्रणम्य निष्क्रान्त)

गङ्गा—सखि सरयु ! अनेन वृत्तान्तक्रमेण कातर मे मन ।

सरयू—अल कातरतया नन्वनेन हि नूपुरोदभेदेन स्मृत मया—किल वनगमनोद्यता जानकीमिदमुक्तवती करकलितनूपुरद्वया पतिव्रता सीमन्तिनीरत्नमरुन्धती ।

अन्वय—पुरतरुणीचरणरणन्मणिनूपुरकूजितोत्कुतुक (त्वम) रमणीये शुचिपयसि स्मेरनीरज अस्मिन सरसि विहर ।

व्याख्या—पुरतरुणीत्यादि—पुरतरुणीनाम = नगररमणीनाम चरणेषु = पादेषु रणन्त = नादयमाना ये मणिनूपुरा = मणिमयमञ्जीरा तेषाम कूजितेन = झङ्कारेण उत्कुतुक—उद्गतम = जातम, कुतुकम = उत्कण्ठा यस्य स तथोक्त जातोत्कण्ठ हृदयय, (त्वम्) रमणीये = रमणयोग्य शुचिपयसि = शुचि = स्वच्छ पवित्र वा पय = जल यस्मिन् तत तस्मिन् स्मेरनीरज = स्मेराणि = विकसितानि नीरजानि = कमलानि यस्मिन् तत् तस्मिन् = पुरो दृश्यमाने, सरसि = सरोवरे, विहर = विहार कुरु । आर्या जाति ॥ ४१ ॥

गङ्गेति । कातरम = भयाविष्टम । सीताया अनिष्टसम्भावनयेति भाव ।

सरयूरिति । अल कातरतया = भय मा कुरु । नूपुरोद्भेदेन = नूपुरप्रसङ्गेन करकलितनूपुरद्वया—करे = हस्ते, कलितम् = धृतम नूपुरद्वयम = मञ्जीरयुगल यया सा । सीमन्तिनीरत्नम = स्त्रीश्रेष्ठा । पतिव्रता = वसिष्ठस्य धर्मपत्नी ।

तीनो—नगररमणियों के चरणों में रुम झुम ध्वनि करने वाले मणिनूपुरों की झङ्कार से उत्कण्ठित तुम रमणीय स्वच्छ एव पवित्र जल से परिपूर्ण, विकसित कमलों से सम्पन्न इस सरोवर में विहार करो ॥ ४१ ॥

(हस प्रणाम कर निकल गया) ।

गङ्गा—सखि सरयु ! इस वृत्तान्त के क्रम से मेरा मन कातर हो रहा है।

सरयू—कातर होने की आवश्यकता नही है क्योंकि नूपुर के इस प्रसङ्ग से मुझे स्मरण हो आया कि पतिव्रता नारियो में श्रेष्ठ अरुन्धती ने हाथ में दो नूपुर लिये हुए वनगमन के लिए प्रस्तुत जानकी से यह कहा था—

अधिचरणममू चमूरुनेत्रे ! मृदुरणितौ मणिनूपुरौ विधेहि ।
अहरपि विरहं न यन्महिम्ना हरिणदृशः सह वल्लभैर्लभन्ते ॥४२॥

कृतवती च तथा जानकी ।

गङ्गा—इदानीं किमपि निर्वृतास्मि । सत्यवादिनी हि मे सखी वसिष्ठगृहमेधिनी । तदागच्छत इमं वृत्तान्तं रघुकुलवत्सलाय सागराय निवेदयामः । (इति परिक्रामन्ति) ।

अधिचरणमिति ।

अन्वयः—चमूरुनेत्रे ! मृदुरणितौ अमू मणिनूपुरौ अधिचरणम् विधेहि । यन्महिम्ना हरिणदृशः वल्लभैः सह अहरपि विरहम् न लभन्ते ।

व्याख्या—हे चमूरुनेत्रे ! चमूरुः = मृगस्तस्येव नेत्रे = नयने यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ । मृगनयने ! सीते मृदुरणितौ = मृदु = मधुरम्, रणितम् = ध्वनिर्ययोस्तौ, अमू = एतौ, मणिनूपुरौ = मणिमयमञ्जीरौ, अधिचरणम् = पादयोः (विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः) विधेहि = कुरु, परिधत्स्वेत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—यन्महिम्नेति । यन्महिम्ना-ययोः = मणिनूपुरयोः महिम्ना = प्रभावेण, हरिणदृशः = मृगनयनाः, नार्यः, वल्लभैः सह = प्रियपतिभिः सह, अहरपि = एकं दिनमपि ('कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया) विरहम् = वियोगम्, न लभन्ते = न प्राप्नुवन्ति । अत्रोपमा वृत्त्यनुप्रासश्च । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ४२ ॥

गङ्गेति । किमपि = किञ्चित् । निर्वृता = आश्वस्ता । सत्यवादिनी = अमिथ्याभाषिणी । वसिष्ठगृहमेधिनी = वसिष्ठधर्मपत्नी, अरुन्धतीत्यर्थः । सत्यवादिन्या अरुन्धत्या अनुरोधेन नूपुरधारणात् सीताया रामेण सह वियोगो न भविष्यतीति विचिन्त्य किञ्चिदहमाश्वस्तास्मीदानीमिति गङ्गोक्तेराशयः ।

हे मृगनयने ! सीते ! मृदुध्वनि वाले इन दो मणिनूपुरों को चरणों में धारण करो, जिनके प्रभाव से सुन्दरियाँ अपने प्रियतमों से एक दिन के लिए वियोग नहीं पाती हैं ॥ ४२ ॥

और जानकी ने वैसा किया ।

गङ्गा—सम्प्रति, मैं कुछ आश्वस्त हुई (क्योंकि) मेरी सखी, वसिष्ठ की गृहिणी (अरुन्धती) सत्यवादिनी (हैं) । तो आओ इस वृत्तान्त को रघुकुल पर स्नेह रखनेवाले सागर से कहें । (ऐसा कह कर घूमती हैं) ।

गङ्गा—(सविस्मयम्) अहो ! प्रवाहवेगातिशयात्तत्क्षणादेव दूरमुपयाता स्मो यदयमदूर एव गोदावरीसहचर सागर किमपि समालपन्नालोक्यते कल्लोलिनीकान्त ।

(तत प्रविशति गोदावरीसहचर सागर)

सागर—ततस्तत ?

सरयू—कथमिहापि किमपि वृत्तान्तशेष प्रस्तूयते ?

यमुना—अपि नाम तदेव भविष्यति यत्किल हसेन नावगतम् ?
(अवि णाम त जेव्व हविस्सदि ज किर हसेण णावगदम्)

गोदावरी—तत —

गङ्गेति । सविस्मयम् = विस्मयेन = आश्चर्येण सह । अदूरस्थ समुद्रमदृष्ट्वा तदन्वेषणाय तासा दूरगमन विस्मयहेतुरिति बोध्यम् । अहो इत्याश्चर्ये । प्रवाहवेगातिशयात्—प्रवाह = धारा, तस्य वेग = तीव्रगति , तस्य अतिशयात् = आधिक्यात् । कल्लोलिनीकान्त —कल्लोलिनीनाम् = नदीनाम्, कान्त =वल्लभः, सागर इत्यर्थ ।

सागर इति । ततस्तत ? = तदनन्तर किं वृत्तमिति गोदावरी सागर अप्राक्षीदिति भाव । सरयूरिति । सागरस्य प्रागुक्त प्रश्नमाकर्ण्य सरयूराह—कथमिहापीति । अत्रापि कोऽपि घटितघटना वर्ण्यते किमिति जिज्ञासा सरय्वा ।
यमुनेति । अपि नामेति प्रश्ने । नावगतम् = न ज्ञातम् ।

गङ्गा—(विस्मयपूर्वक) अहो ! प्रवाहवेग के आधिक्य के कारण तत् क्षण ही हम लोग दूर चली आयी जबकि यह पास में ही नदीपति सागर गोदावरी के साथ स्थित कुछ बात-चीत करते हुए दिखायी पड रहे हैं ।

(तदनन्तर गोदावरी सहित सागर प्रवेश करता है) ।

सागर—उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ) ?

सरयू—क्यों, यहाँ भी किसी घटित घटना का वर्णन हो रहा है ?

यमुना—क्या, वही (बात) होगी जिसे हंस नहीं जानता ?

गोदावरी—उसके बाद—

रामोन्मुक्तैकबाणप्रणिहतहृदयः काञ्चनाङ्गः कुरङ्गः
सद्यो मारीचनामाऽजनि रजनिचरः सान्द्ररक्ताक्तवक्षाः।
भिक्षुः सोऽपि क्षणार्धान्मणिखचितचलत्कुण्डलश्रेणिशोभा-
वीचीखेलत्कपोलस्फुरितदशशिराः कुम्भकर्णाग्रजोऽभूत् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—रामोन्मुक्तैकबाणप्रणिहतहृदयः काञ्चनाङ्गः कुरङ्गः सान्द्ररक्ताक्तवक्षाः (सन्) सद्यः मारीचनामा रजनिचरः समजनि। स भिक्षुः अपि क्षणार्धात् मणिखचितचलत्कुण्डलश्रेणिशोभाखेलत्कपोलस्फुरितदशशिराः कुम्भकर्णाग्रजः अभूत्।

व्याख्या—रामोन्मुक्तैकबाणप्रणिहतहृदयः—रामेण=रामभद्रेण, उन्मुक्तः=प्रक्षिप्तः, य एकः = एकसङ्ख्यः, बाणः = शरः, तेन प्रणिहतम्=विदीर्णम्, हृदयम्=वक्षःस्थलं यस्य स तथोक्तः, काञ्चनाङ्गः = सुवर्णशरीरावयवः, कुरङ्गः = मृगः, सान्द्ररक्ताक्तवक्षाः = सान्द्रेण = गाढेन, रक्तेन = शोणितेन, अक्तम् = लिप्तम्, रञ्जितमित्यर्थः, वक्षः = वक्षःस्थलं यस्य स तादृशः (सन्) सद्यः = तत्कालम्, मारीचनामा = मारीचाख्यः, रजनिचरः = निशाचरः, समजनि = सञ्जातः, मृगकपटवेषं परित्यज्य मारीचराक्षसरूपेण परिणत इत्यर्थः। सः = रामाश्रमपदं प्रविष्टः, भिक्षुः = भिक्षुकः अपि, क्षणार्धात् = स्वल्पकालात्, मणिखचितेत्यादिः—मणिखचितानि = मणिमण्डितानि यानि चलन्ति = चलायमानानि, कुण्डलानि = कर्णाभरणानि, तेषां श्रेणिः = पङ्क्तिः, तस्याः शोभा = कान्तिरेव वीची=तरङ्गः, तस्यां खेलन्तः = क्रीडन्तः ये कपोलाः तैः स्फुरितानि = चमत्कृतानि दश शिरांसि यस्य स तथोक्तः, कुम्भकर्णाग्रजः—कुम्भकर्णः = तदाख्यो राक्षसः, तस्य अग्रजः=ज्येष्ठभ्राता, रावण इत्यर्थः, अभूत्=सञ्जातः, भिक्षुकपटवेषं परित्यज्य रावणाख्य-राक्षसरूपेण परिणत इति भावः। अत्र रूपकालङ्कारः। स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ४३ ॥

राम के द्वारा छोड़े गये बाण से विदीर्ण वक्षःस्थल वाला वह सुवर्ण मृग, प्रगाढ़ रक्त से रञ्जित वक्षःवाला (होकर) तत्काल मारीच नामक राक्षस हो गया और वह भिक्षुक भी थोड़े ही समय बाद चञ्चल कुण्डलों की शोभा-लहरियों में क्रीडा करते हुए कपोलों से प्रकाशित दश शिरों से युक्त, कुम्भकर्ण का बड़ा भाई (रावण) हो गया ॥ ४३ ॥

गङ्गा—हा ! हतास्मि (विमृश्य) अथवास्ति तन्मणिनूपुरद्वयम् ।
सागर—अपि नाम मम वधूटिका स्पृष्टा निशाचरेण ?
गोदावरी—न स्पृष्टा ।
सागर—कथमिव ?
गोदावरी—तथाहि—

रजनिचरकराग्रस्पर्शसम्पातविघ्नं
रचयितुमनसूयाहस्तदत्ताङ्गरागाम् ।
बहलमनलपुञ्जपिञ्जरज्योतिरुद्यन्
कुवलयदलशीतां संवृणोति स्म सीताम् ॥ ४४ ॥

गङ्गेति । अथवास्ति तन्मणिनूपुरद्वयम् = सीतायाश्चरणयोर्मणिनूपुरद्वयम् धृतमेवास्ति, तत्प्रभावेण सीताया किमप्यनिष्टं न भविष्यतीति न विषादः कार्य इति भावः ।

अन्वयः—रजनिचरकराग्रस्पर्शसम्पातविघ्नम् रचयितुम् अनसूयादत्तहस्ताङ्गरागाम् कुवलयदलशीताम् सीताम् बहलम् उद्यत् पिञ्जरज्योतिः अनलपुञ्जं संवृणोति ।

व्याख्या—रजनिचरकराग्रस्पर्शसम्पातविघ्नम्—रजनिचरस्य = निशाचरस्य, रावणस्येत्यर्थः, कराग्रेण = हस्ताग्रभागेन यः स्पर्शः =आमर्शनम्, तद्रूपः सम्पातः = शरीरसंयोगः, तत्र विघ्नम् = प्रत्यूहम्, रचयितुम्=विधातुम्, अनसूयाहस्तदत्ताङ्ग-

गङ्गा—हा ! मैं नष्ट हो गयी । (विचार कर) अथवा वे दो मणिनूपुर हैं (उनके प्रभाव से सीता का कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा, अतः विषाद नहीं करना चाहिए) ।

सागर—क्या मेरी प्यारी स्नुषा (सीता) का स्पर्श निशाचर (रावण) ने कर लिया ?

गोदावरी—(रावण द्वारा) उसका स्पर्श नहीं किया गया ।

सागर—कैसे ?

गोदावरी—क्योंकि—

निशाचर (रावण) के हाथ के अग्रभाग से होने वाले स्पर्शरूप शरीरसंयोग

सागरः— अहो ! अत्रिपत्न्यास्तपःप्रभावः ।

गोदावरी-ततो वरुणमन्त्रचिन्तनाहूतनूतनवलाहकाञ्चलनिचुलित-पाणिरस्पृशदेव ।

रागाम्—अनसूयया = अत्रिपत्न्या, हस्तेन = करेण, दत्तः=समर्पितः, अङ्गरागः= शरीरलेपनद्रव्यम् यस्यै सा ताम्, कुवलयदलशीताम्—कुवलयस्य = कमलस्य, दलम् = पत्रम्, तद्वत् शीताम् =(भयात्) शीतलाङ्गीम्, 'उद्यत्कुवलयदलशीताम्' इति पाठान्तरे तु उद्यत् = विकसत् यत् कुवलयं तस्य दलमिव शीतामिति बोध्यम्' सीताम् = जानकीम्, बहुलम् = अत्यर्थं यथा स्यात्तथा, उद्यन् = प्रादुर्भवन्, पिञ्जरज्योतिः—पिञ्जरम् = पिङ्गलम्, ज्योतिः = प्रभा यस्य स तादृशः, अनल-पुञ्जः = अग्निसमूहः, संवृणोति स्म = परिवेष्टितवान् । अनसूयादत्ताङ्गरागप्रभावा-त्प्रादुर्भूतेनानलेन परिवेष्टितां सीतां निशाचरः स्प्रष्टुं नाशक्नोदिति भावः । अत्रोपमालङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥ ४४ ॥

गोदावरीति । वरुणमन्त्रेत्यादिः—वरुणस्य = जलाधिष्ठातृदेवतायाः, मन्त्रः, तस्य चिन्तनेन = स्मरणेन आहूताः = आकारिताः, नूतनाः = सम्भृतसलिलाः, वलाहकाः = मेघाः, तेषाम् अञ्चलेन = अग्रभागेन, निचुलितः = आवृतः, पाणिः = हस्तः, यस्यासौ रावण इति शेषः ।

में विघ्न करने के लिए, अनसूया के हाथ से लगाये गये अङ्गरागों से सम्पन्न एवं (भय से) नीलकमल की पङ्खुड़ी के समान शीतल सीता को, अधिकता से प्रादुर्भूत पीले प्रकाशवाले अग्निपुञ्ज ने परिवेष्टित कर लिया । (अर्थात् अनसूया के दिये अङ्गराग के प्रभाव से प्रादुर्भूत अनल से परिवेष्टित सीता को निशाचर छू नहीं सका) ॥ ४४ ॥

सागर—अत्रिपत्नी (अनसूया) के तप का प्रभाव आश्चर्यजनक है ।

गोदावरी—उसके बाद वरुणमन्त्र के ध्यान से बुलाये गये जल से पूर्ण मेघों के अग्रभाग से ढके हुए हाथों वाले (रावण) ने (सीता को) छू ही लिया ।

'हा राम ! हा रमण ! हा जगदेकवीर !
हा नाथ ! हा रघुपते ! किमुपेक्षसे माम् ।'
इत्थं विदेहतनया मुहुरालपन्ती-
मादाय राक्षसपतिर्नभसा जगाम ॥ ४५ ॥

सरयू—अयि भागीरथि ! कथमस्मद्भागधेयादरुन्धतीवाचोऽपि मृषा भविष्यन्ति !

गङ्गा—नहि नहि ।

सागर—(सविषादम्) ततः ?

अन्वयः—हा राम, हा रमण, हा जगदेकवीर, हा नाथ, हा रघुपते, माम् किम् उपेक्षसे ? इत्थम् मुहुः आलपन्तीम् विदेहतनयाम् आदाय राक्षसपतिः नभसा जगाम ।

व्याख्या—हा राम ! हा रमण=प्रिय ! हा जगदेकवीर = जगति अद्वितीय-वीर ! हा नाथ ! हा रघुपते ! माम् = सीतां राक्षसेन ह्रियमाणामिति भावः, किम् = किमर्थम्, उपेक्षसे = न रक्षसीत्यर्थः, इत्थम् = अनेन प्रकारेण, मुहुः = वारं वारम्, आलपन्तीम् = विलपन्तीम्, विदेहतनयाम् = जानकीम्, आदाय = गृहीत्वा, राक्षसपतिः = रावणः, नभसा=आकाशेन, आकाशमार्गेणेत्यर्थः जगाम= गतः । अत्र प्रयुक्तविशेषणानां साभिप्रायत्वात्परिकरालङ्कारः । तल्लक्षणं यथा— 'उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः ।' इति । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४५ ॥

सरयूरिति । अस्मद्भागधेयात्–अस्माकम् = सरय्वादीनाम्, भागधेयात् = भाग्यात्, दुर्भाग्यादिति भावः ।

हा राम ! हा रमण ! (प्रिय !) हा जगत् में अद्वितीय वीर ! हा नाथ ! हा रघुपते ! मेरी क्यों उपेक्षा कर रहे हैं—इस प्रकार वारवार विलाप करती हुई जानकी—को लेकर राक्षसपति (रावण) आकाशमार्ग से चला गया ॥४५॥

सरयू—अयि भागीरथि ! क्या हमारे भाग्य (अर्थात् दुर्भाग्य) से अरुन्धती के वचन भी असत्य (सिद्ध) होंगे ?

गङ्गा—नहीं, नहीं ।

सागर—(विषाद के साथ) उसके बाद (क्या हुआ) ?

गोदावरी—ततः शैलशिखराधिवासिना विहङ्गराजेन जटायुना पन्थानमवरुध्येदमुक्तो राक्षसेन्द्रः—

आः पापिन् ! पश्यतो मे, रघुतिलकवधूं चोरवृत्त्याऽपहर्तुं
सीतां शीतांशुलेखामिव गिरिशशिरःशायिनीमुद्यतोऽसि ।
एष च्छित्त्वा शिरांसि प्रखरनखमुखैर्दीप्तचूडामणीनि
त्वामद्याहं गरुत्मानुरगमिव सुधाकाङ्क्षिणं संहरामि ॥ ४६ ॥

गोदावरीति । शैलशिखराधिवासिना—शैलशिखरम् = पर्वतस्य शृङ्गम्, अधिवसतीतितच्छीलस्तेन । एतेन जटायुकर्तृकरावणकर्मकदर्शनसम्भावना द्योत्यते ।

अन्वयः—आः पापिन् ! पश्यतः मे गिरिशशिरःशायिनीम् शीतांशुलेखामिव रघुतिलकवधूम् सीताम् चोरवृत्त्या अपहर्तुम् उद्यतः असि । एषः अहम् अद्य प्रखरनखमुखैः, दीप्तचूडामणीनि शिरांसि छित्त्वा गरुत्मान् सुधाकाङ्क्षिणम् उरगमिव त्वाम् संहरामि ।

व्याख्या—आः = क्रोधद्योतकमव्ययपदम् । पापिन् ! = परदारापहारिन्नित्यर्थः, पश्यतः = अवलोकयतः, मे = मम, जटायोरित्यर्थः, पश्यन्तं मामनादृत्येति भावः, ('षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी) गिरिशशिरःशायिनीम्–गिरिशः = शिवः, तस्य शिरःशायिनीम् = शिरोवर्तिनीम्, शीतांशुलेखामिव–शीतांशुः = चन्द्रः, तस्य लेखामिव = कलामिव, रघुतिलकवधूम्–रघुतिलकस्य = रघुश्रेष्ठस्य, श्रीरामचन्द्रस्येत्यर्थः, वधूम् = पत्नीम्, सीताम् = जानकीम्, चोरवृत्त्या = चौर्येण, अपहर्तुम्, उद्यतः = सन्नद्धः, असि । इदं तवात्यन्तनिन्दितं कर्मेति भावः । (तत्) एषः = अयम्, अहम् = जटायुः, अद्य = अस्मिन्दिने, प्रखरनखमुखैः = तीक्ष्णनखाग्रभागैः, दीप्तचूडामणीनि–दीप्ताः = भासिताः, चूडामणयः = शिरोरत्नानि, येषु तानि, (तव) शिरांसि=मस्तकानि, छित्त्वा=खण्डयित्वा, गरुत्मान्=

गोदावरी—उसके बाद शैलशिखर पर रहने वाले विहङ्गराज जटायु ने मार्ग अवरुद्ध कर राक्षसेन्द्र (रावण) से कहा—

आह पापी ! मेरे देखते हुए, शिव के शिर पर निवास करने वाली चन्द्रकला के समान रघुश्रेष्ठ (राम) की पत्नी सीता को चोरी से अपहृत करने के लिए तू उद्यत है; (तो) यह मैं आज तीक्ष्ण नखों के अग्रभागों से चमचमाती

गङ्गा—स एष नूपुरप्रसादः ।
सागर —(सहर्षम्) ततस्ततः ?
गोदावरी—
नखैस्तदीयैः कुलिशात् कठोरैर्भिन्दद्भिरङ्गानि निशाचरस्य ।
रथः सहेमाभरणो बभञ्जे न जानकीलाभमनोरथोऽस्य ॥४७॥

गरुडः, सुधाकाङ्क्षिणम् = अमृताभिलाषिणम्, उरगमिव = सर्पमिव, त्वाम् = रावणम्, संहरामि = हन्मि, सत्वरमिति भावः । सर्पः सुधामिव त्वं सीतां काङ्क्षसे चेत्तर्हि गरुडः सर्पमिव त्वामहं सत्वरं व्यापादयामीति भावः । अत्रोपमालङ्कारः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—कुलिशात् कठोरैः निशाचरस्य अङ्गानि भिन्दद्भिः तदीयैः नखैः अस्य सहेमाभरणः रथः बभञ्जे, जानकीलाभमनोरथः न (बभञ्जे) ।

व्याख्या—कुलिशात्=वज्रादपि, कठोरैः=कठिनैः, निशाचरस्य=रावणस्य, अङ्गानि = शरीरावयवान्, भिन्दद्भिः = विदारयद्भिः, तदीयैः =जटायुसम्बन्धिभिः, नखैः = नखरैः, अस्य= रावणस्य सहेमाभरणः = सुवर्णभूषणमण्डितः, रथः, बभञ्जे = भग्नोऽभूत, किन्तु जानकीलाभमनोरथः—जानकी = सीता, तस्याः लाभः = प्राप्तिः, तस्य मनोरथः = अभिलाषः, न (बभञ्जे = भग्नोऽभूत्) । जटायुनखैर्विदारिताङ्गो भग्नरथश्चापि सन् रावणः सीतालाभमनोरथं नात्याक्षीदिति भावः । 'अस्य रथो बभञ्जे, न जानकीलाभमनोरथः' इत्यत्र परिसंख्यालङ्कारः । उपजातिवृत्तम् ॥ ४७ ॥

चूडामणियों वाले तेरे शिरों को छिन्न भिन्न कर जैसे गरुड़ ने अमृत चाहने वाले सर्प को (मारा था, वैसे ही) तेरा संहार करता हूँ ॥ ४६ ॥

गङ्गा – यह वही नूपुर का प्रसाद है ।

सागर—(हर्ष पूर्वक) उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ) ?

गोदावरी—वज्र से (भी) कठोर (अतएव) निशाचर (रावण) के अङ्गों को विदीर्ण करने वाले उस (जटायु) के नखों से इस (रावण) का सुवर्णभूषणभूषित रथ भग्न हो गया किन्तु जानकी प्राप्ति का अभिलाष नहीं भग्न हुआ (अर्थात उसने रथ भङ्ग होने पर भी सीताप्राप्ति के मनोरथ को नहीं छोड़ा) ॥ ४७ ॥

सागरः—ततः ?

गोदावरी—ततश्च निशितनखनिस्त्रिंशनिर्घातभैरवे समरसंरम्भे संभ्रमकातरायां रावणैककरस्थितायां जानक्याम्—

तस्याः क्वणन् किमपि नूपुर एक एव
क्रन्दन्निवातिकरुणं चरणात् पृथिव्याम् ।

गङ्गा—हा ! अधुना निराशाः स्मः ।

गोदावरीति । निशितनखनिस्त्रिंशनिर्घातभैरवे-निशितानाम् = तीक्ष्णानाम्, नखानाम् = नखराणाम् जटायुष इति भावः, निस्त्रिंशस्य = खड्गस्य, रावणस्येति भावः, निर्घातेन = परस्परप्रहारेण भैरवे = भयङ्करे । समरसंरम्भे= समरस्य = युद्धस्य, संरम्भे = आरम्भे । सम्भ्रमकातरायाम्—सम्भ्रमेण = भयेन कातरायाम् = विह्वलायाम् ।

अन्वयः—किमपि क्वणन् तस्याः एकः एव नूपुरः अतिकरुणम् क्रन्दन् इव चरणात् पृथिव्याम् (पपातेति उत्तरार्द्धपदेन सम्बन्धः) ।

व्याख्या—किमपि = किञ्चित्, क्वणन्=शब्दायमानः, तस्याः = सीतायाः, एक एव = केवल एव, नूपुरः = मञ्जीरः, अतिकरुणम्, क्रन्दन्निव = रुदन्निव, सीताचरणवियोगादिति भावः । चरणात् = पादात्, पृथिव्याम् = भूमौ, पपात = अपतत् ।

सागर—उसके बाद (क्या हुआ) ?

गोदावरी—और तब तीखे नखों और खड्ग के घात-प्रतिघात से भयङ्कर युद्ध के प्रारम्भ होने पर, रावण के एक हाथ में स्थित जानकी के भयाकुल होने पर कुछ अव्यक्त शब्द करता हुआ, उन (जानकी) का एक ही नूपुर (सीता के चरण से बिछुड़ते होने के कारण) अतिकरुण क्रन्दन करता हुआ-सा चरण से पृथिवी पर''''''

गङ्गा—हाय ! अब हम सब निराश हो गयीं ।

गोदावरी—

आस्तिष्ठ तिष्ठ निहतोऽसि खलेति जल्पन्
दूराज्जटायुरपि खड्गहत पपात ॥ ४ ॥

सागर—हा वत्से जानकि ! अधुना नीताऽसि निशाचरेण (इति मूर्च्छति)।

गङ्गा—उपसृत्याशुकान्तेन वीजयन्ती) अये रघुकुलतिलक ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

सागर—कथमिह गङ्गापि ।

गङ्गा—यमुनासरय्वौ च ।

आस्तिष्ठेति ।

अन्वय—आ तिष्ठ तिष्ठ ! खल ! निहत असि इति जल्पन् जटायु अपि खड्गहत' (सन्) दूरात् (पृथिव्याम्) पतात ।

व्याख्या—आ = क्रोधसूचकमव्ययपदम् । तिष्ठ तिष्ठ (सम्भ्रमे द्विरुक्ति) खल = हे दुष्ट ! निहत असि = शीघ्रमेव निहतो भविष्यसीत्यथ , इति = इत्थम्, जल्पन् = ब्रुवाण , जटायु अपि खड्गहत = खड्गेन, रावणस्येति भाव , हत = व्यापादित सन्, दूरात् = विप्रकृष्टप्रदेशात्, (पृथिव्याम् = भूमौ) पपात = अपतत् । अत्र पूर्वार्द्धे उत्प्रेक्षाऽलङ्कार । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ४८ ॥

गोदावरी—आह ! दुष्ट ! ठहर ! ठहर ! 'तू मारा गया' ऐसा कहता हुआ जटायु भी (रावण के) खड्ग से व्यापादित होकर दूर से (पृथिवी पर) गिर पड़ा ॥ ४८ ॥

सागर—हा पुत्रि जानकि ! सम्प्रति तुम्हें राक्षस ले गया (ऐसा कहकर मूर्च्छित होता है)।

गङ्गा—(समीप जाकर वस्त्राञ्चल से हवा करती हुई) अये रघुकुल-श्रेष्ठ (सागर) धैर्य रखो, धैर्य रक्खो ।

सागर—कैसे, यहाँ गङ्गा भी (आ गयी) ?

गङ्गा—यमुना और सरयू (भी आ गयी हैं)।

सागरः - तन्मां मिलिताः सर्वा एव धारयत। अयमहं हतोऽस्मि शोकस्रोतसा।

गङ्गा—अलमतिकातरतया, यतः—

प्रायो दुरन्तपर्यन्ताः सम्पदोऽपि दुरात्मनाम्।
भवन्ति हि सुखोदर्का विपदोऽपि महात्मनाम्॥ ४९॥

सरयूः—सखि! गोदावरि! अपि जानासि नूपुरवृत्तान्तम्?

गोदावरी—अथ किम्? कथितमेव वनदेवतया—'तमादाय कोऽपि कपिः ऋष्यमूकसम्मुखं गतः' इति।

सागरः—रामभद्रस्य तु को वृत्तान्तः?

अन्वयः—हि दुरात्मनाम् सम्पदः अपि प्रायः दुरन्तपर्यन्ताः, महात्मनाम् विपदः अपि सुखोदर्काः भवन्ति।

व्याख्या—हीति निश्चये। दुरात्मनाम् = दुष्टानाम्, रावणसदृशानामिति भावः। सम्पदः = सम्पत्तयः, अपि, प्रायः = बाहुल्येन; दुरन्तपर्यन्ताः—दुरन्तः = दुष्परिणामः, पर्यन्तः = चरमसीमा यासां ताः तादृश्यः, परिणामे दुःखदायिन्यः, महात्मनाम् = साधुजनानाम्, रामसदृशानामिति भावः, विपदोऽपि=विपत्तयोऽपि, सुखोदर्काः—सुखम् = कल्याणम्, उदर्कः = उत्तरफलं यासां ताः, परिणामे कल्याणकारिण्य इत्यर्थः, भवन्ति = जायन्ते। अतः कातरता परित्याज्येति भावः। अनुष्टुब्वृत्तम्॥ ४९॥

सागर—तो सभी मिलकर मुझको संभालो। यह मैं शोक प्रवाह से (अब) मरा ही हूँ।

गङ्गा—अत्यन्त कातर नहीं होना चाहिए। क्योंकि—

निश्चय ही (रावण जैसे) दुरात्माओं की सम्पत्तियाँ भी परिणाम में दुःखद होती हैं एवं (राम जैसे) महात्माओं की विपत्तियाँ भी परिणाम में कल्याणप्रद होती हैं॥ ४९॥

सरयू—सखि! गोदावरि! क्या, नूपुर का वृत्तान्त (भी) जानती हो?

गोदावरी—और क्या? वनदेवता ने कहा ही है—'उसे लेकर कोई वानर ऋष्यमूकपर्वत की ओर चला गया।'

सागर—रामचन्द्र का क्या समाचार है?

गोदावरी— रामभद्रोऽपि सीताविरहविह्वल सौमित्रिणा धार्यमाणस्तामेव दिश प्रतस्थे।

(नेपथ्ये)

सखि ! कालिन्दि ! वधसे ।

यमुना— का पुनरिमानि सूचीशलाकाविद्धानि मम नखान्यलक्तकरसेन सिञ्चति ? (का उण इमाइ सूईसलाआविद्धाइ महं णहाइं अलत्तअरसेणसिञ्चदि)।

(प्रविश्य)

तुङ्गभद्रा—जयतु जयतु नदीनाथ ।

सागर —कथ पुनर्वर्धते कालिन्दी।

तुङ्गभद्रा— भ्रातु सुग्रीवस्य चक्रवर्तिपदलाभेन ।

यमुना—इदानीं चन्दनचण्डातपलिप्यमानपार्श्वयुगला वर्ते (दाणि चन्दणचण्डातवलिम्पन्तपासजुअला वट्टामि ।

यमुनेति । चन्दनचण्डातपलिप्यमानपार्श्वयुगला —चन्दनेन = मलयजरसेन, चण्डातपेन = दु सहसूर्यातपेन च लिप्यमान पार्श्वयुगल यस्या सा तादृशी । वर्ते= अवतिष्ठे । भ्रातु सुग्रीवस्य राज्यावाप्तिश्चन्दनलेपसदृशी सुखप्रदा, सीताहरण-

---

गोदावरी—रामचन्द्र भी सीता के वियोग में विह्वल, लक्ष्मण के द्वारा सभाले गये रामचन्द्र भी उसी दिशा की ओर गये ।

(नेपथ्य में)

सखि ! यमुने ! भाग्यशालिनी हो ।

यमुना—यह कौन है जो मेरे, सुई की नोक से बिंधे नाखूनों को लाक्षारस से सिक्त कर रही है (अर्थात् मुझ दुखिया को और दु खी बना रही है ।)

(प्रवेश कर)

तुङ्गभद्रा—नदीनाथ (सागर) की जय हो, जय हो !

सागर— तो यमुना क्यों कर सौभाग्यशालिनी है ?

तुङ्गभद्रा—(अपने) भाई सुग्रीव को चक्रवर्ती पद मिलने से ।

यमुना—सम्प्रति मेरे एक पार्श्व भाग (पसलियों वाले भाग) में चन्दन

सागरः—कथं पुनर्वालिपालितापि कपिराजलक्ष्मीः सुग्रीवमनु-सङ्क्रान्ता ?।

तुङ्गभद्रा—कथमद्यापि वालिकथा ?

सागरः—कथमिव ?

तुङ्गभद्रा—ननु नूपुरप्रदानविश्वासितेन रामचन्द्रेणात्मानं सुग्रीवं च समर्पयता हनुमता तथा व्यवसितं यथा—

सहेलं हत्वैनं हरिणमिव हैमं रघुपतिः
कपीनां साम्राज्ये प्रणतमभिषिञ्चन् रविसुतम् ।
अपि ध्वंसात् सख्युर्नृपतिमपचक्रे पलभुजा-
मपि प्रीतं चक्रे निजकुलगरिष्ठं दिनकरम् ॥ ५० ॥

वृत्तान्तश्च रविप्रखरातपसदृशो दुःखप्रदः। अतः सम्प्रति युगपद्धर्षं विषादं चानुभवामीतिभावः।

अन्वयः—रघुपतिः एनम् हैमम् हरिणमिव सहेलम् हत्वा, कपीनाम् साम्राज्ये प्रणतम् रविसुतम् अभिषिञ्चन्, सख्युः ध्वंसात् पलभुजाम् नृपतिमपि अपचक्रे, निजकुलगरिष्ठम् दिनकरम् अपि प्रीतम् चक्रे।

व्याख्या—रघुपतिः=श्रीरामचन्द्रः, एनम् = वालिनमित्यर्थः, हैमम् हरिणमिव = सुवर्णमृगरूपधारिणं मारीचमिवेत्यर्थः, सहेलम् = सलीलम्, अनायासमित्यर्थः, हत्वा = व्यापाद्य, कपीनाम् साम्राज्ये = वानराधिपत्ये, प्रणतम् = चरणावनतम्, रविसुतम् = सूर्यपुत्रम्, सुग्रीवमित्यर्थः, अभिषिञ्चन् = अभिषिक्तं

और दूसरे में चन्दन का लेप किया जा रहा है—ऐसी अवस्था में वर्त्तमान हूँ। (अर्थात् हर्ष और विषाद का एक साथ अनुभव कर रही हूँ।

सागर—अच्छा, वालि, से पालित (होती हुई) भी वानर-राजश्री सुग्रीव में कैसे संक्रान्त हो गयी ? (अर्थात् वालि से अधिकृत भी वानरों का आधिपत्य सुग्रीव को कैसे मिल गया ?)।

तुङ्गभद्रा—कैसे, आज भी वालि की चर्चा (आप कर रहे हैं) ?

सागर—क्यों ?

तुङ्गभद्रा—नूपुर दिये जाने से विश्वसित रामचन्द्र ने, और अपने-आप को तथा सुग्रीव को (राम के चरणों में) समर्पित करने वाले हनुमान् ने, ऐसा

सागर —ततः किं वृत्तम् ?

तुङ्गभद्रा—ततः सुग्रीवेणापि —

परिम्लानां मालामिव ललितसौरम्यरहिता-
मपि स्थाने स्थाने विचिनुत वधूटीं दिनमणेः ।
इति स्वैनैवोक्ता कुमुदनलनीलाङ्गदमुखा
हनूमत्संयुक्ता दिशि दिशि नियुक्ताः कपिभटाः ॥५१॥

सुहृदः सख्युः = मित्रस्य रावणमित्रस्य वालिन इत्यर्थः, ध्वंसात् = विनाशात्, पलभुजाम्—पलम = मांसम्, भुञ्जन्तीति पलभुजः = मांसभक्षिणः, राक्षसा इत्यर्थः, तेषाम् नृपतिमपि = राजानमपि, रावणमपीत्यर्थः, अपचक्रे = अपकृतवान् निज-कुलगरिष्ठम् = निजकुलस्य गरिष्ठम् = श्रेष्ठम् प्रवर्तकमिति भावः, दिनकरमपि = सूर्यमपि, प्रीतम् = प्रसन्नम्, चक्रे = कृतवान् । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ५० ॥

अन्वय —परिम्लानाम् मालामिव ललितसौरम्यरहितामपि दिनमणेः वधूटीम् स्थाने स्थाने विचिनुत इति स्वेनैव उक्ताः हनूमत्संयुक्ताः कुमुदनलनीलाङ्गदमुखाः कपिभटाः दिशि दिशि नियुक्ताः ।

व्याख्या—परिम्लानाम् = शुष्कतां गताम्, मालामिव = पुष्पमालामिव, ललितसौरम्यरहितामपि—ललितम् = मनोहरं यत् सौरम्यम् = सौन्दर्यम्, मालापक्षे सुगन्धः तेन रहितामपि = विहीनामपि, दिनमणेः = सूर्यस्य वधूटीम् = स्नुषाम्, सीतामित्यर्थः, स्थाने स्थाने = प्रतिस्थानम्, (वीप्सायां द्विरुक्तिः) विचिनुत = गवेषयत, इति = इत्थम्, स्वेनैव = आत्मनैव, सुग्रीवेणैवेत्यर्थः, उक्ताः = आदिष्टाः हनूमत्संयुक्ताः = हनूमत्सहिताः कुमुदनलनीलाङ्गदमुखाः =

उद्योग किया कि—रघुपति (श्रीरामचन्द्र) ने इस (वालि) को सुवर्णमृग की (ही) तरह लीलापूर्वक (अनायास) मार कर, वानरों के साम्राज्य पर (चरणों में) प्रणत सूर्यपुत्र (सुग्रीव) को अभिषिक्त करते हुए (रावण के) मित्र (वालि) के विनाश से राक्षसराज (रावण) का भी अपकार किया और (सुग्रीव को राज्य देने से) अपने कुल प्रवर्तक सूर्य को भी प्रसन्न किया ॥५०॥

सागर—उसके बाद क्या हुआ ?

तुङ्गभद्रा—उसके बाद सुग्रीव ने भी—

सूखी हुई पुष्पमाला के समान मनोहर सौरम्य (१ सौन्दर्य, २-सुगन्ध)

सागरः—इदानीमुज्जीवितोऽस्मि ।

गोदावरी—किं भवानेव ? नन्विदानीमखिलोऽपि जीवितो जनः ।

सागरः—एवमेतत्–सकलजनमनःसाधारणो हि रामचन्द्रमाधुरी । नन्विहैव पश्य—

नेदीयसी हि सरयूस्तपनोद्भवेयं
भागीरथीयमुदयः सगरान्ममापि ।
इत्यन्वयाद्रघुकुले यदि पक्षपात-
स्तद्वत्सला किमिति वामपि चित्तवृत्तिः ॥ ५२ ॥

कुमुदनलनीलाङ्गदप्रभृतयः, कपिभटाः = वानरवीराः, दिशि दिशि = प्रतिदिशम् (वीप्सायां द्विरुक्तिः) नियुक्ताः = प्रेरिताः, प्रेषिता इत्यर्थः । प्रथमचरणेऽत्रोपमा-ऽलङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ५१ ॥

सागर इति । सकलजनमनःसाधारणो–सकलानां जनानां मनःसु = हृदयेषु साधारणी = समानादरा । रामचन्द्रमाधुरी–रामचन्द्रस्य माधुरी = स्वभावसौन्दर्य-मित्यर्थः । रामचन्द्रे सकलजनानां चित्तवृत्तिः स्नेहशालिनीति भावः ।

अन्वयः—हि सरयूः नेदीयसी, इयम् तपनोद्भवा, इयम् भागीरथी, ममापि सागरात् उदयः । इति अन्वयात् रघुकुले पक्षपातः यदि, वामपि चित्तवृत्तिः किमिति तद्वत्सला ?

व्याख्या—हि यतः, सरयूः, नेदीयसी = अतिशयसमीपस्था (अस्ति)

से रहित भी सूर्य की प्रियवधू (स्नुषा अर्थात् सीता) की स्थान-स्थान में खोज करो–इस प्रकार अपने द्वारा (सुग्रीव के द्वारा) आदिष्ट हनुमान समेत कुमुद नल-नील-अङ्गद आदि वीर वानरों को दिशा-दिशा में भेजा ॥ ५१ ॥

सागर—अब मैं जीवित हो गया ।

गोदावरी—क्या आप ही ? इस समय निश्चय ही सब के सब लोग जीवित हो गये ।

सागर—यह ठीक है; अवश्य ही रामचन्द्र का माधुर्य (स्वभाव सौन्दर्य सब जनों के मन में एक समान है (अर्थात् रामचन्द्र के प्रति सबके हृदय में समान आदर है) । अरे, यहीं देखो—

क्योंकि सरयू अत्यन्त समीप (अयोध्या के परिसर में ही) रहती है, यह

(ऊर्ध्वमवलोक्य, सविस्मयम)

विलासैर्दम्भोलेर्दलितगरुत सर्वगिरय ,
स चैको मैनाक पयसि मम मग्नो निवसति ।
अये ! कोऽयं शैल स्फुरदमितगव्यूतिमहिमा
हिमाद्रिर्विन्ध्यो वा लघुतरगतिर्लङ्घयति माम ॥५३॥

इयम् = एषा, यमुनेत्यर्थ , तपनोद्भवा = सूर्यपुत्री (अस्ति), इयम् = एषा, गङ्गेत्यर्थ , भागीरथी = रामपूर्वजभगीरथादुत्पन्ना, भगीरथेन स्वर्गादानीतेति भाव , ममापि = मम सागरस्यापि, सगरात् = सूर्यकुलोत्पन्नसगरो नाम भूपाल , तस्मात, उदय = उत्पत्ति । इति = इत्थम्, अन्वयात् = समानकुलसम्बन्धात, रघुकुले = रघुवंशे, रामचन्द्र इति भाव , पक्षपात = आदराधिक्यम्, यदि = चेत् (तर्हि) वामपि = युवयो , गोदावरीतुङ्गभद्रयोरपीत्यर्थ , सर्वथा सम्बन्धरहितयोरपीति भाव , चित्तवृत्ति = मनोवृत्ति , किमिति = किमर्थम्, तद्वत्सला— तस्मिन् = रघुकुले, राम इत्यर्थ , वत्सला = स्नेहशालिनी । सवथाऽसम्बद्धयोर्युव योर्गोदावरीतुङ्गभद्रयोरपि रामे स्नेहदर्शनात्प्रतीयते रामचन्द्रमाधुरी सकलजनमन साधारणीति । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ५२ ॥

अन्वय —सर्वगिरय , दम्भोले विलासै दलितगरुत । स च एक मैनाक मम पयसि मग्न निवसति । अये । स्फुरदमितगव्यूतिमहिमा लघुतरगति हिमाद्रि , विन्ध्य वा क अयम् शैल माम् लङ्घयति ।

व्याख्या—सर्वगिरय = सर्वे पर्वता , दम्भोले = अशने , ('दम्भोलिरशा-

(यमुना) सूर्य की पुत्री है, यह (गङ्गा), (राम के पूर्वज) भगीरथ से उत्पन्न है (अर्थात् भगीरथ के द्वारा स्वर्ग से लायी गयी है, मेरी (सागर की) भी (सूर्यकुलोत्पन्न राजा) सगर से उत्पत्ति हुई है, अत एव इस प्रकार (एक) कुल (के होने) के कारण रघुवंश में (अर्थात् रामचन्द्र में) यदि पक्षपात (है, तो) तुम दोनों (गोदावरी और तुङ्गभद्रा) की भी चित्तवृत्ति उन (रामचन्द्र) में क्यों (इतनी) स्नेहयुक्त है ? ॥ ५२ ॥

(ऊपर की ओर देखकर, आश्चर्य के साथ)

वज्र के विलासों ने (अर्थात् वज्र ने) सब पर्वतों के पक्ष काट दिये हैं,

तदागच्छत, निरूपयामस्तावत्कोऽयमिति ?

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति पञ्चमोऽङ्कः ।

मिद्वयोः' इत्यमरः) विलासैः=लीलाभिः, दलितगरुतः = निर्भिन्नपक्षाः (सन्ति) अतस्तेषु नैवास्ति कोऽपीति भावः । स च = अलूनपक्षो यो वर्तते तादृश इति भावः, एकः = केवलः, मैनाकः = मैनाको नाम पर्वतः, मम = सागरस्य, पयसि = जले, मग्नः (सन्) निवसति, अतस्तस्यापि न सम्भावनेति भावः । अये ! = आश्चर्यद्योतकमव्ययपदमिदम् । सर्वेषां गिरीणां निर्भिन्नपक्षता, अलूनपक्षस्य मैनाकस्य च समुद्राभ्यन्तर एव निवासश्चाश्चर्यहेतुः । स्फुरदमितगव्यूतिमहिमा— स्फुरन् = प्रकाशमानः, दृश्यमान इत्यर्थः, अमितगव्यूतिमहिमा = अपरिमितक्रोशद्वयविस्तारः, यस्य सः, अमितक्रोशद्वयविस्तारशोभित इत्यर्थः, ('गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्' इत्यमरः) लघुतरगतिः—लघुतरा = अतिशयवेगवती, गतिः = गमनं यस्य सः, हिमाद्रिः = हिमालयः, विन्ध्यः = विन्ध्यगिरिः, वा = अथवा, कः = कतर इत्यर्थः, अयम् = दृश्यमानः, शैलः = गिरिः, माम् = सागरमित्यर्थः, लङ्घयति = अतिक्रामति । अत्र सन्देहालङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ५.३ ॥

इति विभाख्यायां प्रसन्नराघवव्याख्यायां पञ्चमोऽङ्कः ।

और वह एक मैनाक (जो अभी तक पंख-युक्त है) मेरे जल में डूबा हुआ निवास करता है (अतः यह, वह हो नहीं सकता) । आश्चर्य है कि अपरिमित दो कोसों के विस्तार से युक्त अत्यन्त शीघ्रगामी हिमालय अथवा विन्ध्यगिरि, यह कौन सा पर्वत मुझे लाँघ रहा है ॥

तो आओ, भलीभाँति देखें कि यह कौन है ?

(इस प्रकार सब निकल गये)

इस प्रकार 'विभा' नामक 'प्रसन्नराघव' की हिन्दी व्याख्या में पाँचवाँ अङ्क समाप्त हुआ ।

अथ षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशतो रामलक्ष्मणौ)

राम — सौमित्रे ! ननु सेव्यतां तरुतलं, चण्डांशुरुज्जृम्भते,

लक्ष्मण — चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते ! चन्द्रोऽयमुन्मीलति ।

राम — वत्सैतद्, विदितं कथं नु भवता ?

अन्वय — ननु सौमित्रे ! चण्डांशुः उज्जृम्भते तरुतलम् सेव्यताम् ।

व्याख्या—सीताविरहाद्रामश्चन्द्रमसं सूर्यं मत्वा लक्ष्मणं प्रत्याह—**सौमित्रे** इति । नन्वित्यनुमतीकरणेऽव्ययपदम् । सौमित्रे = लक्ष्मण ! चण्डांशुः = सूर्यः, उज्जृम्भते = सवर्धते उपतीत्यर्थः (अतः) तरुतलम्=वृक्षाधो देशः सेव्यताम्= आश्रीयताम् तापापनोदायेति भावः ।

लक्ष्मणो रामस्य भ्रान्तिं दूरीकर्तुं परमार्थमाह—**चण्डांशोरिति** ।

अन्वय —रघुपते ! निशि चण्डांशोः का कथा ? अयम् चन्द्रः उन्मीलति ।

व्याख्या—रघुपते = रघुनाथ ! (श्री रामचन्द्र !) निशि = रात्रौ चण्डांशोः = सूर्यस्य, का कथा = का वार्ता ? कथं रात्रौ सूर्योदयसम्भावनेति भावः । अयम् = यं भवान् सूर्यं मन्यते सोऽयं चन्द्रः उन्मीलति = उदेति ।

रामस्तापभवानुभवं लक्ष्मणोक्तौ च विश्वासमकुर्वन् पुनः पृच्छति—**वत्सेति** ।

अन्वय —वत्स ! भवता एतत् कथं विदितम् नु ।

व्याख्या—वत्स ! = लक्ष्मण ! भवता = त्वया एतत् = चन्द्र एवायं, न तु सूर्य इति भावः, कथम् = केन प्रकारेण, विदितम् = ज्ञातम् इति वितर्के ।

(तदनन्तर राम और लक्ष्मण प्रवेश करते हैं)

राम—हे लक्ष्मण ! सूर्य तपने लगा (अतः) वृक्ष के नीचे बैठो ।

लक्ष्मण—रघुपते ! रात में सूर्य की क्या बात (है) ? यह चन्द्रमा उदित हो रहा है ।

राम—वत्स ! तुमने क्या कर यह जाना (कि यह चन्द्रमा निकल रहा है) ?

लक्ष्मणः—धत्ते कुरङ्गं यतः,

रामः—

क्वासि प्रेयसि ! हा कुरङ्गनयने ! चन्द्रानने ! जानकि ! ॥ १ ॥

(पुनर्विलोक्य) हन्त ! सन्तापेन प्रतारितोऽस्मि । कथमयं गगनतलाधिरोही रोहिणीहृदयनन्दनश्चन्द्रः ।

लक्ष्मणः स्वपक्षे प्रमाणभूतं तर्कमुपन्यस्यति—धत्त इति ।

व्याख्या—यतः = यस्मात् कारणात्, कुरङ्गम् = मृगम्, धत्ते = धारयति अतश्चन्द्र एवायमिति भावः ।

अत्र लक्ष्मणोक्तौ कुरङ्गपदं श्रुत्वा कुरङ्गनयनायाः सीतायाः स्मरन् रामो विलपति–क्वासीति ।

अन्वयः—हा प्रेयसि ! कुरङ्गनयने ! चन्द्रानने ! जानकि ! क्व असि ?

व्याख्या—हेति खेदद्योतकमव्ययपदम् । प्रेयसि = प्रिये ! कुरङ्गनयने—कुरङ्गस्य = मृगस्य नयने = नेत्रे, तद्वन्नयने यस्यास्तत्सम्बुद्धौ, जानकि = सीते ! (त्वम्) क्व = कुत्र, असि = वर्त्तसे ।

अत्र सादृश्याच्चन्द्रे सूर्यबुद्ध्या भ्रान्तिमान् अलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा–'साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः ।' इति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १ ॥

पुनर्विलोक्येति । चन्द्रमिति शेषः । चन्द्रं निपुणं निरीक्ष्य, अयं चन्द्र एव, न सूर्य इति तत्त्वं विज्ञाय रामः खेदं प्रकाशयन्नाह—हन्तेति । हन्तेति खेदद्योतकमव्ययपदम् । प्रतारितः = वञ्चितः ।

मदनोद्दीपकस्य चन्द्रस्य, सूर्यस्येव सन्तापकत्वात् सूर्यत्वेन ज्ञातवानिति भावः । गगनतलाधिरोही = गगनतलम् अधिरोहतीति तच्छीलः । कथमित्याश्चर्यद्योतकमव्ययपदमत्र, चन्द्रे सूर्यबुद्धेराश्चर्यहेतुत्वात् । रोहिणीहृदयनन्दनः—रोहिणी = दक्षकन्या चन्द्रवधूश्च, तस्या हृदयनन्दनः = चित्तप्रसादकः ।

लक्ष्मण—क्योंकि यह मृग को धारण कर रहा है ।

राम—हा प्रिये ! मृगनयने ! चन्द्रमुखि ! जानकि ! तुम कहाँ हो ?

(पुनः देख कर) हाय ! सन्ताप (गर्मी) के कारण मैं धोखे में पड़ गया । क्या यह आकाशतल में चढ़ने वाला, रोहिणी के हृदय को आनन्द देने वाला चन्द्र है ।

(चन्द्र प्रति)

रजनिकर ! करास्ते बान्धवा कैरवाणां
सकलभुवनचेष्टाजागरूका जयन्ति ।
कथयसि न कथं तत्कुत्र सा जानकी मे
त्वमसि मृगसहायः, किन्नु नक्तञ्चरोऽसि ॥ २ ॥

लक्ष्मण —(स्वगतम्) कथमयमभिपन्नतरङ्गस्तरलीकरोत्यार्यमानसम् ? तदन्यतो नयामि । (प्रकाशम्) आर्य ! अयमितो विलोक्यतां चपलचञ्चुपुटाचान्तशीतकरशीकरश्चकोरः ।

अन्वय —रजनिकर ! कैरवाणाम् बान्धवा सकलभुवनचेष्टाजागरूका ते करा जयन्ति । तत् सा मे जानकी कुत्र ? (इति) कथम् न कथयसि त्वम् मृगसहाय असि, किम् नक्तञ्चर असि ? नु ।

व्याख्या—रजनिकर = चन्द्र ! कैरवाणाम् = कुमुदानाम्, बान्धवा =सुहृद , तद्विकासकत्वादिति भाव । सकलभुवनचेष्टाजागरूका —सकलस्य = समग्रस्य, भुवनस्य = जगत , चेष्टासु = प्रवृत्तिषु, जागरूका =सावधाना , सकलजगत्प्रवृत्तिज्ञातार , 'आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च । अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्' इति वचनप्रामाण्यादिति भाव । ते = तव, करा = किरणा , जयन्ति = सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते, तत् = तस्मात्, सकलभुवनचेष्टाजागरूकत्वादिति भाव । सा = प्रसिद्धा, मे = मम, प्राणप्रियेति शेष , जानकी = सीता, क्व=कुत्र, 'आस्ते' इति शेष , (इति) कथम्=कस्मात्, न कथयसि = मा न विज्ञापयसि, त्वम् = चन्द्र , मृगसहाय = मृगसहित असि, तस्मात्, किं नक्तञ्चर = किं राक्षस , असि, न्विति वितर्के । मालिनी वृत्तम् ॥२॥

लक्ष्मण इति । लक्ष्मणो रामदशां विलोक्य मनस्यचिन्तयत्–कथमिति । अभिपन्नतरङ्ग—अभिपन्न = अकस्मादागतो दु खाभिघात , तस्य तरङ्ग =

(चन्द्र से) चन्द्र ! सकल जगत् की प्रवृत्तियों को जानने वाली, तुम्हारी किरणें (सर्वत्र अभिव्यापक होने से) सर्वोत्कृष्ट हैं, तो वह मेरी (प्राणप्रिया) सीता कहाँ है ? यह तुम क्यों नहीं बताते हो ? तुम मृग साथ में लिये हो, (अत) क्या तुम (भी) राक्षस हो ? ॥ २ ॥

लक्ष्मण—(मन ही मन) क्या, अकस्मात् प्राप्त दु खाभिघात की लहर

रामः—(चकोरं प्रति)

तन्मे विदेहतनयावदनं निवेद्य
भ्रातश्चकोर ! कुरु मां चरितार्थवृत्तिम् ।
पीता यदीयकमनीयकपोलकान्तिः
कान्तासखेन भवता शशिनं विहाय ॥ ३ ॥

विवृद्धिः, आर्यमानसम् = आर्यस्य = श्रीरामचन्द्रस्येत्यर्थः, मानसम् = हृदयम्, तरलीकरोति = चञ्चलीकरोति । चपलेत्यादिः—चपलेन = चञ्चलेन, चञ्चुपुटेन आचान्ताः = पीताः, शीतकरस्य = हिमांशोः, चन्द्रस्येत्यर्थः, शीकराः = बिन्दवः, अमृतस्येति भावः, येन सः ।

अन्वयः—भ्रातः ! चकोर ! कान्तासखेन भवता शशिनम् विहाय यदीयकमनीयकपोलकान्तिः पीता तत् विदेहतनयावदनम् मे निवेद्य माम् चरितार्थवृत्तिम् कुरु ।

व्याख्या—भ्रातः = हे बन्धो ! चकोर ! कान्तासखेन = प्रियासहचरेण, स्वप्रियासहितेनेत्यर्थः, भवता = त्वया, शशिनम्=चन्द्रमसम्, विहाय = त्यक्त्वा, उपेक्ष्येत्यर्थः, यदीयकमनीयकपोलकान्तिः—यदीयः = यस्य सम्बन्धी, सीतावदनस्येत्यर्थः, कमनीयः = मनोहरः, यः कपोलः = गण्डप्रदेशः, तस्य कान्तिः, पीता= आचान्ता, अनेन चन्द्रापेक्षया सीतावदनस्य सौन्दर्याधिक्यं व्यज्यते । तत्=तादृशम्, विदेहतनयावदनम्—विदेहतनया = सीता, तस्याः वदनम् = मुखम्, मे = मह्यम्, निवेद्य = विज्ञाप्य, माम् = रामम्, चरितार्थवृत्तिम् = चरितार्था=सफला, वृत्तिः= जीवितं यस्य सः, तादृशम्, कुरु । अत्रोपमेयस्य सीतावदनस्योपमानाच्चन्द्रादाधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकालङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३ ॥

आर्य (श्रीरामचन्द्र) के मन को चञ्चल बना रही है, तो (इनके मन को) दूसरी ओर आकृष्ट करता हूँ । (प्रकट रूप में) आर्य ! इधर चञ्चल चोंच से चन्द्रमा के अमृतबिन्दुओं को पीने वाले चकोर को देखिए ।

राम—(चकोर से)

बन्धो ! चकोर ! अपनी प्रिया के सहित तुमने चन्द्रमा की उपेक्षा कर जिस (सीता-मुख) के कमनीय कपोलों की कान्ति का पान किया था, सीता के उस मुख को मुझे बता कर सफल जीवन बनाओ ॥ ३ ॥

लक्ष्मण —आर्य ! इयमितो विलोक्यतां शरत्कृशा निशाकरकिरणानुकारितरङ्गा तरङ्गिणी ।

राम —(विलोक्य)

कल्लोलिनि ! त्वमिव सापि कुरङ्गनेत्रा
नूनं किमप्यनुदिनं कृशिमानमेति ।
एतावदस्ति भवतीह निसर्गशीता,
सीता पुनर्वहति कामपि तापमुद्राम् ॥ ४ ॥

लक्ष्मण इति शरत्कृशा—शारदा = शरदृतुकालेन कृशा = स्वल्पतोमेत्यर्थः । निशाकरकिरणानुकारितरङ्गा—निशाकरस्य, किरणाननुकुर्वन्तीति चन्द्रकिरणानुकारिण, चन्द्रकिरणसदृशास्वच्छा इत्यर्थः, तरङ्गा = लहर्य, यस्या सा, तादृशी । तरङ्गिणी = नदी ।

अन्वय —कल्लोलिनि ! नूनम् त्वमिव कुरङ्गनेत्रा सा अपि अनुदिनम् किमपि कृशिमानमेति । इह एतावत् अस्ति । भवती निसर्गशीता, पुन सीता कामपि तापमुद्राम् वहति ।

व्याख्या—कल्लोलिनि = हे नदि ! नूनम् = अवश्यम्, त्वमिव कुरङ्गनेत्रा= मृगनयना, 'तरङ्गनेत्रा' इति पाठान्तरे तु, नदीपक्षे-तरङ्गा एव नेत्राणि यस्याः सा, सीतापक्षे तरङ्गवत् (चञ्चले इति भाव) नेत्रे यस्या सेति विग्रहो बोध्य । साऽपि = प्राणप्रिया सीतापि, अनुदिनम् = प्रतिदिनम्, किमपि = अनिर्वचनीयम् यथा स्यात्तथा, कृशिमानम्—कृशस्य भाव कृशिमा, तम्, सीतापक्षे दौर्बल्यम्, नदीपक्षे स्वल्पजलत्वम्, एति = प्राप्नोति । त्व वर्षाकालापगमेन प्रतिदिन कार्श्यमुपैपि, सीताऽपि मद्वियोगेन प्रतिदिन कार्श्यमुपैति । इह = युवयो सादृश्ये, एतावत् = एतत्परिमाणम्, अन्तरमिति शेष , अस्ति = वर्तते (यत्) भवती = नदी, निसर्गशीता—निसर्गेण = स्वभावेन, शीता = शीतला, सततजलमयदेहत्वा-

लक्ष्मण—आर्य ! इधर शरद्-ऋतु (के आगमन) से दुर्बल, चन्द्रमा की किरणों के समान (स्वच्छ) तरङ्गों वाली इस नदी को देखिए ।

राम—(देखकर)

हे सरित् ! निश्चय ही तुम्हारी तरह, मृगनयना वह सीता भी प्रतिदिन

लक्ष्मणः—इतो विलोक्यतामनिद्रनीलनलिनीवनविलीनोऽयमलिनी-नाथः ।

रामः—(विलोक्य) अये कोऽयं विहङ्गः ?

उन्मीलन्नयनान्तकान्तिलहरीनिष्पीतयोः केवला-
दामोदादवधारणीयवपुषोः कान्तासखेन क्षणम् ।
यत्कर्णोत्पलयोः स्थितेन भवता किञ्चित्समुद्गुञ्जितं
भ्रातस्तिष्ठति कुत्र तत्कथय मे कान्तं प्रियाया मुखम् ॥५॥

दिति भावः । पुनः = किन्तु, सीता कामपि = अनिर्वचनीयाम्, तापमुद्राम् = सन्तापचिह्नम्, वहति = धारयति । वर्षाकालवियोगजनितकार्श्यसम्पन्ना त्वमिव सा सीताऽपि कार्श्यमेति, किन्तु त्वं स्वभावशीतला, सीता तु मद्विरहजनितसन्तापं वहन्तीदमेव तवापेक्षया सीताया आधिक्यमिति रामोक्तेराशयः । अत्रोपमानादुपमेयस्य सन्तापहेतुकोत्कर्षप्रतिपादनाद्व्यतिरेकोऽलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥४॥

लक्ष्मण इति । अनिद्रनीलनलिनीवनविलीनः—अनिद्रम्=प्रफुल्लम्, नीलम्= नीलवर्णम्, यन्नलिनीवनम् = कुमुदिनीसमुदायः, तस्मिन् विलीनः = अनुरक्तः, मकरन्दपानलोभादिति भावः । अलिनीनाथः = भ्रमरीपतिः, भ्रमर इत्यर्थः ।

अन्वयः—उन्मीलन्नयनान्तकान्तिलहरीनिष्पीतयोः केवलात् आमोदात् अवधारणीयवपुषोः यत्कर्णोत्पलयोः स्थितेन कान्तासखेन भवता क्षणम् किञ्चित् समुद्गुञ्जितम्, हे भ्रातः तत् मे प्रियायाः कान्तमुखम् कुत्र तिष्ठति (इति) कथय ।

व्याख्या—उन्मीलन्नयनान्तकान्तिलहरीनिष्पीतयोः—उन्मीलती =विकसती ये नयने = नेत्रे, तयोः अन्तौ = प्रान्तभागौ, कटाक्षावित्यर्थः, तयोः कान्तिः =

अनिर्वाच्यरूप से कृशता को प्राप्त कर रही है, तुम दोनों के सादृश्य में केवल इतना अन्तर है कि तुम स्वभावतः शीतल हो, किन्तु सीता अनिर्वचनीय सन्ताप के चिह्न को धारण करती है (अर्थात् मेरे विरह से सन्तप्त है) ॥ ४ ॥

लक्ष्मण—इधर प्रफुल्लकुमुदिनीवन में (मकरन्द पान के लोभ से) अनुरक्त भ्रमर को देखिए ।

राम—(देखकर) अरे ! यह कौन पक्षी है ?

विकसित कटाक्षों की आभातरङ्ग से आच्छादित, सुगन्ध से ही पहिचाने

लक्ष्मण — (सातङ्कम्) अपीम न विलोकयेदार्य ?

राम —(विलोक्य) अये ! कोऽयं विहङ्ग ?

भाभा, तस्यां लहरी = तरङ्ग , प्रसार इत्यर्थ , तया निष्पीतयो =कान्ते नीलिम्ना प्रच्छादितयोरित्यर्थ ,केवलात = एकस्मात, आमोदात् = सुगन्धात्, एवेत्यवधारणे, अवधारणीयवपुषो —अवधारणीयम् = निर्णेतु शक्यम्, अभिज्ञेयमित्यर्थ , वपु = शरीरम्, सत्तेत्यर्थ , ययोस्तयो , कर्णोत्पलयो = कर्णभूषणीकृतनीलकमलयो , स्थितेन, कान्तासखेन = प्रियासहचरेण, प्रियासहितेनेत्यर्थ भवता = त्वया, भ्रमरेणेत्यर्थ , क्षणम् = कञ्चित्काल यावत्, किञ्चित् = अनिर्वचनीयम्, समुद्गुञ्जितम् = मधुर शब्दायितम्, भ्रात = बन्धो ! तत् = पूर्वपरिचितम्, मे = मम, प्रियाया = सीताया , कान्तम् = सुन्दरम्, मुखम् = वदनम्, कुत्र, तिष्ठति = वर्तते (इति) कथय = विज्ञापय । अत्र सीतानयनयो प्रसरन्त्या नीलकान्त्या कर्णभूषणभूतनीलकमलयोर्गोपनप्रतिपादनान्मीलितमलङ्कार । तल्लक्षण यथा— 'मीलित वस्तुनो गुप्ति केनचित्तुल्यलक्ष्मणा । इति । अत्र सत्यप्येवमामोदात्स्पृष्टप्रतीतेरभिधानादुन्मीलितमलङ्कार इति केचिदाहु । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५ ॥

लक्ष्मण । सातङ्कम्—आतङ्केन सहेति सातङ्कम् = सभयम् । प्रियावियुक्त चक्रवाकमिम विलोक्य राम सीतावियोगजनितव्यथाभिनितरा पीडितो भवेदिति लक्ष्मणस्याऽऽतङ्कहेतु ।

राम इति । विलोक्य = दृष्ट्वा, तमेव लक्ष्मणेन पूर्वनिर्दिष्टं चक्रवाकमिति भाव ।

जाने योग्य शरीर (सत्ता) वाले, जिस (सीतामुख) के कानों के (आभूषणभूत) कमलों में स्थित प्रियासहित आपने क्षण भर कुछ गुनगुनाया था, हे भाई ! वह मेरी प्रिया (सीता) सुन्दर मुख कहाँ है ?—(यह) बताओ ॥ ५ ॥

लक्ष्मण—(भय के साथ) कहीं आर्य (श्रीरामचन्द्रजी) इस (चक्रवाक) को भी न देख लें ।

राम—(देख कर) अये ! यह कौन-सा पक्षी है ?

योऽयं बहिःकलितकुङ्कुमरेणुराग-
मन्तस्तु सम्भृतदयं हृदयं दधानः ।
पारेतरङ्गिणि मुहुः करुणं रटन्ती-
मालोकते सहचरीं न तु सन्निधत्ते ॥ ६ ॥

अन्वयः—बहिः कलितकुङ्कुमरेणुरागम्, अन्तः तु सम्भृतदयम् हृदयम् दधानः यः अयम् पारेतरङ्गिणि मुहुः करुणम् रटन्तीम् सहचरीम् आलोकते, न तु सन्निधत्ते (सः 'कोऽयं विहङ्ग.' इति पूर्वेण सम्बन्धः) ।

व्याख्या—बहिः = बहिर्भागे, कलितकुङ्कुमरेणुरागम्—कलितः = धृतः, कुङ्कुमस्य = केसरस्य, रेणुः = धूलिः, तस्याः रागः = रक्तिमा येन तत् तादृशम्, अत्रेवेति शेषः । वक्षःस्थलस्य रक्तवर्णत्वादेवमुत्प्रेक्ष्यते । एतेन बहिर्हृदयस्य काठिन्यमावेद्यते । अन्तः तु = अभ्यन्तरे तु, सम्भृतदयम्—सम्भृता = निहिता, दया = करुणा यस्मिन् तत्, तादृशम्, मृदुलमिति यावत्, प्रियावियोगमसहमानत्वादिति भावः । हृदयम् = अन्तःकरणम्, दधानः = धारयन्, यः अयम् = पुरो दृश्यमानः, पारेतरङ्गिणी = नदी, तस्याः पारे = अपरतटे, ('पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभावः, पारशब्दस्यैदन्तत्वनिपातश्च) । मुहुः = भूयो भूयः, करुणम् = करुणाजनकं यथा स्यात्तथा, रटन्तीम्=शब्दायमानाम्, क्रन्दन्तीमित्यर्थः, सहचरीम्= सङ्गिनीम्, प्रियां चक्रवाकीमित्यर्थः, आलोकते = पश्यति, सस्पृहमिति भावः, न तु सन्निधत्ते = निकटे तु न गच्छति, रात्रौ तथा कर्तुमयुक्तत्वादिति भावः । एतादृशः स कोऽयं विहङ्गः, इति रामस्यानुयोगः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ६ ॥

बाहर केसर पराग की लाली को धारण करने वाले (अर्थात् रक्तवर्ण होने के कारण कठोर-सा प्रतीत होने वाले) किन्तु भीतर करुणा से युक्त हृदय (अर्थात मृदुल हृदय को धारण करने वाला जो यह नदी के उस पार बारंबार करुण क्रन्दन करती हुई प्रेयसी को (सस्पृह) देखता तो है किन्तु उसके पास जाता नहीं है ॥ ६ ॥

(विमृश्य) ननमय वल्लभाविरहविदारितहृदयो वराकश्चक्रवाक !

लक्ष्मण —अहो ! प्रमाद ।

राम — नूनमयमेक समदु खतया समानशीलो मे । अथवा कुतोऽस्य मम च समानशीलता ।

विमृश्येति । रामश्चक्रवाकस्य शोणित वक्ष स्थल पश्यन् विमृश्योत्प्रेक्षते नूनमिति । नूनमिति सम्भावनायाम् । अयम्=पुरो दृश्यमान , वराक =असहाय , चक्रवाक , वल्लभाविरहविदारितहृदय —वल्लभाया = प्रियाया , विरहेण = वियोगेन, विदारितम् = विदीर्णं हृदयम् = वक्ष स्थल यस्य स तथाभूत , (वर्तते) ।

लक्ष्मण इति । चन्द्र चकोर नदी भ्रमर-चक्रवाक प्रभृतिदर्शनेन चित्तसमोहात प्रलपन्त राम दृष्ट्वा लक्ष्मण आह—अहो इति । अहो इत्याश्चर्ये, प्रमादा , आर्यस्येतिशेष । प्रमाद = चित्तविक्षेप , उन्माद इति यावत् । तल्लक्षण यथा— 'चित्तसमोह उन्माद कामशोकभयादिभि । अस्थानहासरुदितगीतप्रलपनादिकृत् ॥' धीरोदात्तोऽप्यायश्चन्द्रादीन् पश्यन् यदेव प्रलपति तदाश्चर्यजनकमिति लक्ष्मणोक्तेराशय ।

राम इति । राम स्वस्य चक्रवाकस्य च कान्तावियोगजनितसमदु खतया समशीलत्वमुत्प्रेक्ष्य पुनस्तत्पदे वैषम्यमुत्प्रेक्षमाण आह नूनमिति समदु खतया—समदु खम् = कान्तावियोगजनितदु खमित्यर्थ , यस्य स समदु ख , तस्य भावस्तत्ता, तया । समानशील = समदशा ।

(विचार कर) अवश्य, इस बेचारे चक्रवाक के हृदय को प्रिया के विरह ने विदीर्ण कर दिया है (तभी तो रक्तरञ्जित दिखायी दे रहा है) ।

लक्ष्मण—अहो ! आर्य का प्रमाद आश्चर्यजनक है (जो धीर होते हुए भी ऐसा प्रलाप कर रहे हैं) ।

राम—निश्चय ही यह एक (चक्रवाक) समदु ख होने से मेरे ही समान अवस्था वाला है । अथवा इसकी और मेरी एक समान अवस्था होने वाली बात कैसे हो सकती है ?

अयमुदयति चन्द्रे विप्रयोगं प्रियायाः
श्रयति, तपति सूर्ये सङ्गमङ्गीकरोति ।
मम तु जनकपुत्री-विप्रयुक्तस्य यातं
शतमधिकमपीदं चन्द्रसूर्योदयानाम् ॥ ७ ॥

लक्ष्मणः—आर्य ! इह तावन्मुकुलितकमलिनीपरिसरानुसारिणि कलहंसे दीयतां दृष्टिः ।

अन्वयः—अयम् चन्द्रे उदयति प्रियायाः विप्रयोगं श्रयति, सूर्ये तपति सङ्गम् अङ्गीकरोति । जनकपुत्रीविप्रयुक्तस्य मम तु चन्द्रसूर्योदयानाम् इदम् शतम् अधिकमपि यातम् ।

व्याख्या—अयम् = पुरोवर्ती चक्रवाकः, चन्द्रे, उदयति = उदयं गच्छति सति, रात्रौ समागतायामिति भावः । प्रियायाः = प्रेयस्याः, चक्रवाक्या इत्यर्थः, विप्रयोगम् = वियोगम्, श्रयति = प्राप्नोति, सूर्ये, तपति = तापं कुर्वति सति, उदयति सतीति भावः । प्रियायाः, सङ्गम् = सङ्गमम्, अङ्गीकरोति = स्वीकरोति, गच्छतीत्यर्थः, जनकपुत्रीवियुक्तस्य = जानकीविरहितस्य, मे = मम रामचन्द्रस्य तु चन्द्रसूर्योदयानाम् = अहोरात्राणामित्यर्थः, इदं शतमधिकमपि यातम् = व्यतिगतम् । चक्रवाकोऽयं निशि वियुज्यते, दिवा च प्रियासङ्गमसुखमनुभवति । प्रियाविरहितेन मया तु पुनरहोरात्राणां शतमप्यधिकमपगमितमतश्चक्रवाकस्य मया सह कीदृशी समशीलतेति भावः । अत्रोपमानादुपमेयस्याधिक्यप्रतिपादनाद् व्यतिरेकोऽलङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥ ७ ॥

लक्ष्मण इति । सीतावियोगेन व्यथमानस्य रामस्य चेतोऽन्यतो नेतुं लक्ष्मण आह आर्येति। आर्य=श्रीरामचन्द्र ! मुकुलितकमलिनीपरिसरानुसारिणि—मुकुलिता= निमीलिता, सूर्यस्यास्तङ्गतत्वादिति भावः, या कमलिनी = पद्मिनी, तस्याः

यह (चक्रवाक) चन्द्रमा के उदित होने पर (अर्थात् रात में) प्रिया से वियुक्त हो जाता है (किन्तु) सूर्य के तपने (अर्थात् उदित होने) पर (दिन में) प्रिया का सङ्गम प्राप्त करता है । जानकी से बिछुड़े हुए मेरे तो चन्द्र और सूर्य के उदयों का यह सैकड़ा (अर्थात् सैकड़ों दिन-रात) बल्कि (इससे) अधिक ही बीत चुके हैं ॥ ७ ॥

लक्ष्मण—आर्य ! निमीलितकमलिनी के पास जाने वाले इस कलहंस पर

राम —(विलोक्य)

निजनखशिखालेखालीढस्फुरत्कमलस्तनीं
निरतमधुपश्रेणीगीतां चलन् कलहंसकः ।
अकरुणशशिप्रेङ्खत्पादप्रहारविमूर्च्छिता-
महह ! नलिनीं क्लान्तक्लान्तां मुहुर्मुहुरीक्षते ॥ ८ ॥

परिसरम् = समीपदेशम् अनुसरतीति तच्छीलस्तस्मिन् । कमलिनीसमीप गच्छतीत्यर्थः ।

अन्वय —निजनखशिखालेखालीढस्फुरत्कमलस्तनीम् निरतमधुपश्रेणीगीताम् अकरुणशशिप्रेङ्खत्पादप्रहारविमूर्च्छिताम् क्लान्तक्लान्ताम् कमलिनीम् चलन् कलहंसकः मुहुर्मुहुः ईक्षते अहह !

व्याख्या—निजनखेत्यादि –निजानाम् = स्वकीयानाम्, नखानाम् = शिखा= अग्रभागस्तस्या लेखा = पङ्क्तिः, तया आलीढ = क्षत, स्फुरन् = स्फुट परिलक्ष्यमाण कमलमेव स्तनो यस्यास्ताम्, निरतमधुपश्रेणीगीताम्—निरता = सातिशयमनुरक्ता, ये मधुपा = भ्रमरा, पक्षान्तरे मधु = मद्य पिबन्तीति मधुपा = मद्यपायिन कामुका, तेषां श्रेणी = समूह, तया गीताम् = गुञ्जिताम्, पक्षान्तरे स्तुतिपरकवचनैरनुनीताम्, अकरुणेत्यादि —अकरुण = निर्दयो य शशी = चन्द्रस्तस्य प्रेङ्खन् = प्रसरन् य पाद = किरण, पक्षान्तरे चरण तेन प्रहार = ताडनम् कमलिन्या किरणमन्दस्य दुःसहत्वा-दिति भाव । तेन विमूर्च्छिताम् = म्लानाम्, पक्षान्तरे चेतनारहिताम्, क्लान्त-क्लान्ताम् = सातिशयग्लानियुक्ताम् नलिनीम् = कमलिनीम्, पक्षान्तरे तन्नाम्नी नायिकाम्, चलन्=उपसर्पन्, कलहंसक =शोभनो हंस, पक्षान्तरे तन्नामा नायक । मुहुर्मुहु = वार वारम्, ईक्षते = अवलोकयति, सानुकम्प सरोपश्चेति भाव । अत्र कलहंसे नायकस्य, नलिन्या नायिकाया, भ्रमरेषु मद्यपायिना विटानाम्,

तनिक दृष्टि डालिए ।

राम—(देख कर) अपने नखों के अग्रभाग से क्षत, स्पष्ट दिखायी देते हुए कमलरूप स्तनों वाली, अत्यन्त अनुरक्त मधुपों (१–भ्रमरों, २–मद्यप विटों) से गीत (१–गुञ्जित, २–स्तुत), निर्दय चन्द्र के पादों (१–किरणों २–चरणों)

(विमृश्य) वरमेवंविधानामपि सहचरीजनानुकम्पया कोमलं चेतो न तु निसर्गकठिनस्य रामस्य ।

लक्ष्मणः—(स्वगतम्) कथमिदानीमप्यस्य चेतसि जानकीयमिन्द्रजालमुन्मीलति ।

(नेपथ्ये)

सखे ! रत्नशेखर ! चिराद् दृश्यसे ।

लक्ष्मणः – (आकर्ण्य) किमेतत् ?

एवं चन्द्रे च प्रतिनायकस्य तत्तत्कार्यव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिरलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—'समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः । व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥' इति । हरिणी वृत्तम् ॥ ८ ॥

विमृश्येति । विमृश्य = विचार्य । सहचरीजनानुकम्पया—सहचरीजने = प्रियासु, अनुकम्पा = दया, तया । एवंविधानामपि = एतादृशानां, तिर्यग्गतानामपि । निसर्गकठिनस्य = निसर्गेण = स्वभावेन, कठिनः = कठोरस्तस्य ।

लक्ष्मण इति । जानकीयम् = जानक्याः इदमिति जानकीयम् = जानकीसम्बन्धि । इन्द्रजालम् = मायाकर्म । उन्मीलति = विकसति, स्वप्रभावं प्रदर्शयति ।

के प्रहार से विमूर्च्छित (१—म्लान, २—चेतनारहित) एवम् अतिशय क्लान्त कमलिनी के पास जाता हुआ कलहंस (उसे अनुकम्पा एवं रोष के साथ) देख रहा है ॥ ८ ॥

(विचार कर) प्रियाजन पर अनुकम्पा के कारण इस प्रकार के भी (तिर्यग्गत) प्राणियों का कोमल हृदय अच्छा है किन्तु स्वभावतः कठोर राम का (हृदय) नहीं (अच्छा है) ।

लक्ष्मण—(मन ही मन) क्या अभी तक सीता का जादू इन (आर्य) के चित्त में (अपना) प्रभाव प्रकट कर रहा है ?

(नेपथ्य में)

सखे ! रत्नशेखर ! बहुत समय के बाद दिखायी पड़े हो ।

लक्ष्मण—(सुनकर) यह क्या (है) ?

(पुनर्नेपथ्ये)

वयस्य चम्पकापीड ! एवमेतत् । मया ह्येतावन्तं कालमखिलमायानिधेर्मयनाम्नो दानवस्य पुत्रीं निजसहोदरीं मन्दोदरीमनुवर्तितुं लङ्कायां कृतालयाच्चित्ररूपनाम्नो दानवात् सकलामिन्द्रजालकलामाददानेन स्थितम् ।

लक्ष्मण —नूनं कृतकर्णकौतुकामोदोऽयं कयोरपि पथिकयोः संवादः ।

(पुनर्नेपथ्ये)

सखे रत्नशेखर ! तन्मे धारयसि निजकलादानम् ।

पुनर्नेपथ्य इति । अखिलमायानिधेः = समस्तमायाधारस्य सकलेन्द्रजालविधातुरिति भावः । मन्दोदरीमनुवर्तितुम् = मन्दोदरीमनोरञ्जनायेति भावः । कृतालयात्—कृतः – विहितः आलयः – आवासो येन स तस्मात् । आददानेन = गृह्णता ।

लक्ष्मण इति । कृतकर्णकौतुकामोदः—कृतो कर्णयोः कौतुकामोदो कुतूहलहर्षौ येन सः ।

पुनर्नेपथ्य इति । मे धारयसि निजकलादानम्—मे मह्यं धारयसि "धारेरुत्तमर्णः" इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । त्वया मत्सकाशादिन्द्रजालकला गृहीता अधुना तां मह्यं प्रदर्शयतीति भावः ।

(पुनः नेपथ्य में)

मित्र चम्पकापीड ! यह ठीक है । मैं इतने समय तक सम्पूर्ण इन्द्रजाल के आधार (अर्थात् समस्त इन्द्रजाल के कर्ता) मय नामक दानव की पुत्री अपनी सगी बहिन मन्दोदरी के मनोरञ्जनार्थ लङ्का में निवास करने वाले चित्ररूप नामक दानव से सकल इन्द्रजालकला का ग्रहण करता हुआ (लङ्का में) स्थित रहा ।

लक्ष्मण—निश्चय ही कानों को कुतूहल एवं हर्ष देने वाला यह किन्हीं दो पथिकों का संवाद (हो रहा) है ।

(पुनः नेपथ्य में)

सखे ! रत्नशेखर ! तो मेरे तुम अपनी कला प्रदान के ऋणी हो (अर्थात् तुमने मुझसे इन्द्रजाल की कला सीखी है उसका ऋण अपनी कला मुझे दिखाकर चुकाओ) ।

(पुनर्नेपथ्ये)

वयस्य चम्पकापीड !

असुरसुरनिशाचरोरगाणामपि नरकिन्नरसिद्धचारणानाम् ।
सकलजनविलोकनैकचित्रं स्फुटमिह कस्य विजृम्भते चरित्रम् ॥६॥

अथवा किमन्येन ? लङ्कानुभूतमेव नूतनं किमपि सरसरमणीयं चरितमुपदर्शयामि ते ।

लक्ष्मणः—आर्य ! इतोऽवधार्यताम्, नन्विदमयत्नोपनीतं प्रेक्षणीयम् ।

अन्वयः—असुरसुरनिशाचरोरगाणाम् नरकिन्नरसिद्धचारणानामपि इह कस्य सकलजनविलोकनैकचित्रम् स्फुटं चरित्रं विजृम्भते ।

व्याख्या—असुरसुरनिशाचरोरगाणाम्—असुराः = दानवाः, सुराः = देवाः, निशाचराः = राक्षसाः, तेषाम्, नरेत्यादिः—नराः = मनुष्याः, किन्नराः = किम्पुरुषाः, सिद्धाः = देवयोनिविशेषाः, चारणाः = सुरलोकसम्बन्धिनो गायका गन्धर्वाः, तेषामपि, इह = अस्मिन् संसारे, कस्य = कतमस्य, सकलेत्यादिः—सकलजनानाम् विलोकनाय = दर्शनाय, एकम् चित्रम् = एक रोचकम्, स्फुटम् = स्पष्टम्, चरित्रम्, विजृम्भते = वर्द्धते, (यदहं प्रदर्श्य त्वां प्रसादयामीति भावः) । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ६ ॥

लक्ष्मण इति । अयत्नोपनीतम्—अयत्नेन = अप्रयासेन = उपनीतम् । प्राप्तम् । प्रेक्षणीयम् = द्रष्टव्यम् ।

(पुनः नेपथ्य में)

मित्र चम्पकापीड !

असुर, देव, राक्षस, नाग, नर, किन्नर, सिद्ध और चारणों में, किसका चरित्र सकलजनों के देखने के लिए मुख्य रूप से रोचक एवं स्पष्ट रूप से बढ़ रहा है ? (जिसे दिखाकर मैं आप की सेवा करूँ) ॥ ६ ॥

अथवा और से क्या ? लङ्का में अनुभूत कुछ नवीन सरस एवं रमणीय चरित ही तुम्हें दिखाता हूँ ।

लक्ष्मण – आर्य ! इधर ध्यान दें । यह विना प्रयत्न के ही द्रष्टव्य (वस्तु) उपस्थित है ।

राम —(अनाकर्णितकेन)

> देवि ! त्वदीयमणिनूपुरजृम्भमाण-
> कोलाहलोत्तरलहंसकुलाकुलासु ।
> वैदेहि ! लक्ष्मणपदाम्बुजलाञ्छितासु
> गोदावरीपुलिनभूमिषु देहि दृष्टिम् ॥ १० ॥

लक्ष्मण — क्व पुनरिह वैदेही ? क्व वा गोदावरी ?

राम —(विमृश्य) कथ प्रतारितोऽस्मि मतिविभ्रमेण । (विचिन्त्य) अथवा कृतार्थीकृतोऽस्मि । अनेन हि मे—

अन्वय — देवि ! वैदेहि ! त्वदीयमणिनूपुरजृम्भमाणकोलाहलोत्तरलहंसकुलाकुलासु लक्ष्मणपदाम्बुजलाञ्छितासु गोदावरीपुलिनभूमिषु दृष्टिम् देहि ।

व्याख्या—देवि ! वैदेहि = सीते ! त्वदीयमणिनूपुरेत्यादि — त्वदीयौ = त्वत्सम्बन्धिनौ, यौ मणिनूपुरौ = मणिमयमञ्जीरौ, तयो जृम्भमाण = वर्द्धमान, य कोलाहल = झङ्कृति, तेन उत्तरलम् = चञ्चल यत् हंसकुलम् = हंससमुदाय तेन आकुलासु = व्याप्तासु, लक्ष्मणपदाम्बुजलाञ्छितासु— लक्ष्मणस्य पदाम्बुजाभ्याम् = चरणकमलाभ्याम् लाञ्छितासु = अङ्कितासु, गोदावरीतटभूमिषु = गोदावरीतटप्रदेशेषु, दृष्टिं देहि = दृष्टिपात कुरु । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ १० ॥

राम —(न सुनने के भाव से)

हे देवि ! सीते ! तुम्हारे मणिनूपुरों से बढ़ती हुई झङ्कार से चञ्चल हंसों से व्याप्त, लक्ष्मण के चरणकमलों से अङ्कित गोदावरी के तटप्रदेशों पर दृष्टि पात करो ॥ १० ॥

लक्ष्मण—यहाँ सीता कहाँ है ? या गोदावरी कहाँ है ?

राम—(विचार कर) कैसे मैं (अपनी ही) बुद्धि की भ्रान्ति से ठग दिया गया हूँ ? (विचार कर) अथवा (बुद्धि की भ्रान्ति से) कृतार्थ हूँ । इसने मुझे—

गोदावरीतीरतपोवनेषु सौमित्रिसीतापरिपूर्णपार्श्वः ।
मुदा निमेषानिव यान्यनैषं, दिनानि तान्येव पुनः स्मृतानि ॥११॥

(पुनः सप्रत्याशम्) अपि नाम,

तान्येव पक्ष्मलदृशो वचनामृतानि
भूयोऽपि कर्णचुलुकैरहमापिबेयम् ?
यैर्मामदर्शयदसौ विकचप्रमोदा
गोदावरी कमलवीचिविचेष्टितानि ॥ १२ ॥

गोदावरी इति ।

अन्वयः—गोदावरीतीरतपोवनेषु सौमित्रिसीतापरिपूर्णपार्श्वः सन् मुदा यानि निमेषानिव अनैषम् तान्येव दिनानि पुनः स्मृतानि ।

व्याख्या—गोदावरीतीरतपोवनेषु—गोदावर्यास्तीरे यानि तपोवनानि पुण्यकाननानि तेषु, गोदावरीतटवर्तितपोवनेष्वित्यर्थः, सौमित्रिसीतापरिपूर्णपार्श्वः—सौमित्रिः = लक्ष्मणः, सीता च, ताभ्यां परिपूर्णे = उपेते, पार्श्वे = दक्षिणवामभागौ यस्य स तादृशः सन्नहम्, मुदा = हर्षेण यानि निमेषानिव = क्षणानीव, अनैषम् = व्यतीतानि अकरवम्, तान्येव दिनानि पुनः स्मृतानि = स्मृतिविषयीकृतानि, अतः कृतार्थीकृतोऽस्मीति पूर्वेण सम्बन्धः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ११ ॥

पुनरिति । अपि नामेति सम्भावनायाम् ।

अन्वयः—अहम् पक्ष्मलदृशः तान्येव वचनामृतानि कर्णचुलुकैः भूयोऽपि आपिबेयम् ? विकचप्रमोदा असौ यैः माम् गोदावरीकमलवीचिविचेष्टितानि अदर्शयत् ।

व्याख्या—अहम् = रामः, पक्ष्मलदृशः—पक्ष्मले = शोभननेत्रलोमराजिशोभिते, दृशौ = नेत्रे यस्याः सा तस्याः सुनयनायाः सीताया इत्यर्थः । तान्येव

गोदावरी के तटवर्ती तपोवनों में लक्ष्मण और सीता से परिपूर्ण (दक्षिण और वाम) पार्श्वभागवाले मैंने जिन दिनों को हर्ष से निमेष के समान व्यतीत किया था उन्हीं को फिर से याद दिला दी ॥ ११ ॥

(पुनः विश्वासपूर्ण आशा के साथ) क्या यह सम्भव है कि—

मैं सुन्दर बरौनियों से शोभित नेत्रवाली (सीता) के उन्हीं वचनामृतों को

(नेपथ्ये)

तव सुभग ! उत्क्षिपन्ती तरङ्गसितचामरं रघुमृगाङ्क ! ।
धवलकमलातपत्रं धारयति गोदानदी स्वहस्ते ॥ १३ ॥

(तुह सुहअ ! उक्खिवन्ती तरङ्गसिअचामरं रहुमिअङ्क ।
धवलकमलादवत्तं धारइ गोआणई सहत्थेण ॥)

वचनामृतानि = अमृततुल्यानि वचनानि वर्णचुलुकैः =कर्णरूपाञ्जलिभिः, कर्णपुटैरितिभावः । भूयोऽपि=पुनरपि, आचिवेयम्=पानविषयीकुर्याम्, लालसापूर्वकं शृणुयामिति भावः । विकचप्रमोदा–विकचः =प्रफुल्लः, समृद्ध इति यावत् प्रमोदः =हर्षः, यस्याः सा तादृशी असौ = सीता, यैः = वचनामृतैः, माम् = रामम्, गोदावरीकमलवीचिविचेष्टितानि—गोदावर्याः कमलानां वीचीनाम् = लहरीणाम् विचेष्टितानि = विविधाश्चेष्टाः, विलासानिति यावत्, अदर्शयत् = दर्शयति स्म । 'वचनामृतानि' इत्यत्र, 'वर्णचुलुकैः' इत्यत्र च परिणामालङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १२ ॥

तव सुभगेति ।

अन्वयः—सुभग ! रघुमृगाङ्क ! तव तरङ्गसितचामरम् उत्क्षिपन्ती गोदानदी स्वहस्ते धवलकमलातपत्रम् धारयति ।

व्याख्या—सुभग ! = हे सौभाग्यशालिन् ! रघुमृगाङ्क = रघुकुलचन्द्र ! तव = भवतो रामचन्द्रस्य, तरङ्गसितचामरम्–तरङ्गः = लहरी, स एव सितम्= धवलम्, चामरम्=बालव्यजनम् तद्, उत्क्षिपन्ती=उपरि चालयन्ती, गोदा नदी= गोदावरी सरित्, स्वहस्ते=निजकरे, धवलकमलातपत्रम्–धवलं श्वेतं यत् कमलम्= सरोजम्, तदेवातपत्रम्=छत्रम्, धारयति=वहति । अत्र गोदावर्यां छत्रचामरवहनरूपसमारोपेण छत्रचामरग्राहिण्या व्यवहारसमारोपात् समासोक्तिरलङ्कारः । तरङ्ग

अपने कर्णरूप अर्द्धाञ्जलियों से पुनः पिऊंगा ? समृद्ध हर्ष वाली (अर्थात् सुप्रसन्न) उस (सीता) ने जिन (वचनों) से गोदावरी के कमलों और लहरियों की चेष्टाओं (अर्थात् विलासों) को दिखाया करती थी ॥ १२ ॥

(नेपथ्य में)

हे सौभाग्यशालिन् ! रघुकुलचन्द्र ! आप के ऊपर तरङ्गरूप श्वेत चँवर

रामः—(सहर्षम्) अये ! स एवायं प्रियतमायाः समालापः । तथा हि—

परिमितकमनीयः कोमलो वाग्विलासः,
सरसमधुरकाकुस्वीकृता काऽपि लेखा ।
ध्वनिरपि च विपञ्चीपञ्चमस्यानुवादी,
श्रुतिरपि कलकण्ठीकण्ठसंवादभूमिः ॥ १४ ॥

सितचामरमित्यत्र, धवलकमलातपत्रमित्यत्र चारोप्यस्य प्रकृतार्थोपयोगित्वात्परिणामालङ्कारः अनयोरङ्गाङ्गिभावेन संवलनात्सङ्करः । आर्या जातिः ॥ १३ ॥

अन्वयः—परिमितकमनीयः कोमलः वाग्विलासः । सरसमधुरकाकुस्वीकृता काऽपि लेखा । ध्वनिरपि विपञ्चीपञ्चमस्य अनुवादी । श्रुतिरपि कलकण्ठीकण्ठसंवादभूमिः ।

व्याख्या—परिमितकमनीयः—परिमितः=मिताक्षरः, अत एव कमनीयः = मनोहरः, मितभाषणस्य वचोगुणत्वादिति भावः । कोमलः = अकर्कशः, श्रवणसुखदः, वाग्विलासः वाचाम् = वचसाम्, विलासः = लीला (अस्ति) । सरसमधुरकाकुस्वीकृता—सरसा = रसोपेता, मधुरा = कर्णप्रिया या काकुः = ध्वनिविशेषः, तया स्वीकृता = अङ्गीकृता, युक्तेति भावः । काऽपि = अनिर्वचनीया, लेखा = वाक्यावलिरित्यर्थः (अस्ति) । ध्वनिरपि=शब्दोऽपि, विपञ्चीपञ्चमस्य—विपञ्ची = वीणा, तस्याः पञ्चमस्य = पञ्चमस्वरस्य, अनुवादी = अनुकर्ता (अस्ति) । श्रुतिरपि = तदुक्तशब्दश्रवणमपि, कलकण्ठीकण्ठसंवादभूमिः—कलकण्ठी =कोकिला, तस्याः कण्ठस्य=कण्ठस्वरस्येत्यर्थः, संवादः=सादृश्यम्, तस्य भूमिः=स्थानम् (अस्ति) अतोऽयं प्रियासमालापएव । मालिनी वृत्तम् ॥ १४ ॥

डुलाती हुई गोदावरी नदी अपने हाथ में श्वेतकमल रूप छत्र को धारण कर रही है ॥ १३ ॥

राम—(हर्ष के साथ) अरे ! यह तो वही प्रियतमा (सीता) का आभाषण है । जैसा कि—मिताक्षर (अर्थात् नपा-तुला) होने के कारण मनोरम तथा कोमल वचन विन्यास (है) । सरस एवं मधुर काकु (बोलने की टोन) से युक्त विलक्षण वाक्यावली (है) । ध्वनि भी वीणा के पञ्चम स्वर का अनुकरण कर रही है । (इन वचनों का) सुनना भी कोयल के कण्ठस्वर की समानता का आधार है ॥ १४ ॥

तत्कुत्र पुनः प्रेयसी ? (विलोक्य) तत्कथमयमदृष्टचन्द्रलेख इवचन्द्रालोकः ?

(ततः प्रविशति यथा निरूपयिष्यमाणा जानकी)

राम —(ससम्भ्रमम्) प्राप्तेयं प्रेयसी ।

(इति गन्तुमिच्छति)

लक्ष्मण —(रामं हस्ते धृत्वा) अलमिह सम्भ्रमेण, विद्याधरोपनीत-मिन्द्रजालकं खल्वेतत् ।

राम —(निर्वर्ण्य) अये ! क एष सन्निवेशविशेषः ? तथा हि —

तदिति । विलोक्य = दृष्टिपातं कृत्वा, परं सीतामपश्यन् रामः आह—तत्कथमिति । अदृष्टचन्द्रलेख — न दृष्टा चन्द्रलेखा = चन्द्ररेखा यस्मिन् सः । तादृशः चन्द्रालोकः = चन्द्रप्रकाशः । यथा चन्द्रदर्शनं विना चन्द्रप्रकाशो विस्मयहेतुस्तथैव सीताया दर्शनं विना सीताशब्दश्रवणमिति भावः ।

राम इति । सन्निवेशविशेषः = अङ्गानां स्थितिविशेषः ।

तो प्रियतमा कहाँ है ? (चारों ओर दृष्टिपात कर, सीता के न दिखायी देने पर) तो चन्द्रमा के न दिखायी पड़ने पर (भी) चन्द्रमा का प्रकाश कैसे (दिखायी दे रहा है) ? (अर्थात् सीता के न दिखायी पड़ने पर भी यह उसका शब्द कैसे हो रहा है ?)

(तदनन्तर आगे यथावसर वर्णित रूप में जानकी प्रवेश करती हैं)

राम—(उतावली के साथ) यह प्रियतमा मिल गयी !

(ऐसा कह कर उसके पास जाना चाहते हैं)

लक्ष्मण—(राम का हाथ पकड़ कर) यहाँ उतावली नहीं करनी चाहिए यह तो विद्याधर के द्वारा प्रकट किया गया इन्द्रजाल है ।

राम—(ध्यान से देख कर) अरे ! शरीर की यह कैसी विलक्षण स्थिति है ?

एकेनालम्बितेयं शिथिलभुजलताशोभिना शाखिशाखा,
हस्तेनान्येन चायं दिनकरकिरणक्लान्तकान्तिः कपोलः ।
एष स्रस्तो नितम्बे लुलति कचभरस्त्यक्तकाञ्चीकलापे
नेत्रोत्सङ्गे च बाष्पस्तवकनवकणैः पक्ष्मला पक्ष्मलेखा ॥ १५ ॥

अन्वयः—शिथिलभुजलताशोभिना एकेन हस्तेन इयं शाखिशाखा आलम्बिता अन्येन (हस्तेन) च दिनकरकिरणक्लान्तकान्तिः अयम् कपोलः (आलम्बितः) एषः स्रस्तः कचभरः त्यक्तकाञ्चीकलापे नितम्बे लुलति, नेत्रोत्सङ्गे च बाष्पस्तवकनवकणैः पक्ष्मला पक्ष्मरेखा (अस्ति)।

व्याख्या शिथिलभुजलताशोभिना—शिथिला = दुर्बला श्रान्ता च या भुजलता = बाहुवल्ली तया शोभिना = शोभायमानेन एकेन हस्तेन = करेण, इयम् = एषा, पुरोदृश्यमाना, शाखिशाखा = वृक्षशाखा, आलम्बिता=आश्रिता। एकेन करेण वृक्षशाखामाश्रयतीति भावः। अन्येन = अपरेण (हस्तेन) च, दिनकरकिरणक्लान्तकान्तिः—दिनकरस्य = सूर्यस्य किरणैः क्लान्ता = म्लाना, कान्तिः आभा यस्य स तादृशः, अयम् = एषः, कपोलः=गण्डस्थलम्, आलम्बितः इत्यत्रापि पुंल्लिङ्गत्वेन विपरिणम्य सम्बन्धनीयम्। अपरत्र करे कपोलं धत्त इति भावः। एवं च स्रस्तः = शिथिलः, विकीर्ण इति यावत्, कचभरः=केशकलापः, त्यक्तकाञ्चीकलापे = त्यक्तः = विसृष्टः, पतिवियोगा दिति भावः, काञ्चीकलापः= रशनाख्यभूषणम्, यस्मात्तस्मिन् नितम्बे = कटिपश्चाद्भागे, लुलति = इतस्ततो लुठति। नेत्रोत्सङ्गे = लोचनप्रान्तभागे च, बाष्पस्तवकनवकणैः—बाष्पस्तवकस्य = अश्रुकणसमूहस्य, नवकणैः = अविरोद्गतबिन्दुभिः, पक्ष्मला = घनीभूता, पक्ष्मलेखा = नयनरोमराजिः (अस्ति)। स्रग्धरा वृत्तम् ॥ १५ ॥

जैसे कि—शिथिल बाहुलता से शोभित एक हाथ से इस वृक्ष की डाल पकड़ रक्खी है और दूसरे हाथ से सूर्य की किरणों से म्लान कान्ति वाला यह कपोल आलम्बित है (अर्थात् दूसरे हाथ पर कपोल को टिका रक्खा है)। यह बिखरा हुआ केशपाश करधनी की लड़ियों से रहित नितम्ब पर (इधर उधर) लुढ़क रहा है। नेत्रों के प्रान्त भाग में आँसू के गुच्छों के नूतन कणों से सघन (आर्द्र) बरौनी की पंक्ति है ॥ १५ ॥

नूनमियमशोकशाखिशाखां सखीमिवाऽवलम्ब्य निद्रामुपगता तथा हि—

आमीलन्नवनीलनीरजतुलामालम्बते लोचनं
शैथिल्यं नवमल्लिकासहचरैरङ्गैरपि स्वीकृतम्।

(पुनर्विमृश्य) नूनमनया हृदयप्रमोददायी कोऽपि स्वप्नो दृष्टः। तथा हि—

आलापादधरः स्फुरन् कलयति प्रेङ्खत्प्रवालोपमा-
मानन्दप्रभवाश्च बाष्पकणिका मुक्ताश्रियं बिभ्रति ॥१६॥

अन्वय—लोचनम् आमीलन्नवनीलनीरजतुलाम् आलम्बते, नवमल्लिकासहचरैः अङ्गैः अपि शैथिल्यम् स्वीकृतम्।

व्याख्या—लोचनम् = नयनम्, सीतायाः इति भावः। आमीलन्नवनीलनीरजतुलाम्—आमीलत् = सङ्कुचत् नवनीलनीरजस्य = नूतननीलकमलस्य तुलाम् = सादृश्यम्, आलम्बते = धारयति। नवमल्लिकासहचरैः-नूतनमल्ली पुष्पसदृशैः अङ्गैः,=शरीरावयवैरपि शैथिल्यम् = शिथिलता स्वीकृतम् = धृतम्।

पुनरिति। नूनमिति सम्भावनायाम्। हृदयप्रमोददायी = चित्तहर्षप्रदाता।

अन्वय—आलापात् स्फुरन् अधरः प्रेङ्खत्प्रवालोपमाम् कलयति। आनन्दप्रभवाः बाष्पकणिकाः च मुक्ताश्रियम् बिभ्रति।

व्याख्या—आलापात् = सम्भाषणात्, स्वप्नावस्थायामिति भावः। स्फुरन्-किञ्चिच्चलन् अधरः प्रेङ्खत् = कम्पमानस्य वायुनेति भावः, प्रवालस्य=नूतनकिसलयस्य उपमाम् सादृश्यम् कलयति=धत्ते। आनन्दप्रभवाः-आनन्दः-हर्षः, स्वप्नेऽभीष्टदर्शनज इति भावः, प्रभवः = उत्पत्तिस्थानं यासां ताः, तादृश्यः,

निश्चय ही यह अशोकवृक्ष की डाल को सखी की तरह पकड़ कर सो गयी है। जैसे कि—

नेत्र मुँदे हुए नूतन नील कमल की समानता का धारण कर रहा है। नवीनमल्लिकापुष्पसदृश (कोमल) अङ्गों ने भी शिथिलता धारण कर ली है।

(पुनः विचार कर) निश्चय ही इसने कोई हृदयानन्ददायी स्वप्न देखा है। जैसे कि—(स्वप्नावस्था में कुछ) बोलने के कारण फड़कता हुआ अधर (वायु के द्वारा) हिलते हुए नूतन किसलय की उपमा का धारण कर रहा है

सीता – (उन्मील्य लोचने) हा धिक् हा धिक् । अन्यादृशो मे जीवलोको गोदावरी क्व सा ? नीलोत्पलश्यामलः क्व रामः ? लङ्का क्व? क्व वा हा धिक् रामैकजीविता सीता ? (इति मूर्च्छति) । (हद्धि हद्धि, अण्णारिसो मे जीअलोओ गोलाणई कहिं सा ? णीलुप्पलसामलो कहिं रामो ? लङ्का कहिं ? कहिं वा हद्धि रामेक्कजीविदा सीता ?)

रामः — अयि वसुधे ।

यां वै गर्भे त्रिजगदबलारत्नभूतां दधाना
लब्धार्थत्वाज्जगति भवती रत्नगर्भा बभूव ।
तामुत्सङ्गे तव विलुलितां वीक्षमाणा च सीतां
द्राग् दीर्णासीन्न कथमथवा देवि । सर्वंसहाऽसि ॥ १७ ॥

बाष्पकणिकाः = अश्रुजललवाः, च मुक्ताश्रियम् = मौक्तिकशोभाम्, बिभ्रति = धारयन्ति । अत्रोपमाऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १६ ॥

सीतेति । हा धिगिति विषादे । वीप्सायां द्विरुक्तिः । तया विषादस्याधिक्यं द्योत्यते । जीवलोकः = संसार इत्यर्थः । अन्यादृशः = भिन्नप्रकारकः ।

अन्वयः – देवि ! त्रिजगदबलारत्नभूताम् याम् गर्भे दधाना भवती लब्धार्थत्वात् जगति रत्नगर्भा बभूव वै । ताम् सीताम् तव उत्सङ्गे विलुलिताम्-वीक्षमाणा कथम् द्राक् दीर्णा न आसीत् अथवा सर्वंसहा असि ।

व्याख्या देवि ! = वसुधे ! त्रिजगदबलारत्नभूताम् = त्रिषु जगत्सु = त्रिलोक्याम् अबलासु = स्त्रीषु रत्नभूताम = रत्नसदृशीमित्यर्थः, याम् = सीताम्,

और (स्वप्न में अभीष्ट दर्शन से हुए) हर्ष से उत्पन्न आँसू की बूँदें मोतियों की शोभा को धारण कर रही हैं ॥ १६ ॥

सीता – (आँखें खोल कर) हा धिक् ! हा धिक् । मुझे संसार दूसरा-सा लगता है (अर्थात् मेरे लिए संसार बदल गया है)। कहाँ वह गोदावरी नदी, कहाँ नीलकमल के समान श्याम राम, कहाँ लङ्का और कहाँ हाय ! राममय जीवन वाली सीता । (ऐसा कह कर मूर्च्छित हो जाती है)।

राम—अयि वसुधे !

तीनों लोकों में रमणीरत्नभूत जिस (सीता) को गर्भ में धारण करती

तदेनामभ्यर्थयामि तावदस्या समुद्बोधनाय। अथवा किमभ्यर्थनया।

> निजामपि सुतां सीतां नेयमुद्बोधयिष्यति।
> निजेऽप्यपत्ये करुणा कठिनप्रकृते कुतः ॥ १८ ॥

गर्भे = कुक्षौ, दधाना = धारयन्ती, भवती = पृथिवी, लब्धाख्यातिः = प्राप्तख्यातिकत्वात्, गर्भे सीताधारणेन यशावती इति भावः। जगति = संसारे, रत्नगर्भा—रत्नं गर्भे यस्याः सा, रत्नगर्भेति नामधारिणी, बभूव = जाता। 'वै' इति निश्चये। ताम् = तादृशीम्, भवत्याः रत्नगर्भेति संज्ञायां हेतुभूतामिति भावः। सीताम् = स्वपुत्रीम्, तव = भवत्याः, उत्सङ्गे = अङ्के, भूतले इति भावः। विलुठिताम् = इतस्ततः विलुठिताम्, आलोकमाना = पश्यन्ती, कथम् = केन कारणेन, द्राक् = झटिति, दीर्णा = विदलिता, न आसीत् = न जाता? अथवेति विकल्पे। हे देवि! सर्वंसहा = सर्वम् = निखिलम्, सहते इति तच्छीला, असि = वर्तसे। तादृशीं सीतामीदृशीं दुरवस्थामापन्नामपि विलोक्य त्वं यत् झटिति विदीर्णा जाता तत् सर्वंसहेत्यपि तव नामान्वर्थतां गतम्। तस्मान्नेदमाश्चर्यकरमिति भावः। मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ १७ ॥

अन्वयः—इयं निजां सुतां सीतामपि न उद्बोधयिष्यति कठिनप्रकृतेः निजे अपत्ये अपि करुणा कुतः?

व्याख्या—इयम् = सर्वंसहा पृथिवी, निजाम् = स्वकीयाम् सुताम् = पुत्रीम्, सीताम् न उद्बोधयिष्यति = चेतनां न प्रापयिष्यति। अत्र कारणमाह—निजेऽपीति। कठिनप्रकृतेः—कठिना = कठोरा, प्रकृतिः = स्वभावो यस्याः सा,

हुई तुम सार्थक होने के कारण संसार में 'रत्नगर्भा' हुई, उस सीता को अपने अङ्क में लुढ़की हुई देखकर क्यों न तुरन्त फट गयी? अथवा हे देवि, तुम सब सहा हो अर्थात् तुम्हारा एक नाम सर्वंसहा भी है, उसके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुसार तुमने अपनी ही कुक्षि से उत्पन्न हुई सीता की इस दुरवस्था को भी सह लिया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं ॥ १७ ॥

तो इस (सीता) को होश में लाने के लिए इस (पृथिवी) से प्रार्थना करो अथवा प्रार्थना से क्या (लाभ)?

यह (पृथिवी) अपनी भी (पुत्री सीता को नहीं जगायेगी (क्योंकि) कठोर

तदेनं तावदभ्यर्थयामि ।

स्निग्धाशोकद्रुम ! निजसखीं तूर्णमुद्बोधयैनां
सिक्त्वा सिक्त्वा किसलयकरस्रंसिना सीकरेण ।
एतस्याः किं नयनकमलस्यन्दिभिः सान्द्रसान्द्रै-
र्बाष्पोत्पीडैरनुदिनमपि त्वं न सिक्ताऽऽलवालः ॥ १६ ॥

तस्याः, निजे = स्वकीये, अपत्येऽपि = सन्तानेऽपि करुणा = दया, कुतः = कस्माद् भवति कथमिव न भवतीति काक्वा व्यज्यते । अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १८ ॥

अन्वयः— स्निग्धाशोकद्रुम निजसखीम् एनाम् किसलयकरस्रंसिना सीकरेण सिक्त्वा सिक्त्वा तूर्णम् उद्बोधय । एतस्याः नयनकमलस्यन्दिभिः सान्द्रसान्द्रैः बाष्पोत्पीडैः अनुदिनम् त्वम् किं न सिक्ताऽऽलवालः ?

व्याख्या— स्निग्ध = स्नेहशील ! अशोकद्रुम = अशोकवृक्ष ! निजसखीम् = तव तले सततावासात्तव सखीसदृशीमित्यर्थः, एनाम् = सीताम्, किसलयकरस्रंसिना— किसलयान्येव कराः = हस्तास्तेभ्यः स्रंसिना = स्यन्दमानेन, सीकरेण = जलबिन्दुना, (जातावेकवचनम्) सिक्त्वा सिक्त्वा = वारं वारं सिक्त्वा, तूर्णम् = शीघ्रम्, उद्बोधय = लब्धसंज्ञां कुरु । तथोपकारं कृतवती जानकी त्वया प्रत्युपकर्त्तव्येत्याशयेन जानकीकृतमुपकारं स्मारयति— **एतस्या** इति । एतस्याः=अस्याः, सीताया इत्यर्थः, नयनकमलस्यन्दिभिः = नयनकमलस्रंसिभिः, सान्द्रसान्द्रैः— अतिशयप्रगाढैः, बाष्पोत्पीडैः = अश्रुपूरैः, अनुदिनम् = प्रतिदिनम्, त्वम् किं न सिक्तालवालः = सिक्तः = कृतसेकः, आलवालः = आवापः यस्य स तादृशः ('स्यादालवालमावालमावापः' इत्यमरः) असि । सीता प्रतिदिनं स्वाश्रुप्रवाहैः त्वमभिषिक्तमूलमकरोत्तत् त्वमपीमामुद्बुद्धां कृत्वा प्रत्युपकारं कर्तुमर्हसीति भावः । 'किसलयकरस्रंसिना' इत्यत्र कराणां किसलयैस्तादात्म्यं प्रकृते च सेचनक्रियाया-

---

प्रकृति वाली को अपनी भी सन्तान पर करुणा कहाँ से (हो सकती है) ?

अच्छा, तो इस (अशोक वृक्ष) से प्रार्थना करूँ ।

स्नेहशील ! अशोकवृक्ष ! अपनी इस सखी (सीता) को किसलयात्मक करों से गिरने वाले जल-बिन्दुओं से सींच-सींच कर शीघ्र जगाओ । इस (सीता) के

कथमनाकर्णितकेन प्रत्याख्यातमनेन ? अये ! कृतघ्नता पलाशिनः । (विलोक्य) कथं प्रकृतिप्रियवदाया मे प्रियायाः सखीजनोऽपि न कश्चिदिह ? (प्रविश्य)

त्रिजटा – जानकि ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

सीता—(समाश्वस्य) कथं प्रियसखी मे त्रिजटा ? (कह पिअसही मे तिअडा ?)

त्रिजटा—सखि ! अनया ते मधुरया मुखरेखया तर्कयामि यत् किल प्रियं किमपि दृष्टवती भवती ।

मुपयोगः । अत्र परिणामालङ्कारः । नयनकमलस्यन्दिभिरित्यत्र रूपकालङ्कारः, आरोप्यमाणस्य कमलस्य, प्रकृते सेचनानुपयोगात् । अनयोर्मिथोऽनपेक्षया स्थिते = संसृष्टिः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ १९ ॥

कथमिति । अनाकर्णितकेन = अश्रुतेनेव । प्रत्याख्यातम् = तिरस्कृतम् मद्वचनमिति शेषः । पलाशिनः—पलाशानि = पत्राणि सन्त्यस्येति पलाशी = वृक्षस्तस्य, अशोकवृक्षस्येति भावः । अथवा—पलम् = मांसम् अश्नाति = भक्षयतीति पलाशी = राक्षसस्तस्य ।

त्रिजटेति । मधुरया = माधुर्ययुक्तया, प्रसन्नयेति यावत् । मुखरेखया = मुखाकृत्या, किमपि = अनिर्वचनीयम् । प्रियम्=शुभसूचकम्, स्वप्नमिति शेषः ।

नयनकमलों से गिरने वाले अतिशय प्रगाढ अश्रुप्रवाहों से तुम्हारा थाला क्या प्रतिदिन सिक्त नहीं होता है ? (अर्थात् अवश्य होता है) ॥ १९ ॥

क्या अनसुनी कर इसने मेरे वचन को तिरस्कृत कर दिया ? वाह रे पलाशी (अर्थात् वृक्ष) की कृतघ्नता ! [आखिर पलाशी तो पलाशी (मांसभक्षक राक्षस) वह प्रत्युपकार करना क्या जाने ?]

(देखकर) क्या स्वभावतः प्रिय बोलने वाली मेरी प्रिया की कोई सखी भी यहाँ नहीं है ? (प्रवेशकर)

त्रिजटा—जानकि ! धैर्य धारण करो, धैर्य धारण करो ।

सीता—(होश में आकर) क्या, मेरी प्रियसखी त्रिजटा (है) ?

त्रिजटा – सखि ! तुम्हारी इस प्रसन्न मुखाकृति से मैं अनुमान करती हूँ कि तुमने कोई प्रिय (शुभसूचक स्वप्न) देखा है ।

सीता—अस्तीदानीं हि मया स्वप्ने स्वयं गोदानद्या स्वहस्तकलित-तरङ्गचामरधवलकमलातपत्रया परिचर्यमाण आर्यपुत्रो दृष्टः । (अत्थि दाणिं हि मए सिविणअम्मि सअं गोलाणईए सहत्थकलिदतरङ्गचामरधवलकमला-दवत्ताए परिचरिज्जन्तो अज्जउत्तो दिट्ठो)

त्रिजटा—तर्हि वर्द्धसे । सुखस्वप्नः खल्वसौ ।

सीता—कीदृशो मे रामैकचित्तायाः स्वप्ने विश्वासः ? (केरिसो मे रामेक्कचित्ताए सिविणअम्मि विस्सासो ?)

त्रिजटा—तत्किं चिन्तास्वप्न इति सम्भावयसि ? नहि । चिन्ता-स्वप्नोऽपि नैवमनुम्भितावगाही भवति ?

सीतेति । स्वहस्तेत्यादिः—स्वहस्ते = निजकरे, कलितम् = धृतम्, तरङ्गः= लहरी, एव चामरः, तथा च धवलकमलमेव = श्वेतपद्ममेव । आतपत्रम् = छत्रं यया सा तया, तथाभूतया, परिचर्यमाणः सेव्यमानः ।

त्रिजटेति । तर्हि तव कल्याणं भविष्यतीति भावः । सुखस्वप्नः = सुख-सूचकः स्वप्नः ।

सीतेति । रामैकचित्तायाः—राम एव एकः = केवलः, चित्ते यस्याः सा तस्याः । मे = मम । स्वप्ने कीदृशो विश्वासः = प्रत्ययः । यदहर्निशं नैरन्तर्येण चिन्त्यते तदेव स्वप्ने दृश्यते चेत्तर्हि स वितथफलश्चिन्तास्वप्नः कथ्यते, तस्मिन् कीदृशो विश्वासः इति सीतोक्तेरभिप्रायः ।

त्रिजटेति । चिन्तास्वप्नोऽपि नानुम्भितावगाही = चिन्तास्वप्नोऽप्येवम्

सीता—यह है कि अभी-अभी मैंने स्वप्न में स्वयं अपने हाथ में तरङ्ग रूप चँवर और श्वेतकमलरूप छत्र लिये हुए गोदावरी नदी के द्वारा सेव्यमान आर्यपुत्र को देखा है ।

त्रिजटा—तो बढ़ रही हो (अर्थात् तुम्हारा कल्याण होगा) । यह निश्चय ही कल्याणकारी स्वप्न है ।

सीता—केवल राम को चित्त में रखने वाली मेरा (इस) स्वप्न में कैसा विश्वास ?

त्रिजटा—तो क्या इसे तुम चिन्ता स्वप्न समझ रही हो ? नहीं, चिन्ता

सीता—किं पुनरचुम्बितम् ? (किं उण अचुम्बिदं ?)

त्रिजटा—यन्न सम्भाव्यते ।

सीता—

यन्न खलु सम्भाव्यते तदपि हला ! अस्त्यत्र जीवलोके ।
यज्जीवति जनकसुता अनालोकयन्त्यपि रामचन्द्रमुखम् ॥ २० ॥

(ज णहु सम्भावीअदि तं पि हला ! अत्थि अत्थ लोअम्मि ।
ज जीवइ जणअसुदा अपुलोअन्तीवि रामचन्दमुहं ॥)

अचुम्बितम् = असम्भावितम्, अवगाहते = परामृशतीति तच्छीलो न भवति । चिन्तास्वप्नोऽप्यवितथफलो भवतीति भाव ।

अन्वय —हला, यत् खलु न सम्भाव्यते, तत् अपि अत्र जीवलोके अस्ति । यत् रामचन्द्रमुखम् अनालोकयन्ती अपि जनकसुता जीवति ।

व्याख्या—हला=सखि ! ('हण्डे हञ्जे हलाह्वाने नीचां चेटीं सखीं प्रति' इत्यमर) । यद् = वृत्तम्, खल्विति निश्चये, न सम्भाव्यते = सम्भाव्यत्वेन नो चिन्त्यते, तदपि, अत्र = अस्मिन्, जीवलोके = मनुष्यलोके, अस्ति = वर्त्तते । यत् = यस्मात्, रामचन्द्रमुखम् = रामचन्द्रस्य वदनम्, अनालोकयन्ती=अपश्यन्ती अपि, जनकसुता = सीता, जीवति = प्राणान् धारयति । रामचन्द्रमुखमपश्यन्ती सीता जीवति चेत्तर्हि जगति सर्वथाप्यसम्भावितं किमपि वस्तु सम्भवितुमर्हति, तच्चिन्तास्वप्नस्याप्यचुम्बितावगाहित्वं सम्भवतीति भाव । आर्या जाति ॥२०॥

स्वप्न भी इस तरह अचुम्बित (असमावित) का अवगाहन (स्पर्श) नहीं करता है (अर्थात् चिन्ता स्वप्न भी सच्चे फल वाला होता है) ।

सीता—'अचुम्बित' का अभिप्राय क्या है ?

त्रिजटा—जो सम्भावित (होने वाला) न हो ।

सीता—सखि ! त्रिजटे ! जो निश्चय ही सम्भावित नहीं है, वह भी इस मनुष्यलोक में (होता) है । जैसे कि रामचन्द्र के मुख को न देखती हुई भी जनकसुता जी रही है ॥ २० ॥

तत् किमनेन स्वप्नेन जीवितेन वा? उपेक्षितास्म्यार्यपुत्रेण।
(ता किं इमिणा सिविणएण जीविदेण वा ? उवेक्खिदह्मि अज्जउत्तेण)

रामः—शान्तं पापम्। अयि प्रिये! हृदयस्थितापि मे कथमजानती
असंसे मे चित्तवृत्तिम्?

सीता—अथवा किमिति हरमुकुटमृगाङ्के कलङ्कमारोपयिष्ये?
जानाम्यार्यपुत्रोऽद्याप्यकलितवृत्तान्तो मे। (अहवा किन्ति हरमुउडमिअङ्के
कलङ्कं आरोवइस्सम् ? जाणामि अज्जउत्तो अज्जवि अकलिदउत्तन्तो मे)

रामः—प्रिये! इदानीमुचितमनुसन्दधासि।

सीता—(विमृश्य) कथं? (कहं ?)

सीतेति। हरमुकुटमृगाङ्के—शिवमस्तकस्थे चन्द्रे, निष्कलङ्केऽतिपवित्रे चेति भावः। कलङ्कम् = मिथ्यादूषणम्। अकलितवृत्तान्तः—अकलितः = अविदितः, वृत्तान्तः = समाचारो येन सः। आर्यपुत्रः शिवमस्तकस्थचन्द्र इव निष्कलङ्कः; तस्मिन् दोषारोपणेनालम्। आर्यपुत्रेणाद्यापि मद्विषयकवृत्तान्तो न ज्ञातः। इदमेवोपेक्षाकारणमिति सीतोक्तेरभिप्रायः।

तो इस स्वप्न से अथवा इस जीवन से (मेरा) क्या (प्रयोजन है) ? आर्यपुत्र से मैं उपेक्षित (जो) हूँ।

राम—पाप शान्त हो (अर्थात् ऐसा कहना पाप है)। अरी! प्रिये! मेरे हृदय में स्थित होकर भी मेरी चित्तवृत्ति को कैसे नहीं जान रही हो?

सीता—अथवा क्यों, शिव के भाल में स्थित (अत्यन्त पवित्र) चन्द्रमा में कलङ्क का आरोप करूँ? मैं समझती हूँ कि आर्य पुत्र को अभी तक मेरा वृत्तान्त विदित नहीं है।

राम—प्रिये! अब तुम उचित बात सोच रही हो।

सीता—(विचार कर) क्यों—

वाचालेनापि कथिता नाहं नाथस्य नूपुररवेण ?
अथवा विधिविधुरबलात्तेनापि मूकत्वं प्राप्तम् ॥ २१ ॥
(वाआलेणवि कहिदा णाहं णाहस्स णेउररवेण ।
अहवा विहिविहुरवलात्तेणवि मुअत्तण पत्तम् ॥)
(नेपथ्ये)
अये लङ्कानिवासिनः ! सावधानमवस्थीयताम्, नन्वित —
प्राकारमुन्नतमसीमबलो विलङ्घ्य
प्राप्तो रुषारुणितदृक्कपिवीर उच्चैः ।

अन्वय —वाचालेन अपि नूपुररवेण अहम् नाथस्य न कथिता । अथवा विधिविधुरबलात् तेनापि मूकत्वम् प्राप्तम् ।

व्याख्या—वाचालेन=मुखरेण, अपि, नूपुररवेण=मञ्जीरशब्देन, अहम्=सीता, नाथस्य न कथिता=आर्यपुत्राय न निवेदिता । अथवा = वा, विधिविधुरबलात्–विधि =विधाता, दैवमिति यावत्, स एव विधुर = शत्रु, तस्य बलात्=सामर्थ्यात्, तेनापि = नूपुरेणापि, मूकत्वम् प्राप्तम्=मौनत्वमासादितम् । गाथाच्छन्द ॥२१॥

अन्वय —असीमबल, रुषा अरुणितदृक्, उच्चैः कपिवीरः उन्नतम् प्राकारम् विलङ्घ्य प्राप्त ।

व्याख्या— असीमबल —नास्ति सीमा यस्य तत् असीम=अपारम्, बलम्= सामर्थ्यं यस्य स तादृश, रुषा=क्रोधेन, अरुणितदृक्—अरुणिते = रक्तीकृते दृशौ = नेत्रे यस्य स तथाभूत, उच्चैः = अतिदीर्घकाय, कपिवीर = वानरवीर, हनूमान् इत्यर्थ, उन्नतम् = उच्छ्रितम्, प्राकारम् = प्राचीरम्, विलङ्घ्य = अतिक्रम्य, प्राप्त = आगत ।

मुखर (अर्थात् झन झन करते हुए) नूपुर के शब्द ने आर्य पुत्र को मेरा पता नही दिया ? अथवा भाग्यरूप शत्रु के सामर्थ्य से (अर्थात् दुर्दैववश) वह (नूपुर) भी मूक बन गया ॥ २१ ॥

(नेपथ्य में)

अरे लङ्का के निवासियो ! सावधानी से रहो । इधर—

असीम बल वाला, क्रोध से लाल किये गये नेत्रों वाला विशालकाय वानर योद्धा ऊँची चहारदीवारी को लाँघ कर आ गया है ।

(उभे आकर्ण्य त्रासं नाटयतः)

(पुनर्नेपथ्ये)

तरसम्मुखं प्रचलति स्वयमक्षनामा
नन्वेष रक्षसपतेः कुपितः कुमारः ॥ २२ ॥

सीता—कथं पुनः सह महीधरेण वेपत इवाशोकवनम् ? (कहं उण सह महीधलेण वेव्दि व्व असोअवणम् ?)

त्रिजटा—(विमृश्य)

तुहिनकरमयूखैर्दीप्तकन्दर्पदर्प-
स्तपनकुलवधूटीं त्वामयं मुक्तलज्जः ।
अयमयमनुनेतुं रामचन्द्रैकचित्ता-
मपि स विपिनवीथीमेति लङ्काधिनाथः ॥ २३ ॥

अन्वयः—ननु कुपितः, अक्षनामा एषः राक्षसपतेः कुमारः तरसम्मुखम् स्वयम् प्रचलति ।

व्याख्या—ननु = तथा, कुपितः = क्रुद्धः, वानरवीरकृतोपद्रवादिति भावः । अक्षनामा = अक्षाभिधः, एषः = पुरो दृश्यमानः, राक्षसपतेः=रावणस्य, कुमारः= पुत्रः, तरसम्मुखम्—तस्य = कपिवीरस्य सम्मुखम्, स्वयम् = आत्मनैव, प्रचलति = गच्छति, युद्धार्थमिति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—तुहिनकरमयूखैः दीप्तकन्दर्पदर्पः मुक्तलज्जः अयम् अयम् सः लङ्काधिनाथः तपनकुलवधूटीम् रामचन्द्रैकचित्तामपि त्वाम् अनुनेतुम् विपिन-वीथीम् एति ।

व्याख्या—तुहिनकरमयूखैः—तुहिनकरस्य = चन्द्रस्य, मयूखैः = किरणैः,

(सीता और त्रिजटा, दोनों सुन कर त्रास का अभिनय करती हैं)

(पुनः नेपथ्य में)

और क्रुद्ध अक्ष नामक यह राक्षसपति (रावण) का पुत्र उसके सम्मुख स्वयं जा रहा है ॥ २२ ॥

सीता—क्यों, पर्वत-सहित अशोक वन काँप-सा रहा है ?

त्रिजटा—(विचार कर)

चन्द्रकिरणों से बढ़े हुए काम-वेग वाला निर्लज्ज, प्रसिद्ध यह लङ्केश

(सीता त्रास नाटयति)

(ततः प्रविशति रावणः)

(सीता पराङ्मुखी तिष्ठति)

रावणः—अयि जानकि !

कन्दर्पज्वरवेदनापरिपतद्बाष्पस्रुतिक्षालित
स्वर्गस्त्रीकुचकुम्भकुङ्कुमरजःस्तैयापराधोज्ज्वलम् ।
एतत्त्वां सुरदन्तिदन्तशिखरोल्लेखाङ्कविख्यापित-
प्रस्फूर्जच्चतुरन्तविश्वविजयं वक्षःस्थलं याचते ॥ २४ ॥

दीप्तकन्दर्पदर्प —दीप्त = समृद्ध , कन्दर्पस्य = कामस्य, दर्पः = वेगो यस्य स तथाभूत , मुक्तलज्ज —मुक्ता = त्यक्ता, लज्जा = व्रीडा येन स , अयम् अयम् = एप , सम्भ्रमे द्विरुक्ति , स = विश्वविश्रुत , लङ्काधिनाथ = लङ्केशो रावण , तपनकुलवधूटीम् = सूर्यकुलवधूम्, रामचन्द्रैकचित्तामपि रामचन्द्रे, एकम् = केवल, चित्तम् = हृदय यस्यास्तामपि, त्वाम् = सीताम्, अनुनेतुम् = अनुकूलयितुम्, विपिनवीथीम् = उद्यानमार्गम्, एति=प्राप्नोति । तपनकुलवधूटीमित्यनेन सीताया पवित्रतामुचयता चेत्यता, रामचन्द्रैकचित्तामपीत्यनेन रावणकृतानुनयवैफल्य द्योत्यते । मालिनी वृत्तम् ॥ २३ ॥

अन्वय —कन्दर्पज्वरवेदनापरिपतद्बाष्पस्रुतिक्षालितम् स्वर्गस्त्रीकुचकुम्भकुङ्कुमरजस्तैयापराधोज्ज्वलम् सुरदन्तिदन्तशिखरोल्लेखाङ्कविख्यापितप्रस्फूर्जच्चतुरन्तविश्वविजयम् एतत् वक्षःस्थलम् त्वाम् याचते ।

व्याख्या —कन्दर्पज्वरेत्यादि —कन्दर्प = काम , तस्य ज्वर = परिताप ,

(रावण) सूर्यकुल की वहू तथा रामचन्द्र में ही चित्त को लगाने वाली भी तुमको मनाने के लिए वन उद्यान में आ रहा है ॥ २३ ॥

(सीता त्रास का अभिनय करती हैं)

(तदनन्तर रावण प्रवेश करता है)

(सीता मुँह फेरे बैठी रहती हैं)

रावण—हे जानकि !

मदन ज्वर की वेदना से बहते हुए आँसुओं के प्रवाह से धुला हुआ, स्वर्ग

सीता—(अनाकर्णितकेन) अपि नाम पुनरपि रामचन्द्रमुखचन्द्रं प्रलोकयिष्ये ? (अवि णाम पुणोवि रामचन्दमुहचन्दं पुलोवइस्सम् ।)

त्रिजटा—जानकि ! एवं प्रलापिनि लङ्केश्वरे कर्णावधानमपि देहि ।

रामः—साधु, त्रिजटे ! प्रलाप इत्युक्तवत्यसि ।

तस्य वेदनया = पीडया, परिपततः = स्यन्दमानस्य, वाष्पस्य = अश्रुणः, स्रुत्या = प्रवाहेण, क्षालितम् = धौतम्, (तथा च) स्वर्गस्त्रीत्यादिः—स्वर्गस्त्रीणाम् = स्वर्गरमणीनाम्, कुचकुम्भाः = स्तनघटाः, घनपीनविशालपयोधरा इत्यर्थः, तेषु यानि कुङ्कुमरजांसि = काश्मीरपरागाः, तेषां स्तेयम् = चौर्यम्, तदेवापराधस्तेन उज्ज्वलम् = प्रकाशमानम्, स्वरङ्गनाऽऽलिङ्गनेन तदीयकुचकुङ्कुमपरागलिप्तमिति भावः । सुरदन्तिदन्तेत्यादिः—सुरदन्तिनाम् = दिग्गजानाम्, दन्तशिखरैः = दन्तानां तीक्ष्णाग्रभागैः, य उल्लेखः = विदारणम्, तस्य अङ्केन = चिह्नेन विश्रावितः = विश्रुतिं नीतः, प्रस्फूर्जन् = द्योतमानः, चतुरन्तविश्वस्य = चतुर्दिगन्तपर्यन्त-विश्वस्य, विजयः यस्य तत् तादृशम्, एतत् = मदीयम्, त्वाम् = सीताम्, याचते = प्रार्थयते, मामालिङ्गच विगतमदनपरितापं कुरु इति प्रार्थयते इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २४ ॥

की रमणियों के कुचकुम्भों के कुङ्कुम-पराग को चुरा लेने (अपने में लगा लेने) के अपराध के कारण प्रकाशमान, दिग्गजों के दाँतों के अग्रभाग के खरोंचों के चिह्नों से प्रसिद्धि को प्राप्त, चमकते हुए चतुर्दिगन्तविश्वविजय से सम्पन्न यह (मेरा) वक्षःस्थल तुमसे (आलिङ्गन) की याचना कर रहा है ॥ २४ ॥

सीता—(न सुनने का अभिनय कर) क्या, मैं फिर रामचन्द्र के मुखचन्द्र का दर्शन करूँगी ?

त्रिजटा—जानकि ! इस प्रकार प्रलाप करने वाले लङ्केश्वर (रावण) की ओर तनिक कान तो लगाओ ।

राम—त्रिजटे ! तुमने 'प्रलाप' यह ठीक ही कहा है ।

रावण —

यत् सन्तुष्टवत पुर पुरभिदश्छन्दोत्सवच्छेदिनो
न क्रोधादनमन्नवोद्गतशिर श्रेणी नमन्त्यामपि ।
एतत्तद्दशम शिरो मम नमत्त्वत्पादपाथोजयो-
रव्याज मिथिलेन्द्रपुत्रि ! भवतीं प्रेमातुरं याचते ॥ २५ ॥

अन्वय — मिथिलेन्द्रपुत्रि ! सन्तुष्टवत छन्दोत्सवच्छेदिन पुरभिद पुर नवोद्गतशिर श्रेणी नमन्त्यामपि यत् क्रोधात् न अनमत्, तत् एतत् मम दशमम् शिर त्वत्पादपाथोजयो नमत् अव्याजम् प्रेमातुर सत् भवतीम् याचते ।

व्याख्या—सन्तुष्टवत =मम तपसा प्रसन्नता गतस्य, छन्दोत्सवच्छेदिन —छन्द = स्वेच्छा, सकलशिरश्छेदनरूपेति भाव, तस्य उत्सव =पूर्तिजन्यहर्ष, त छिनत्ति= नवस्येव शिरसु छिन्नेषु निवारयतीति तच्छेदीस्तस्य, ममाभिलाषपूरणहर्षबाध-कस्येत्यर्थ, पुरभिद = शङ्करस्य, पुर = अग्रे, नवोद्गतशिर श्रेणी—नवोद्ग-तानाम् = नूतनोत्पन्नाना नवसङ्ख्यकाना शिरसा श्रेणी = पङ्क्तौ, नमन्त्यामपि= प्रणमन्त्यामपि, यत् = दशम शिर, क्रोधात् = सकलशिरश्छेदनोत्सवनिवारण-जनितात् कोपात्, न अनमत् = न नम्रम् अभवत, तत् = तादृशम्, एतत्, त्वत्पुरो विद्यमानम् मम = रावणस्य, दशमम् शिर, त्वत्पादपाथोजयो = त्वच्चरण-कमलयो, नमत् = प्रणाम कुर्वत्, अव्याजम्=निष्कपट यथा स्यात्तथा, प्रेमातुरम्= प्रणयाकुल सत्, भवतीम् = सीताम्, याचते = प्रार्थयते, तव प्रीतिमिति भाव । अत्र शिवस्य पुरो रावणदशममस्तकानमने छेदनोत्सवनिवारणरूपस्वापमानजनित-क्रोधस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणाद् हेतूत्प्रेक्षा । सा च इवपदानुपादानाद् गम्योत्प्रेक्षा । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २५ ॥

रावण—जानकि ! (मेरे तप से) सन्तुष्ट हुए तथा (सकल शिरों के काटने की) मेरी इच्छा के उत्सव (अर्थात् हर्ष) को (नव शिर काटने के बाद बीच ही में) रोक देने वाले पुरारि (शिव) के सामने (पुन) नये उत्पन्न हुए शिरों की पंक्ति के झुकने पर भी जो (अपनी इच्छा पूरी न किये जाने के कारण) क्रोध के कारण नहीं झुका था, वही यह मेरा दसवाँ शिर तुम्हारे चरण कमलों में झुकता हुआ निष्कपट रूप से प्रेमातुर होकर तुम से याचना कर रहा है ॥ २५ ॥

सीता—(संस्कृतमाश्रित्य)

निजे पाणौ कृत्वा कमललतिकाबालमुकुलं
ययोश्चक्रे गुञ्जन्मधुपमवतंसं रघुपतिः ।
अमीमौ कर्णौ मे वचनमिदमाकर्ण्य न कथं
विशीर्णौ ? युक्तं वा चरितमिदमन्तः कुटिलयोः ॥२६॥

रावणः—अयि जानकि ! अवलोकनमात्रेणापि तावन्मां सम्भावय ।

अन्वयः—रघुपतिः निजे पाणौ गुञ्जन्मधुपम् कमललतिकाबालमुकुलम् कृत्वा ययोः अवतंसम् चक्रे इमौ मे कर्णौ इदम् वचनम् आकर्ण्य अपि कथम् न विशीर्णौ ? वा अन्तः कुटिलयोः इदम् चरितम् युक्तम् ।

व्याख्या—रघुपतिः = आर्यपुत्रः, श्रीरामचन्द्र इति यावत्, निजे पाणौ = स्वकरे, गुञ्जन्मधुपम्—गुञ्जन्तः = शब्दायमानाः, मधुपाः = भ्रमराः यस्मिंस्तत् तादृशम्, एतेन रामस्य कृतभ्रमरदंशनोपेक्षत्वं सूचितम् । कमललतिकाबालमुकुलम् कमललतिकायाः = नलिन्याः बालमुकुलम् = नवकुड्मलम्, कृत्वा = आदायेत्यर्थः, ययोः = कर्णयोः, अवतंसम् = भूषणम्, चक्रे = अकरोत्, इमौ = एतौ, मे = मम कर्णौ = श्रोत्रे, इदम् = रावणोक्तम्, वचनम् = वाक्यम्, दुर्वचनमित्यर्थः, आकर्ण्य= श्रुत्वाऽपि, कथम् = केन प्रकारेण, न विशीर्णौ = न विदीर्णौ । पक्षान्तरमाह— वा = अथवा, अन्तः = अभ्यन्तरे, हृदये इत्यपि, कुटिलयोः=वक्रयोः दुष्टयोरित्यपि, इदम् = एतत्, चरितम् = आचरणम्, युक्तम् = उचितम्, अत्र सामान्येन विशेष-समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासो ऽलङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ २६ ॥

सीता—(संस्कृत भाषा का आश्रयण कर)

आर्यपुत्र (रामचन्द्र) ने अपने हाथ में, गूँजते हुए भौंरों वाली, कमलिनी की नूतन कली को लेकर जिनमें भूषण बनाया, (वे) ये मेरे कान (रावण के) यह (दुष्ट) वचन सुन कर भी फट क्यों नहीं गये ? अथवा भीतर (हृदय में) कुटिल (१—वक्र, २—दुष्ट) इन कानों का यह व्यवहार उचित ही है ॥ २६ ॥

रावण—हे जानकि ! मुझे अवलोकनमात्र से भी तो संम्मानित कर दो ।

सीता—अयि निशाचर ! एतावत्प्रार्थनाभङ्गलाघवात् राघवादपि न बिभेषि।

रावण—अये ! क एष राघवो नाम ? यं किल जनो राम इति जल्पति ? (विहस्य)।

कामः कियानसिलतानिहितैकबाहु-
क्रीडार्दितत्रिभुवनस्य दशाननस्य।
रामस्तु केवलमयं सुमुखि ! त्वदर्थे
मां हन्ति हन्त ! न चिरान्निशितैः शरौघैः ॥२७॥

कामः कियानिति।

अन्वयः—असिलतानिहितैकबाहुक्रीडार्दितत्रिभुवनस्य दशाननस्य कामः कियान् ? सुमुखि ! अयम् रामः तु केवलम् त्वदर्थे निशितैः शरौघैः न चिरात् माम् हन्ति, हन्त !

व्याख्या—असिलतेत्यादि—असिलतायाम् = खड्गयष्टौ निहितः = स्थापितः, एकः बाहुः = भुजः, तस्य क्रीडया = लीलया अर्दितम् पीडितम्, त्रिभुवनम् = लोकत्रयं येन तस्य, दशाननस्य = रावणस्य, कामः कियान् = कामदेवः किं-परिमाणः ? अगण्य इति। अत्र मदनातुरो रावणश्चित्तसंमोहात् रामः इत्यस्य स्थाने कामः इति, अग्रे च तथा कामः इत्यस्य स्थाने रामः इति पठति। सुमुखि ! = सुन्दरि ! अयम् = एषः, रामः रामचन्द्रस्तु, केवलम् = पूर्णं यथा स्यात्तथा,

सीता—हे राक्षस ! प्रार्थनाभङ्ग से होने वाली (अपनी) इतनी (बड़ी) लघुता से और राघव (रामचन्द्र) से भी क्यों नहीं डरते हो ?

रावण—अरे ! यह राघवनाम वाला कौन है ? जिसे लोग राम कहते हैं ? (जोर से हँसकर)

तलवार पर रक्खे गये एक भुज की क्रीडा से त्रिभुवन को पीडित कर देने वाले रावण के लिए काम क्या है ? सुमुखि ! यह राम ही, केवल तुम्हारे लिए तीक्ष्ण बाण समूहों से शीघ्र ही मुझे मार रहा है—(यही) खेद है।

विमर्श—यहाँ कामातुर होने के कारण चित्त सम्मोह वश रावण ने "राम"

सीता—सत्यमेतत् ।

रावणः—(स्वगतम्) कथमन्यदेव किमप्युक्तवानस्मि ? (तदेव विपरीतं पठित्वा) अयि जानकि ! तावन्मां जीवय नयनामृतेन ।

सीता—तदा त्वामपि लङ्केश ! विलोकयिष्यति जानकी ।

रावणः—(सप्रत्याशम्) तत्कथय समयम् । अयं हि—

मन्दोदरीमपि विमुञ्चति राज्यमेत-
दप्युन्मदं तव पदाब्जतले करोति ।
किं जल्पितेन बहुना सुमुखि ! त्वदर्थे
स्वान्युच्छिनत्त्यपि शिरांसि पुनर्दशास्यः ॥ २८ ॥

त्वदर्थे = त्वत्कृते, निशितैः = तीक्ष्णैः, शरौघैः = बाणसमूहैः, न चिरात् = शीघ्रमेव, माम्=रावणं, हन्ति=व्यापादयति, हन्तेति खेदे । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥२७॥

सीतेति । लङ्केश = रावण ! तदा=तस्मिन् काले, रामेण त्वयि रावणे निहते, त्वमपि विलोकयिष्यति = त्वयि घृणामयीं दृष्टिं प्रक्षेप्स्यतीति भावः ।

अन्वयः—सुमुखि ! दशास्यः त्वदर्थे मन्दोदरीमपि विमुञ्चति, उन्मदम् एतद् राज्यमपि तव पदाब्जतले करोति, बहुना जल्पितेन किम् ? स्वानि शिरांसि अपि पुनः उच्छिनत्ति ।

व्याख्या—सुमुखि = सुन्दरि ! दशास्यः—दश आस्यानि = मुखानि यस्य

के स्थान पर "काम" और 'काम' के स्थान पर "राम" का प्रयोग कर दिया जिससे उसकी प्रमादावस्था सूचित होती है ॥ २७ ॥

सीता—यह सच है ।

रावण—(मन ही मन) क्या मैंने कुछ और ही कह दिया ? (उसी श्लोक को विपरीत प्रकार से—काम की जगह राम और राम की जगह काम कहते हुए पढ़कर) हे जानकि ! मुझे नेत्रामृत से जिला लो ।

सीता—लङ्केश ! उसी समय (राम के द्वारा तुम्हारे मारे जाने पर) जानकी तुम्हें भी (घृणापूर्ण दृष्टि से) देखेगी ।

रावण—(उत्कण्ठा मिश्रित आशा के साथ) तो (मेरी ओर देखने का) समय बतला दो । निश्चय ही यह—

सुन्दरि ! रावण तुम्हारे लिए मन्दोदरी को भी छोड़ता है; सर्वथा समृद्ध इस

सीता—अपि खद्योतभामापि समुन्मीलति पद्मिनी ?

रावण —(सक्रोधम्) आः पापे ! यावत् किल तपनखद्योतयोस्तावदेवान्तरं रामरावणयोः ? यदियं हन्यसे । (इति खड्गमुत्पाटयति) ।

राम —

हा जानकि ! त्वमधुनासि कथं भवित्री

स, रावण इत्यर्थः त्वदर्थे = त्वत्कृते मन्दोदरीमपि = तन्नाम्नीं स्वमहिषीमपि, विमुञ्चति = परित्यजति । उन्मदम् = अत्य तमगृद्धम्, एतद्राज्यमपि, तव = सीतायाः, पदाब्जतले = चरणकमलाधस्तले, तदधीन्ये इति भावः । करोति = विदधाति । बहुना जल्पितेन किम् = अधिककथनेन किं प्रयोजनम् ? स्वानि = स्वकीयानि, शिरांसि अपि=मस्तकान्यपि, पुनः = भूयः, छिनत्ति = खण्डयति । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २८

सीतेति । अपीति = प्रश्ने । खद्योतभामापि=खद्योतज्योत्स्नयापि । पद्मिनि= कमलिनी, समुन्मीलति = विकसति । यथा कमलिनी सूर्यभासैव विकसति, नहि खद्योतज्योतिषा तथैव सीता रामचन्द्रदर्शनेन प्रसीदति, न हि राक्षसाधमचाटूक्त्येति भावः ।

अन्वय —हा जानकि ! अधुना त्वम् कथम् भवित्री असि ?

व्याख्या—हा जानकि = सीते, अधुना = रावणखड्गे उद्यते, त्वम् = सीता कथम् = केन प्रकारेण, भवित्री = भाविनी, असि = वर्तसे ?

राज्य को भी तुम्हारे चरण कमल के तले करता है। अधिक कहने से क्या ? तुम्हारे लिए अपने सिरों को भी फिर से काट रहा है ॥ २८ ॥

सीता—क्या जुगनू की चमक से भी कमलिनी खिलती है ? (अर्थात् जैसे जुगनू के प्रकाश से कमलिनी का खिलना असम्भव है, ठीक वैसे ही राम में केवल चित्त लगाने वाली सीता का तुम रावण से प्रसन्न होना असम्भव है।

रावण—(क्रोध के साथ) आह ! पापिनि ! क्या जितना अन्तर सूर्य और जुगनू में है, उतना ही अन्तर राम और रावण में (भी) है ? तो यह तुम मारी जा रही हो। (ऐसा कहकर तलवार निकालता है)।

राम—हा सीते ! अब तुम कैसी होओगी ? (अर्थात् बचोगी या मरी जाओगी)

(सविचिकित्सम्)
धिग् दैवतं ! तव सुदारुण एष पाकः ।
(सक्रोधम्)
आः पाप ! राक्षसकुलाधम ! संहृतोऽसि
(ससंभ्रमम्)
हे वत्स ! लक्ष्मण ! धनुर्धनुरेष कालः ॥ २६ ॥

सविचिकित्सम् = ससंशयम् ।

अन्वयः—दैवतम् धिक्, तव पाकः सुदारुण एव ।

व्याख्या—दैवतम् = विधिम्, धिक् = धिगस्तु, (येन) तव = सीतायाः सुदारुणः = अतिभीषणः, एषः = पुरो दृश्यमानः, पाकः = फलभोगः (अस्ति) सक्रोधम् = सकोपम् ।

आः पाप ! राक्षसकुलाधम ! संहृतः असि ।

व्याख्या—आः इति क्रोधद्योतकमव्ययम् । पाप = पापिन् ! राक्षसकुलाधम = राक्षसकुलनिकृष्ट ! संहृतः=व्यापादितः असि, ('वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा' इति भविष्यदर्थे लट्) । 'मया शीघ्रमेव त्वं व्यापाद्यसे' इति भावः ।

ससम्भ्रमम् = शीघ्रतापूर्वकम् ।

अन्वयः—हे वत्स ! लक्ष्मण ! धनुः धनुः एषः कालः ।

व्याख्या—वत्स ! लक्ष्मण ! धनुः धनुः = शीघ्रमेव धनुर्देहि रावणहननायेति भावः । सम्भ्रमे द्विरुक्तिः । एषः कालः = अयं समयः, रावणहननस्येति शेषः । लक्ष्मण इति । ऐन्द्रजालिकविलोकनात्—इन्द्रजालस्येदमित्यैन्द्रजालिकम् = इन्द्रजालकार्यम् तस्य विलोकनात् = दर्शनात् । सम्भ्रम्यते = सम्भ्रमः क्रियते ।

(संशय के साथ) ।
भाग्य को धिक्कार ! (जिससे) तुम्हारा यह अत्यन्त दुःखद फलभोग है ।
(क्रोध के साथ) ।
आह ! पापिन् ! राक्षसकुलाधम ! (अभी) तू (मेरे द्वारा) मारा जाता है ।
(शीघ्रता के साथ)
हे वत्स ! लक्ष्मण ! धनुष (लाओ), धनुष (लाओ), यही समय है ॥२६॥

लक्ष्मण—आर्य ! किमिदमैन्द्रजालिकविलोकनादलोकमेव सम्भाव्यते ?

रावण—अयि जानकि अयमसावुदीर्णकरालकरवाल. कालभुजङ्ग तदिदानीमपि दशकण्ठभुजाश्लेषभेषजमनुजानीहि ।

सीता—

विरम विरम रक्ष किं मुधा जल्पितेन
स्पृशति नहि मदीयं कण्ठसीमानमन्य ।
रघुपति-भुजदण्डादुत्पलश्यामकान्ते-
र्दशमुख ! भवदीयान्निष्कृपाद्वा कृपाणात् ॥ ३० ॥

रावण इति । उदीर्णकरालकरवाल—उदीर्ण = कोषादुद्धृत, कराल = भीषण, करवाल = खड्ग, कालभुजङ्ग = कृष्णसर्प । दशकण्ठभुजाश्लेष-भेषजम्-दशकण्ठस्य=मम रावणस्य, भुजानाम्-बाहूनाम्, आश्लेष =आलिङ्गनमेव भेषजम् = औषधम् । मदालिङ्गनमेव करालकरवालरूपकृष्णसर्पस्यौषधम्, अनुजानीहि = स्वीकुरु ।

अन्वय—रक्ष ! विरम विरम । मुधा जल्पितेन किम् ? दशमुख ! उत्पल-श्यामकान्ते रघुपतिभुजदण्डात्, वा निष्कृपात् भवदीयात् कृपाणात् अन्य मदीयाम् कण्ठसीमानम न हि स्पृशति ।

व्याख्या—रक्ष = हे राक्षस ! रावण ! विरम विरम=विरतो भव, विरतो भव, प्रलापादिति भाव । ('व्याङ्परिभ्यो रम' इति परस्मैपदम्) । सम्भ्रमे द्विरुक्ति । मुधा = व्यर्थम्, जल्पितेन = कथनेन, किम = किं फलम् ? किमपि फल नास्तीति भाव । उत्पलश्यामकान्ते—उत्पलस्य = नीलकमलस्येव श्यामा= नीला, कान्ति = आभा यस्य स तस्मात्, रघुपतिभुजदण्डात्—रघुपते = राम-

लक्ष्मण—आर्य ! इन्द्रजाल का खेल देखने से आप यह क्या व्यर्थ में ही उतावली कर रहे हैं ?

रावण—हे जानकि ! म्यान से निकला हुआ यह भीषण खड्ग काला सर्प है। तो (इससे बचने के लिए) अब भी रावण के बाहुओं के आलिङ्गन रूप औषध को स्वीकार कर लो।

सीता—हे राक्षस ! रुको, रुको। व्यर्थ बकवास से क्या लाभ ? नीलकमल

रावणः—किमतः परं कालक्षेपेण । तदहमिदानीमस्याः कण्ठरुधिरेण कालिकामर्चयामि । (इति खड्गधारां परामृशति)

रामः—अहह !!!

विधिरकरुणः, स्फीतं स्फीतं तमः परिजृम्भते,
जलधिसलिले मग्नं विश्वं, युगं परिवर्त्तते ।
कुवलयदलस्रक्संश्लेषोत्सवैकपदे पदं
यदयमदयः सीता-कण्ठे करोति कृपाणकः ॥ ३१ ॥

चन्द्रस्य, भुजदण्डात् = बाहुदण्डात्, वा = अथवा, निष्कृपात् = निष्करुणात्, भवदीयात् = त्वदीयात् = कृपाणात् = खड्गात्, अन्यः = अपरः, ('अन्य' पदेन योगे पञ्चमी 'अन्याराद्धितरर्ते दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' इति सूत्रेण)। मदीयाम् = मत्सम्बन्धिनीम्, कण्ठसीमानम् = कण्ठस्य = ग्रीवायाः, सीमानम् = सीमाम् ('सीमसीमे स्त्रियामुभौ' इत्यमरः) न हि स्पृशति = न स्प्रक्ष्यतीत्यर्थः ('वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति भविष्यदर्थे लट्)। "आलिङ्गनव्यतिकरे श्रीरामचन्द्रस्य भुजदण्ड एव मम कण्ठप्रदेशं स्पृशति । तव प्रार्थनां न स्वीकरोमि, तन्निजकृपाणेन झटिति मम शिरश्छिन्धि" इति सीतोक्तेरभिप्रायः । अत्र विकल्पालङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—'विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः' । इति । मालिनीवृत्तम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—विधिः अकरुणः । स्फीतम् स्फीतम् तमः परिजृम्भते । विश्वम् जलधिसलिले मग्नम् । युगम् परिवर्त्तते । यत् अदयः अयम् कृपाणकः कुवलयदलस्रक्संश्लेषोत्सवैकपदे सीताकण्ठे पदम् करोति ।

व्याख्या—विधिः = विधाता, अकरुणः = निर्दयः (अस्ति) । स्फीतम्

के समान नीली कान्ति वाले रामचन्द्र के भुजदण्ड अथवा निर्दय तुम्हारे कृपाण के अतिरिक्त कोई दूसरा मेरी कण्ठ सीमा का स्पर्श नहीं कर सकता ॥ ३० ॥

रावण—इससे अधिक समय बिताने से क्या लाभ ? तो मैं अब इस (सीता) के कण्ठ के रक्त से काली जी की अर्चना करता हूँ । (ऐसा कहकर खड्ग की धारा को हाथ से सहलाता है) ।

राम—अहह !

विधाता निर्दय है । अत्यन्त घना अन्धकार चारों ओर फैल रहा है । सारा

(पुनर्विमृश्य) हन्त भो ! !

चान्द्रीं लेखां दशति दशनैर्दारुणः सैंहिकेयो
नव्यां वल्लीं दवदहनकश्चान्दनीं दन्दहीति ।
अप्युन्मत्तः कुवलयमयीं मालिकामालुनीते
मूलादुन्मूलयति नलिनीं दुष्टहस्ती करेण ॥ ३२ ॥

स्फीतम् = अतिनिबिडम्, तमः = अन्धकार, परिजृम्भते = प्रबलं प्रसरति । विश्वम् = जगत्, जलधिसलिले = समुद्रजले, मग्नम् = सर्वथा लुप्तम् । युगपरिवर्तते = युगपरिवर्तनं भवति, त्रेतायुगं समाप्तिं गच्छति, प्रलयकाल आगत इति भाव । यत् = यस्मात्, अदयः = अकरुणः, अयम् = एषः, कृपाणकः = खड्गः, रावणस्येति भावः । कुवलयदलस्रक्संश्लेषोत्सवैकपदे-कुवलयदलानाम् = नीलकमलपत्राणां या स्रक् = माला, तस्याः संश्लेषः = मिलनम्, धारणमित्यर्थः, तेन य उत्सवः = शोभा, तस्य एकम् = केवलम्, पदम् = स्थानम्, नीलकमलमालामात्रधारणयोग्येऽतिकोमल इति भावः । सीताकण्ठे, पदम् = स्थानम्, करोति = प्रहरतीत्यर्थः । हरिणी वृत्तम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—दारुणः सैंहिकेयः, दशनैः चान्द्रीम् लेखाम् दशति । दवदहनकः चान्दनीम् नव्याम् वल्लीम् दन्दहीति । उन्मत्तः अपि कुवलयमयीम् मालिकाम् आलुनीते । दुष्टहस्ती करेण नलिनीम् मूलात् उन्मूलयति ।

व्याख्या—दारुणः = अतिनिर्दयः, सैंहिकेयः -सिंहिकायाः अपत्यं पुमान् सैंहिकेयः = सिंहिकापुत्रः, राहुरित्यर्थः, अपत्यार्थे सिंहिकाशब्दात् 'स्त्रीभ्यो ढक्' इति ढक् । दशनैः = दन्तैः, चान्द्रीम् = चन्द्रसम्बन्धिनीम्, लेखाम् = कलाम्,

संसार सागर के जल में सर्वथा लुप्त हो रहा है । युग परिवर्तित हो रहा है । जो (रावण का) यह निर्दय कृपाण नीले कमलों की माला पहिनने में आनन्द के एकमात्र स्थान (अर्थात् नीलकमलों की माला धारण करने से सुशोभित होने योग्य) सीता के कण्ठ में स्थान बना रहा है (अर्थात् प्रहार करने जा रहा है) ॥ ३१ ॥

(फिर से विचार कर) हाय ! रे !

अत्यन्त निर्दय राहु दाँतों से चन्द्र-कला को चबा रहा है । दावानल चन्दन

सीता —

चन्द्रहास ! हर मे परितापं, रामचन्द्रविरहानलजातम् ।
त्वं हि कान्तिजितमौक्तिकचूर्ण, धारया वहसि शीतलमम्भः ॥३३॥

दशति = चर्वति । दवदहनकः = वनाग्निः, चान्दनीम् = चन्दनसम्बन्धिनीम्, नव्याम् = नूतनाम्, सुकोमलामिति यावत्, वल्लीम् = लताम्, दन्दहीति = अतिशयेन दहति । उन्मत्तः अपि = विक्षिप्तजनश्च, कुवलयमयीम् = उत्पल-निर्मिताम् ('स्यादुत्पलं कुवलयम्' इत्यमरः) विकारार्थे मयट् । मालिकाम् = मालाम्, आलुनीते = खण्डयति । दुष्टहस्ती = मत्तगजः, करेण = शुण्डादण्डेन, नलिनीम् = कमलिनीम्, मूलात् = मूलभागादेव, उन्मूलयति = उत्पाटयति । रावणकर्तृकसीतावधः राहुकर्तृकचन्द्रलेखादंशनादितत्तत्कुकृत्यसम इति भावः । अत्र मालारूपनिदर्शनालङ्कारः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—चन्द्रहास ! रामचन्द्रविरहानलजातम् मे परितापम् हर । हि कान्तिजितमौक्तिकचूर्ण ! त्वम् धारया शीतलम् अम्भः वहसि ।

व्याख्या—चन्द्रहास = हे रावणकृपाण ! रामचन्द्रविरहानलजातम्—रामचन्द्रस्य विरह एव अनलः, तस्माज्जातम् = उत्पन्नम्, मे = मम, सीतायाः, परितापम् = सन्तापम्, हर = विनाशय । मम मरणादेव विरहानलसन्तापो नश्येदिति त्वं मत्कण्ठं छिन्धीति सीतोक्तेराशयः । हि = यतः, कान्तिजितमौक्तिक-चूर्ण—कान्त्या = स्वप्रभया, जितम् = तिरस्कृतम्, मौक्तिकचूर्णम् = मौक्तिकरजः, येन स तत्सम्बुद्धौ, तादृश हे चन्द्रहास ! त्वम् = चन्द्रहासः, धारया = तीक्ष्णाग्र-भागेन, शीतलम् = शीतम्, सन्तापापहारकमिति भावः । अम्भः = जलम्, तैक्ष्ण्यमित्यपि, वहसि = धारयसि । तव तीक्ष्णाग्रभागेन निहताया मम विरहानल-सन्तापः प्रशमं गमिष्यति तस्मात्तथैव कुर्विति भावः । अत्र विरहानलसन्तापहरण-

---

की नूतन लता को अतिशय जला रहा है । (कोई) पागल कुवलयमाला को छिन्न-भिन्न कर रहा है । दुष्ट (अर्थात् मदोन्मत्त) गज सूँड से कमलिनी को जड़ से उखाड़ रहा है ॥ ३२ ॥

सीता—हे चन्द्रहास (खड्ग) रामचन्द्र के विरहानल से उत्पन्न मेरे सन्ताप को दूर करो । क्योंकि (अपनी) कान्ति से मुक्ताचूर्ण को जीतने वाले !

रावण—क कोऽत्र भो ? सत्वर मम करे कपालपात्रमर्प्यता येनाऽस्या कण्ठरुधिर प्रतीच्छामि। (इत्यशोकविटपान्तराले हस्त प्रसार्य) कथ न्यस्तमेव केनापि मम करतले कपालम्। (विलोक्य) (सचमत्कारम्) अये न कपालमेतत्, किन्त्वशस्त्रच्छिन्न शिर एव कस्यापि (विमृश्य) कस्य पुनरिदम् ? नूनमक्षकुमारस्य। (इति मूर्च्छित पतति)।

त्रिजटा—अयि लङ्केश्वर ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि।

रावण—(समाश्वस्य) नूनमिद तस्य दुष्टकपेर्विजृम्भितम्। तेन तमेव तावदग्रे पातयामि।

रूपकार्थस्य, धारया शीतलजलवहनरूपकारणेन समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार। तल्लक्षण यथा—'सामान्य वा विशेषेण, विशेषस्तेन वा यदि। कार्यं च कारणेनेद कार्येण च समर्थ्यते। साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा तत। इति। स्वागता वृत्तम्॥ ३३॥

रावण इति। कपालपात्रम्—कपाल = कर्पर, मृतनरस्येति भाव। तद्रूप पात्रम् = भाजनम्। प्रतीच्छामि = गृह्णामि। दुष्टकपे = दुष्टवानरस्य, हनूमत इत्यर्थ। विजृम्भितम् = विचेष्टितम्। तेन = कारणेन। अग्रे = प्रथमम्। तमेव= दुष्टवानरम्। पातयामि = व्यापादयामीति भाव।

तुम (अपनी) धार में शीतल (अर्थात् सन्तापहारी) जल (शीतलता) रखते हो॥ ३३॥

रावण—अरे कौन, कौन है यहाँ ? शीघ्र मेरे हाथ में खप्पर पात्र दो जिससे इसके कण्ठ के रक्त को ग्रहण करूँ। (ऐसा कहकर अशोक की शाखा के बीच में हाथ फैलाकर) क्या, किसी ने मेरे हाथ में कपाल रख ही दिया ? (देख कर) (आश्चर्य के साथ) अरे ! यह कपाल (खप्पर) नहीं, बल्कि बिना शस्त्र के, काटा गया किसी का शिर ही है। (विचार कर) यह किसका है ? निश्चय ही अक्षकुमार का है। (ऐसा कह कर मूर्च्छित होकर गिरता है)

त्रिजटा—हे लङ्केश्वर ! धैर्य धारण करो, धैर्य धारण करो।

रावण—(होश में आकर) निश्चय ही, उस दुष्ट वानर का काम है। अत इस समय पहले उसी को (मार) गिराता हूँ।

(इति निष्क्रान्तः)

रामलक्ष्मणौ—(सहर्षम्) अहो ! संविधानवैदग्धी ।

त्रिजटा—(सीतामालिङ्ग्य) सखि ! पुण्येन जीवितासि ।

सीता—अपुण्येनेति भण । (अपुण्णेणेति भणिज्ज)

त्रिजटा—कथमिव ?

सीता—कथं पुनस्तदपुण्यं न भवति ? यत्किल रामचन्द्रविरहतापनिर्वापण्या चन्द्रहासधारयोपेक्षितास्मि । तत्किमनेन जीवितेन ? इह दारुसञ्चयेऽग्निं प्रज्वालय, यत्रेमान्यङ्गानि शीतलयामि । (कहं उण तं अपुण्णं ण होइ ? जं किर रामचन्दविरहतावणिव्वावणीए चन्दहासधाराए उवेक्खिदह्मि । ता किं इमिणा जीविदेण ? इह दारुसंचअम्मि अग्गिं पज्जालेहि जत्थ इमाइं अङ्गाइं सीअलअम्मि)

त्रिजटा—शान्तं पापम् । नन्वचिरादेव निजाङ्गकानां—

रामलक्ष्मणाविति । संविधानवैदग्धी—संविधानम् = दैवकृता व्यवस्था तस्य वैदग्धी = नैपुण्यम् ।

सीतेति । रामचन्द्रविरहतापनिर्वापण्या—रामचन्द्रस्य यो विरहः वियोगस्तस्य तापः = सन्तापः, तस्य निर्वापणी = शमयित्री, तया ।

(ऐसा कहकर निकल गया)

राम और लक्ष्मण—(हर्ष के साथ) (दैवकृत) व्यवस्था का नैपुण्य आश्चर्य जनक होता है (अर्थात् यह विधि का विधान खूब रहा) ।

त्रिजटा—(सीता को हृदय से लगाकर) सखि ! पुण्य से जीवित (बच गयी) हो ।

सीता—'अपुण्य से'–ऐसा कहो ।

त्रिजटा—कैसे ?

सीता—तो क्या, वह अपुण्य नहीं होता है जो कि रामचन्द्र के विरह सन्ताप को बुझाने वाली चन्द्रहास की धारा से उपेक्षित कर दी गयी हूँ । तो इस जीवन से क्या (प्रयोजन) ? यहाँ लकड़ी के ढेर में आग जला दो, जिसमें इन अङ्गों को शीतल करूँ ।

त्रिजटा—पाप शान्त हो (अर्थात् ऐसा कहना पाप है) निश्चय ही शीघ्र ही अपने अङ्गों के—

हिमकरकिरणकर्म्बितमरक्तमयपीनपट्टकप्रतिमे।
मलयजपरागरजसि रामोरसि तापमपहरसि ॥ ३४ ॥

सीता—हला ! किमनेनालीकजल्पितेन ? सर्वमेवानलप्रवेशेन व्यवसितास्मि। तदुपनय मेऽङ्गारसण्डकम्। (हला किं इमिणा अलीअजप्पिदेण ? सव्व जेव्व अणलप्पवेसेण ववसिदह्मि। ता उवणेहि अङ्गारखण्डअम्)

राम—हन्त भोः ! ! कथमपि शार्दूलमुखान्मुक्तनाद्यः पुनरपि शबरवागुरामवतीर्णाया. कुरङ्गवध्वा भङ्गीमङ्गीकृतवती जानकी।

अन्वय—हिमकरकिरणकर्म्बितमरक्तमयपीनपट्टकप्रतिमे मलयजपरागरजसि रामोरसि तापम् अपहरसि।

व्याख्या—हिमकरेत्यादि—हिमकरस्य = चन्द्रस्य किरणैः कर्म्बितम् = मिश्रितम् कर्बुरमिति यावत्, मरकतमयम् = नीलमणिनिर्मितम्, पीनम्=विशालम्, पट्टकम् = शिलाखण्डम्, तत्प्रतिमे = तत्सदृशे, मलयजपरागरजसि—मलयजस्य = चन्दनस्य पराग एव रजः = धूलिर्यस्मिन् तत् तस्मिन्, रामोरसि—रामस्य उरसि = वक्षःस्थले, तापम् = सन्तापम्, अपहरसि = दूरीकरिष्यसि। अत्र भविष्यदर्थे 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति लट्। चन्द्रकिरणकर्बुरितमरकतशिलासदृशे चन्दनदिग्धे विस्तीर्णे रामवक्षःस्थले शीघ्रमेव निजालिङ्गनेन तापं दूरीकरिष्यसीति भावः। अत्रोपमालङ्कारः। आर्या जातिः।३४।

राम इति। शार्दूलमुखात् = सिंहमुखात्। शबरवागुराम् = किरातपाशाम्। भङ्गीम्=पद्धतिम्। सिंहमुखात् नष्टत्राणा, पुनरपि किरातपाशमवतीर्णा मृगवधूरिव सीता कथञ्चिद्रावणात्लब्धत्राणा पुनरप्यग्निं प्रवेष्टुमुद्यतेति खेदस्य विषय इति रामोक्तेरभिप्रायः।

चन्द्रमा की किरणों से चितकबरे (मुख्य श्याम, किन्तु कहीं-कहीं उज्ज्वल) किये गये नीलमणिमय विस्तृत शिलाखण्ड के समान, चन्दन-चूर्ण से धूसरित, रामचन्द्र के वक्ष स्थल पर सन्ताप को दूर करोगी ॥ ३४ ॥

सीता—सखि ! इस झूठ बोलने से क्या ? अग्नि में प्रवेश करने के लिए सब तरह से उद्यत हूँ। तो मुझे अङ्गार का टुकड़ा ले आ दो।

राम—हाय रे किसी तरह सिंह के मुख से बच निकली तथा पुनः व्याध के जाल में पड़ गयी मृगी की पद्धति को जानकी ने अङ्गीकार किया है।

त्रिजटा—(निर्गत्य, प्रविश्य च) असुलभानलोऽयं प्रदेशः ।
रामः—(सहर्षम्) त्रिजटे ! दिष्ट्या रक्षितस्त्वया रामः ।
सीता—(संस्कृतमाश्रित्य, अशोकं प्रति)

कुरु सकरुणं चेतः श्रीमन्नशोकवनस्पते !
दहनकणिकामेकां तावन्मम प्रकटीकुरु ।
ननु विरहिणां सन्तापाय स्फुटीकुरुते भवान्
नवकिसलयश्रेणीव्याजात्कृशानुशिखावलिम् ॥ ३५ ॥

त्रिजटेति । असुलभानलः—न सुलभः अनलः = अग्निर्यत्र स तथाभूतः । 'इदानीमत्राग्निर्न सुलभः' इति त्रिजटाया अभिप्रायः ।

राम इति । रक्षितस्त्वया रामः, सीतां रक्षित्वेति भावः ।

अन्वयः—श्रीमन् अशोकवनस्पते ! चेतः सकरुण कुरु । तावत् एकाम् दहनकणिकाम् मम प्रकटीकुरु । ननु भवान् विरहिणाम् सन्तापाय नवकिसलयश्रेणीव्याजात् कृशानुशिखावलिम् स्फुटीकुरुते ।

व्याख्या—श्रीमन् = ऐश्वर्यशालिन् ! अशोकवनस्पते=अशोकवृक्ष ! चेतः= हृदयम्, सकरुणम् = सदयम्, कुरु = विधेहि । तावत् = सम्प्रति, एकाम्, दहनकणिकाम् = अनलकणम्, मम = सीतायाः, 'कृते' इति शेषः । प्रकटीकुरु = उत्पादय । ननु = निश्चयेन, भवान् = अशोकवृक्षः, विरहिणाम् = वियोगिनाम्, सन्तापाय=दाहाय, नवकिसलयश्रेणीव्याजात्—नवानाम्=अचिरोद्गत नाम्, किसलयानाम्=पत्राणाम्, श्रेणी=पङ्क्तिस्तस्या व्याजात्=छलात्, कृशानुशिखावलिम् = अग्निज्वालाश्रेणीम्, स्फुटीकुरुते प्रकटीकुरुते । यत्र त्वं विरहिणां सन्तापायाग्निज्वालाश्रेणीं प्रकटीकरोषि तत्र मम विरहिण्याः कृते सदयमेकमनलकणमेवोत्पाद्य देहीति भावः । अत्रोत्तरार्धे कैतवापह्नुतिरलङ्कारः । पूर्वार्द्धगतदहनकणप्रदानरूप-

त्रिजटा—(निकल कर, और पुनः प्रवेशकर) इस स्थान में आग सुलभ नहीं है ।

राम—(हर्ष के साथ) त्रिजटे ! भाग्य से तुमने राम को बचा लिया ।

सीता—(संस्कृत का आश्रयण करके, अशोक वृक्ष के प्रति)

श्रीमन् अशोक वृक्ष ! हृदय को दयापूर्ण कीजिए । इस समय मेरे लिए

(विलोक्य सहर्षम्) हन्त ! पश्य पश्य, निपतितं तावदस्य शिखरादङ्गारखण्डकम् । (हला ! पेक्ख पेक्ख । निवडिदं दाव इमस्स सिहरादो अङ्गारखण्डअम्) (इत्युपसृत्य ग्रहीतुमिच्छति)

राम —

अये ! कथमशोकोऽपि ममाय शोकतां गत ?

लक्ष्मण —आर्य ! अनुपपन्नमिदं यत्किल तरुशिखरमङ्गारखण्डकमुद्गिरति ।

कार्यस्य, उत्तरार्द्धगतवह्निज्वालावलीप्रकाशनरूपकारणेन समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार । द्वयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कलनात् सङ्कर । हरिणी वृत्तम् ॥ ३५ ॥

अये कथमिति । अन्वय —अये ! अयम् अशोक अपि कथम मम शोकताम् गत ?

व्याख्या—अये ! लक्ष्मण ! अयम् = एष , अशोक = अशोकनामा वृक्ष अपि कथम् = कस्मात् हेतो , मम = रामस्य, शोकताम्—शोक = लक्षणया शोककारणमित्यर्थ , तस्य भावस्तत्ता ताम्, शोककारणताम्, गत = प्राप्त । अयमशोकोऽप्यङ्गारखण्डनिपातनेन मत्कृतेऽतिशयसन्तापजनको जात इति भाव । अशोक शोकता गत इति विरोध ।

लक्ष्मण इति । अनुपपन्नम् = न युक्तियुक्तम् ।

आग का एक कण प्रकट कीजिए । निश्चय ही आप विरहियों के लिए नूतनकिसलयों की पंक्ति के बहाने आग की लपटों की पंक्ति प्रकट करते हैं ॥ ३५ ॥

(देखकर, हर्षपूर्वक) सखि ! देखो, देखो । सम्प्रति इस (अशोक) की चोटी से आग का छोटा-सा टुकड़ा गिरा है । (ऐसा कहकर, निकट जाकर ग्रहण करना चाहती है)

राम—हे (वत्स लक्ष्मण) ! क्या यह अशोक भी मेरे शोक का कारण बन गया ?

लक्ष्मण—आर्य ! यह युक्तियुक्त नहीं है, जो कि वृक्ष का शिखर आग के टुकड़े को उगलता है ।

रामः—

किं न सम्पादयेद्वत्स ! रामस्य विधिवैधुरी ॥ ३६ ॥

(सीताऽङ्गारखण्डं हस्तेनादत्ते)

रामः—

अनल ! नलिनकोमले करेऽस्याः
स्फुरदरुणोत्पलकुड्मलोपमः स्याः ।
(विमृश्य)
चरितमुचितमस्ति वा कुतस्ते ?
ननु ! भुवने विदितोऽसि कृष्णवर्मा ॥ ३७ ॥

किं नेति अन्वयः—वत्स ! रामस्य विधिवैधुरी किम् न सम्पादयेत् ।

व्याख्या—वत्स ! = लक्ष्मण ! रामस्य = मम, विधिवैधुरी = दैवप्रतिकूलता, किं न सम्पादयेत् = किं न कुर्यात्, विधौ प्रतिकूलतां गतेऽसम्भाव्यमपि सम्भवतीति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—अनल ! नलिनकोमले अस्याः = करे स्फुरदरुणोत्पलकुड्मलोपमः स्याः । वा कुतः तव चरितम् उचितम् अस्ति ? ननु भुवने कृष्णवर्मा विदितः असि।

व्याख्या—हस्तेनाङ्गारखण्डमाददानां सीतां पश्यन् रामोऽनलं प्रत्याह—अनलेति । हे अनल = हे अग्ने ! नलिनकोमले—नलिनम् = कमलमिव कोमलः = मृदुलस्तस्मिन्, अस्याः = सीतायाः करे = हस्ते, स्फुरदरुणोत्पलकुड्मलोपमः—स्फुरन् = विकसन् यः अरुणोत्पलकुड्मलः = रक्तकमलकलिका, स उपमा = उपमानं यस्य स तथाभूतः स्याः = भवेः, शैत्यं कोमलत्वं चाङ्गीकृत्य सीतां न दहेरिति प्रार्थना रामस्य । पक्षान्तरमाह—वा = अथवा, कुतः = कस्मात्, तव = अनलस्य (एतत्) चरितम् = आचरणम्, उचितम्=समीचीनम्, अस्ति = वर्तते । नन्विति निश्चये, भुवने = जगति, (त्वम्) कृष्णवर्मा—कृष्णम् = पापमयमित्यर्थः, वर्त्म = मार्गः, आचारपद्धतिरिति यावत्, यस्य स इति व्युत्पत्ति-

राम—वत्स ! राम के भाग्य की प्रतिकूलता क्या न कर दे ? ॥ ३६ ॥

(सीता आग के टुकड़े को हाथ में लेती है)

राम—हे अनल ! इस सीता के कमल कोमल कर में खिलने वाली रक्त

सीता—(हस्तं गृहीत्वा सविषादम्) कथं ममापुण्येनाग्निरपि शीतलः संवृत्तः ? (निपुणं निरूप्य सचमत्कारम्) अये ! अङ्गारखण्डकं न खल्वेतत् अपि पुनः पद्मरागरत्नखण्डकम्। (कहं मह अपुण्णेण अग्गीवि सीअलो संवुत्तो ? अये ! अङ्गारखण्डअं ण हु एदं अवि उण पम्मराअरअणखण्डअम्)

त्रिजटा—अये ! पुण्यवतामग्निरेव रत्नं भवतीति प्रवादः सत्य एव संवृत्तः।

सीता—(पुनर्विलोक्य) कथं सा रत्नमुद्रिका ? (कहं सा रअणमुद्दिआ ?) (पुनः संस्कृतमाश्रित्य, मुद्रिकां प्रति)

लब्धार्थामिकेन कृष्णवर्त्मेति नाम्नेति भावः, विदितः = विख्यातः असि, त्वत्तः सातारम्भणरूपपुण्याचरणस्याशा नृथैवेति भावः। अत्र पूर्वार्द्धे उपमाऽलङ्कारः। उत्तरार्द्धे चानन्दरहितानौचित्यरूपकार्यस्य कृष्णवर्त्मत्वरूपकारणेन समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। तयोरनपेक्षया स्थितः संसृष्टिः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ १७ ॥

कमल की कलिका के सदृश बन जाओ। (विचार कर) अथवा कहाँ से तुम्हारा (यह) आचरण उचित है ? (अर्थात् तुमसे ऐसी आशा कैसे की जा सकती है?) क्योंकि संसार में (तुम) कृष्णवर्त्मा (पापमय मार्ग वाले) (इस) नाम से विख्यात हो ॥ १७ ॥

सीता—(हाथ में लेकर विषाद के साथ) कैसे, मेरे पाप से आग भी शीतल हो गयी ? (भलीभाँति देखकर) अरे ! यह अग्निकण नहीं, बल्कि पद्मराग का खण्ड है !

त्रिजटा—अरे ! पुण्यशाली जनों के लिए अग्नि ही रत्न हो जाती है, यह लोगों की कहावत (आज) सच्ची हो गयी।

सीता—(फिर से देखकर) क्या, (यह) वही मणि मुँदरी है ? (फिर सम्कृत भाषा का आश्रय लेकर मुद्रिका के प्रति)।

या शैशवावधि मनोरमरामचन्द्र-
हस्ताङ्गुलिप्रणयिनी सुभगा सुवृत्ता ।
अन्येव सा जनकराजसुता कथं नु
लङ्कामुपागतवती मणिमुद्रिकेयम् ? ॥ ३८ ॥

(पुनः सादरं कराङ्गुलिकिसलयेन लालयन्ती) अये रत्नाङ्गुलीयक! अपि तावत्कुशलं सलक्ष्मणयो रामचन्द्रचरणयोः ? (अए रअणङ्गुलीअ ! अविदाव कुसलं सलक्खणाणं रामचन्दचलणाणं ?)

अन्वयः—या शैशवावधि मनोरमरामचन्द्रहस्ताङ्गुलि-प्रणयिनी सुभगा सुवृत्ता अन्या जनकराजसुतेव (आसीत्) सा इयम् मणिमुद्रिका कथं नु लङ्काम् उपागतवती ।

व्याख्या—या = मणिमुद्रिका, शैशवावधि = बाल्यकालात् प्रभृति, मनोरम-रामचन्द्रहस्ताङ्गुलिप्रणयिनी-मनोरमा=मनोहरा, या रामचन्द्रहस्ताङ्गुलिस्तस्य प्रणयिनी = प्रेमवती, अङ्गुलिभूषणत्वेन, सीतापक्षे पत्नीत्वेनेति भावः । सुभगा = सुन्दरी, सीतापक्षे सौभाग्यवती, सुवृत्ता = सुवर्त्तुला, सीतापक्षे शोभनं वृत्तम् = चरित्रं यस्याः सा तादृशी, अन्या = अपरा, जनकराजसुतेव—जानकीव, आसीदिति शेषः, सा = तादृशा, इयम् = पुरोवर्त्तिनी, मणिमुद्रिका, कथम् = केन प्रकारेण, न्विति वितर्के, लङ्काम्, उपागतवती = प्राप्ता । श्लेषमूलोपमाऽलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३८ ॥

जो बाल्यकाल से (ही) रामचन्द्र की मनोरमकराङ्गुलि में प्रेम करने वाली, सुभगा (१–सुन्दर, २–सौभाग्यवती) सुवृत्ता (गोलाकार, सच्चरित्र) दूसरी जानकी के समान (थी) वही यह मणिमुँदरी किस प्रकार से लङ्का में आ गयी ? ॥ ३८ ॥

(फिर आदर के साथ हाथ की किसलयकोमल उँगली से सहलाती हुई)
अरी रत्नमुद्रिके! लक्ष्मणसहित रामचन्द्र के चरणों का कुशल तो है ?

(पटाक्षेपेण प्रविश्य)

हनूमान्—कुशलं देवि ! कुशलम् ।

सीता—अमृतमुख ! कोऽसि त्वम् ? (अमिअमुह ? कोसि तुमम् ?)

हनूमान्—

तारापतेरनुचरो रघुनन्दनस्य
दूतः सुतोऽस्मि मरुतः प्रथितो हनूमान् ।
त्वां हन्तुमुद्यतवतो दशकन्धरस्य
न्यस्तं करे निभृतमक्षशिरो मयैव ॥ ३९ ॥

स्वपरिचयं ददद्धनूमान् सीतामाह—तारापतेरिति ।

अन्वयः—तारापतेः अनुचरः रघुनन्दनस्य दूतः मरुतः सुतः हनूमान् (इति) प्रथितः अस्मि । त्वाम् हन्तुम् उद्यतवतः दशकन्धरस्य करे अक्षशिरः मया एव *निभृतम् न्यस्तम्* ।

व्याख्या—तारापतेः = सुग्रीवस्य, अनुचरः = सेवकः, रघुनन्दनस्य = श्रीरामचन्द्रस्य, दूतः = सन्देशहरः, मरुतः = पवनस्य, सुतः = पुत्रः, हनूमान् = हनुमानिति नाम्नेति भावः । प्रथितः = प्रसिद्धः, अस्मि । त्वाम् = भवतीम्, सीतामित्यर्थः, हन्तुम् = व्यापादयितुम्, उद्यतवतः = प्रयतमानस्य, दशकन्धरस्य = रावणस्य, करे = हस्ते, अक्षशिरः—अक्षनाम्नो रावणपुत्रस्य मस्तकं, मयैव = हनूमतैव, निभृतम् = प्रच्छन्नं यथा स्यात्तथा, न्यस्तम् = अर्पितम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३९ ॥

(पर्दा हटाकर, प्रवेशकर)

हनूमान्—कुशल है, देवि ! कुशल है ।

सीता—अमृतमुख ! (अर्थात् अमृत के समान वचन बोलने वाले !) तुम कौन हो ?

हनूमान्—(मैं) तारापति (सुग्रीव) का अनुचर, रघुनन्दन (राम) का दूत, वायु का पुत्र हनूमान् (नाम से) प्रसिद्ध हूँ । आप को मारने के लिए प्रयत्नशील रावण के हाथ में (उसके पुत्र) अक्ष का सिर मैंने ही प्रच्छन्न रूप से रख दिया था ॥ ३९ ॥

रामः—अहो ! कथं हनूमन्नामधेयस्य मद्बान्धवस्य विलसितमेतत् ।

लक्ष्मणः—अहो सचमत्कारता संविधानस्य ।

सीता—अयि भद्रमुख ! कः पुनरयं तारापतिः ? (अइ भद्दमुह ! को उण इमो तारावई ?)

हनूमान्—

यो वालिनः शौर्यनिधेरमित्रं, त्रैलोक्यबन्धोस्तपनस्य सूनुः ।
रामस्य पादाब्जतलाभिवर्त्ती सुग्रीवनामा कपिचक्रवर्त्ती ॥ ४० ॥

सीता—केन पुनर्नरवानराणामीदृशं सखित्वं निर्मितम् ? (केण उण नरवाणराणं एरिसं सक्खित्तणं णिम्मिदम् ?

हनूमान् 'कः पुनरयं तारापति'रिति सीताजिज्ञासां समाधत्ते-**यो वालिन** इति ।

अन्वयः—यः शौर्यनिधेः वालिनः अमित्रम्, त्रैलोक्यबन्धोः तपनस्य सूनुः, रामस्य पादाब्जतलाभिवर्त्ती सुग्रीवनामा कपि चक्रवर्ती (अस्ति, स एव तारापतिः अस्ति) ।

व्याख्या—यः = कपिरित्यर्थः, शौर्यनिधेः = पराक्रमशालिनः, वालिनः = वालिनाम्नो महाकपेः अमित्रम् = शत्रुः, त्रैलोक्यबन्धोः—त्रैलोक्यस्य = त्रिभुवनस्य, बन्धुः = प्रकाशकत्वात् सुहृद्, तस्य, तपनस्य = सूर्यस्य, सूनुः = पुत्रः, रामस्य = रामचन्द्रस्य, पादाब्जतलाभिवर्ती—पादाब्जतले = चरणकमलाधोभागे, अभिवर्त्तत इति तच्छीलः, रामचरणकमलसेवक इति भावः । सुग्रीवनामा, कपिचक्रवर्ती = कपिसम्राट् (अस्ति, स एव तारापतिरस्ति) । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ४० ॥

राम—अहो । क्या, हनूमान् नामक मेरे बन्धु (हितैषी) का यह काम है?

लक्ष्मण—दैवी-विधान भी कैसा चमत्कार पूर्ण होता है ।

सीता—हे भद्रमुख । (अर्थात् मुँह से भले-भले ही वचन कहने वाले ।) तो यह तारापति कौन है ?

हनूमान—जो महाबलशाली वाली के शत्रु, त्रैलोक्यसुहृद् सूर्य के पुत्र, रामचन्द्र के चरण कमल के तलवे के सेवक, सुग्रीव नामक कपिसम्राट् है (वे तारापति है ॥ ४० ॥

सीता—अच्छा, नर और वानरों की ऐसी मित्रता किसने करायी ?

हनूमान्—रामबाणेनैव,

वालिने विसृजता धनुरङ्कं नाकलोकललनाकुचकेलिं ।
तारया सममदीयत चास्मै वानरेन्द्रपदवीमणिमौलिः ॥ ४१ ॥

सीता—कथय तावत्, अपि नाम मम मन्दभागिन्या कृते दुर्बल इदानीं किमपि रघुनाथः ? (कहेहि दाव अवि णाम मए मन्दभाइणीए किदे दुब्बल दाणीं किंपि रहुणाहो ?)

अन्वय —वालिने धनुरङ्कम् विसृजता (रामबाणेन एव) नाकलोकललनाकुचकेलिं, अस्मै च तारया समम् वानरेन्द्रपदवीमणिमौलिः अदीयत ।

व्याख्या—वालिने = वालिनाम्ने वानरेन्द्राय, धनुरङ्कम्–धनुषः = कोदण्डस्य अङ्कम् = उत्सङ्गम् ('उत्सङ्गचिह्नयोरङ्कः' इत्यमरः) विसृजता = त्यजता (रामबाणेनैव) नाकलोकललनाकुचकेलिं = नाकलोकस्य = स्वर्गलोकस्य ललना = रमण्यः, अप्सरस इत्यर्थः, तासां कुचकेलिं = कुचक्रीडा, सम्भोग कालोचितेति भावः, अस्मै = सुग्रीवाय च तारया समम् = तारानाम्न्या स्त्रिया सह, सममिति पदेन योगे तृतीया, वानरेन्द्रपदवीमणिमौलिः—वानराणाम् = कपीनाम्, इन्द्रः = सम्राट् तस्य पदवी = पदमेव मणिमौलिः = रत्नमयमुकुटः, 'वानरेन्द्र' इति प्रशस्ततमा पदवीति भावः । अदीयत = दत्तः । वालिनं हत्वा सुग्रीवाय तारया सह राज्यं दत्तमिति भावः । अत्र विषमाऽलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा–'गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः । यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः । विरूपयोः सघटना या च तद्विषमं मतम् ।' इति । तारया सममित्यादिवाक्ये सहोक्तिरलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा–'सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद् वाचकं द्वयोः । सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत् ।' इति । स्वागता वृत्तम् ॥ ४१ ॥

हनुमान—धनुष के उत्सङ्ग को छोड़ने वाले राम के बाण ने ही वालि के लिए स्वर्गलोक की रमणियों की स्तनक्रीडा और इन (सुग्रीव) के लिए तारा के साथ ही वानरेन्द्र की प्रशस्ततम पदवी प्रदान की (अर्थात् वालि को स्वर्ग भेजकर, सुग्रीव को वानरसम्राट् बनाया) ॥ ४१ ॥

सीता—अच्छा, कहिए । क्या, मेरी-जैसी अभागिन के लिए रघुनाथ कुछ दुर्बल हो गये हैं ?

हनूमान् - किमपीति किमुच्यते ? इदानीं हि—

बहुलपक्षशशीव दिने दिने रघुपतिः कृशतामुपयाति सः ।

सीता—हा धिक् हा धिक् ! (हद्धि हद्धि !)

हनूमान्—

कुवलयप्रतिमद्युतिरस्य तु प्रविकसत्यनुभाववशंवदा ॥ ४२ ॥

सीता—इदानीं किमप्युज्जीवितास्मि [दाणीं किंपि उज्जीविदह्मि]

हनूमान्—अयि देवि ! आकर्णय तावद्यत् सन्दिष्टं देवेन देव्याः ।

अन्वयः—सः रघुपतिः बहुलपक्षशशीव दिने दिने कृशताम् उपयाति । तु अस्य अनुभाववशंवदा कुवलयप्रतिमद्युतिः प्रविकसति ।

व्याख्या—सः = प्रसिद्धः, रघुपतिः = श्रीरामचन्द्रः, बहुलपक्षशशीव-बहुलपक्षस्य = कृष्णपक्षस्य, शशी = चन्द्र इव, दिने दिने = प्रतिदिनम्, (वीप्सायां द्विरुक्तिः) कृशताम् = दुर्बलताम्, उपयाति = प्राप्नोति । तु = किन्तु, अस्य = श्रीरामचन्द्रस्य, अनुभाववशंवदा—अनुभावः प्रभावः, ('अनुभावः प्रभावे च' इत्यमरः) तस्य वशंवदा = अनुवर्तिनी, कुवलयप्रतिमद्युतिः = नीलकमलोपमकान्तिः, (दिने दिने) प्रविकसति=उत्कृष्टतां प्राप्नोति । भवत्या विरहितरघुपतिः कृष्णपक्षचन्द्र इव प्रतिदिनं यथा यथा कृशतां प्राप्नोति तथा तथाऽस्य प्रभावातिशयमहिम्ना कुवलयोपमकान्तिर्वर्द्धत एवेति भावः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ ४२ ॥

हनूमान्—कुछ (दुर्बल हो गये हैं) ऐसा क्यों कह रही हैं ? इस समय वे रामचन्द्र कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की भाँति प्रतिदिन दुर्बलता को प्राप्त होते जा रहे हैं ।

सीता—हा धिक् ! हा धिक् !

हनूमान्—किन्तु उनकी प्रभावानुवर्तिनी, नीलकमल के समान कान्ति (उत्तरोत्तर) बढ़ रही है ॥ ४२ ॥

सीता—अब मैं कुछ जीवित हो गयी हूँ ।

हनूमान्—हे देवि ! अब महाराज (राम) ने देवी (आप) के लिए जो सन्देश दिया है, सुनिए—

हिमांशुश्चण्डांशुर्नवजलधरो दावदहनः
सरिद्वीचीवातः कुपितफणिनि श्वासपवनः।
नवा मल्ली भल्ली, कुवलयवनं कुन्तगहनं
मम त्वद्विश्लेषात्सुमुखि विपरीतं जगदिदम् ॥ ४३ ॥

अन्वय —हिमांशुः चण्डांशुः, नवजलधरः दावदहनः, सरिद्वीचीवातः कुपितफणिनि श्वासपवनः, नवा मल्ली भल्ली, कुवलयवनम् कुन्तगहनम्। सुमुखि! त्वद्विश्लेषात् मम इदम् जगत् विपरीतम्।

व्याख्या–हिमांशुः=चन्द्रः, चण्डांशुः=सूर्यः, सूर्यवत्तापकर इत्यर्थः, नवजलधरः नवः = नूतनः, जलसम्भृत इत्यर्थः, जलधरः = मेघः, दावदहनः = वनाग्निः, वनाग्निरिव दाहक इत्यर्थः, सरिद्वीचीवातः = सरित् = नदी, वीची = लहरी, तत आगतो वातः =वायुः, कुपितफणिनि श्वासपवनः –कुपितस्य=पादाघातादिना क्रुद्धस्य, फणिनः = सर्पस्य निश्वासः = श्वासः, तस्य पवनः = वायुः, कुपितसर्पनासारन्ध्रनिःसृतवायुरिव दाहक इत्यर्थः, नवा नूतना, अचिरविकसितेत्यर्थः, मल्ली=मल्लीपुष्पम्, भल्ली = तीक्ष्णास्त्रविशेषः, तद्वन्मर्मच्छेदिनीत्यर्थः, कुवलयवनम् = कमलवनम् कुन्तगहनम् = प्रासाख्यशस्त्रवनम्, तद्वत्पीडाकरमित्यर्थः, सुमुखि सुन्दरि! त्वद्विश्लेषात्=त्वद्वियोगात्, मम = रामस्य, इदम्=एतत्, जगत् = संसारः, विपरीतम् = अन्यरूपम्, जातमिति शेषः। त्वत्संयोगावस्थायां सुखकारिणः सकलपदार्थाः, सम्प्रति त्वद्वियोगे मम दुःखकारिणः सञ्जाता इति। अत्र चन्द्रादीनां सूर्यादिभिरन्योऽन्य विरोधः आपाततः प्रतीयते। विश्लेषरूपहेतुरेतद्विरोधपरिहारहेतुश्च। अतो विरोधाऽलङ्कारः। प्रथमपादत्रयस्य वाक्यार्थानां, चतुर्थचरणगतजगद्वैपरीत्यरूपवाक्यार्थोपपादनाय निष्पादकहेतुत्वेनोपनिबन्धनात् काव्यलिङ्गम्। 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' इति तल्लक्षणात्। द्वयोरङ्गाङ्गिभावेन सवलनात्सङ्करः ॥ शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४३ ॥

चन्द्रमा सूर्य (के समान), नूतन जलसम्भृत मेघ दावाग्नि (के समान) नदी की लहरों को छूकर आता हुआ वायु, क्रुद्ध सर्प के निःश्वास वायु (के समान) नूतन खिली हुई मल्ली बर्छी (के समान) कमलों का वन भालों के वन (के समान) प्रतीत होता है। अरी सुमुखि! तुम्हारे वियोग से मेरे लिए यह संसार उल्टा (हो गया है) ॥ ४३ ॥

अपि च—

कस्याख्याय व्यतिकरमिमं मुक्तदुःखो भवेयं,
को जानीते निभृतमुभयोरावयोः स्नेहसारम् ?
जानात्येकं शशधरमुखि ! प्रेमतत्त्वं मनो मे,
त्वामेवैतच्चिरमनुगतं तत् प्रिये ! किं करोमि ॥ ४४ ॥

(सीता लज्जते)

अन्वयः—शशधरमुखि ! इमम् व्यतिकरम् कस्य आख्याय मुक्तदुःखो भवेयम् । उभयोः आवयोः निभृतं स्नेहसारम् को जानीते ? एकम् मे मनः प्रेमतत्त्वं जानाति । प्रिये ! एतत् त्वामेव चिरम् अनुगतम्, तत्, किं करोमि ?

व्याख्या—शशधरमुखि = हे चन्द्रवदने सीते ! इमम् = सम्प्रत्यनुभूयमानम्, व्यतिकरम् = त्वद्वियोगजन्यं दुःखम्, कस्य आख्याय = कस्मै जनाय निवेद्य, मुक्तदुःखः—मुक्तं दुःखं यस्य स तादृशः, 'शोके क्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते' इति भवभूतिन्यायेनाश्वस्त इति भावः, भवेयम् = स्याम् । उभयोः आवयोः = तव च मम चेति भावः । निभृतम् = प्रच्छन्नम्, अन्तः प्रसृतमिति भावः, स्नेहसारम् = प्रेमतत्त्वम्, को जानीते = को वेत्ति न कोऽपीत्यर्थः, यस्मैनिवेद्याश्वस्तो भवेयमिति भावः । एकम् = एकमात्रम्, मे = मम, मनः = हृदयम्, प्रेमतत्त्वं = स्नेहसारं, जानाति = वेत्ति । हे प्रिये ! (किन्तु) एतत् = मे मनः, त्वामेव = भवतीं सीतामेव, चिरम् = बहुकालपूर्वम्, अनुगतम् = अनुयातम्, तत् = तस्मात्, किं करोमि = केनोपायेन निजतापं लघूकरवाणीति नावगच्छामीति भावः । शशधरमुखीत्यत्रोपमाऽलङ्कारः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ ४४ ॥

और भी—

इस दुःख को किससे कहकर आश्वस्त होऊँ । मेरे और तुम्हारे गुप्त प्रेम तत्त्व को कौन जानता है ? अरी चन्द्रमुखि ! एक मेरा मन (उस) प्रेमतत्त्व को जानता है किन्तु यह (मेरा मन) बहुत दिन पहिले ही तुम्हारे ही पीछे (अर्थात् तुम्हारे ही साथ) चला गया । तो (अब) क्या करूँ ॥ ४४ ॥

(सीता लज्जित होती है)

अयि चूडारत्न !

अपि क्षालय निजमङ्गं रजनीचरदृष्टिपांसुपांसुलितम् ।
रघुपतिपदनिर्मलनखरजनीकरज्योत्स्नानीरनिकरे ॥ ४६ ॥

(अउ चूडारअण !)

(अवि क्खालअ णिअमङ्गं रअणीअरदिट्ठिपंसुपंसुलिअम् ।
रहुवइपअणिम्मलणहरअणीअरजोह्णाणीरणिअरम्मि)

हनुमान् — देवि ! अनुजानीहि । त्वरयति मां रामचन्द्रचरणदर्शनोत्कण्ठा ।

अन्वयः — रजनीचरदृष्टिपांसुपांसुलितम् निजम् अङ्गम् रघुपतिपदनिर्मलनखरजनीकरज्योत्स्नानीरनिकरे क्षालय अपि ।

व्याख्या — अयि चूडारत्न = हे चूडामणे ! रजनीचरदृष्टिपांसुपांसुलितम् — रजनीचरस्य = राक्षसस्य, रावणस्येत्यर्थः, दृष्टि = कामपूर्णा दृष्टिरिति भावः, सैव पांसुः = धूलिः, तेन पांसुलितम् = धूसरितम्, रावणस्य कामपूर्णदृष्टिपातेनापवित्रीकृतमिति भावः । निजम् = स्वकीयम्, अङ्गम् = तनुम्, रघुपतिपदनिर्मल — रघुपतेः = श्रीरामचन्द्रस्य, पदयोः = चरणयोः निर्मल = (१—स्वच्छः, २—निष्कलङ्कः) यो नख एव रजनीकरः = चन्द्रः, तस्य ज्योत्स्नम् = चन्द्रिकासम्बन्धि यत् नीरम् = जलम्, तस्य निकरे = समुच्चये, क्षालय अपि = पवित्रीकुरु इति भावः । चूडारत्न ! एवं रावणस्य कामपूर्णदृष्टिपातेनापवित्रीकृतमात्मानं रामचरणस्पर्शेन पवित्रीकर्तुं तत्सकाशं गच्छेति भावः । रूपकालङ्कारः । गीतिच्छन्दः ॥ ४६ ॥

हे चूडारत्न !

राक्षस (रावण) की (कामपूर्ण) दृष्टिरूप धूलि से धूसरित (अर्थात् अपवित्र किये गये) अपने अङ्ग को रामचन्द्र के निर्मल नख रूप (निष्कलङ्क) चन्द्रमा के चन्द्रिका-सम्बन्धी जल प्रवाह में धो डालना ॥ ४६ ॥

हनुमान् — देवि ! मुझे (जाने की) अनुमति दें । रामचन्द्र के चरणदर्शन की उत्सुकता मुझे शीघ्रता करने के लिए प्रेरित कर रही है ।

सीता—(सबाष्पगद्गदम्) अय्यकारणस्निग्ध । प्रतिगते त्वयि पुनरपि को मम कथयिष्यति रघुनाथस्य प्रवृत्तिम ? (अइ अकारण सिणिद्ध । पडिगदे तुह्मि पुणोवि को मह कहिस्सदि रहुणाहस्स पउत्तिम् ?)

हनूमान्—अयि देवि दिष्ट्या स्मारितोऽस्मि । नन्विद ते सन्दिष्ट देवेन देव्या ।

मा ताम्य तामरसपत्रविशालनेत्रे ।
विख्याप्यते पुनरपि त्वयि मत्प्रवृत्ति ।
सौमित्रिकार्मुकगुणध्वनिभिर्गभीरै-
स्तै किञ्च राक्षसवधूरुदितैरधीरै ॥ ४७ ॥

अन्वय —तामरसपत्रविशालनेत्रे । मा ताम्य । गभीरै सौमित्रिकार्मुक-गुणध्वनिभि , किञ्च अधीरै तै राक्षसवधूरुदितै त्वयि पुनरपि मत्प्रवृत्ति विख्याप्यते ।

व्याख्या—तामरसपत्रविशालनेत्रे–तामरसपत्रे = कमलदले, इव विशाले = आयते, नेत्रे = नयने यस्यास्तत्सम्बुद्धौ, हे कमलदलायतलोचने । मा ताम्य = खेद मा गच्छ । गभीरै = गम्भीरै, सौमित्रिकार्मुकगुणध्वनिभि –सौमित्रे = लक्ष्मणस्य यत् कार्मुकम् = धनु , तस्य गुणध्वनिभि = मौर्वीटङ्कारै , किञ्च = तथा, अधीरै = उद्वेगमयै , तै = भविष्यद्भि , राक्षसवधूरुदितै –राक्षसानाम् = सङ्ग्रामे निहताना राक्षसानामिति भाव , या वध्व = पत्न्य , तासाम् रुदितै = वैधव्यदु खजन्यै रोदनै , त्वयि = भवत्याम्, तव समीपे इत्यर्थ , पुनरपि=भूयोऽपि, मत्प्रवृत्ति = मम वृत्तान्त , विख्याप्यते = प्रस्तूयते, (वर्तमानसामीप्ये लट्) । शोक मा कुरु, अचिरेणैव लङ्काया लक्ष्मणधनुगुणटङ्कारा , निहतराक्षसवधू रोदनध्वनयश्च मम विजयरूप वृत्तान्त भवत्यै निवेदयिष्यन्तीति भाव । मनोक्ति-

सीता—(आँसुओं से रुँधे कण्ठ के साथ) अरे ! अकारण स्नेह करने वाले । तुम्हारे लौट जाने पर फिर कौन मुझसे रघुनाथ का समाचार कहेगा ?

हनूमान—अरी देवि ! सौभाग्य से आप ने मुझे अच्छी याद दिलायी । आप देवी के लिए महाराज (राम) ने यह भी सन्देश भेजा है—

हे कमल पत्र के समान विशालनेत्रों वाली । (सीते ।) शोक मत करो ।

(नेपथ्ये)

हत्वा कथञ्चिदपि राजकुमारमक्षं
रे वानरापसद ! कुत्र पलायितोऽसि ?
त्वां हन्तुमिच्छति दशाननशासनेन
दर्पोद्धतो धृतधनुर्ननु ! मेघनादः ॥ ४८ ॥

वैचित्र्यपूर्वकं रामविजयरूपगम्यार्थस्यैवाभिधानात् पर्यायोक्तमलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—'पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते । इति । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—रे वानरापसद ! राजकुमारम् अक्षम् कथञ्चिदपि हत्वा कुत्र पलायितः असि ? ननु ! दर्पोद्धतः धृतधनुः मेघनादः दशाननशासनेन त्वाम् हन्तुम् इच्छति ।

व्याख्या—रे इति तिरस्कारसूचकम् । वानरापसद = वानराधम ! राजकुमारम् = नृपसुतम्, अक्षम् = अक्षनामानम्, कथञ्चिदपि = केनापि प्रकारेण, न सुचितेन युद्धेनेति भावः । हत्वा = व्यापाद्य, कुत्र = कस्मिन् स्थाने, पलायितः = पलायनं कृत्वा गतः, असि ? ननु = रे ! दर्पोद्धतः = दर्पेण = गर्वेण, उद्धतः = उद्दण्डः, धृतधनुः—धृतम् = गृहीतं धनुः = कार्मुकं येन स तथाभूतः (समासान्तविधेरनित्यत्वात् 'धनुषश्च' इत्यनङोऽभावः) मेघनादः = मेघनादाभिधेयो रावणपुत्रः, दशाननशासनेन = रावणादेशेन, त्वाम्=वानरापसदम्, हनूमन्तमिति भावः, हन्तुम् = व्यापादयितुम्, इच्छति = वाञ्छति । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४८ ॥

लक्ष्मण के धनुष की प्रत्यञ्चा की गम्भीर ध्वनियाँ एवम् राक्षसों की स्त्रियों के उद्वेगपूर्ण वे रुदन तुम्हें फिर से मेरा वृत्तान्त सूचित करेंगे ॥ ४७ ॥

(नेपथ्य में)

रे अधम वानर ! राजकुमार अक्ष को किसी भी प्रकार से मार कर तू कहाँ गया है ? अरे ! गर्वोद्धत, धनुष हाथ में लिये हुए मेघनाद रावण के आदेश से तुझे मारना चाहता है ॥ ४८ ॥

(नेपथ्ये)

बाणौघानेष वीरः कलयति च रुषा मेघनादेन मुक्तान् ।

(सर्वे हर्षं नाटयन्ति)

(पुनर्नेपथ्ये)

बद्धोऽयं राक्षसेन ज्वलदनलशिखादीप्तपुच्छः कृतश्च ।

(सर्वे विषादं नाटयन्ति)

(पुनर्नेपथ्ये)

कालक्षालिङ्गितानामुपरि कृतपदो लङ्घयित्वैव लङ्काम् ।

(सर्वे हर्षविषादौ नाटयन्ति)

(पुनर्नेपथ्ये)

अस्ताम्भोऽसौ पयोधेः पतति न भवति स्वाङ्गदाहाय तावत् ॥ ४६ ॥

(सर्वे हर्षं नाटयन्ति)

अन्वयः—एष वीरः मेघनादेन रुषा मुक्तान् बाणौघान् कलयति । राक्षसेन अयम् बद्धः, ज्वलदनलशिखादीप्तपुच्छः च कृतः । कालक्षालिङ्गितानाम् उपरि कृतपदः लङ्काम् एव लङ्घयित्वा कन्दहीनि । अस्ताम्भः अयम् पयोधेः पतति स्वाङ्गलग्नाम् ज्वालाम् शमयति ;

व्याख्या—एषः वीरः = अयं पराक्रमशाली, हनूमान् इत्यर्थः, मेघनादेन, रुषा = क्रोधेन, मुक्तान् = प्रक्षिप्तान्, बाणौघान् = शरसमूहान् कलयति = सहते । कलतेः सोढव्यार्थत्वात् सहतेऽपि प्रयोगः । राक्षसेन = मेघनादेनेत्यर्थः, अयम् = एषः, हनूमान्, बद्धः = निगडितः बद्धोऽभूदिति भावः । ज्वलदनलशिखादीप्तपुच्छः—

(नेपथ्य में)

यह वीर (हनुमान्) मेघनाद के द्वारा क्रोध से छोड़े गये शर-समूहों को सह रहा है।

(सभी हर्ष का अभिनय करते हैं)

(फिर से नेपथ्य में)

राक्षस (मेघनाद) ने इसे बाँध लिया और जलती हुई आग की लपटों से पूँछ में आग लगा दी।

(सब विषाद का अभिनय करते हैं)

(पुनर्नेपथ्ये)

अहो ! आश्चर्यमाश्चर्यम् ।

वेलाद्रेरस्य हेलाक्रमणपरिणतस्तुङ्गमाक्रम्य शृङ्गं
मौलिं पूर्वाचलस्य द्युमणिरिव नभो लङ्घयत्यम्बुराशिम् ।
वेगप्रोद्भूतवातप्रतिहतसलिलोन्मुक्तगम्भीरगर्भ-
व्यक्तीभूतोरगेन्द्रस्तुतिशतविकसत्कीर्त्तिहारो हनूमान् ॥५०॥

ज्वलन् = दीप्यमानो योऽनल = अग्नि , तस्य शिखाभि , दीप्तम् = प्रज्वलित, पुच्छम् = लाङ्गूलम्, यस्य स तथाभूतश्च इत । अट्टालिकानाम् = प्रासादानाम्, उपरि = शिखरप्रदेशे, कृतपद = विन्यस्तचरण , भ्रमन् = उत्प्लवमान , एष = अयम् हनूमानित्यर्थ , लङ्काम्, दन्दहीति = पुन पुनर्दहति । इयमपि, अक्लान्त = अम्लान , अयम् = हनूमान्, पयोधे = सागरस्य, पयसि = जले, स्वाङ्गलग्नम्= स्वपुच्छप्रसृतम्, कृशानुम् = अग्निं, शमयति = निर्वापति स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ४९ ॥

अन्वय'—द्युमणि पूर्वाचलस्य मौलिम् आक्रम्य नभ , इव, हेलाक्रमणपरिणत हनूमान् अस्य वेलाद्रे तुङ्गम् शृङ्गम् आक्रम्य वेगप्रोद्भूतवातप्रतिहतसलिलोन्मुक्तगम्भीरगर्भव्यक्तीभूतोरगेन्द्रस्तुतिशतविकसत्कीर्त्तिहार (सन्) अम्बुराशिम् लङ्घयति ।

व्याख्या—द्युमणि = सूर्य , पूर्वाचलस्य=प्राचीपर्वतस्य, उदयाचलस्येत्यर्थ ,

(फिर नेपथ्य में)

अटारियों के ऊपर पैरों को रखता हुआ, घूम घूम यह लङ्का को खूब जला रहा है ।

(सब हर्ष और विषाद का अभिनय करते हैं)

(फिर नेपथ्य में)

इतने पर भी बिना किसी परेशानी के, यह समुद्र के जल में अपने अङ्ग में लगी आग को बुझा रहा है ॥ ४९ ॥

(सब हर्ष का अभिनय करते हैं)

(फिर नेपथ्य में)

अहो ! आश्चर्य है, आश्चर्य है ।

सूर्य जैसे उदयगिरि के शिखर पर चढ कर आकाश को (लाँघते हैं, वैसे

सीता—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) हला त्रिजटे ! अवतीर्णासि महीतलम । तत् प्रियंवदायास्तवालिङ्गाम्यङ्गानि । (हला तिअड़े ! अवतिण्णासि महीअलम् । ता पिअंवदाए तुइ आलिङ्गेमि अङ्गाइं) (इति निष्क्रान्ता)

रामः—प्रिये ! मामपि प्रतीक्षस्व ।

मौलिम् = शिखरम्, आक्रम्य = आरुह्य, नभः = आकाशमिव, यथा सूर्य उदयाचलशिखरमारुह्य क्रमशो नभो लङ्घयति तथैवेत्यर्थः, हेलाक्रमणपरिणतः—हेलया=अनायासेन, यत् क्रमणम् = लङ्घनम् तत्र परिणतः = वृद्धिङ्गतः, कृतविशालशरीर इत्यर्थः, हनूमान्, अस्य वेलाद्रेः = समुद्रतटपर्वतस्य, त्रिकूटाचलस्येत्यर्थः, तुङ्गम् = उन्नतम्, शृङ्गम् = शिखरम् आक्रम्य = आरुह्य, वेगप्रोद्भूतेत्यादिः—वेगेन = उत्पतनजन्येन वेगेनेति भावः, प्रोद्भूतः = समुत्पन्नः, यो वातः = वायुः, तेन प्रतिहतम् = ताडितम्, ताडनेनोच्छलितमिति भावः, यत् सलिलम् = जलं समुद्रस्येति भावः, तेन उन्मुक्तः = रिक्तीकृतः, गम्भीरः = निम्नतमः, गर्भः = आभ्यन्तरभागः तत्र व्यक्तीभूतः = प्रकटतां गतः, यः उरगेन्द्रः = सर्पराजः, शेष इत्यर्थः, तेन कृतं यत् स्तुतिशतम् = प्रशंसासंहतिरित्यर्थः, तेन विकसन्ती=विद्योतमाना या कीर्त्तिः = यशः, सैव हारः = मौक्तिकमाल्यम्, यस्य स तथाभूतः सन्, अम्बुराशिम्=समुद्रम्, लङ्घयति=अतिक्रामति । अत्र पूर्वार्द्धे उपमाऽलङ्कारः उत्तरार्द्धे स्वतिशयोक्तिरलङ्कारः, 'विकसत्कीर्तिहारः' इत्यत्र रूपकम्, एतेषां मिथोऽनपेक्षया स्थितेः संसृष्टिः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ५० ॥

सीतेति । प्रियम्वदायाः=हनूमतः कुशलसमाचारप्रख्यापनेन प्रियभाषिण्याः ।

ही) सरलता से लाँघने के लिए विशालकाय हुए हनुमान् इस त्रिकूट पर्वत के उन्नत शिखर पर चढ़ कर, वेग के कारण उत्पन्न वायु के आघात से ऊपर की ओर उछले हुए जल के द्वारा रिक्त हुए, (सागर के) गहरे भीतरी भाग में दिखायी देने वाले शेषनाग की सैकड़ों स्तुतियों से सुशोभित यशोरूप हार वाले (होते हुए) समुद्र को लाँघ रहे हैं ॥ ५० ॥

सीता—(नेपथ्य की ओर देख कर) सखि ! त्रिजटे ! तुम भूतल पर उतर चुकी हो । तो प्रिय (समाचार) कहने वाली तुम्हारे अङ्गों का मैं आलिङ्गन करूँ । (ऐसा कह कर निकल गयी)

राम—प्रिये ! मेरी भी प्रतीक्षा करो ।

अथ सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति पुलस्त्यशिष्यः)

पुलस्त्यशिष्यः—(परितो विलोक्य) अपरिशीलितसन्निवेशोऽस्मि । तत्कथं पृच्छामि तस्य भवनम् ? (पुनर्विलोक्य) कथमयं लङ्केश्वरमहामन्त्रिणो माल्यवतः परिचारकः करालकः ? (उच्चैः) सखे करालक ! इत इतः ।

(प्रविश्य)

करालकः—मुने ! प्रणम्यसे ।

मुनिः—समीहितं लभस्व । कथय तावन्मे विभीषणस्य भवनम् ।

करालकः—किन्तत्र?

मुनिः—आदिष्टोऽस्मि भगवता पुलस्त्येन कमपि सन्देशमुपनेतुं पौत्रस्य ।

पुलस्त्यशिष्य इति । अपरिशीलितसन्निवेशः—अपरिशीलितः = अज्ञातः, सन्निवेशः = स्थानं येन स तादृशः । परिचारकः = सेवकः ।

(उसके बाद पुलस्त्य शिष्य प्रवेश करता है)

पुलस्त्यशिष्य—(चारों ओर देखकर) यहाँ के स्थानों के विषय में मैं कुछ जानता नहीं । तो किस तरह उसका घर पूछूँ ? (फिर देख कर) क्या, लङ्केश्वर (रावण) के महामन्त्री माल्यवान् का सेवक करालक है ? (ऊँचे स्वर से) सखे करालक ! इधर इधर (जरा आइए) ।

(प्रवेशकर)

करालक—मुने ! आप को प्रणाम करता हूँ ।

मुनि—अभीष्ट (फल) पाओ । मुझे विभीषण का घर बताओ ।

करालक—वहाँ क्या है ?

मुनि—भगवान् पुलस्त्य ने (अपने) पौत्र (विभीषण) को कुछ सन्देश पहुँचाने के लिए मुझे आदेश दिया है ।

करालकः—न तावदिदानीमिह विभीषणः।

मुनिः—कथय किमेतत्?

करालकः—एकदाभिप्रणमतो विभीषणस्य करात्सकौतुकं लिखिताक्षरपङ्क्तिपत्रमेकं गृहीतं लंकेश्वरेण वाचितं च—

उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते।
चतुर्थीचन्द्रलेखेव परस्त्रीभालपट्टिका॥ १॥

मुनिः—अहो! प्रभुविज्ञप्तिचातुरी विभीषणस्य।

अन्वयः—उदर्कभूतिम् इच्छद्भिः सद्भिः परस्त्रीभालपट्टिका चतुर्थीचन्द्रलेखेव खलु न दृश्यते।

व्याख्या—उदर्कभूतिम्–उदर्के = उत्तरेफले ('उदर्कः फलमुत्तरम्' इत्यमरः) परिणामे इति भावः। भूतिम् = ऐश्वर्यम्, इच्छद्भिः = कामयमानैः, सद्भिः = सज्जनैः, परस्त्रीभालपट्टिका–परेषाम् = अन्येषाम्, याः स्त्रियः = नार्यः, तासां भालपट्टिका = ललाटपटलम्, मुखमिति भावः। चतुर्थीचन्द्रलेखेव = भाद्रशुक्लचतुर्थीचन्द्ररेखेव, खलु = निश्चयेन, न दृश्यते=नावलोक्यते। कल्याणं कामयमानाः सज्जना भाद्रशुक्लचतुर्थीचन्द्ररेखेव परस्त्रीमुखं नावलोकयन्ति, तस्मात्त्वया सीताप्राप्त्यभिलाषः परिहर्तव्य इति भावः। अत्रोपमाऽलङ्कारः। अनुष्टुब्वृत्तम्॥ १॥

मुनिरिति। प्रभुविज्ञप्तिचातुरी–प्रभोः = स्वामिनः, विज्ञप्तिः = सूचनम्, तत्र चातुरी = नैपुण्यम्, स्वामिकल्याणार्थं हितोपदेशे विभीषणस्य चातुर्यं प्रशंसनीयमिति भावः।

करालक—तो इस समय विभीषण यहाँ (लङ्का में) नहीं है।

मुनि—कहिए, यह क्या (बात) है?

करालक—एक समय प्रणाम करते हुए विभीषण के हाथ से, लिखित अक्षरपंक्तियों से पूर्ण एक पत्र रावण ने पाया और बड़ी उत्सुकता से पढ़ा भी—

भविष्य में कल्याण चाहने वाले सज्जन, परायी स्त्री के ललाटपटल को भाद्रशुक्ल चतुर्थी की चन्द्ररेखा के समान नहीं देखते हैं॥ १॥

मुनि—स्वामी को (हित की बात) बताने की, विभीषण की चतुरता स्पृहणीय है।

करालक —ततश्च—

कोपपाटलितलोलदृष्टिना किञ्चिदुन्नमितखड्गयष्टिना।
रावणेन नयधर्मभूषणस्ताडितो हृदि पदा विभीषण ॥ ४॥

मुनि —हन्त! नून—

लङ्केश्वरेण दुष्टेन नयधर्मविभूषण ।
विभीषणश्च न, पर विभवोऽपि पदा हतः ॥ ५ ॥

अन्वय —कोपपाटलितलोलदृष्टिना किञ्चिदुन्नमितखड्गयष्टिना रावणेन नयधर्मभूषणो विभीषण हृदि पदा ताडित ।

व्याख्या—कोपपाटलितलोलदृष्टिना—कोपेन = क्रोधेन पाटलिता = ईषद् रक्तीकृता लोला = चञ्चला, दृष्टिर्यस्य तेन, किञ्चिदुन्नमितखड्गयष्टिना–किञ्चित् = स्वल्पम्, उन्नमिता = ऊर्ध्वीकृता खड्गयष्टि = असिलता येन तेन, रावणेन, नयधर्मभूषण –नय = नीति , धर्मश्च भूषणे यस्य स , विभीषण = तन्नामा स्वानुज , हृदि = वक्ष स्थले, पदा = चरणेन, ताडित = प्रहृत । रथोद्धता वृत्तम् ॥ ४ ॥

अन्वय —दुष्टेन लङ्केश्वरेण नयधर्मविभूषण विभीषणश्च न, परम् विभव अपि पदा हत ।

व्याख्या —दुष्टेन = अधमेन, लङ्केश्वरेण = रावणेन, नयधर्मविभूषण — नय = नीति , धर्मश्चैव विभूषणे = अलङ्कारौ यस्य स तादृश , विभीषणश्च = विभीषणनामा स्वानुज एव, न = न पदा हत इति भाव , परम् = किन्तु, विभव अपि = ऐश्वर्यमपि, पदा = चरणेन, हत = ताडित । एव विभीषणापमानेन चिरादेव रावण स्वैश्वर्यमपि विनाशयिष्यतीति भाव । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ५ ॥

करालक—और उसके बाद—

क्रोध के कारण लाल एव चञ्चल नेत्रों वाले तथा थोडा उठाये गये खड्ग वाले रावण ने नीति एव धर्मरूप विभूषणो से सम्पन्न विभीषण के वक्ष स्थल में चरणप्रहार किया ॥ ४ ॥

मुनि—खेद है । निश्चय ही—

दुष्ट रावण ने नीति एव धर्मरूप विभूषणो से विभूषित विभीषण को ही नहीं, अपि तु ऐश्वय को भी चरण से मारा ॥ ५ ॥

ततस्ततः ?

करालकः—ततः कतिपयपरिवारेण विभीषणेन लङ्केश्वरं विहाय राम एव समाश्रितः।

मुनिः—(स्वगतम्) अनुष्ठितं तर्हि पुलस्त्यसन्देशरहस्यं विभीषणेन। (प्रकाशम्) भवान् पुनः किमधुना कर्त्तुकामः!

करालकः—अहमादिष्टोऽस्मि माल्यवता जानकीविरहविह्वलहृदयस्य लङ्केश्वरस्य मनोविनोदनाय केनापि चित्रकारेण विरचितं चित्रमिदं दृग्गोचरीकरणीयमिति।

मुनिः—(विहस्य) कथमित्थमासन्नशत्रौ लङ्केश्वरे तादृशस्य महामन्त्रिणो माल्यवत एवमुपचरितुमुचितम्? तन्नूनं प्रस्तुतोचितमेव किमप्येतद् भविष्यति।

करालक इति। कतिपयपरिवारेण = स्वल्पसङ्ख्यकपरिजनेन।

मुनिरिति। आसन्नशत्रौ—आसन्नः = समीपस्थः, शत्रुः = वैरी, यस्य स तस्मिन्। तादृशस्य = बुद्धिमत इत्यर्थः। प्रस्तुतोचितमेव = प्रसङ्गानुकूलमेव।

उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ)?

करालक—उसके बाद कतिपय परिजनों के साथ विभीषण ने लङ्केश्वर (रावण) का त्याग कर राम का ही आश्रय लिया।

मुनि—(मन ही मन) तब तो विभीषण ने पुलस्त्य के सन्देश के रहस्य को कर डाला। (प्रकट रूप में) तो आप इस समय क्या करना चाह रहे हैं?

करालक—सीता के विरह से व्याकुल हृदय वाले लङ्केश्वर के मनोविनोदार्थ, किसी चित्रकार से रचित इस चित्र को दिखलाने के लिए मुझे माल्यवान् ने आदेश दिया है।

मुनि—(जोर से हँस कर)

इस प्रकार समीपवर्ती शत्रु वाले रावण के विषय में, वैसे (बुद्धिमान्) माल्यवान् को इस प्रकार उपचार करना कैसे उचित है? तो अवश्य यह कुछ प्रसङ्गानुकूल ही होगा।

(नेपथ्ये)

रे रे ! चन्दनमिन्दुमण्डलशिलापट्टे समुद्‌घृष्यताम
रे रे ! चामरमुज्ज्वलं शशिकरं श्वेतं विनिर्मीयताम् ।
रे रे ! बालमृणालतन्तुलतिकासूत्रेण पाथोजिनी-
पत्रस्थरुदबिन्दुभिर्मणिमयो हारः समासूत्र्यताम् ॥ ६ ॥

मुनि —(सोपहासमात्मगतम्) यादृशोऽयं शीतोपचारस्तादृश एव सीतोपचारो लङ्केश्वरस्य भविष्यतीति । (प्रकाशम्) कथमिदं विरहतप्तस्य दशकन्धरस्य शीतोपचारार्थमाविश्यन्ते निशाचराः ?

अन्वय – रे रे इन्दुमण्डलशिलापट्टे चन्दनम् समुद्‌घृष्यताम्, रे रे उज्ज्वलं शशिकरं श्वेतम् चामरम् निर्मीयताम्, रे रे बालमृणालतन्तुलतिकासूत्रेण पाथोजिनीपत्रस्थैः उदबिन्दुभिः मणिमयः हारः समासूत्र्यताम् ।

व्याख्या – रे रे=परिचारकान्प्रति सम्बोधनपदमिदम् । इन्दुमण्डलशिलापट्टे–इन्दुमण्डलम् = चन्द्रबिम्बम्, एव शिलापट्टम् = घर्षणप्रस्तरखण्डम्, तस्मिन्, चन्दनम् = मलयजम्, समुद्‌घृष्यताम्=सम्मृद्यताम्, रे रे=परिचारकाः ! उज्ज्वलं शुभ्रं , शशिकरैः = चन्द्रकिरणैः, श्वेतम् = धवलम्, चामरम् = बालव्यजनम्, निर्मीयताम् = विरच्यताम्, रे रे = परिचारकाः ! बालमृणालतन्तुलतिकासूत्रेण–बालमृणालम् = अचिरोद्‌गतो बिसाङ्कुरः, तस्य तन्तुलतिका = अन्तः सूत्रततिः एव सूत्रम् = तन्तुः, तेन पाथोजिनीपत्रस्थैः = कमलिनीपत्रस्थितैः, उदबिन्दुभिः = जलशीकरैः, मणिमयः = रत्ननिर्मितः, हारः =माल्यम्, समासूत्र्यताम्=प्रथ्यताम् । युष्माभिरिति सर्वत्र योज्यम् । एतेन सर्वेण रावणस्य सन्तापाधिक्यं व्यज्यते । अत्र रूपकमलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

मुनिरिति । यादृश = असम्भावनीय, अत एव अयं इति भावः ।

(नेपथ्य में)

रे रे परिचारको ! चन्द्रमण्डलरूप पाषाणखण्ड पर चन्दन घिसो । रे रे ! चन्द्रमा की शुभ्र किरणों से धवल चँवर विनिर्मित करो । रे रे ! नूतन मृणाल की सूत्रलता के सूत्र से कमलिनी के पत्तों पर स्थित जल की बूँदों से मणिमय हार गूँथो ॥ ६ ॥

मुनि—(उपहास के साथ मन ही मन) रावण का यह शीतोपचार

करालकः—खेचराश्च । इदानीं हि—

अङ्गं लिम्पति चन्दनेन मृदुभिः शीतद्युतिः स्वैः करैः,
किञ्चिच्चञ्चलतालवृन्तकलनव्यग्रो वसन्तानिलः ।
किं चायं नलिनीदलैर्वितनुते तल्पं प्रतीचीपति-
र्देवैरित्यमनङ्गतप्तहृदयो लङ्केश्वरः सेव्यते ॥ ७ ॥

सीतोपचारः-सीतायाम् उपचारः=तत्प्राप्त्यर्थमुद्यम इति भावः। रावणस्य यादृशोऽसम्भावनीयोऽत एव व्यर्थोऽयं शीतोपचारस्तस्य सीता प्राप्त्यर्थमुद्यमोऽपि तादृशो व्यर्थो भविष्यतीति मुनेरभिप्रायः ।

करालक इति । खेचराश्च—खेचराः = गगनचारिणः, सुरादय इत्यर्थः । रावणस्य शीतोपचारार्थं न हि निशाचरा एव, खेचरा अप्यादिश्यन्त इति भावः ।

अन्वयः – शीतद्युतिः मृदुभिः स्वैः करैः चन्दनेन अङ्गम् लिम्पति, वसन्तानिलः किञ्चिच्चञ्चलतालवृन्तकलनव्यग्रः किं च अयम् प्रतीचीपतिः नलिनीदलैः तल्पम् वितनुते; इत्यम् देवैः अनङ्गतप्तहृदयः लङ्केश्वरः सेव्यते ।

व्याख्या—शीतद्युतिः = चन्द्रः, मृदुभिः = कोमलैः, स्वैः=स्वकीयैः, करैः= किरणैः, हस्तैरित्यपि, चन्दनेन = मलयजरसेन, अङ्गम् = वक्षःस्थलादिकमस्यन्तं सन्तापयुक्तमवयवं, रावणस्येति शेषः, लिम्पति = देग्धि । वसन्तानिलः = वसन्तवायुः, किञ्चिच्चञ्चलेत्यादिः—किञ्चित् = ईषत्, चञ्चलम् = चपलम्, यत् तालवृन्तम् = व्यजनम्, तस्य कलने = चालने, व्यग्रः = संलग्नः, अस्तीति शेषः । किं च = तथा अयम् = एषः, प्रतीचीपतिः = पश्चिमदिगीशः, वरुण इत्यर्थः, नलिनीदलैः = कमलिनीपत्रैः, तल्पम्=शय्याम्, वितनुते=विदधाति, निर्मातीत्यर्थः । इत्यम् = अनेन प्रकारेण, देवैः = सुरैः, चन्द्रवायुवरुणादिभिरिति भावः, अनङ्ग-

(ठण्डक पहुँचाने के लिए) जैसा (असम्भव अत एव व्यर्थ) है, उसका सीतोपचार (सीता को पाने के लिए उद्योग) भी वैसा (व्यर्थ) ही होगा । (प्रकट रूप में) क्या विरहतप्त रावण के शीतोपचार के लिए निशाचरों को यह आदेश दिया जा रहा है ?

करालक—गगनचारी देवों को भी । सम्प्रति—

चन्द्रमा अपने मृदुल करों (१–किरणों, २–हाथों) से (रावण के)

मुनि —(स्वगतम्) अये अलीकवागडम्बर निशाचरस्य ।

करालक —(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) कथमय प्रहस्तो राजद्वारमुपसर्पति ? तदस्य हस्ते चित्रपटमर्पयिष्ये । भवानपि समीहितं साधयतु ।

(इति निष्क्रान्तौ)

इति विष्कम्भक ।

(तत प्रविशति रावणश्चित्रहस्त प्रहस्तश्च)

रावण —(स्वगतम्)

तप्तहृदय —अनङ्गेन = कामेन, तप्तम् = सन्तप्तम्, हृदयम् = चेतो यस्य स तथाभूत , लङ्केश्वर = रावण , सेव्यते = परिचर्यते । करैरित्यत्र शब्दश्लेषाऽलङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ७ ॥

मुनिरिति । अलीकवागडम्बरम्—अलीक =मिथ्यारूप , वाचाम्=वचनानाम्, डम्बर = आडम्बर., यस्मिंस्तत् । वाक्यमिति शेष ।

अङ्ग में चन्दन का लेप कर रहा है वसन्त वायु कुछ चञ्चल पखे को डुलाने में व्यस्त है। तथा वरुण कमलिनी के पत्तो से शय्या बना रहे हैं। इस तरह देव लोग काम से सन्तप्त हृदयवाले लङ्केश्वर की परिचर्या कर रहे है ॥ ७ ॥

मुनि—(मन ही मन) अरे! (यह सब) निशाचर का झूठ मूठ वागाडम्बर है।

करालक—(नेपथ्य की ओर देखकर) क्या यह प्रहस्त राजद्वार की ओर जा रहे हैं ? तो इनके हाथ में चित्रपट सौंपूँगा। आप भी अभीष्ट (कार्य) सम्पन्न करें।

(दोनों जाते हैं)

॥ विष्कम्भक समाप्त ॥

(तदनन्तर रावण और चित्र हाथ में लिए प्रहस्त, दोनों प्रवेश करते हैं)

रावण—(मन ही मन)

राजल्ललाटफलका कमनीयकूजत्-
काञ्चीगुणप्रणयिनी धृतकेशपक्षा।
हा ! किं करोमि मम सा हृदयं प्रविष्टा
नाराचयष्टिरिव पुष्पशिलीमुखस्य ॥ ८ ॥

अन्वयः—राजल्ललाटफलका कमनीयकूजत्काञ्चीगुणप्रणयिनी धृतकेशपक्षा सा पुष्पशिलीमुखस्य नाराचयष्टिः इव मम हृदयम् प्रविष्टा। हा ! किम् करोमि।

व्याख्या—राजल्ललाटफलका—राजत् = शोभमानम्, ललाटफलकम् = भालपटलं यस्याः सा, नाराचयष्टिपक्षे—राजत्=शोभमानम्, ललाटमिव फलकम्= तीक्ष्णाग्रभागो यस्याः सा, कमनीयकूजत्काञ्चीगुणप्रणयिनी—कमनीयम् = सुन्दरम् मधुरमित्यर्थः, कूजन्ती=शब्दायमाना, काञ्ची = रशना, गुणः इव=मौर्वीव, तस्मिन् प्रणयिनी=प्रेमवती, कमनीयकूजद्रशनोपेतकटितटेति भावः। पक्षान्तरे-कमनीयकूजत्काञ्चीव गुणः=मौर्वी, तत्प्रणयिनी। धृतकेशपक्षा—धृतः = अङ्गीकृतः, केशपक्षः= केशकलापः पतिवियोगेनासंस्कृतकेशकलाप इति भावः, यया सा, ('पाशः पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः' इत्यमरः)। पक्षान्तरे धृतः केश इव = कृष्णवर्ण इति भावः, पक्षः = कङ्कनाम्नो पक्षिविशेषस्य पतत्रम्, यया सा। सा = सीता, पुष्पशिलीमुखस्य पुष्पाण्येव शिलीमुखाः = बाणाः यस्य सः, कामदेव इत्यर्थः, तस्य, ('अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः) नाराचयष्टिरिव, मम = रावणस्य, हृदयं प्रविष्टा = प्राविशत्। हा—खेदद्योतकमव्ययम्। किं करोमि = किं विदधामि। अत्रोपमाऽलङ्कारः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ८ ॥

सुन्दर ललाटपटल से युक्त, मधुर (झन-झन) शब्द करने वाली प्रत्यञ्चा सी करधनी में प्रेम करने वाली (अर्थात् करधनी से शोभित) सुन्दर केशपाश वाली वह(सीता) मेरे हृदय में चमचमाते हुए ललाट के समान खलक अग्रभाग) वाली कमनीय (अर्थात् टं-टम्) शब्द करने वाली काञ्ची-सी मौर्वी में प्रेम करने वाली, केश के समान (काले-काले), (कङ्कपक्षी के) पंखों को (पिछले भाग में) धारण करने वाली, कामदेव की बाण-यष्टि की तरह प्रविष्ट हो गयी है। हाय ! क्या करूँ ? ॥ ८ ॥

(विमृश्य) अहो ! कथमद्यापि हठाहरणखिन्नां नितान्तकृशधूसराङ्गीमपि जानकीं जनस्थानस्थितामिवाहमखण्डमण्डनां पश्यामि । अथवोचितमिदम् ।

> आचान्तकान्तिरुन्निद्रैर्मयूखैरहिमत्विषः ।
> धूसरापि कला चान्द्री किन्न बध्नाति लोचनम् ? ॥ ९ ॥

प्रहस्त — अयि देव ! इदमालोकयता चित्तविनोदनं चित्रम् ।

रावण — किं पुनरिहालिखितम् ?

विमृश्येति । हठाहरणखिन्नाम्—हठात् = बलात्, आहरणेन = आनयनेन खिन्नाम् । नितान्तकृशधूसराङ्गीम्—नितान्तम् = अत्यर्थम् कृशानि = दुर्बलानि, धूसराणि=मलिनानि अङ्गानि=शरीरावयवा यस्या सा, ताम् । अखण्डमण्डनाम्—अखण्डम् = सम्पूर्णम् मण्डनम् = आभरणं यस्या सा ताम् ।

अन्वय —उन्निद्रैः अहिमत्विषः मयूखैः आचान्तकान्तिः धूसरा अपि चान्द्री कला किम् लोचनम् न बध्नाति ? ।

व्याख्या —उन्निद्रैः = विकसितैः, सर्वत्र प्रसृतैरित्यर्थः, अहिमत्विषः = उष्णांशोः, सूर्यस्येत्यर्थः, मयूखैः = किरणैः, आचान्तकान्तिः —आचान्ता-निपीता, कान्तिः = प्रभा यस्याः सा तथाभूता अतएव धूसरा = मलिनाऽपि, चान्द्री = चन्द्रसम्बन्धिनी, कला = रेखा किमिति प्रश्ने, लोचनम् = नेत्रम्, न बध्नाति = नाकर्षति आकर्षत्येवेति भावः ॥ अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ९ ॥

(विचार कर) अहो ! किस तरह आज भी बलपूर्वक ले आने से उदासीन, अत्यन्त दुर्बल एवं मलिन अङ्गों वाली भी सीता को जनस्थान में स्थित सम्पूर्ण मण्डनों से मण्डित-सी देख रहा हूँ । (अर्थात् सीता यद्यपि अशोकवन में अत्यन्त दुःखी, एवं दुर्बल एवम् मलिन अङ्गों वाली हो चुकी है तथापि मुझे वैसी ही सुन्दर दिखायी दे रही है, जैसी वह जनस्थान में रहते समय समस्तमण्डनों से मण्डित होने पर सुन्दर दिखायी पड़ी थी) । अथवा यह उचित (ही) है ।

सर्वत्र फैली हुई सूर्य की किरणों से फीकी पड़ी हुई और मलिन भी चन्द्रमा की कला, क्या नेत्र को आकृष्ट नहीं करती है ? ॥ ९ ॥

प्रहस्त—महाराज ! यह मन बहलाने वाला चित्र देखा जाय ।

रावण—अच्छा, इसमें क्या चित्रित किया गया है ?

प्रहस्तः—अयं तावत्तरलतिमिनिकरकरालकल्लोलकोलाहलोज्जागरः सागरः ।

रावणः—(विलोक्य) किमिदमुत्तरेण तरङ्गमालिनमनुतमालखण्डमाखण्डलधनुःसहस्रानुकारि कपिशयति गगनतलम् ?

प्रहस्तः—तदिदं सुग्रीवपालितं कपिकुलम् ।

रावणः—(विहस्य) अयि ! वालिपालितमिति वक्तव्यम् । भवतु । किं पुनरनेन ? कौ पुनरिमौ कार्मुकवरौ ?

प्रहस्तः—ताविमौ रामलक्ष्मणौ, ययोरग्रजस्य बाणपातविलसितेन सुग्रीवपालितमधुना कपिकुलम् ।

प्रहस्त इति । तरलेत्यादिः—तरलः = चञ्चलः, तिमिनिकरः = मत्स्यविशेषसमूहः, तेन करालाः = भयङ्कराः, कल्लोलाः = तरङ्गाः तेषां कोलाहलैः=गर्जनैः, उज्जागरः = उज्जृम्भितः ।

रावण इति । तरङ्गमालिनमुत्तरेण=समुद्रमुत्तरेण । ('एनपा द्वितीया' इति द्वितीया) । अनुतमालखण्डम् = तमालवृक्षसमूहसमीपम् । कपिशयति = कपिशं करोति । ('तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्) ।

प्रहस्त इति । अग्रजस्य = ज्येष्ठस्य, रामस्येत्यर्थः । बाणपातविलसितेन—बाणस्य पातः = प्रहारस्तस्य विलसितेन = विलासेन, कपिकुलम् = वानरसमूहः, सुग्रीवपालितम् = सुग्रीवेण रक्षितम् । रामस्य बाणप्रहारविलासेन वालिनं व्यापाद्य सुग्रीवः कपिचक्रवर्त्ती कृतः इति भावः ।

प्रहस्त—यह तो चञ्चल तिमिनामक महामत्स्यों के समूहों से भयङ्कर महातरङ्गों की कलकल ध्वनियों से उमड़ता हुआ समुद्र (चित्रित) है ।

रावण - (देखकर) समुद्र के उत्तर तट पर तमाल-वन के पास हजारों इन्द्रधनुषों के समान यह क्या है जो आकाश को भूरे रंग का बना रहा है ?

प्रहस्त—यह तो सुग्रीव से रक्षित वानरों का समूह है ।

रावण—(जोर से हँसकर) अरे ! वाली से रक्षित कहना चाहिए । अच्छा, तो इससे क्या ? ये दोनों धनुर्धारी कौन हैं ?

प्रहस्त—वही ये दोनों राम-लक्ष्मण हैं, जिनमें ज्येष्ठ (राम) के वाण-प्रहार के विलास से सम्प्रति कपिकुल सुग्रीव से पालित है ।

रावण—(अनाकर्णितकेन) क पुनरयं नितान्तकृशकमनीयतनुरमन्दमन्दराघातनिर्मन्थनोत्थिततरलतरङ्गदूरविक्षिप्त शङ्करशिरशेखराधिरोहणकुतूहली कलानिधिरिव तरङ्गमालिनस्तटभुवमधिशेते ?

प्रहस्त—स एव लङ्कागमनकुतूहली निजकुलगुरु सागरमुपचरितु कुशशयनविन्यस्तगात्र प्रथमो दाशरथि.।

रावण—(विहस्य) कथमित्थमेव जानकीलाभकौतुक सोऽयमस्मानप्युपचरिष्यति ?

रावण इति। नितान्तकृशकमनीयतनु—नितान्तम् = अत्यन्त कृशा=दुर्बला, कमनीया = मनोहरा तनु = शरीर यस्य स तादृश । अमन्दमन्दराघातनिर्मन्थनोत्थिततरलतरङ्गदूरविक्षिप्त—अमन्द = घोर, मन्दरस्य = तन्नाम्न पर्वतस्य य आघात = प्रहार, तेन निर्मन्थनम् = नितरां विलोडनम्, तेन उत्थिता = उद्गता ये तरला = चञ्चला, तरङ्गा = लहर्य, तैं दूरविक्षिप्त =दूरे = बहि, किञ्चिद्विप्रकृष्टे विक्षिप्त =प्रक्षिप्त । शङ्करशिरशेखराधिरोहणकुतूहली=शङ्करस्य शिरसि य शेखर = मुकुटम्, तत्र यत् अधिरोहणम् तस्मिन् कुतूहली=सोत्कण्ठ, कलानिधि = चन्द्र इव। तरङ्गमालिन =समुद्रस्य, तटभुवम् = तीरभूमिम्, ('अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति द्वितीया)।

रावण—(न सुनने का अभिनय कर) अत्यन्त दुर्बल (परन्तु) मनोहर शरीर वाला यह कौन है ? (जो) मन्दराचल के प्रबल आघात के मन्थन से उठी हुई चञ्चल लहरों से, (बाहर) दूर फेंके गये, एवम् शङ्कर जी के शिर-मुकुट पर चढने के लिए समुत्सुक चन्द्र की तरह, समुद्र के तट प्रदेश पर सोया हुआ है।

प्रहस्त—लङ्का जाने के लिए उत्कण्ठित, अपने कुल के श्रेष्ठ सागर को मनाने के लिए कुश की शय्या पर लेटा हुआ, वही पहला (ज्येष्ठ) दशरथपुत्र (राम) है।

रावण—(जोर से हँस कर) जानकी को पाने के लिए उत्कण्ठित यह राम क्या इसी तरह हम लोगों की भी सेवा करेगा ?

प्रहस्तः—इतो विलोक्यतामयं रामनाराचनिर्मुक्तवहलानलहेलातरल-दीनमीननिकरपरिवारः पारावारः।

रावणः—कौ पुनरिमौ ज्येष्ठतापसस्य सादरं वानरवीरैः पार्श्वपरि-सरमानीयेते ?

प्रहस्तः—अयं तावत्सागर एव। अयमपि देवस्यैव—(इत्यर्धोक्ते) अथवा किमस्य बन्धुविरोधिनो नामग्रहणेन ?

रावणः—कथमयं विभीषणोऽस्मद्विरोधेन राममाश्रयति ? भवतु

निशाचरशिरोरत्नरञ्जिताङ्घ्रिसरोरुहः।
प्रियोऽपि दशकण्ठस्य नैव दर्शनमेष्यति ॥ १० ॥

प्रहस्त इति। रामनाराचेत्यादिः—रामस्य नाराचात् = बाणविशेषात्, निर्मुक्तः = प्रक्षिप्तः, यः वहलः = प्रचुरः, अनलः=अग्निः, तेन हेलया=अनायासेन तरलाः = चञ्चलाः, दीनाः = व्याकुलाः, मीननिकराः = मत्स्यादिजलजन्तुसमूहा एव परिवारा यस्य सः, पारावारः = सागरः।

अन्वयः—निशाचरशिरोरत्नरञ्जिताङ्घ्रिसरोरुहः प्रियः अपि एषः दश-कण्ठस्य दर्शनम् न एष्यति।

व्याख्या—निशाचरेत्यादिः—निशाचराणाम् = राक्षसानाम्, शिरोरत्नैः = चूडामणिभिः, रञ्जिते = चित्रिते, अङ्घ्रिसरोरुहे = चरणकमले यस्य स तादृशः,

---

प्रहस्त—इधर देखिए, राम के बाण से निकले हुए प्रचुर अनल से अनायास ही चञ्चल एवं व्याकुल मत्स्यादि जन्तुसमूह-रूप परिवारों से युक्त यह सागर है।

रावण—ये दोनों कौन हैं ? जिन्हें वानरवीर आदर के साथ ज्येष्ठ तापस (राम) के पास ले आ रहे हैं।

प्रहस्त—यह तो सागर ही है। यह (दूसरा) भी महाराज का ही— (ऐसा आधा ही कहने पर) अथवा इस भ्रातृद्रोही का नाम लेने से क्या (लाभ) ?

रावण—क्या यह विभीषण, हमारे विरोध के कारण राम का आश्रय ले रहा है ?

अच्छा, राक्षसों के चूड़ारत्नों से रञ्जित चरणकमलों वाला प्रिय भी यह

रावण —(सकौतुकम्) किं पुनरिदमक्षरपङ्क्तिद्वयम् ?

प्रहस्त —नूनमिदं समुद्रविभीषणौ प्रति लक्ष्मणस्य वचनद्वयं भविष्यति ।

रावण —एकं तावद्वाचय ।

प्रहस्त —(वाचयति)

त्रासं मुञ्च समुद्र ! कोपदहनो रामस्य पास्यत्ययं
बन्दीभूतसुरेन्द्रसुन्दरदृशामक्ष्णोरमुद्रं पयः ।
कामं ते मकरीगणो विहरतामेतस्य लङ्केश्वर-
स्त्रीगण्डस्थलपत्रभङ्गमकरीविध्वंसिनः सायकाः ॥ ११ ॥

निशाचरपूज्यमानचरणकमल इति भाव । प्रिय = स्नेह्य अपि, एष =विभीषण, दशकण्ठस्य = रावणस्य, दर्शनम् = विलोकनम्, न प्राप्स्यति = न प्राप्स्यति । अत पर विभीषणस्य मुखं न द्रक्ष्यामीति भाव. । एतेन विभीषणं प्रति कोपो व्यज्यते । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १० ॥

अन्वय —समुद्र ! त्रासम् मुञ्च, रामस्य अयम् कोपदहन बन्दीभूतसुरेन्द्र-सुन्दरदृशाम् अक्ष्णो अमुद्रम् पय पास्यति । ते मकरीगण कामम् विहरताम् । एतस्य सायका लङ्केश्वरस्त्रीगण्डस्थलपत्रभङ्गमकरीविध्वंसिन ।

व्याख्या—समुद्र ! त्रासम् = भीतिम्, मुञ्च =त्यज, अभयो भवेति भाव । रामस्य अयम् कोपदहन = क्रोधानल, बन्दीभूतसुरेन्द्रसुन्दरदृशाम्—बन्दीभूता = कारागारे निक्षिप्ता, या सुरेन्द्रस्य = देवाधिपस्य, इन्द्रस्येत्यर्थ सुन्दरदृश = सुनयना, तासाम् अक्ष्णो = नेत्रयो, अमुद्रम् = सतत प्रवहमानम्, पय = जलम्, अश्रुजलमित्यर्थ, पास्यति = पान करिष्यति । ते = तव, समुद्रस्येत्यर्थ, मकरी-

---

(विभीषण) रावण का दर्शन नहीं पायेगा ॥ १० ॥

रावण—(कौतूहल के साथ) ये दो अक्षरपङ्क्तियाँ क्या है ?

प्रहस्त—निश्चय ही समुद्र और विभीषण के प्रति लक्ष्मण के दो वचन होंगे ?

रावण—पहिले एक को पढो ।

प्रहस्त—(पढ़ता है) ।

समुद्र ! भय छोड़ो, राम का यह कोपानल (तुम्हारे जल को न पीकर)

रावणः—अन्यदपि वाचय ।

प्रहस्तः—(वाचयति)

अद्यैवास्य विभीषणस्य शरणापन्नस्य मूर्ध्ना नते-
रानृण्यं विदधात्ययं रघुपतिर्लङ्काधिपत्यश्रियम् ।
एतस्यैव भुजाविह प्रतिभुवौ सुग्रीवराज्यार्पण-
त्रैलोक्यप्रथमानसत्यचरितौ, सर्वे वयं साक्षिणः ॥ १२ ॥

गणः = मकरवधूसमूहः, जलचरगण इत्यर्थः, कामम् = यथेच्छम्, विहरताम् = क्रीडतु । एतस्य = रामस्य, सायकाः = बाणाः, लङ्केश्वरस्त्रीगण्डस्थलपत्रभङ्ग-मकरीविध्वंसिनः-लङ्केश्वरस्य = रावणस्य, स्त्रियः = पत्न्यः, तासां गण्डस्थलेषु= कपोलस्थलेषु याः पत्रभङ्गमकर्यः= मकरिकाकाराः पत्ररचनाः, तासां विध्वंसिनः= विनाशकाः (सन्ति) । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—अयम् रघुपतिः शरणापन्नस्य अस्य विभीषणस्य मूर्ध्ना नतेः अद्यैव लङ्काधिपत्यश्रियम् आनृण्यम् विदधाति । इह सुग्रीवराज्यार्पणत्रैलोक्यप्रथमान-सत्यचरितौ एतस्य भुजौ एव प्रतिभुवौ । वयम् सर्वे साक्षिणः (स्मः) ।

व्याख्या—अयम् रघुपतिः = श्रीरामचन्द्रः, शरणापन्नस्य = शरणागतस्य, अस्य विभीषणस्य, मूर्ध्ना = शिरसा, नतेः = नमनस्य, अद्यैव = अस्मिन्नेव दिने लङ्काधिपत्यश्रियम्—लङ्काधिपत्यस्य = लङ्कासाम्राज्यस्य श्रियम् = लक्ष्मीम्, लङ्काधीश्वरतामिति भावः । आनृण्यम् = ऋणपरिशोधरूपाम्, विदधाति = करोति (वर्तमानसामीप्ये लट्) । विभीषणकृतप्रणत्याऽधमर्णीभूतो रामः

बन्दी बनायी गयी इन्द्र की ललनाओं के नेत्रों से सतत बहने वाले जल (अश्रु) को पियेगा । तुममें ग्राह-वधू समूह (मकरी-गण) यथेच्छ विहार करें (उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं है । इस (राम) के बाण (तो) रावण की स्त्रियों के कपोलों पर (कस्तूरी-चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों से) चित्ररचना के क्रम में चित्रित मकरियों (मादा मगर के चित्रों) को विनष्ट करने वाले हैं ॥ ११ ॥

रावण—दूसरा भी पढ़ो ।

प्रहस्त—(पढ़ता है)

ये रामचन्द्र, शरणागत विभीषण के, शिरसा प्रणति रूप ऋण को आज

रावण—अहो ! वाग्डम्बरैकसारता कनिष्ठतापसस्य। भवतु। किं पुनरिदं मध्येसमुद्रमालोक्यते ?

प्रहस्त—स एष कपिकुलोन्मूलितशैलशिखरनिर्मितः काकुत्स्थकुलकीर्तिप्रसक्तिप्रबन्धः सेतुबन्धः।

विभीषणाय लङ्काधिपत्यं दत्त्वाऽस्मानमनृणं विधास्यतीति भावः। इह=अस्मिन् विषये, सुग्रीवराज्यार्पणत्रैलोक्यप्रथमानसत्यचरितौ—सुग्रीवाय यत् राज्यार्पणम् = वालिनं हत्वा तद्राज्यप्रदानं तेन त्रैलोक्ये = त्रिलोक्याम्, प्रथमानम् = प्रसिद्ध्यत् सत्यम् = निर्व्याजम्, चरितम् = चरित्रं ययोस्तौ, एतस्य = रामस्य, भुजौ = बाहू एव प्रतिभुवौ = लग्नकौ, ('लग्नकः प्रतिभुवः' इत्यमरः) स्तः इति शेषः, वयम् = लक्ष्मणादयः, सर्वे साक्षिणः = साक्षाद्द्रष्टारः, प्रमाणभूताः, स्म इति शेषः। विभीषणाय राज्यं दत्तमित्यस्मिन् विषये रामस्य भुजौ प्रतिभुवौ (मध्यस्थौ) स्तो ययोः सत्यमाचरणं वालिनं हत्वा सुग्रीवाय तद्राज्यप्रदानेन त्रिलोक्यां विश्रुतमस्ति, वयं लक्ष्मणादयश्च प्रमाणभूताः स्म इति भावः। अत्र साङ्गरूपकमलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १२ ॥

रावण इति। वाग्डम्बरैकसारता—वाचाम् = वाणीनाम्, डम्बरः = आडम्बर एव एकः = मुख्यः, सारः = बलमित्यर्थः, यस्य [illegible], तस्य भावस्तत्ता। कनिष्ठतापसस्य = लक्ष्मणस्य। मध्येसमुद्रम्—समुद्रस्य मध्ये ('पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभावः,)।

प्रहस्त इति। कपिकुलोन्मूलितशैलशिखरनिर्मितः—कपीनाम् = वानराणां कुलम् = समूहः, तेन उन्मूलितानि = उत्पाटितानि यानि शैलशिखराणि = पर्वतशृङ्गाणि तैर्निर्मितः = विरचितः। काकुत्स्थकुलकीर्तिप्रसक्तिप्रबन्धः—काकुत्स्थकुलम्=

ही चुकाने के लिए लङ्का की साम्राज्यलक्ष्मी को दे रहे हैं। इस विषय में, उन्हीं के (ये) दोनों बाहु मध्यस्थ (जामिन) हैं, जिनका सच्चा पराक्रम सुग्रीव को राज्य देने से विश्व में विख्यात है और हम (लक्ष्मण आदि) सब साक्षी हैं ॥ १२ ॥

रावण—अहो ! छोटे तापस (लक्ष्मण) का, वागाडम्बर में ही एकमात्र बल है। अच्छा, यह समुद्र के मध्य में क्या दिखायी दे रहा है ?

प्रहस्त—यह वानर-समूह के द्वारा उखाड़े गये शैलशिखरों से निर्मित,

रावणः—अहो ! चित्रकरस्य चातुरी । यदलीकमपि सत्यमिव दर्शितवान् ।

प्रहस्तः—कथमद्यापीदमलीकमिति सम्भावना देवस्य ?

(नेपथ्ये कलकलः)

रावणः—किमेतत् ?

प्रहस्तः—

एषामयं रामचमूचराणां
दर्पोद्धतानां कपिकुञ्जराणाम् ।
नवोद्गतानामिव नीरदानां
कोलाहलः कोऽपि समुज्जिहीते ॥ १३ ॥

रघुवंशः, तस्य कीर्त्तिः = यशः, तस्याः प्रसक्तिः = प्रसङ्गः, तस्याः प्रबन्धः = काव्यरचना, काव्यरचनारूप इत्यर्थः । यथा काव्येन तत्प्रतिपाद्यकुलस्य कीर्तिरवगम्यते तथैवानेन सेतुबन्धेन रघुवंशयशोऽवगमिष्यत इति भावः ।

अन्वयः—नवोद्गतानाम् नीरदानाम् इव रामचमूचराणाम् दर्पोद्धतानाम् एषाम् कपिकुञ्जराणाम् कोऽपि अयम् कोलाहलः समुज्जिहीते ।

व्याख्या—नवोद्गतानाम्–अचिराविर्भूतानाम्, नभसीति भावः, नीरदानामिव = मेघानामिव, रामचमूचराणाम् = रामसैनिकानाम्, दर्पोद्धतानाम् = दर्पेण = गर्वेण, उद्धतानाम् = उद्दण्डानाम्, एषाम् कपिकुञ्जराणाम् = वानर-

---

काकुत्स्थकुल के कीर्ति-प्रसङ्ग का काव्यरूप सेतुबन्ध है ।

रावण—चित्रकार की कुशलता आश्चर्य का विषय है, जो असत्य को भी सत्य की तरह दिखाया है ।

प्रहस्त—कैसे आज भी महाराज को 'यह झूठ है'—ऐसी सम्भावना हो रही है ?

(नेपथ्य में कलकल की ध्वनि होती है)

रावण—यह क्या है ?

प्रहस्त—(आकाश में) नूतन आविर्भूत बादलों की गर्जनध्वनि के समान

प्रहस्त —तदिदं शङ्कितव्यं प्रतिविधातव्यं वा ।

रावण —आः ! किमिह शङ्कया प्रतिविधानेन वा ? अनेन हि—

कोलाहलेनोल्लसता कपीनां मनो मदीयं मुदमेव धत्ते ।
मन्दोदरीभूषणनूपुराणां महामणीनामिव शिञ्जितेन ॥ १४ ॥

(प्रविश्य)

मन्दोदरी—जयतु जयतु देव । (जेदु जेदु देवो)

श्रेष्ठानाम्, कोऽपि = विलक्षण, अयम् कोलाहल = कलकल, समुज्जिहीते = उज्जृम्भते । अत्रापमाल्ङ्कार । उपजातिर्वृत्तम् ॥ १३ ॥

प्रहस्त इति । प्रतिविधातव्यम् = प्रतिकर्त्तव्यम् ।

अन्वय —मन्दोदरीभूषणनूपुराणाम् महामणीनाम् शिञ्जितेन इव उल्लसता कपीनाम् (अनेन) कोलाहलेन मदीयम् मन मुदमेव धत्ते ।

व्याख्या—मन्दोदरीभूषणनूपुराणाम् = मन्दोदर्या = स्वमहिष्या, भूषण-नूपुराणाम् = भूषणभूतमञ्जीराणाम्, महामणीनाम् = महार्हरत्नानाम् शिञ्जितेनेव=झङ्कारेणेव, उल्लसता=उज्जृम्भमाणेन, कपीनाम् = वानराणाम्, (अनेन) कोलाहलेन = किलकिल शब्दजन्यकलकलेन, मदीयम् मन = चेत, मुदमेव = हर्षमेव, धत्ते = धारयति । यथा मन्दोदरीचरणनूपुरझङ्कारेण मोदते मम मनस्त-थैवानेन कपिकुलकोलाहलेन, तदिह शङ्कया प्रतिविधानेन वा किमिति रावणोक्तेराशय । उपजातिर्वृत्तम् ॥ १४ ॥

राम के सैनिक, गर्व से उद्दण्ड, इन वानर वीरों का यह विलक्षण कलकल नाद फैल रहा है ॥ १३ ॥

प्रहस्त —तो यह शङ्का करने के योग्य है अथवा प्रतीकार के योग्य है ?

रावण—आह, इस विषय में शङ्का अथवा प्रतीकार से क्या (प्रयोजन) ? निश्चय ही मन्दोदरी के भूषणभूत नूपुरों की श्रेष्ठमणियों की झङ्कार से जैसे मेरा मन प्रसन्नता को धारण करता है, ठीक वैसे ही वानरों के उठते हुए कोलाहल से (मेरा मन प्रसन्नता का धारण कर रहा है) ॥ १४ ॥

(प्रवेश कर)

मन्दोदरी—महाराज की जय हो, जय हो !

रावणः—देवि ! इत आस्यताम् ।

(मन्दोदरी यथोचितमुपविश्याऽधोमुखी तिष्ठति)

रावणः—

भुग्नालकं स्मितपराजितचन्द्रलेखं
दृग्लीलया कुवलयश्रियमादधानम् ।
एतन्मुखं त्रिदिवसदामपि दुर्निरीक्ष्यं
तन्वङ्गि ! मामिव मुधा किमधः करोषि? ॥ १५ ॥

अन्वयः—तन्वङ्गि ! भुग्नालकम् स्मितपराजितचन्द्रलेखम् दृग्लीलया कुवलयश्रियम् आदधानम् त्रिदिवसदामपि दुर्निरीक्ष्यम् एतत् मुखम् मामिव मुधा किम् अधः करोषि ?

व्याख्या—तन्वङ्गि = कृशोदरि ! भुग्नालकम् भुग्नाः = कुटिलाः, अलकाः = कुन्तलाः यस्मिंस्तत् । रावणपक्षे—भुग्ना = पराजिता, अलका = अलकानाम्नी कुबेरनगरी, येन सः, तम् । स्मितपराजितचन्द्रलेखम्—स्मितेन = ईषद्धास्येन पराजिता = तिरस्कृता चन्द्रलेखा = चन्द्रकला येन तत् । रावणपक्षे—स्मितेन = हास्येन, अनायासेनेति भावः, पराजिताः = विजिताः, चन्द्रः = चन्द्रमा, लेखाः = देवाश्च येन स तम् (लेखा अदितिनन्दना' इत्यमरः ।) दृग्लीलया = नेत्रविलासेन, कुवलयश्रियम् = नीलकमलशोभाम्, आदधानम् = धारयत् । रावणपक्षे—दृग्लीलया = नयनेङ्गितेनैव, कुवलयश्रियम्—कुवलयस्य = भूमण्डलस्य ('कुः पृथिवी पृथ्वी क्ष्मा' इत्यमरः ।) श्रियम् = सम्पत्तिम्, आदधानम् = धारयन्तम् । त्रिदिवसदामपि = देवानामपि ('आदितेया दिविषदः' इत्यमरः) दुर्निरीक्ष्यम् = दुर्दर्शनीयम्, भयाद् द्रष्टुमशक्यमिति भावः । उभयत्र समानमेतत् । एतत् = पुरोवर्त्ति,

रावण—देवि ! इधर बैठिए ।

(मन्दोदरी उचितरूप से बैठकर अवनतमुखी रहती है)

रावण—

कृशोदरि ! कुटिल अलकों से सम्पन्न, मुस्कान से चन्द्रकान्ति को पराजित करने वाले नेत्रों के विलास से नीलकमल की शोभा को धारण करने वाले, देवों के द्वारा भी दुर्दर्शनीय इस मुख को, अलकापुरी को जीतने वाले, हास्य से

प्रहस्त —देव ! कपिसेनाकोलाहलचिन्तयैव नूनमधरीकृतमुखी देवीति तर्कयामि ।

रावण —आः ! क एष चिन्ताविषय ?

इयं लीलालोलाङ्गदभुजलता नीलचिकुरा
समुन्मीलत्तारा कुमुदहसिता चारुनयना ।
प्लवङ्गाना सेना युवतिरिव तारापतिमुखी
ममाऽग्रे कन्दर्पं प्रकटयितुमद्य प्रभवति ॥ १६ ॥

मुखम् = आननम्, मामिव = रावणमिव, मुधा = व्यर्थमेव, किम् = किमर्थम्, अध करोषि = नीचै करोषि । परयतो मम यत्त्व मुखमध करोषि, तन्मामेव तिरस्करोषीति भाव । अत्र श्लेषानुप्राणितोपमाऽलङ्कार. । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ १५ ॥

अन्वय – लीलालोलाङ्गदभुजलता नीलचिकुरा समुन्मीलत्तारा कुमुदहसिता चारुनयना इयम् प्लवङ्गानाम् सेना तारापतिमुखी युवतिरिव अद्य मम अग्रे कन्दर्पं प्रकटयितुम् प्रभवति ।

व्याख्या—लीलालोलाङ्गदभुजलता–लीलया = क्रीडया, लोल = चञ्चल, अङ्गद = वालिपुत्र एव भुजलता = बाहुवल्ली यस्या सा । युवतिपक्षे–लीलया = कामचेष्टया लोलम् = चञ्चलम्, अङ्गदम् = केयूरम् यस्या सा, तादृशी भुजलता यस्या सा, ('केयूरमङ्गदम्' इत्यमर) । नीलचिकुरा–नील = नीलाभिधानो वानर, चिकुर = केश, यस्या सा । युवतिपक्षे–नीला = कृष्णवर्णा, चिकुरा-

---

(अर्थात् अनायास ही) चन्द्रमा और देवों को जीतने वाले, नेत्रों के इङ्गित से भूमण्डल की सम्पत्ति को धारण करने वाले, देवों के द्वारा भी दुर्दर्शनीय मेरे समान, व्यर्थ ही क्यों नीचा कर रही हो ? (तुम्हारा मुँह को नीचा करना, मुझको नीचा करने के समान है) ॥ १५ ॥

प्रहस्त—महाराज ! निश्चय ही वानर-सेना के कोलाहल की चिन्ता से ही महारानी ने मुँह नीचा कर लिया है–यह मैं सोचता हूँ ।

रावण—आह ! यह कौन सा चिन्ता का विषय है ?

लीला पूर्वक चञ्चल अङ्गद (बालि पुत्र) रूप भुजलता वाली, नील नामक

मन्दोदरी—देव! अन्यदप्यस्ति कारणम। अद्य हि मया देवस्य शकुननिरूपणार्थं गिरिशिखरगहनगर्भस्थितां शवरपल्लीं प्रस्थापिता निजपरिचारिका। तया च कस्या अपि शवरकुटुम्बिन्या निजगृहपर्यन्त-

केशाः यस्याः सा। समुन्मीलत्तारा—समुन्मीलन् = प्रकाशमानः, तारः = ताराख्यो वानरः, यस्या सा, युवतिपक्षे—समुन्मीलन्त्यौ = कामाधिक्येन घूर्णन्त्यौ, तारे = नेत्रकनीनिके यस्याः सा। कुमुदहसिता-कुमुदः=कुमुदनामा वानरः एव हसितम्=हास्यं यस्यां सा। पक्षान्तरे—कुमुदमिव = कैरवमिव, धवलमिति भावः, हसितम् = हसनं यस्याः सा। चारुनयना—चारु = शोभनम्, नयनम् = सञ्चालनं यस्याः सा, यद्वा-चारुणा = चारुनाम्ना वानरेण नयनम् = सञ्चालनं यस्याः सा, यद्वा—चारुः= चारुनामा वानरः, नयनम् = नेत्रस्थानीय इति भावः यस्यां सा। पक्षान्तरे— चारुणी = मनोहरे, नयने = नेत्रे यस्याः सा। इयम् = एषा, प्लवङ्गानाम् = वानराणाम्, सेना, तारापतिमुखी—तारापतिः = चन्द्र इव मुखम् = आननं यस्याः सा तादृशी युवतिरिव = तरुणीव। तारापतिमुखीमिति पदं कपिसेनाया विशेषणत्वेन न योजनीयम्, मुखत्वस्य प्राधान्येन स्वाङ्गवाचकत्वाभावात् 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' इति सूत्रेण ङीप्प्राप्त्यसम्भवात्। अद्य = अस्मिन् दिने, मम = रावणस्य, अग्रे = पुरतः, कम् = कीदृशम्, दर्पम् = गर्वम्, पक्षान्तरे— कन्दर्पम् = कामभावम्, प्रकटयितुम् = प्रकाशयितुं, प्रभवति = शक्नोति। अत्र श्लेषानुप्राणितोपमाऽलङ्कारः। शिखरिणी वृत्तम् ॥ १६ ॥

मन्दोदरीति। गिरिशिखरगहनगर्भस्थिताम्—गिरिशिखरे = पर्वतशृङ्गे यद् गहनम् = वनम् तस्य गर्भे = मध्यस्तरे स्थिताम् = वर्तमानाम्। शवरपल्लीम् =

वानर रूप केश-कपाल से युक्त, तार नामक वानर से प्रकाशित, कुमुद नामक वानर रूप हास्य से सम्पन्न, चारु नामक वानर रूप नेत्र वाली यह वानर सेना, क्रीडा से चञ्चल अङ्गद (बाजूबन्द) से सुशोभित बाहुलता वाली, नील केश कपाल से युक्त, कामाधिक्य से फड़कने वाली पुतलियों से सम्पन्न, कुमुद के समान (शुभ्र) हास्य वाली, सुन्दर नेत्रों वाली चन्द्रमुखी युवती के समान आज मेरे सामने कौन सा अभिमान प्रकट करने में समर्थ हो सकती है? (हाँ) कामभाव को प्रकट कर सकती है ॥ १६ ॥

मन्दोदरी—महाराज! दूसरा भी कारण है। आज मैंने महाराज का

वासिन केसरिकिशोरक लालयन्त्या ईदृश वचनमाकर्णितम् (देव ! क्षण्ण पि अ रिय कारण । अज्ज हि मए देव्वस्स सउणणिरूवणत्थं गिरिसिहरगहणगब्भट्ठिदा सवरपल्ली पट्ठाविदा णिअपरिआरिआ । ताए अ कीए वि सबरकुडुम्बिणीए णिअघरपेरन्तवासिणं केसरिकिसोरअं उल्लालअन्तीए एरिसं वअणं आअण्णिदम्)

मा भव नागपते परिभवमात्रेण गर्वनिर्व्यूढ. ।
वसुधामिमा गिरिसङ्कटा मृगेन्द्र ! शरभस्य नन्दन प्राप्त. ॥ १७ ॥
('मा होहि णाअवइणो परिहवमेत्तेण गव्वणिव्वूढो ।
वसुहमिमं गिरिसंकडं मइन्द ! सरहस्स णन्दणो पत्तो ॥')

शबराणाम् = म्लेच्छजातिविशेषाणाम् पल्लीम् = ग्रामटिकाम् । शबरकुटुम्बिन्या = शबरगृहिण्या ।

अन्वय —मृगेन्द्र ! नागपते परिभवमात्रेण गर्वनिर्व्यूढ मा भव । शरभस्य नन्दन गिरिसङ्कटाम् इमाम् वसुधाम् प्राप्त ।

व्याख्या—मृगेन्द्र = सिंह ! नागपते = गजराजस्य, परिभवमात्रेण = पराजयमात्रेण, गर्वनिर्व्यूढ = अहङ्कारसम्पन्न , मा भव = मा भू , यत , शरभस्य = अष्टपदनामकपशुविशेषस्य, नन्दन = पुत्र , गिरिसङ्कटाम्–पर्वतसङ्कुलाम् इमाम् वसुधाम् = पृथिवीम्, प्राप्त = आगत । तस्याक्रमणान्पूर्वमेवात्मरक्षोपायश्चिन्त्यतामिति भाव । गिरिसङ्कटामित्यनेन शरणस्थानस्य सुदुर्लभत्व द्योत्यते । अत्र शरभनन्दनरूपाप्रस्तुतात् दशरथनन्दनरूपप्रस्तुतस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशसालङ्कार । मृगेन्द्रतुल्यपराक्रमशालिन् ! (दशानन !) नाग = गज , ऐरावत इत्यर्थ , तस्य पति = इन्द्र , तस्य पराभवमात्रेण गर्वनिर्व्यूढो मा भव, यत शरभतुल्यविक्रमशालिनो दशरथस्य नन्दनो रामस्त्रिकूटगिरिव्याप्ता लङ्कापुरीमागत इति मन्दोदरीकथनस्याभिप्रायः । आर्याप्रभेदछन्द १७ ॥

शकुन विचारने के लिए पर्वतशिखर के वन के मध्य में स्थित शबरों के पुरवे में अपनी दासी को भेजा था । उसने (वहाँ) अपने घर के पास ही रहने वाले सिंहशावक को दुलारती हुई किसी शबरपत्नी का ऐसा वचन सुना—

मृगेन्द्र ! तुम गजेन्द्र को पराजित करने मात्र से दर्पयुक्त मत होओ, (क्योंकि) शरभ का बच्चा पर्वत से दुर्गम इस भूभाग पर आ गया है ॥ १७ ॥

रावणः—किमिह विषादस्थानम् ? अस्मान् प्रत्युदासीनमेवैतत् । तथा हि—

मा भव नागपतेः परिभवमात्रेण गर्वनिर्व्यूढः ।
वसुधामिमां गिरिसङ्कटां मृगेन्द्र ! शरभस्य नन्दनः प्राप्तः ॥१८॥

प्रहस्तः—देव ! अन्यथा घटमानमिदम्—

मा भव नाकपतेः परिभवमात्रेण गर्वनिर्व्यूढः ।
वसुधामिमां गिरिसङ्कटमयीं दशरथस्य नन्दनः प्राप्तः ॥ १९ ॥

रावणः—आः ! केयं निसर्गेण निश्शङ्के लङ्केश्वरे मयि शकुनोपश्रुतिपरीक्षा ?

रावण इति । विषादस्थानम् = खेदकारणम् । उदासीनम् = तटस्थम् । नास्मान्स्पृशत्येतदिति भावः । रावणः सिंहपरकमेवार्थं गृह्णन्नेवमुक्तवान् तदेव पद्यं च पुनः पठितवान् ॥ १८ ॥

अन्वयः—नाकपतेः परिभवमात्रेण गर्वनिर्व्यूढः मा भव । गिरिसङ्कटमयीम् इमाम् वसुधाम् दशरथस्य नन्दनः प्राप्तः ।

व्याख्या—नाकपतेः = स्वर्गाधिपस्य, इन्द्रस्येत्यर्थः, परिभवमात्रेण = पराजयमात्रेण, इन्द्रं विजित्यैवेति भावः । गर्वनिर्व्यूढः मा भव = अहङ्कारसम्भृतो मा भूः । गिरिसङ्कटमयीम् = गिरिणा = पर्वतेन, त्रिकूटेनेत्यर्थः, सङ्कटमयीम्= दुर्गमाम्, इमां वसुधाम् = लङ्कापुरीमित्यर्थः, दशरथस्य नन्दनः = दशरथपुत्रः, श्रीराम इत्यर्थः, प्राप्तः = आगतः ॥ १९ ॥

रावण—इसमें विषाद का क्या कारण (है) ? यह बात (तो) हमारे प्रति तटस्थ ही है । जैसे कि–'*मा भव नागपतेः*'—इत्यादि उक्तश्लोक को दुहराता है ॥ १८ ॥

प्रहस्त—महाराज ! यह (श्लोक) दूसरे प्रकार से घटित होता है ।

नाक (स्वर्ग) के पति इन्द्र के पराजय मात्र से दर्पयुक्त मत होओ । दशरथ का पुत्र (रामचन्द्र) पर्वत (त्रिकूट) से दुर्गम इस पृथिवी (लङ्का) पर आ गया है ॥ १९ ॥

रावण—आ ! स्वभावतः निश्शङ्क मुझ लंकेश्वर के विषय में शकुन सुनने की यह कौन सी परीक्षा ?

(नेपथ्ये)

हेलास्फालितरामलक्ष्मणधनुर्ज्यावल्लरीझल्लरी-
झाङ्कारप्रसरप्ररूढपुलकप्राग्भारनीरन्ध्रिता ।
ड्यावल्गत्कपिकण्ठकाण्डकदनक्रीडत्कृपाणाञ्चल-
स्फूर्जद्दुर्जयदोर्बलैकचपलाश्चरन्ति रात्रिञ्चराः ॥२०॥

अन्वय - हेलास्फालितरामलक्ष्मणधनुर्ज्यावल्लरीझल्लरीझाङ्कारप्रसरप्ररूढपुलकप्राग्भारनीरन्ध्रिता ड्यावल्गत्कपिकण्ठकाण्डकदनक्रीडत्कृपाणाञ्चलस्फूर्जद्दुर्जयदोर्बलैकचपला रात्रिञ्चरा चरन्ति ।

व्याख्या—हेलेत्यादि — हेलया = लीलया, अनायासेनेत्यर्थः, आस्फालिते= टाङ्कारिते, रामलक्ष्मणयो ये ज्यावल्लर्यौ = मौर्वीलते एव झल्लर्यौ = चर्चर्यौ ('झल्लरी चर्चरी पारी' इत्यमरः) तयोर्यो झाङ्कारस्तस्य प्रसर =विस्तार , तेन प्ररूढा =उत्पन्ना ये पुलका =रोमाञ्चा , तेषां प्राग्भारेण=विस्तारेण, नीरन्ध्रिता = निश्छिद्रा , आवृताङ्गा इति भाव । ड्यावल्गत्कपिकण्ठेत्यादि —ड्यावल्गन्त = दर्पेणोच्छलन्त कूर्दन्तश्च ये कपय = वानरास्तेषां कण्ठकाण्डा = कण्ठानुभागा , तेषां कदने = खण्डने क्रीडन्त = खेलन्त , चलन्त इत्यर्थः , ये कृपाणाञ्चला = खड्गधारा , तै स्फूर्जत् = प्रतीयमानम्, दुर्जयम् = जेतुमशक्यं यद् दोर्बलम् = भुजबलम्, तेन एके = विख्याता , चपला = चञ्चला , रात्रिञ्चरा —निशाचरा , चरन्ति = इतस्तत सोल्लासं विचरन्तीति भाव । रूपकमलङ्कार । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २० ॥

(नेपथ्य में)

अनायास ही टाङ्कारित रामलक्ष्मण की प्रत्यञ्चालता रूप झाँझ की झङ्कार के विस्तार से उत्पन्न रोमाञ्च के विस्तार से निश्छिद्र (अर्थात् आवृत अङ्ग वाले) दर्प से उछलने-कूदने वाले वानरों के कण्ठ भाग को काटने में चलती हुई तलवारों की धार से प्रतीयमान दुर्जय भुजबल से विख्यात एवं चञ्चल राक्षस इधर-उधर सोल्लास विचर रहे हैं ॥ २० ॥

रावणः—(सहर्षम्) अये ! निशाचरवीरविजयोत्तरः समरः ।
(पुनर्नेपथ्ये)

अग्रेसरी रघुपतेः परिणद्धपाक-
किम्पाकपाटलमुखी कपिवीरसेना ।
निश्शेषमापिबति राक्षसवीरचक्रं
प्रातः प्रभेव तपनस्य तमिस्रजालम् ॥ २१ ॥

रावण इति । निशाचरवीरविजयोत्तरः—निशाचरवीराणां विजयः एव उत्तरः = परिणामः यस्य स तादृशः, राक्षसशूराणां मुख्यतया विजयेन युक्तः इत्यर्थः ।

अन्वयः—रघुपतेः अग्रेसरी परिणद्धपाककिम्पाकपाटलमुखी कपिवीरसेना राक्षसवीरचक्रम् तपनस्य प्रातः प्रभा तमिस्रजालम् इव निश्शेषमापिबति ।

व्याख्या—रघुपतेः = श्रीरामचन्द्रस्य अग्रेसरी = पुरतो गच्छन्ती परिणद्धपाककिम्पाकपाटलमुखी—परिणद्धः = परिपूर्णः, पाकः = वचनं यस्य स तादृशो यः किम्पाकः = फलविशेषः, तद्वत् पाटलम् = ताम्रवर्णम् मुखम् = आननं यस्याः सा, प्रातः प्रभापक्षे—परिणद्धपाककिम्पाकपाटलं मुखम् = पुरो भागो यस्याः सा । कपिवीरसेना—कपिवीराणाम् = वानरशूराणां सेना । राक्षसवीरचक्रम् = राक्षसशूरसमूहम्, तपनस्य = सूर्यस्य, प्रातः प्रभा = प्रातःकालीना कान्तिः, तमिस्रजालम् = अन्धकारसमूहमिव, निश्शेषम्=समस्तं यथा स्यात्तथा, आपिबति= आचामति, विनाशयतीत्यर्थः । अत्रोपमाऽलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥२१॥

रावण—(प्रसन्नता के साथ) अहो ! निशाचर वीरों का, अन्त में विजय प्रदान करने वाला युद्ध (हो रहा) है !

(पुनः नेपथ्य में)

रामचन्द्र के आगे-आगे बढ़ने वाली, पूर्ण रूप से पके हुए किम्पाक (फल-विशेष) के समान लाल मुख वाली वानर सेना, राक्षस वीरों के समूह को निश्शेषरूप से उसी प्रकार विनष्ट कर रही है जिस प्रकार सूर्य की, पूर्ण परिपक्व-किम्पाक के समान रक्त अग्रभाग से सम्पन्न प्रातःकालीन प्रभा अन्धकार समूह को (विनष्ट करती है) ॥ २१ ॥

रावण—आः ! कथमुत्कण्ठायितं मर्कटैः ? (उच्चैः) कः कोऽत्र भोः ? मदाज्ञया—

> कृत्वा विनिद्रमपनिद्रभुजावलेपः
> प्रोद्दामरामसमराय स कुम्भकर्णः ।
> आदिश्यतां निजभुजार्दितवज्रपाणि-
> रद्यैव लक्ष्मणरणाय च मेघनादः ॥ २२ ॥

रावण इति उत्कण्ठायितम्—उन्नता कण्ठा येषां ते, उत्कण्ठाः = तत्पराः समुत्सुकाः, तैरिवाचरितम् । कथं मर्कटवीरैर्युद्धे तत्परता, उत्कण्ठा वा प्रदर्शितेति भावः ।

अन्वयः—विनिद्रं कृत्वा अपनिद्रभुजावलेपः स कुम्भकर्णः प्रोद्दामरामसमराय निजभुजार्दितवज्रपाणिः मेघनादः च लक्ष्मणरणाय अद्य एव आदिश्यताम्।

व्याख्या—विनिद्रम् कृत्वा = विगता निद्रा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा कृत्वा, निद्राभङ्गं कृत्वेति भावः । विगता निद्रा यस्य तम् विनिद्रम् = प्रबुद्धं कृत्वेति व्याख्यानं न रोचते मह्यम् । इत्थं विनिद्रमिति पदस्य कुम्भकर्णं इति पदस्य विशेषणत्वेन, (युष्माभिः सेवकैः) अपनिद्रभुजावलेपः स कुम्भकर्णो विनिद्रं कृत्वा प्रोद्दामरामसमराय आदिश्यतामिति श्लोकगतं वाक्यं भवेदिति सुधीभिरवगन्तव्यम् । अपनिद्रभुजावलेपः—अपनिद्रः = प्रोद्बुद्धः भुजावलेपः = बाहुदर्पः, यस्य सः तादृशः, सः = विरत्वेन विख्यातः, कुम्भकर्णः = कुम्भकर्ण-नामा ममानुजः, प्रोद्दामरामसमराय = अत्युद्धतरामचन्द्रेण सह युद्धाय, निज-भुजार्दितवज्रपाणिः—निजभुजाभ्याम् अर्दितः = पीडितः, वज्रपाणिः = इन्द्रः, येन सः, तादृशो मेघनादः = मेघनादनामा मम पुत्रश्च, लक्ष्मणरणाय = लक्ष्मणेन सह युद्धाय, अद्यैव = अस्मिन्दिन एव, अधुनैवेति भावः । आदिश्यताम् = आज्ञाप्य-ताम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २२ ॥

रावण—आह ! क्या वानर वीरों ने युद्ध में उत्कण्ठा प्रदर्शित की है ? (जोर से) अरे, यहाँ कौन, कौन है ? मेरी आज्ञा से—

निद्राभङ्ग कर, उद्बुद्ध बाहु बल से युक्त अद्वितीय वीर कुम्भकर्ण को गर्वीले राम के साथ लड़ने के लिए और अपनी भुजाओं से इन्द्र को पीडित करने वाले (इन्द्रजित) मेघनाद को लक्ष्मण के साथ लड़ने के लिए आज ही आदेश दो।२२।

(पुनर्नेपथ्ये)

देव ! भवदाशयविदा महामन्त्रिणा माल्यवता पूर्वमेव संविहित-मिदम् । इदानीं हि—

> रामेण सार्धमयमुद्धतबाहुदर्पः
> संग्रामभूमिमधितिष्ठति कुम्भकर्णः ।
> रक्षःशिखण्डिहृदयोत्सवमेघनादः
> सौमित्रिणा सममसावपि मेघनादः ॥ २३ ॥

अन्वयः—उद्धतबाहुदर्पः अयम् कुम्भकर्णः रामेण सार्धम्, रक्षःशिखण्डि-हृदयोत्सवमेघनादः असौ मेघनादः अपि सौमित्रिणा समम् संग्रामभूमिम् अधितिष्ठति ।

व्याख्या—उद्धतबाहुदर्पः—उद्धतः = उद्दाम, बाह्वोः = भुजयोः, दर्पः = गर्वः, तस्य स तादृशः, अयम् = एषः, कुम्भकर्णः, रामेण, सार्धम् = सह, रक्षः शिखण्डि-हृदयोत्सवमेघनादः—रक्षांसि = राक्षसा एव शिखण्डिनः = मयूराः, तेषां हृदये = चित्ते, उत्सवाय = हर्षाय, मेघनादः = मेघध्वनितुल्यः, असौ = अयम्, मेघनादः = मेघनादनामा तव रावणस्य पुत्रः, अपि सौमित्रिणा = लक्ष्मणेन, समम् = सह, संग्रामभूमिम् अधितिष्ठति = रणाङ्गणमाश्रयति, युध्यते इति भावः । 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इत्याधारस्य कर्मत्वात् संग्रामभूमिमित्यत्र द्वितीया । अत्र रूपकमलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २३ ॥

(फिर नेपथ्य में)

महाराज ! आप के आशय को जानने वाले महामन्त्री माल्यवान् ने पहिले ही ऐसा कर दिया था । सम्प्रति—

प्रचण्ड भुजदर्प वाले ये कुम्भकर्ण राम के साथ, और राक्षस-मयूरों के हृदय में आनन्द (उत्पन्न करने) के लिए मेघगर्जन के समान मेघनाद भी लक्ष्मण के साथ रणभूमि में विद्यमान (अर्थात् युद्ध कर रहे) हैं ॥ २३ ॥

(पुनर्नेपथ्ये)

यद्दंष्ट्रावज्रघाते समिति विदलिता शैलकल्पा कपीन्द्रा-
यन्नाराचाम्बुवर्षैर्दवदहनसमाः शामिता वानरेन्द्राः ।
वीरोऽसौ कुम्भकर्णः, स च समरकलाकौतुकी मेघनाद
सञ्जातौ—

रावण —किमत परं वदिष्यति ?

(पुनर्नेपथ्ये)

हा ! पतङ्गौ दशरथसुतयोर्दारुणे बाणवह्नौ ॥ २४ ॥

अन्वय—समिति यद्दंष्ट्रावज्रघाते शैलकल्पा कपीन्द्रा विदलिता । यन्नाराचाम्बुवर्षै दवदहनसमा वानरेन्द्रा शामिता । वीर असौ कुम्भकर्ण, समरकलाकौतुकी स मेघनाद च हा ! दशरथसुतयो दारुणे बाणवह्नौ पतङ्गौ-सञ्जातौ ।

व्याख्या—समिति = सङ्ग्रामे यस्य = कुम्भकर्णस्य दंष्ट्रा = दीर्घदन्ता एव वज्राणि = कुलिशानि तेषां घाते = प्रहारे, शैलकल्पा = पर्वतसदृशा, कपीन्द्रा = वानरेन्द्रा, विदलिता = निपातिता । यन्नाराचाम्बुवर्षै —यस्य = मेघनादस्य, नाराचा = बाणा एव अम्बूनि = जलानि तेषां वर्षै = वृष्टिभि, दवदहनसमा = दावानलसदृशा, वानरेन्द्रा = कपिश्रेष्ठा, शामिता = निर्वापिता, हता इत्यर्थ । वीर = शूर, असौ = स, कुम्भकर्ण, समरकलाकौतुकी— समरकलायाम् = युद्धविद्यायाम्, कौतुकी = उत्कण्ठित, स, मेघनादश्च, हा =

(फिर नेपथ्य में)

सङ्ग्राम में जिन (कुम्भकर्ण) के वज्रतुल्य भयङ्कर दाँतों के प्रहार से पर्वत समान वानर वीर विनष्ट किये गये और जिन (मेघनाद) के बाणरूप जल की वृष्टियों से दावानल के समान बड़े-बड़े वानर बुझा दिये गये (अर्थात् मारे गये) वही वीर कुम्भकर्ण और युद्धकला में उत्सुकता रखने वाले प्रख्यात योद्धा मेघनाद भी —

रावण —इसके बाद क्या कहेगा ?

(पुन नेपथ्य में)

(मन्दोदरी-रावणौ मूर्च्छतः)

प्रहस्तः—देव ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि ।

रावणः—(समाश्वस्य) देवि ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

मन्दोदरी—(समाश्वस्य) परित्रायतां मामार्यपुत्रः । एषा निमग्नास्मि शोकतिमिरे । (परित्तायदु मं अज्जउत्तो । एसा णिमग्गम्हि सोअतिमिरे)

रावणः—अयि ! अलं कातरतया । अयं चन्द्रहासचन्द्र एव शोकतिमिरादुद्धरिष्यति भवतीम् ।

भिन्नप्रभिन्नसुरकुञ्जरकुम्भमुक्त-
मुक्ताफलैर्विचलितैः कलिताधिवासः ।
अद्यैव खेचरनिशाचरलोचनाना-
मुन्मीलयन्मुदमुदञ्चति चन्द्रहासः ॥ २५ ॥

इति श्लोके, दशरथसुतयोः = दशरथपुत्रयोः, रामलक्ष्मणयोरित्यर्थः, दारुणे=भीषणे, बाणवह्नौ = शरानले, पतङ्गौ = शलभौ, सञ्जातौ = संवृत्तौ ।

वह्नौ पतङ्गा इव कुम्भकर्णमेघनादौ रामलक्ष्मणशरानले दग्धाविति भावः । अत्र रूपकोपमयोर्मिथोऽनपेक्षया स्थितेः संसृष्टिः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—विचलितैः भिन्नप्रभिन्नसुरकुञ्जरकुम्भमुक्तमुक्ताफलैः कलिताधिवासः चन्द्रहासः अद्यैव खेचरनिशाचरलोचनानाम् मुदम् उन्मीलयन् उदञ्चति ।

व्याख्या—विचलितैः=स्वस्थानाद्भ्रष्टैः, भिन्नप्रभिन्नेत्यादिः—भिन्नप्रभिन्नौ=

हाय ! दशरथ के पुत्रों (रामलक्ष्मण) के भीषण बाणाग्नि में शलभ हो गये (अर्थात् आग में शलभ की तरह मर गये) ॥ २४ ॥

(मन्दोदरी और रावण मूर्च्छित हो जाते हैं)

प्रहस्त—महाराज ! धैर्य धारण कीजिए, धैर्य धारण कीजिए ।

रावण—(होश में आकर) देवि ! धैर्य धारण करो, धैर्य धारण करो ।

मन्दोदरी—(होश में आकर) आर्य पुत्र मेरी रक्षा करें । यह (मैं) शोकान्धकार में डूब गयी हूँ ।

रावण—अरे, कातर होने की आवश्यकता नहीं । यह चन्द्रहास रूप चन्द्र ही शोकान्धकार से तुम्हारा उद्धार करेगा ।

अत्यन्त विदीर्ण किये गये ऐरावत आदि सुरगजों के कुम्भस्थलों से निकले

(इति प्रहस्तेन सह निष्क्रान्तः)

मन्दोदरी—अये, आश्चर्यम् । समरसरम्भविलोकनविस्मयस्तिमितमिदं विद्याधरमिथुनं किमपि मन्त्रयति । तेन आर्यपुत्रस्य विजयार्थमहमपि निजकुलदेवता अर्चितुं गच्छामि । (अये, अच्चरिअं । समरसरम्भविलोअणविह्म अत्थिमिदमिदं विज्जाहरमिहुणं किं वि मन्तेदि । तेण हि अज्जउत्तस्स विजअत्थं अहं पि णिअकुलदेवदाओ अच्चिदुं गच्छह्मि ।)

(इति निष्क्रान्ता)

(ततः प्रविशति विद्याधरमिथुनम्)

क्षतविक्षतौ, अतिशयेन विदीर्णौ, सुरकुञ्जराणाम् = देवगजानाम् ऐरावतादीनाम्, गो कुम्भौ = गण्डप्रदेशौ, ताभ्यां मुक्ते = निस्सृते मुक्ताफले = मौक्तिकफले, कलिताधिवासः—कलितः = स्वीकृतः, अधिवासः = निवासः, यत्र सः तथाभूतः, चन्द्रहासः = चन्द्रहासनामा मम रावणस्य कृपाणः, ('चन्द्रहासोऽसिमात्रके । दशग्रीवकृपाणे च" इति हैमः) अद्यैव=अस्मिन्नेव दिने, खेचरनिशाचरलोचनानाम्—खेचरा = रामभयात् पलायनं कृत्वाऽऽकाशमाश्रिता इत्यर्थः, ये निशाचरा = राक्षसाः, तेषां लोचनानि = नेत्राणि तेषाम्, मुदम् = हर्षम्, उन्मीलयन् = समुत्पादयन् उदञ्चति=उदयति, कोशान्निःसरतीत्यर्थः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥२५॥

हुए अतएव अपने स्थान से च्युत हुए मोतियों के दानों से अधिष्ठित चन्द्रहास नामक मेरा कृपाण (राम के भय से) आकाश में विचरण करने वाले निशाचरों के नेत्रों के लिए हर्ष समुत्पन्न करता हुआ आज ही (म्यान से) निकल रहा है ॥ २५ ॥

(ऐसा कह कर प्रहस्त के साथ निकल गया)

मन्दोदरी—अरे, आश्चर्य है। सङ्ग्राम की उग्रता को देख कर आश्चर्यचकित विद्याधरों की यह जोडी कुछ वार्तालाप कर रही है। अतः मैं भी आर्यपुत्र की विजय के लिए अपने कुलदेवताओं की अर्चना करने के लिए जाती हूँ।

(ऐसा कह कर निकल गयी) ।

(तदनन्तर विद्याधरों की जोडी प्रवेश करती है) ।

विद्याधरी—आर्यपुत्र ! कोऽयं रणरभसविलसत्पुलकभरकुड्मलितभुजवनः कपिचमूचक्रमभिवर्त्तते । (अज्जउत्त ! को इमो रणरहसविअसन्तपुलग्र रकुडुमलिदभुअवणो कविचमूचक्कं अहिवट्टदि)

विद्याधरः—प्रिये ! स एष रामसमरकौतुकी दशकण्ठः ।

विद्याधरी—कः पुनरयमञ्जनपुञ्जच्छविशरीरः कपिवीरस्तस्य सम्मुखं परावर्त्तते । (को उण इमो अञ्जणपुञ्जच्छविसरीरो कविवीरो तस्स सम्मुह परावट्टदि)

विद्याधरः—प्रिये ! स एष विचित्रसमरशीलो नीलः । (विलोक्य) (सविस्मयम्) अहो !

वक्षःस्थले किमपि नीलकरोज्झितेन
नीलाचलस्य शिखरेण कृतप्रहारः ।
लङ्केश्वरः स्मरति नूनमसौ वसन्त-
नीलोत्पलप्रहरणं हरिणेक्षणानाम् ॥ २६ ॥

विद्याधरीति । रणरभसेत्यादिः—रणे = सङ्ग्रामे यो रभसः = हर्षः, ('रभसो वेगहर्षयोः' इत्यमरः) युद्धोत्साह इत्यर्थः, तेन विलसन् = शोभमानः, यः पुलकभरः = रोमाञ्चनिचयः, तेन कुड्मलितम् = कोरकसमन्वितम्, भुजवनं यस्य सः । कपिचमूचक्रम् = वानरसेनासमूहम् । अभिवर्त्तते = सम्मुखं वर्त्तते ।

अन्वयः—नीलकरोज्झितेन नीलाचलस्य शिखरेण वक्षःस्थले किमपि कृतप्रहारः असौ लङ्केश्वरः हरिणेक्षणानाम् वसन्तनीलोत्पलप्रहरणम् स्मरति । इव ।

व्याख्या—नीलकरोज्झितेन—नीलस्य = नीलनाम्नो वानरस्य, कराभ्याम् =

विद्याधरी—आर्यपुत्र ! सङ्ग्राम करने के हर्ष (अर्थात् उत्साह) से सुशोभित रोमाञ्चसमूह के कारण कलियों से युक्त भुजवन वाला यह कौन वानर सेनामण्डल के सम्मुख बढ़ रहा है ?

विद्याधर—प्रिये ! राम के साथ सङ्ग्राम के लिए उत्सुक यह रावण है ।

विद्याधरी—और अञ्जनराशि के समान शरीर की कान्ति वाला यह कौन वानरवीर उसके सामने आ रहा है ?

विद्याधर—प्रिये ! यह विलक्षण युद्ध करने का स्वभाव वाला नील है । (देख कर) (आश्चर्य के साथ) अहो !

नील (वानर) के हाथ से छोड़े गये नीलगिरि के शिखर से वक्षःस्थल में

(पुन सकौतुकम्) पश्य पश्य—

नीलोऽयं दशमुखपाणिपङ्कजाना-
मङ्केषु भ्रमरतुला भ्रमन् बिभर्ति ।
अप्येको दशसु किरीटपीठिकासु
द्राक्प्रेङ्खन्ननुभवतीन्द्रनीललीलाम् ॥ २७ ॥

हस्ताभ्याम्, उज्झितेन = प्रक्षिप्तेन, नीलाचलस्य = नीलगिरे , शिखरेण=शृङ्गेण, वक्ष स्थले = उर स्थले, किमपि = किञ्चित्, कृतप्रहार = ताडित , असौ = एष , लङ्केश्वर = रावण , हरिणेक्षणानाम् = मृगलोचनानाम् सुन्दरीणाम्, वसन्त नीलोत्पलप्रहरणम्—वसन्ते = वसन्तकाले नीलोत्पलै = नीलकमलै प्रहरणम् = ताडनम्, क्रीडायामिति भाव , स्मरति = अनुध्यायति । ननु = सम्भावनायाम् । नीलकरप्रक्षिप्तेन नीलगिरिशृङ्गेण वक्षस्थले ताडितोऽप्यसौ लङ्केश न किमपि व्यथामनुभवतीति भाव । अत्र स्मरणोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर ॥ वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ २६ ॥

अन्वय —अयम् नील दशमुखपाणिपङ्कजानाम् अङ्केषु भ्रमन् भ्रमरतुलाम् बिभर्ति । एक अपि दशसु किरीटपीठिकासु द्राक् प्रेङ्खन् इन्द्रनीललीलाम् अनुभवति ।

व्याख्या—अयम् = एष , नील = नीलनामा नीलकायो वानर , दशमुखपाणिपङ्कजानाम् = रावणकरकमलानाम् अङ्केषु = क्रोडेषु, अन्तर्भागेष्वित्यर्थ , भ्रमन् = सञ्चरन् भ्रमरतुलाम् = भृङ्गोपमाम्, बिभर्ति = धारयति, नीलवर्णो नीलनामा वानर रावणकरकमलाभ्यन्तरभागे सञ्चरन् भृङ्ग इव शोभत इति भाव । एक अपि = केवल अपि, दशसु किरीटपीठिकासु = रावणस्य दशसु मुकुटपटलेषु द्राक् = सत्वरम्, प्रेङ्खन् = भ्रमन्, इन्द्रनीललीलाम् = मरकतमणि-

कुछ ताडित होकर यह रावण सुन्दरियों के द्वारा वसन्त ऋतु में नीले कमलों के प्रहार का स्मरण-सा कर रहा है ॥ २६ ॥

(पुन कौतुक के साथ) देखो, देखो—

यह नील (वानर) रावण के करकमलों के मध्यभागों में सञ्चरण करता हुआ भौंरे की समानता को धारण कर रहा है। अकेला भी (यह) दसों मुकुट

विद्याधरी—कः पुनरयं निशाचरेन्द्रेण समं समरसाहसमङ्गीकृत्य तिष्ठति ? (को उण इमो णिसाअरेन्देण समं समरसाहसमङ्गीकरिअ चिट्ठदि।)

विद्याधरः—स एष स्वामिपक्षपाती विभीषणः। (सविषादम्)हन्त भोः!

येयं विभीषणे शक्तिर्मुक्ता क्रूरेण रक्षसा।

विद्याधरी—अथ किं तस्याः ? (अह किं ताए ?)

विद्याधरः—

लक्ष्मणेन गृहीतेयं प्रियेव निजवक्षसा ॥ २८ ॥

शोभाम्, अनुभवति = प्राप्नोति। द्रुतगत्या रावणस्य दशसु मुकुटेषु सञ्चरन् नील एकोऽपि सन् दशस्वपि मुकुटेषु खचितस्येन्द्रनीलमणेः शोभां प्राप्नोतीति भावः। अत्र रूपकोपमयोर्मिथोऽनपेक्षया स्थितेः संसृष्टिरलङ्कारः। प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥२७॥

अन्वयः—क्रूरेण रक्षसा विभीषणे या इयम् शक्तिः मुक्ता। लक्ष्मणेन इयम् प्रियेव निज वक्षसा गृहीता।

व्याख्या—क्रूरेण = नृशंसेन, रक्षसा = राक्षसेन, रावणेनेत्यर्थः, विभीषणे या इयम् शक्तिः = शक्तिनामकं प्रहरणम्, मुक्ता = प्रक्षिप्ता, लक्ष्मणेन, इयम् = सा शक्तिरिति भावः। प्रियेव = स्वप्रेयसीव, निजवक्षसा = निजोरसा, गृहीता = स्वीकृता। यथा वक्षसा प्रियाऽऽलिङ्ग्यते तथैव रावणप्रक्षिप्ता शक्तिरपि लक्ष्मणेन गृहीता तथा च विभीषणो रक्षित इति भावः। अत्रोपमाऽलङ्कारः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २८ ॥

पटलों पर शीघ्रता से भ्रमण करता हुआ (प्रत्येक पर) मरकतमणि की शोभा का अनुभव कर रहा है ॥ २७ ॥

विद्याधरी—और यह कौन राक्षसेन्द्र (रावण) के साथ युद्ध करने का साहस धारण कर स्थित है ?

विद्याधर—यह स्वामी (राम) का पक्षपाती विभीषण है। (विषाद के साथ) हाय ! अरे, क्रूर राक्षस (रावण) ने यह जो शक्ति विभीषण पर छोड़ी।

विद्याधरी—उसके बाद उसका क्या हुआ ?

विद्याधर—इसे लक्ष्मण ने प्रिया की तरह अपने वक्षः स्थल से ग्रहण किया ॥ २८ ॥

विद्याधरी—हा धिक् हा धिक ! (हद्धि हद्धि !)

विद्याधर —

वर्षन्नेव समन्ततो दशमुख चापच्युतैः सायकैः
सौमित्रिं च विसञ्ज्ञमङ्कनिहितं नेत्रच्युतैरम्बुभिः ।
एतत्तर्कय हर्षशोकतरला कुर्वन् कपीनां दृशो
रामश्चामलकेलिवीरकरुणव्यामिश्रतां गाहते ॥ २९ ॥

अन्वय—चापच्युतैः सायकैः समन्ततः दशमुखम्, नेत्रच्युतैः अम्बुभिः विसञ्ज्ञम् अङ्कनिहितम् सौमित्रिम् च वर्षन् एव कपीनाम् दृशः हर्षशोकतरलाः कुर्वन् रामः अमलकेलिवीरकरुणव्यामिश्रताम् गाहते । एतत् तर्कय ।

व्याख्या—चापच्युतैः—चापात् = धनुषः, च्युतैः = मुक्तैः, सायकैः = बाणैः, समन्ततः = सर्वतः, दशमुखम् = रावणम्, वर्षन् = आप्लावयन्, नेत्रच्युतैः = नेत्राभ्याम् च्युतैः = पतितैः अम्बुभिः = जलैः, अश्रुभिरित्यर्थः, विसञ्ज्ञम्= विगतचेतनम्, रावणशक्तिप्रहारादिति भावः, अतएव अङ्कनिहितम्—अङ्के = क्रोडे, निहितम् = अवस्थापितम्, सौमित्रिम् = लक्ष्मणं च वर्षन् = सिञ्चन्, दृश्यतेति भावः । कपीनाम् = वानराणाम्, दृशः = नेत्राणि, हर्षशोकतरलाः—हर्षेण शोकेन च तरलाः = चञ्चलाः, कुर्वन् = विदधत्, रामबाणप्रहारविह्वलं रावणं दृष्ट्वा हर्षं, विसंज्ञस्य लक्ष्मणस्य च कृते रुदन्तं रामं दृष्ट्वा शोक इति यथाक्रमं बोद्धव्यम् । रामः, अमलकेलिवीरकरुणव्यामिश्रताम्—अमला = स्वच्छा, केलि = विलासः, ययोस्तौ यौ वीरकरुणरसौ = उत्साहशोकस्थायिभावात्मकौ वीरकरुणरसौ तयोः व्यामिश्रताम् = सङ्गमम्, गाहते = प्रविशति । रावणेन सह युद्धप्रसङ्गो उत्साहकृतवीरेण, लक्ष्मणमूर्च्छाजनितशोककृतकरुणेन च रामः समकालमेव विषमामवस्थितिं नीत इति भावः । तत् = रामस्येदं वृत्तम्, तर्कय = विचारय, पश्येति भावः । अत्र रावणस्य लक्ष्मणस्य च वर्षणरूपैकधर्मेऽन्वयात् तुल्ययोगिताऽलङ्कारः ।

विद्याधरी—हा धिक् ! हा धिक् !

विद्याधर—

धनुष से छोड़े गये बाणों से रावण पर, तथा नेत्रों से गिरे हुए आँसुओं से मूर्च्छित एवं गोद में रक्खे गये लक्ष्मण पर वर्षा करते हुए ही, वानरों के नेत्रों

(विलोक्य) कथमपगत एव रामबाणपीडितो दशकण्ठः ।

(नेपथ्ये)

हा वत्स ! लक्ष्मण ! विकासय नेत्रपद्मे
मा गादिदं युगपदेव समस्तमस्तम् ।
भाग्यं दिवाकरकुलस्य च, जीवितं च
रामस्य, किञ्च नयनाञ्जनमूर्मिलायाः ॥ ३० ॥

तल्लक्षणं यथा—'पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् । एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ।' इति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २९ ॥

अन्वयः—हा वत्स लक्ष्मण ! नेत्रपद्मे विकासय । दिवाकरकुलस्य भाग्यम्, रामस्य जीवितम् च, किञ्च ऊर्मिलायाः नयनाञ्जनम् इदम् समस्तम् युगपत् एव अस्तम् मा गात् ।

व्याख्या—हा इति खेदद्योतकमव्ययपदम् । वत्स लक्ष्मण ! नेत्रपद्मे = नयनकमले, विकासय = उन्मीलय । यतः, दिवाकरकुलस्य = सूर्यवंशस्य, भाग्यम्, तथा च रामस्य = मम, जीवितम् = जीवनं च, किं च = तथा, ऊर्मिलायाः = ऊर्मिलानाम्न्याः तव पत्न्याः, नयनाञ्जनम् = नेत्रकज्जलम्, सौभाग्यचिह्नस्वरूपमिति भावः । इदम् = एतत् पूर्वोक्तम्, समस्तम् = सकलम्, युगपदेव = समकालमेव, अस्तम् मा गात् = विनाशं न गच्छतु । अत्र दिवाकरकुलभाग्यस्य, रामजीवितस्य, ऊर्मिलानयनाञ्जनस्य चैकत्रास्तंगमनरूपे धर्मेऽन्वयात्तुल्ययोगिताऽलङ्कारः । तल्लक्षणं प्रागेवोक्तम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३० ॥

को (एक तरफ) हर्ष से तथा (दूसरी तरफ) शोक से चञ्चल करते हुए राम निर्मल विलास वाले वीर और करुण रस के सङ्गम का अवगाहन कर रहे हैं—यह समझो ॥ २९ ॥

(देखकर) क्या, राम के बाणों से पीडित रावण चला ही गया ?

(नेपथ्य में)

हाय वत्स लक्ष्मण ! नेत्रकमल खोलो । सूर्य-वंश का भाग्य, राम का जीवन और ऊर्मिला के नेत्रों का अञ्जन-यह सब एक साथ ही विनाश को न प्राप्त हों ॥ ३० ॥

(नेपथ्ये)

देव ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

विद्याधरी—कथं सुग्रीवेण समाश्वास्यते रामचन्द्रः ? तत् किमिदानीमालपिष्यति ? (कहं सुग्गीवेण समासासीअदि रामचन्दो ? ता किं दाणी आलविस्सदि ?)

(नेपथ्ये)

सखे सुग्रीव ! कथमाश्वस्यते ?

अयि राघवाविति सुधामधुरं
विनिपीय पौरमुनिलोकवचः ।
अयि राघवेति गरलप्रतिमं
कथमद्य रामहतकः पिबतु ? ॥ ३१ ॥

अन्वयः—'अयि राघवौ !' इति सुधामधुरम् पौरमुनिलोकवचः विनिपीय अद्य 'अयि राघव' इति गरलप्रतिमम् रामहतकः कथम् पिबतु ।

व्याख्या—अयि राघवौ = हे रघुकुलप्रसूनौ ! रामलक्ष्मणौ, इति = इत्थम्, सुधामधुरम् = अमृतमधुरम्, श्रुत्यो सुखप्रदमिति भावः । पौरमुनिलोकवचः—पौराणाम् = नगरनिवासिनाम्, मुनीनाम् = ऋषीणां च, लोकानाम् = सामान्यजनानां च वचः = वचनम् विनिपीय = प्रेमाधिक्येन श्रुत्वेत्यर्थः, अद्य = अस्मिन् दिने लक्ष्मणशून्य इति भावः । अयि राघव = हे रघुकुलैकतन राम ! इति = इत्थम् केवलम् एकवचनान्तसम्बोधनम्, गरलप्रतिमम् = विषसदृशम्, वचः इति शेषः, रामहतकः—दुर्दैवहतः रामः, कथम्=केन प्रकारेण पिबतु=शृणोत्विति भावः ।

(नेपथ्य में)

महाराज ! धैर्य धारण करें, धैर्य धारण करें ।

विद्याधरी—क्या, सुग्रीव रामचन्द्र को ढाढस बँधा रहे हैं ? तो अब क्या कहेंगे ?

(नेपथ्य में)

सखे सुग्रीव ! कैसे धैर्य धारण किया जाय ?

'हे राघवो !' (राम लक्ष्मण) ऐसा पुरवासियों, मुनियों और सामान्यजनों

अपि च—

कनीयस्या मातुः कृतचरणपातः कथमहं
सहिष्ये मत्पार्श्वे विफलपरिवर्त्तं नयनयोः ?
अये ! शान्तं पापं कठिन इव चेज्जीवितुमना
विना वत्सं रामः पुनरयमयोध्यां प्रविशति ॥ ३२ ॥

पुरा पौराः, ऋषयः, सामान्यजनाश्च 'अयि राघवौ' इति द्विवचनान्तसम्बोधनपदेन मां ममानुजं लक्ष्मणं च युगपत् सम्बोधयन्ति स्म; तदानीं प्रणया तद्वचनं तच्छ्रुत्वा सुधापानसदृशं सुखमनुभवामि स्म। सम्प्रति लक्ष्मणराहित्ये मामेवं केवलं यदा जनाः 'अयि राघव' इत्येकवचनान्तसम्बोधनपदेन सम्बोधयिष्यन्ति तदैतद्वचो शृण्वन् रामहतको विषपानसदृशं दुःखातिशयं कथं सहिष्यत इति भावः। अत्रोपमालङ्कारः। प्रमिताक्षरावृत्तम्। तल्लक्षणं यथा—'प्रमिताक्षरा सजससैः कथिता।' इति ॥ ३१ ॥

अन्वयः—कृतचरणपातः अहम् मत्पार्श्वे कनीयस्याः मातुः नयनयोः विफलपरिवर्त्तम् कथम् सहिष्ये ? अये ! वत्सम् विना जीवितुमनाः कठिन इव अयम् रामः पुनः अयोध्याम् प्रविशति चेत् (तर्हि) पापम् शान्तम् (भवतु)।

व्याख्या—कृतचरणपातः—कृतः = विहितः, चरणपातः = प्रणामो येन स एतादृशः, अहम् = रामः, मत्पार्श्वे=मम दक्षिणभागे लक्ष्मणोचिताधिष्ठाने इत्यर्थः, कनीयस्याः मातुः = सुमित्राया इत्यर्थः, नयनयोः = नेत्रयोः, विफलपरिवर्त्तम् = निष्फलमितस्ततः सञ्चरणम्, कथम् = केन प्रकारेण, सहिष्ये = सोढुं शक्ष्यामीत्यर्थः। वत्सम् = वात्सल्यभाजनं लक्ष्मणं, विना, जीवितुमनाः—जीवितुम् मनः = चित्तं यस्य सः, ('तुं काममनसोरपि' इति मस्य लोपः) अत एव कठिनः = कठोरः, कठोरहृदय इवेत्यर्थः, अयम् = एषः, रामः, पुनः = भूयः, अयोध्याम् प्रविशति चेत् = यदि, (तर्हि) पापम् = लक्ष्मणं विना रामस्यायो-

अमृत के समान वचन सुनने के बाद आज 'हे राघव !' (राम) ऐसा विष के समान (वचन) भाग्य का मारा हुआ राम कैसे सुनेगा ? ॥ ३१ ॥

और भी—चरणों में प्रणाम करने पर, मैं अपने पार्श्व भाग में (लक्ष्मण को देखने के लिए) छोटी माँ (सुमित्रा) के नेत्रों का मुड़-मुड़ कर निष्फल

विद्याधर —अहह ! करुणैकार्णवो वर्त्तते। (विमृश्य) क पुनरिह प्रतीकार ? (विचिन्त्य) अथवा प्रतीकारकथा ? वक्रो हि विधि ।

विद्याधरी—वक्रतर इति भणितव्यम। इद पश्य। नन्वय वानर एव कोऽपि लङ्केश्वरकृतसन्धान करकलितशैलशिखरो रामसम्मुखमेव परिवर्त्तते। (वक्रदरात्ति भणिज्ज। इद पेक्ख। ण इमो वाणरो जेव्व कावि लङ्केसर किदसधाणो करकलिदसेलसिहरो रामसमुह जेव्व परिवट्टदि)

विद्याधर —(कर्णौ पिधाय) शान्त पापम्। अयि मुग्धे ! मैव वादी, अय हि—

व्यामुत्र कल्पनारूपम पापम, शान्तम = निवृत्तम् (भवतु)। अपाच्या गतोऽहमक एव यदा मुनिजनाचरणौ प्रणस्यामि सा च लक्ष्मणमन्विष्य तौ अप्राप्य च त मूयाभूय शून्यशून्यया दृशा मत्पार्श्वभाग द्रक्ष्यति, दृश्य तत्तदा मम नितरामसह्य भविष्यति। लक्ष्मण विना ममायोध्यागमनकल्पना पापम तन्निवर्त्तताम, लक्ष्मणैक-जीविताऽह तदपायञ्चास्य प्राणास्त्यक्ष्यामि, तथा चायोध्यागमनमेव न सम्भाव्यत इदन्त मातृविषयकरुचिन्तयति रामोक्तरभिप्राय। शिखरिणी वृत्तम ॥ ३२ ॥

विद्याधरीति। लङ्केश्वरकृतसन्धान —लङ्केश्वरेण = रावणेन कृत सन्धानम = सन्धियेन स तादृश। करकलितशैलशिखर —कर = हस्ते, कलितम= गृहीतम शैलशिखरम् = गिरिशृङ्ग यन स तादृश।

देखने (के प्रयास) को कैसे सहन करूँगा ? और वत्स (लक्ष्मण) के बिना जीने का मन कर कठोर हृदय सा यह राम यदि फिर अयोध्या में प्रवेश करता है,—(तो) पाप शान्त हो (अर्थात ऐसा सोचना भी महापाप होगा) ॥३२॥

विद्याधर—अहह ! करुणा का एक (अर्थात् महान सागर उमड रहा है। (विचार कर) इस विषय में कौन सा प्रतीकार (सम्भव) है। (सोच कर) अथवा प्रतीकार की क्या बात ? विधाता ही (इस समय) टेढा (प्रतिकूल) है।

विद्याधरी—'अधिक टेढा'—ऐसा कहना चाहिए। यह देखो। रावण के साथ सन्धि कर यह कोई वानर ही हाथ में पर्वत का शिखर लिये हुए राम के सामने ही (उन पर प्रहार करने के लिए) लौट रहा है।

विद्याधर—(कानों को ढक कर) पाप शान्त हो। अरे भोली ! ऐसा मत कह। यह तो—

महौषधीनामाधारं भूधरं गन्धमादनम् ।
आदाय लक्ष्मणप्राणत्राणायाभ्येति मारुतिः ॥ ३३ ॥

(पुनर्विलोक्य, सहर्षम्)

आमोदमाघ्राय महौषधीनां
सौमित्रिरुन्मीलितपद्मनेत्रः ।
भूयोऽपि चक्रीकृतचारुचापः
करोति रामं परिपूर्णकामम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—मारुतिः महौषधीनाम् आधारम् गन्धमादनम् भूधरम् आदाय लक्ष्मणप्राणत्राणाय अभ्येति ।

व्याख्या - मारुतिः=हनुमान्, महौषधीनाम् आधारम् = आश्रयम्, गन्धमादनम् = गन्धमादननामानम्, भूधरम् = पर्वतम्, आदाय = गृहीत्वा, लक्ष्मणप्राणत्राणाय = लक्ष्मणजीवनरक्षणाय, अभ्येति=आगच्छति । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥३३॥

अन्वयः—महौषधीनाम् आमोदम् आघ्राय उन्मीलितपद्मनेत्रः सौमित्रिः भूयः अपि चक्रीकृतचारुचापः रामम् परिपूर्णकामम् करोति ।

व्याख्या—महौषधीनाम् = गन्धमादनस्थसिद्धभेषजानाम्, आमोदम् = गन्धम्, आघ्राय = घ्राणेनानुभूय, उन्मीलितपद्मनेत्रः—उन्मीलिते = उद्घाटिते पद्मनेत्रे = कमलनयने येन स तादृशः, सौमित्रिः = लक्ष्मणः, भूयोऽपि = पुनरपि, चक्रीकृतचारुचापः—चक्रीकृतः = मण्डलीकृतः, प्रत्यञ्चाकर्षणेनेतिभावः, चारुः = सुन्दरः, चापः = धनुर्येन स तादृशः सन्, रामम् = श्रीरामचन्द्रम्, परिपूर्णकामम्= सफलमनोरथम्, करोति = विदधाति । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ३४ ॥

हनुमान् औषधियों के आधार गन्धमादन पर्वत को लेकर लक्ष्मण के प्राणों को बचाने के लिए आ रहे हैं ॥ ३३ ॥

(पुनः देखकर, प्रसन्नता के साथ)

महौषधियों की सुगन्ध को सूँघकर कमलवत् नेत्रों को खोल कर लक्ष्मण फिर से सुन्दर धनुष को मण्डलाकार करते हुए राम को सफल मनोरथ कर रहे हैं ॥ ३४ ॥

विद्याधरी—कथं पुनरपि रामरणकौतूहलफुल्लद्भुजमण्डलो निशाचराखण्डलः परापतित एव ? (कहं पुणो वि रामरणकोदूहलफुल्लन्तभुअमण्डलो णिसाअराखण्डलो परावडिदो जेव्व ?)

विद्याधरः—प्रिये ! तदिदानीं सावधानं विलोकय। तुलाधिरोहः खल्वयं वीरलक्ष्म्या, यन्नाम रामरावणयोः समर इति।

विद्याधरी—कथं पुनः सकललोकवीरस्य रामचन्द्रस्य अनेकवीरपरिभूतस्य रावणस्य तुलाधिरोहो वीरलक्ष्म्या भविष्यति ? (कहं उण सअललोअवीरस्स रामचन्दस्स अणेकवीरपरिहूदस्स रावणस्स तुलाधिरोहो वीरलच्छीए हविस्सदि ?)

विद्याधरः—प्रिये न जानासि। कथं दशकण्ठं विना—

विद्याधरीति। रामरणकौतूहलफुल्लद्भुजमण्डलः—रामेण सह रणे यत् कौतूहलम् = उत्कण्ठा तेन फुल्लत् = विकसत्, उच्छूनतां गच्छदित्यर्थः, भुजमण्डलम् = बाहुसमूहः, यस्य सः। निशाचराखण्डलः—निशाचराणाम् = राक्षसानाम्, आखण्डलः = इन्द्रः, रावण इत्यर्थः।

विद्याधर इति। तुलाधिरोहः—तुलायाम् अधिरोहः = आरोहणम्, गुरुतापरीक्षणावसर इत्यर्थः। कस्य वीरता कियती गुर्वीति शीघ्रमेवाधुना ज्ञास्यतेऽत सावधानं द्रष्टव्योऽयं समर इति भावः।

विद्याधरी—राम के साथ युद्ध करने के कौतूहल से फूली हुई भुजाओं वाला राक्षसेन्द्र (रावण) क्या फिर (रणक्षेत्र में) आ ही गया ?

विद्याधर—प्रिये ! तो इस समय सावधानी के साथ देखो। वीरलक्ष्मी का यह तराजू पर चढ़ना है क्योंकि यह राम और रावण का युद्ध है (अर्थात् किसकी वीरता कितनी भारी है-यह शीघ्र ही ज्ञात हो जायगा)।

विद्याधरी—सकल लोकों में अद्वितीय वीर रामचन्द्र और (कार्त्तवीर्य एवं वालि जैसे) अनेक वीरों से पराजित रावण की वीरलक्ष्मी का यह तुलाधिरोहण कैसे (होगा) ? (अर्थात् यह तो दो समान वीरों के होने पर ही सम्भव है)।

विद्याधर—प्रिये ! तुम नहीं जानती हो। रावण के बिना कैसे—

विन्यासं नाकनारीकुचकलशलसत्कुङ्कुमस्थासकाना-
मस्पृष्ट्वा मार्ष्टुमासीदसिकलहकलाकोविदः को विदग्धः।
भिन्नस्वर्गेभकुम्भस्थलबहलगलन्मौक्तिकव्यक्तहासः
कस्याक्रीडत्कराग्रे त्रिदशपतियशश्चन्द्रहा चन्द्रहासः ? ॥ ३५ ॥

अन्वयः—नाकनारीकुचकलशलसत्कुङ्कुमस्थासकानाम् विन्यासम् अस्पृष्ट्वा (एव) मार्ष्टुम् विदग्धः कः असिकलहकलाकोविदः आसीत् ? भिन्नस्वर्गेभकुम्भस्थलबहलगलन्मौक्तिकव्यक्तहासः त्रिदशपतियशश्चन्द्रहा चन्द्रहासः कस्य कराग्रे अक्रीडत् ?

व्याख्या—नाकनारीकुचकलशलसत्कुंकुमस्थासकानाम्—नाकनार्यः=स्वर्ललनाः, तासां कुचकलशेषु = कलशोपमविशालस्तनेषु, लसन्तः = शोभमानाः, ये कुङ्कुमस्थासकाः = काश्मीरजलेपनानि, तेषां विन्यासम्=स्थापनम्, अस्पृष्ट्वा (एव)= स्पर्शमकृत्वैव, मार्ष्टुं = क्षालयितुम्, दूरीकर्तुमित्यर्थः, विदग्धः = चतुरः, कः= कतमः, असिकलहकलाकोविदः—असिकलहकला = खड्गयुद्धकला, तस्यां कोविदः= निपुणः, आसीत् = अभूत्। रावण एव तादृशो युद्धविद्याविशारदोऽभूद्यो देवान् विद्राव्य तदङ्गनाः शोकसन्तप्ताः कृत्वाऽस्पृष्ट्वैव तत्कुचकलशकुङ्कुमलेपनानि दूरीकृतवानिति भावः। तथा च भिन्नस्वर्गेभकुम्भस्थलबहलगलन्मौक्तिकव्यक्तहासः—भिन्नेभ्यः=विदीर्णेभ्यः, स्वर्गेभानाम्=स्वर्गस्य गजानाम्, ऐरावतादीनामित्यर्थः, कुम्भस्थलेभ्यः = गण्डप्रदेशेभ्यः, बहलम् = प्रचुरं यथा स्यात्तथा, गलद्भिः = पतद्भिः, मौक्तिकैः = मुक्ताफलैः, व्यक्तः = प्रकटितः, हासः = हास्यम् यस्य सः, त्रिदशपतियशश्चन्द्रहा—त्रिदशानाम् = देवानाम् पतिः=स्वामी, इन्द्र इत्यर्थः, तस्य यश एव चन्द्रं हन्ति = विनाशयतीति तथोक्तः, चन्द्रहासो नाम खड्गः, कस्य = रावणादृते कस्य अन्यजनस्य, कराग्रे = हस्ताग्रे, मुष्टावित्यर्थः, अक्रीडत् = क्रीडामकरोत्। रावणादृते कोऽन्यो देवगजानां शिरांसि

देवाङ्गनाओं के कुचकलशों पर सुशोभित कुङ्कुम लेप के विन्यास को बिना छुए ही पोंछने में चतुर कौन खड्गयुद्धकलाविशारद हुआ है ? स्वर्ग के गजों के विदीर्ण किये गये कुम्भस्थलों से प्रचुर गिरने वाले मोतियों के द्वारा व्यक्त

अपि च—

किं ब्रूमो दशकन्धरं निजचमूरक्षाकपाटीभव-
द्वक्षःपीठपतत्कठोरकुलिशाघातेषु जातस्मितम् ?
व्योमाभोगसरोविलासिनि वने यत्पाणिपङ्केरुहां
कैलासेन शिरःस्थितेन्दुकलिकोत्तंसेन हंसायितम् ॥ ३६ ॥

भित्त्वा देवेन्द्रमभिभूय तद्यशो व्यनाशयदिति भावः । अत्र रूपकमलङ्कारः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—निजचमूरक्षाकपाटीभवद्वक्षःपीठपतत्कठोरकुलिशाघातेषु जातस्मितम् दशकन्धरम् किम् ब्रूमः ? व्योमाभोगसरोविलासिनि यत्पाणिपङ्केरुहां वने शिरःस्थितेन्दुकलिकोत्तंसेन कैलासेन हंसायितम् ।

व्याख्या—निजचमूनाम्=स्वसेनानाम्, रक्षार्थं=सर्वतो रक्षणाय कपाटीभवद्वक्षःपीठम् अग्रेसरत्वात्कपाटतुल्यं यद् वक्षःस्थलं तत्र पतताम् कठोरकुलिशानाम्=कठिनवज्राणाम् आघातेषु=प्रहारेषु, जातस्मितम् = जातम् = उत्पन्नम्, स्मितम् = ईषद्धास्यं यस्य स तादृशम्, दशकन्धरम् = रावणम्, किं ब्रूमः = किं वर्णयाम ? अवर्णनीयस्तत्पराक्रम इति भावः । व्योमाभोगसरोविलासिनि—व्योम्नः = आकाशस्य आभोगः = विस्तारः, परिधिरित्यर्थः स एव सरः = सरोवरः, तस्मिन् विलासिनि = शोभमाने, यत्पाणिपङ्केरुहाम् = यस्य रावणस्य करकमलानाम्, वने = समूहे, शिरःस्थितेन्दुकलिकोत्तंसेन—इन्दुकलिका = बालचन्द्रः, उत्तंसः = शिरोभूषणं यस्य सः इन्दुकलिकोत्तंसः = चन्द्रशेखरः, शिव इत्यर्थः । शिरसि = मस्तके, शिखरे इत्यर्थः, स्थितः = वर्तमानः, इन्दुकलिकोत्तंसः =शिवः, यस्य स तेन, कैलासेन = कैलासनाम्ना पर्वतेन, हंसायितम् = हंसवदाचरितम् । यदा रावणः शिखरस्थितशिवसहितं कैलासं करैर्गृहीत्वाऽऽकाशमार्गेणागच्छत् तदा

हास वाला तथा । इस प्रकार से) इन्द्र के यशरूप चन्द्र का विनष्ट करने वाला चन्द्रहास (खड्ग) जिसकी मुट्ठी में क्रीडा कर चुका है ? ॥ ३५ ॥

और भी—

अपनी सेना की रक्षा के लिए कपाट बने हुए वक्षःस्थल पर पड़ने वाले कठोर वज्र प्रहारों में (भी) मुस्कराने वाले रावण का क्या वर्णन करें ? आकाश-परिधि रूप सरोवर में विलसित जिसके करकमलों के वन में शिखर पर स्थित

(नेपथ्ये)

हेलोन्मूलितचन्द्रचूडगिरयस्त्रैलोक्यदत्तापदो
लङ्कातङ्कहराः पुरन्दरपुरस्त्रीवृन्दवन्दीकृतः ।
वैदेहीकुचकुम्भकुङ्कुमरसव्यासङ्गबद्धस्पृहाः
सोत्कण्ठं दशकन्धरस्य जयिनः खेलन्ति दोःकेलयः ॥ ३७ ॥

नभःसरोवरे विलसत्सु रावणकरकमलेषु कैलासः हंसलीलामधरीति भावः । अत्र रूपकोपमयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हेलोन्मूलितचन्द्रचूडगिरयः त्रैलोक्यदत्तापदः लङ्कातङ्कहराः पुरन्दरपुरस्त्रीवृन्दवन्दीकृतः वैदेहीकुचकुम्भकुङ्कुमरसव्यासङ्गबद्धस्पृहाः जयिनः दशकन्धरस्य दोःकेलयः सोत्कण्ठम् खेलन्ति ।

व्याख्या—हेलोन्मूलितचन्द्रचूडगिरयः—हेलया = अनायासेन, उन्मूलित.= उत्पाटितः, चन्द्रचूडस्य = शिवस्य गिरिः=पर्वतः, कैलास इत्यर्थः, यैस्ते, त्रैलोक्यदत्तापदः—त्रैलोक्याय, दत्ता आपद् = विपत्तिर्यैस्ते, लङ्कातङ्कहराः—लङ्काया आतङ्कम् = शत्रुजन्यभीतिम् हरन्ति = दूरीकुर्वन्ति इति तथाभूताः पुरन्दरस्य = इन्द्रस्य यत् पुरम् = नगरम्, स्वर्गलोक इत्यर्थः, तस्य यत् स्त्रीवृन्दम् = रमणीसमूहः तस्य वन्दीकृतः = बन्धनकर्तारः, वैदेहीकुचकुम्भकुङ्कुमरसव्यासङ्गबद्धस्पृहाः—वैदेह्याः = जानक्याः, यौ कुचकुम्भौ=स्तनकलशौ, तयोः कुङ्कुमरसस्य= काश्मीरजद्रवस्य व्यासङ्गे = सम्पर्के, आलिङ्गनेनेति भावः, बद्धस्पृहाः = कृताभिलाषाः, जयिनः = जयशीलाः, दशकन्धरस्य = रावणस्य, दोःकेलय. = भुजविलासाः, सोत्कण्ठम्=सोत्साहमित्यर्थः, खेलन्ति = पराक्रमं प्रदर्शयन्तीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३७ ॥

चन्द्रशेखर (शिव) से सुशोभित कैलासपर्वत हंस के समान प्रतीत हुआ ॥३६॥

(नेपथ्य में)

शिव के पर्वत (कैलास) को अनायास ही उखाड़ने वाले, त्रैलोक्य को आपत्ति प्रदान करने वाले, लङ्का के (शत्रुजन्य) आतङ्क को हरने वाले, इन्द्रपुर की स्त्रियों को बन्दी बनाने वाले, सीता के कुचकलशों पर स्थित कुङ्कुम द्रव के सम्पर्क में अभिलाष करने वाले, रावण के विजय शील भुज विलास (रण-क्षेत्र में) सोत्साह क्रीडा कर रहे हैं (अर्थात् पराक्रम का प्रदर्शन कर रहे हैं) ॥३७॥

(पुनर्नेपथ्ये)

हेलोन्मूलितचन्द्रचूडधनुषस्त्रैलोक्यदत्ताभया
लङ्कातङ्ककराः पुरन्दरपुरस्त्रीवृन्दबन्दीमुचः ।
वैदेहीकुचकुम्भकुङ्कुमरसव्यासङ्गलब्धोत्सवा
सोत्कर्षं रघुनन्दनस्य जयिनः खेलन्ति दोःकेलयः ॥ ३८ ॥

अन्वय —हेलोन्मूलितचन्द्रचूडधनुषः, त्रैलोक्यदत्ताभयाः, लङ्कातङ्ककराः पुरन्दरपुरस्त्रीवृन्दबन्दीमुचः, वैदेहीकुचकुम्भकुङ्कुमरसव्यासङ्गलब्धोत्सवाः जयिनः रघुनन्दनस्य दोःकेलयः सोत्कर्षम् खेलन्ति ।

व्याख्या—वानरवृन्दः रामपराक्रमं वर्णयितुं पूर्वोक्तरावणप्रशंसापरकश्लोकमेव किञ्चित्परिवर्तनेन पठति—हेलोन्मूलितेति हेलोन्मूलितचन्द्रचूडधनुषः — हेलया = लीलया, अनायासेनेत्यर्थः, उन्मूलितम् = खण्डितम्, चन्द्रचूडस्य = चन्द्रशेखरस्य, शङ्करस्येत्यर्थः, धनुर्यैस्ते, त्रैलोक्यदत्ताभयाः — त्रैलोक्याय दत्तम् अभयं यैस्ते, लङ्कातङ्ककराः — लङ्कायाः = लङ्कापुर्याः, लङ्कानिवासिनां राक्षसानामित्यर्थो लक्षणया, आतङ्कम् = भीतिं कुर्वन्तीति तथोक्ताः, पुरन्दरपुरस्त्रीवृन्दबन्दीमुचः —पुरन्दरपुरस्य = इन्द्रनगर्याः, स्वर्गस्येत्यर्थः यत् स्त्रीवृन्दम् = रमणीसमूहः, तस्य बन्दीम् । बन्धनम् मोचयन्तीति तथोक्ताः, वैदेहीकुचकुम्भेत्यादि —वैदेह्याः जानक्याः = कुचकुम्भयोः = स्तनकलशयोः, कुङ्कुमरसस्य = काश्मीरजद्रवस्य, व्यासङ्गेन = संसर्गेण, लब्ध = प्राप्त, उत्सव = हर्षः, यैस्ते, जयिनः = जयशीलाः, रघुनन्दनस्य = श्रीरामचन्द्रस्य, दोःकेलयः = भुजविलासाः, सोत्कर्षम् = उत्कर्षेण सह यथा स्यात्तथा, खेलन्ति= क्रीडन्ति, रणाङ्गणे स्वपराक्रमं प्रदर्शयन्तीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।३८।

(पुनः नेपथ्य में)

अनायास ही शिव के धनुष को तोड़ने वाले, तीनों लोकों को अभय प्रदान करने वाले, लङ्का को भयभीत करने वाले, इन्द्रपुरी (स्वर्ग) की स्त्रियों को बन्धन मुक्त करने वाले, सीता के कुचकलशों पर स्थित कुङ्कुमद्रव के संसर्ग से आनन्द प्राप्त करने वाले, विजयशील राम के भुजविलास उत्कर्ष के साथ (रणभूमि में) खेल रहे हैं ॥ ३८ ॥

विद्याधरः—नूनमयं राक्षसवानरयोर्निजस्वामिवर्णनानुसारी व्याहारः।

विद्याधरी—कथं पुना रथस्थितेन रावणेन समं भूमिस्थितस्य रामस्य समरो भविष्यति ? (कहं उण रहट्ठिदेण रावणेण समं भूमिट्ठिदस्स रामस्स समरो हुविस्सदि)

विद्याधरः—प्रिये ! पश्य। आनीत एव मातलिना पुरुहूतरथः, अधिष्ठितश्च विनयाभिरामेण रामेण।

(नेपथ्ये)

अये कथं—

पूर्वमेव प्रयातानां खरमारीचवालिनाम्।
सौजन्यमुग्धः पन्थानमधिवर्त्तितुमीहसे ? ॥ ३६ ॥

विद्याधर इति। निजस्वामिवर्णनानुसारी—निजस्वामिनः = रावणस्य, रामस्य च, वर्णनम् = पराक्रमवर्णनमित्यर्थः, अनुसरतीति तथोक्तः, व्याहारः = उक्तिः। मातलिना = मातलिनाम्ना इन्द्रसारथिना। पुरुहूतरथः = इन्द्ररथः। विनयाभिरामेण = विनयेन = विनम्रतया अभिरामः = सुन्दरः तेन। रामो मातलिनाऽऽनीतमिन्द्ररथं सविनयमधिरूढः इति भावः।

अन्वयः—(अये ! कथम्) पूर्वमेव प्रयातानाम् खरमारीचवालिनाम् पन्थानम् सौजन्यमुग्धः (सन्) अधिवर्त्तितुम् ईहसे ?

व्याख्या—(अये = अरे ! रावण ! कथम् = केन प्रकारेण, किमित्यर्थः) पूर्वमेव=प्रागेव, प्रयातानाम्=गतानाम्, खरमारीचवालिनाम् = तत्तत् स्वबन्धूनाम्,

---

विद्याधर—निश्चय ही यह राक्षसों और वानरों का, अपने-अपने स्वामी के वर्णन का अनुसरण करने वाली उक्ति है।

विद्याधरी—भला, रथपर स्थित रावण के साथ भूमि पर स्थित रामचन्द्र का संग्राम कैसे होगा ?

विद्याधर—प्रिये ! देखो। मातलि (इन्द्र का सारथि) इन्द्र का रथ ले ही आया और विनय के कारण मनोरम राम उस पर बैठ चुके।

(नेपथ्य में)

अरे, क्या—

पहिले ही जा चुके हुए खर, मारीच और वाली के मार्ग का तुम (भी)

विद्याधर—आकर्णयामस्तावदनेन रामवचनेन पीडित किमाह रावण ?

(नेपथ्ये)

खर कीदृग् वाली कपिरपि च, मारीचहतक
कुरङ्गस्तान् हत्वा कथमपि कथ दृप्यसि मनाक् ?
अय पश्य प्राप्तो दशवदननामा सुरपुरी
करीन्द्राणा हेलारचितकदन पञ्चवदन ॥ ४० ॥

पन्थानम्=मार्गम्, सौजन्यमुग्ध =सौजन्येन = सुजनभावेन, ममत्वेन तदनुगमनविनिश्चयेनेति भाव मुग्ध =विवेकहीन, अप्राप्यमानफल इति भाव, (त्वम्) अधिवर्त्तितुम् अनुसर्तुम्, ईहसे = इच्छसि ? येन यथा त्वद्बान्धवा खरमारीचवालिनो गतास्तमव पन्थान त्वमप्यनुसर्तुमिच्छसि किम् ? इति रामोक्तेरभिप्राय । अनुष्टुब्वृत्तम ॥ ३९ ॥

अन्वय—खर कीदृक् । वाली कपि । अपि च मारीचहतक कुरङ्ग । कथमपि तान् मनाक् हत्वा कथम् दृप्यसि ? सुरपुरीकरीन्द्राणाम् हेलारचितकदन दशवदननामा अयम् पञ्चवदन प्राप्त (इति) पश्य ।

व्याख्या—खर = खरनामा राक्षस, कीदृक् = कीदृश, क्षुद्र इति भाव, आसीदिति शेष । वाली = तन्नामा मदीय सखा, कपि = वानर, आसीदिति शेष, वानराणा वीरेषु कथ गणनेति भाव । अपि च = तथा, मारीचहतक = कापुरुषो मारीच, कुरङ्ग = मृग, स्वच्छन्दप्रहारवाले मृगरूप एव आसीत्, तद्धननेन तव कि वैशिष्ट्यमिति भाव । कथमपि = केनापि प्रकारेण, पश्चय परावृत्य खरम्, व्याध इव वालिनम् पलायमान मारीच चेति निन्दितप्रकारैरिति भाव, तान् = खरमारीचवालिन, मनाक् = ईषत्, यथास्यात्तथा, हत्वा=व्यापाद्य,

सौजन्यवश मूढ होकर अनुसरण करना चाहते हो ? ॥ ३९ ॥

विद्याधर—अच्छा, हम सुनें कि राम के इस वचन से पीडित होकर रावण क्या कहता है ?

(नेपथ्य में)

खर कैसा (वीर) था ? वाली भी वानर (ही) था । क्षुद्रमारीच मृग

अथवा—

कालीकेसरिकेसराञ्चलसटासाटोपसम्पादित-
क्रीडाचामरकोमलानिललवाचान्तश्रमाम्भःकणः ।
श्रीमानेष दशाननो विजयते तस्यास्य पञ्चानन-
व्यापारप्रतिपादनैरपि यशः कीदृक् समुन्मीलति ? ॥४१॥

कथम् = किमर्थम्, दृप्यसि = दर्पं करोषि ? सुरपुरीकरीन्द्राणाम् = सुरपुर्याः = स्वर्गस्य, करीन्द्राणाम् = मत्तगजराजानाम्, हेलारचितकदन —हेलया = क्रीडया, अनायासेनेत्यर्थः, रचितम् = कृतम्, कदनम् विनाशो येन स तादृशः, दशवदननामा = दशवदनाख्य, अयम् = एषः, अहमिति शेषः, पञ्चवदनः = सिंहः, प्राप्तः = आगतः, (इति) पश्य = अवलोकय । अहं दशवदनत्वात् पञ्चवदनसिंहापेक्षया बलवत्तरोऽसाधारणसिंहस्त्वामवश्यमेव शीघ्रमनायासेनैव पञ्चत्वं प्रापयिष्यामीति भावः । रूपकमलङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—कालीकेसरिकेसराञ्चलसटासाटोपसम्पादितक्रीडाचामरकोमलानिललवाचान्तश्रमाम्भःकणः श्रीमान् एषः दशाननः विजयते । तस्य अस्य पञ्चाननव्यापारप्रतिपादनैः अपि कीदृक् यशः समुन्मीलति ?

व्याख्या—सिंहादपि स्वोत्कृष्टतां प्रतिपादयति रावणः—कालीति । कालीत्यादिः—काली = चण्डिका, तस्याः यः केसरी = सिंहस्तस्य केसराञ्चलसटा = स्कन्धदेशप्ररूढकेशकलापस्तया साटोपम् = सगर्वं यथा स्यात्तथा सम्पादितम् = विरचितम् यत् क्रीडाचामरम् = क्रीडाबालव्यजनम् तस्य यः कोमलानिलः = मन्दवायुः, तस्य लवेन = किञ्चिदंशेन आचान्ताः = पीताः, शोषिता इत्यर्थः, श्रमाम्भसाम् = श्रमजनितजलानाम्, प्रस्वेदानामित्यर्थः, कणाः = बिन्दवः यस्य स तादृशः, श्रीमान् = लक्ष्मीवान्, एषः = तत्राग्रे शोभमानः, दशाननः=दशग्रीवः,

था । किसी तरह उन्हें जरा मार कर क्यों गर्व कर रहे हो ? स्वर्ग के गजराजों को अनायास ही विनष्ट करने वाला दशवदन नामक यह पञ्चवदन (सिंह) आ गया है-देखो ॥ ४० ॥

अथवा—काली के (वाहन) सिंह के गरदन पर स्थित बालों से सगर्व विरचित क्रीडा चामर के मन्दवायु के. स्वल्पांश से जिसके पसीने की बूँदें सुखा

विद्याधर —अये ! दशवदनवचनकुपितः किमपि वक्तुकाम इव लक्ष्यते लक्ष्मणः ।

(नेपथ्ये)

किं ते—पञ्चाननतया दशाननतया वा त्वमिदानीं—

दूरोन्मुक्तमदो विभीषण इव न्यञ्चच्छिरः शेखरः
स्वच्छन्दं चरणारविन्दयुगलं रामस्य भृङ्गो भव ।
रे नक्तञ्चर ! कुम्भकर्ण इव वा कर्णान्तचक्रीभव-
च्चापोत्सङ्गविमुक्तबाणदहने सद्यः पतङ्गो भव ॥ ४२ ॥

रावण इत्यर्थः, विजयते = सर्वोत्कर्षेण वर्तते । तस्य = तादृशस्य, अस्य = दशाननस्य, पञ्चाननव्यापारप्रतिपादनैः = पञ्चाननः = सिंहः, तत्सदृशो व्यापारः = आचरणम्, तस्य प्रतिपादनैः = वर्णनैः, अपि, कीदृक् यशः = कीदृशी कीर्तिः, समुन्मीलति = प्रादुर्भवति । अतिभयङ्करमपि कालीवाहनसिंहमभिभूय तस्य सटामुत्पाट्य तया स्वक्रीडाबालव्यजनं निर्मितवतो दशाननस्य मम पञ्चाननेनोपमादीयतेति न मम प्रकर्षोऽपि स्वपकर्ष एवासूच्यत इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—रे नक्तञ्चर ! दूरोन्मुक्तमदः विभीषणः इव न्यञ्चच्छिरःशेखरः, रामस्य चरणारविन्दयुगले स्वच्छन्दम् भृङ्गः भव, वा कुम्भकर्णः इव कर्णान्तचक्रीभवच्चापोत्सङ्गविमुक्तबाणदहने सद्यः पतङ्गो भव ।

व्याख्या—रे इत्यभिक्षेपद्योतकमव्ययपदम् । रे नक्तञ्चर ! = रे निशाचर !

दी गयी है ऐसा श्रीमान् यह दशानन सर्वोत्कृष्टता से विराजमान है, वैसे इस (रावण) के पञ्चानन सदृश आचरण के वर्णनों से भी कैसा यश प्रादुर्भूत होगा ? ॥ ४१ ॥

विद्याधर—अरे ! दशवदन की बातों से कुपित लक्ष्मण कुछ कहना सा चाहते हैं, ऐसा प्रतीत हो रहा है।

(नेपथ्य में)

तुम्हारे पञ्चानन होने से अथवा दशानन होने से क्या ? तुम सम्प्रति—रे निशाचर ! पूर्णरूप से गर्व छोड़कर विभीषण की तरह (अपने) सिर मुकुट को

विद्याधरी—पश्य पश्य । इतः शरान्धकारं विस्तारयता निशामुखायितं दशमुखेन । (पेक्ख पेक्ख । इदो सरन्धआरं वित्थारअन्तेण णिसामुहायिदं दसमुहेण)

दूरोन्मुक्तमदः—दूरम् = अतिशयेन उन्मुक्तः = परित्यक्तः, मदः = गर्वः, येन सः, दूरमिति पदेन तस्य हार्दिकी भक्तिर्द्योतिता । बिभीषण इव = स्वानुज इव, न्यञ्चच्छिरःशेखरः—न्यञ्चन् = नम्रीभवन् शिरःशेखरः = शिरोमुकुटः यस्य सः, रामस्य = श्रीरामचन्द्रस्य, चरणारविन्दयुगले = पादपद्मद्वये, स्वच्छन्दम् = यथाभिलाषं यथा स्यात्तथा, भृङ्गः = भ्रमरः, भव = एधि । भ्रमरः कमलमिव, त्वमप्येकभावेन रामचन्द्रचरणकमलं भजस्वेति भावः । पक्षान्तरमाह—वा = अथवा कुम्भकर्ण इव = त्वमध्यमभ्रातेव, कर्णान्तिचक्रीभवच्चापोत्सङ्गविमुक्तबाणदहने—कर्णान्ते = श्रवणप्रान्ते, चक्रीभवन् = आकर्षणेन कुण्डलीभवन् यः चापः = धनुः, तस्य उत्सङ्गात् = मध्यभागात्, विमुक्तः = त्यक्तः, यः बाणः = शरः एव दहनः= अनलः, तस्मिन्, सद्यः = तत्क्षणम्, पतङ्गः कीटः, भव = एधि । तवानुजाभ्यां बिभीषणकुम्भकर्णाभ्यां समुपस्थापितं विकल्पद्वयं तव पुरतो विद्यते । जीवितुमिच्छसि चेत्तर्हि बिभीषण इव गर्वं विहाय मूर्ध्ना प्रणतो रामचन्द्रचरणकमलं भजस्व, मुमूर्षुरसि चेत्तर्हि कुम्भकर्ण इव युद्धोद्यतः सन् रामशरानले कीटो भवेति भावः । उपमारूपकयोर्मिथोऽनपेक्षया स्थितेः संसृष्टिः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४२ ॥

विद्याधरीति । निशामुखायितम्—निशामुखम्=सन्ध्याकालः, तद्वदाचरितम्, रावणेन शरवृष्ट्या तमोविस्तारितमिति भावः ।

झुकाकर राम के चरण कमलों में स्वच्छन्दता पूर्वक भ्रमर बन जाओ, अथवा कुम्भकर्ण की तरह कान तक (खींचे जाने से) चक्राकार बने हुए धनुष के अङ्क से छोड़े गये बाण की आग में तत्काल पतङ्ग बन जाओ ॥ ४२ ॥

विद्याधरी—देखो, देखो । इधर बाणान्धकार का विस्तार कर दशमुख ने सन्ध्याकाल के समान आचरण किया ।

विद्याधर —नन्वितस्तदेव निजविशिखमयूखधारया विनिवारयता चन्द्रायित रामचन्द्रेण। (पुन सकोतुकम) अये ! नूनमय दिव्यास्त्रलीलया प्रतिहतदिव्यास्त्र निकृत्तचाप रावण किमपि वक्तुकाम इव राम ।

(नेपथ्ये)

निकृत्तचाप इति मा सक्षोभतरलो भव।
शस्त्रमन्यदपि स्वैर नन रे! समरे कुरु॥ ४३ ॥

विद्याधर इति । तदेव = शरान्धकारम, निजविशिखमयूखधारया = स्व शरकिरणसमूह । च न्द्रायितम = च न्द्रवदाचरितम । दिव्यास्त्रलीलया = दिव्यास्त्र विलासेन । प्रतिहतदिव्यास्त्रम—प्रतिहतानि = विनिवारितानि दिव्यास्त्राणि यस्य स तम । निकृत्तचापम—निकृत्त = छिन्न चाप = धनुर्यस्य स तम् ।

अन्वय —ननु रे ! निकृत्तचाप इति सक्षोभतरल मा भव । समरे अन्यत शस्त्रमपि स्वैरम कुरु

व्याख्या—निकृत्तचाप प्रतिहतदिव्यास्त्र रावण प्रत्याह श्रीरामचन्द्र —**निकृत्तेति।** ननु रे इत्यभिमुखीकरणमव्ययपदम । निकृत्तचाप —निकृत्त = छिन्न , चाप = धनुर्यस्य स तादृशा ह रावण , इति = एतच्चिन्तयित्वा सक्षोभतरल —सक्षोभेण = भयजनितकम्पनेन, तरल = चञ्चलो मा भव = मा भू । समरे = सङ्ग्राम अन्यत = अपरम् शस्त्रम् = आयुधमपि, स्वैरम=यथेच्छ यथा स्यात्तथा कुरु = विधेहि धारयस्वेत्यर्थ । अनुष्टुब्वृत्तम ॥ ४३ ॥

विद्याधर—अरे, इधर उस (बाणो द्वारा) को ही अपने बाणों के किरण समूहो से निवारण कर रामचन्द्र ने चन्द्रमा के समान आचरण किया। (पुन उत्कण्ठा पूर्वक) अरे ! निश्चय ही यह राम (अपने) दिव्य अस्त्रों के विलास से निवारित दिव्यास्त्र वाले एव खण्डित धनुष वाले रावण को कुछ कहना सा चाहते हैं।

(नेपथ्य में)

अरे रावण ! (मैं रावण) खण्डित धनुष वाला हो गया—ऐसा सोचकर (*भयजनित*) *कम्पन से चञ्चल न हो। सङ्ग्राम में दूसरा शस्त्र भी इच्छानुसार* धारण कर ले ॥ ४३ ॥

विद्याधरी—आकर्णयतु तावत् किमिदानीं भणति रावणः (आकण्णेदु दाव किं दाणीं भणदि रावणो)

(नेपथ्ये)

आकर्णितस्तव दशाननबाहुदण्ड-
श्रीखण्डकाननफणी नवचन्द्रहासः ।
येन स्वनामभवसाम्यरुषेव पीतः
स्वर्लोकलोलनयनामुखचन्द्रहासः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—दशाननबाहुदण्डश्रीखण्डकाननफणी नवचन्द्रहासः तव आकर्णितः ? येन स्वनामभवसाम्यरुषेव स्वर्लोकलोलनयनामुखचन्द्रहासः पीतः ।

व्याख्या—दशाननबाहुदण्डश्रीखण्डकाननफणी—दशाननस्य = रावणस्य बाहुदण्डाः = भुजदण्डा एव श्रीखण्डाः = चन्दनवृक्षाः, तेषां काननम् = वनम्, तस्य फणी = सर्पः, सर्परूप इति भावः । नवचन्द्रहासः = नूतनचन्द्रविकास इव चन्द्रहासो नाम रावणस्य खड्गः, तव = रामस्य, त्वया रामेणेत्यर्थः, आकर्णितः= श्रुतः किम् ? येन = चन्द्रहासनाम्ना खड्गेन, स्वनामभवसाम्यरुषेव—स्वनाम्ना = खड्गश्चन्द्रहासः, मुखचन्द्रहासश्चेति स्वसंज्ञया भवम् = जनितम् यत् साम्यम् = समानता तेन या रुट् = क्रोधः, तयेव, स्वनामसाम्यस्याप्यसह्यत्वेनेति भावः । स्वर्लोकलोलनयनामुखचन्द्रहासः—स्वर्लोकस्य = स्वर्गस्य याः लोलनयनाः = चञ्चलनयनाः सुन्दर्यः, तासां मुखचन्द्रस्य = आननेन्दोः, हासः = हास्यम्, विकासः इत्यर्थः, पीतः = विनाशित इत्यर्थः । 'स्वनामभवसाम्यरुषेव' इत्यत्र हेतूत्प्रेक्षा, 'बाहुदण्डकाननफणी' इत्यत्र, मुखचन्द्रेत्यत्र च रूपकं च । अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४४ ॥

विद्याधरी—अच्छा, सुनिये–रावण अब क्या कहता है ?

(नेपथ्य में)

रावण के बाहुदण्डरूप चन्दनवन का सर्परूप नूतन चन्द्रहास तुम (राम) ने सुना है ? जिसने मानों अपने नाम की समानता होने के क्रोध से (ही) स्वर्ग की चञ्चलाक्षी सुन्दरियों के मुख चन्द्रहास को पी लिया ॥ ४४ ॥

विद्याधर—लीलादलितचन्द्रहास सोत्प्रास किमधुना वदति रावण रामचन्द्र ? (नेपथ्ये)

अयि ! तावदधुना लङ्केश्वर खिद्यते।

विद्याधरी—किमपीदानीं जल्पिष्यति रावण ? (किंपि दाणी जम्पिस्सदि रावणो ?)

(नेपथ्ये)

कथमद्यैव लङ्केश्वर खिद्यते ? ननु रे !

विध्वस्ता दशभिर्भुजैर्दशदिश प्रत्येकमेते पुन-
र्भारायैव दशापरे मम गिरिप्राग्भारभाजो भुजाः।
आराध्य शशिमौलिरम्बुधिजले निद्राति नारायण
किंकर्तव्यतयानयानुदिवस लङ्केश्वरः खिद्यते ॥ ४५ ॥

विद्याधर इति। लीलादलितचन्द्रहास—लीलया = हेलया, दलित = खण्डित, चन्द्रहास = चन्द्रहासाख्योऽसिर्येन स। सोत्प्रास = सोल्लास।

अन्वय—मम दशभि भुजै प्रत्येकम् दशदिश विध्वस्ता। मम अपरे गिरिप्राग्भारभाज दश भुजा भाराय एव। शशिमौलि आराध्य। नारायण अम्बुधिजले निद्राति। अनया किंकर्तव्यतया लङ्केश्वर अनुदिवसम् खिद्यते।

व्याख्या—रावण स्वपराक्रमवर्णनेन खेदस्य कारणान्तरमभिव्यनक्ति—कथमिति। मम = रावणस्य, दशभि भुजै, प्रत्येकम् = एकैकश, दश दिश, ध्वस्ता = पराजिता। मम = रावणस्य अपरे = दिग्विजयकृतार्येभ्यो दशभ्यो बाहुभ्योऽन्ये, गिरिप्राग्भारभाज —गिरीणाम् = पर्वतानाम्, प्राग्भार = शृङ्ग

विद्याधर—लीलापूर्वक चन्द्रहास को खण्डित करने वाले (अतएव) समुल्लसित रामचन्द्र अब रावण से क्या कहते हैं ?

(नेपथ्य में)

अरे, इस समय रावण खिन्न हो रहा है।

विद्याधरी—रावण अब कुछ कहेगा ?

(नेपथ्य में)

क्या लङ्केश्वर आज ही खिन्न हो रहा है ? अरे !

मेरी दस भुजाओं ने एक एक करके दस दिशायें जीत ली। पर्वत के शिखर

विद्याधरी—वचनमात्रमिदानीम् । (वअणमेत्तं दाणी)

विद्याधरः—नहि नहि 'पश्य पश्य' नन्वयमिदानीमपि ।

धनुर्निस्त्रिशादिप्रहरणगणच्छेदकुपितो
दशास्यः स्वान्मूर्ध्नो रघुपतिशरश्रेणिदलितान् ।
करैरेकैरेकैर्नभसि भृशमादाय युगपत्-
क्षिपन्नन्यैरन्यैः सफलयति दोर्विंशतिमपि ॥ ४६ ॥

भजन्तीति तयोक्ताः ("शैलाग्रे शिखरं शृङ्गं दन्तः प्राग्भारमित्यपि" इति त्रिकाण्डशेषः) पर्वतशृङ्गसमविशाला अतिशयकठोराश्चेति भावः, दश भुजाः, भाराय एव = वहनप्रयासाय एव, न तु फलाय, निरर्थकत्वादिति भावः । ननु शिवविष्णुभ्यां समं युद्धं कृत्वा तौ विजित्य कथं न तेषां भुजानां सार्थक्यं क्रियत इति चेत्तत्राह —आराध्य इति । शशिमौलिः=चन्द्रचूडः, शिव इत्यर्थः, आराध्यः= मम पूज्योऽस्ति, तस्मात्तेन सह युद्धस्य कथैव नोदयत इति भावः । नारायणः = विष्णुः, अम्बुधिजले = सागरजले, निद्राति = शेते, समुद्राभ्यन्तरे शयनं नाटयता विष्णुना सह कथं युध्येयेति भावः । अनया = पूर्वोक्तया किंकर्त्तव्यतया = भारभूत-भुजदशकक्लृप्ते कार्यान्तरान्वेषणचिन्ताचुम्बितचित्ततया लङ्केश्वरः = रावणः, अनुदिवसम् = प्रतिदिनम्, खिद्यते = अन्तर्व्यथामनुभवति, न तु शत्रुकृतप्रहरण-खण्डनेनेति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—धनुर्निस्त्रिशादिप्रहरणगणच्छेदकुपितः दशास्यः रघुपतिशरश्रेणि-दलितान् स्वान् मूर्ध्नः एकैः एकैः करैः आदाय अन्यैः अन्यैः भृशम् नभसि युगपत् क्षिपन् दोर्विंशतिमपि सफलयति ।

व्याख्या—धनुर्निस्त्रिशादिप्रहरणगणच्छेदकुपितः—धनुर्निस्त्रिशादिप्रहरण -

सदृश मेरी अन्य दस भुजाएँ भार के लिए (ही) हैं । शङ्कर (मेरे) आराध्य हैं (अतः उनसे युद्ध की कोई बात ही नहीं) विष्णु (भी) सागर के जल में सो रहे हैं (अतः उनसे भी युद्ध कैसे किया जाय) इसी किङ्कर्त्तव्यता से लङ्केश्वर दिन-दिन खिन्न हो रहा है ॥ ४५ ॥

विद्याधरी—सम्प्रति यह वाग्आडम्बरमात्र है ।

विद्याधर—नहीं, नहीं देखो-देखो, यह इस समय भी—

धनुष करवाल आदि शस्त्रों के काटे जाने से कुपित दशानन रामचन्द्र के

(पुन सकौतुकम्)

एतान्यस्य यथायथा सुविशिखै कृत्तानि रक्षःपते-
रुदगच्छन्ति शिरांसि भीतिपुलकैः साकं दिवौकःपते ।
उन्मीलन्ति तथातथा रघुपतेरन्तःप्रमोदोर्मय
कण्ठच्छेदविनोदकौतुकभरव्यग्रीभवच्चेतस ॥ ४७ ॥

गणस्य = चापकरवालादिशस्त्रगणस्य, छेदेन-खण्डनेन, कुपित = क्रुद्ध , दशास्य = रावण , रघुनिशरश्रणिदलितान् = रघुपते = रामचन्द्रस्य शराणाम् = बाणानाम् श्रेण्या = पङ्क्त्या दलितान् = खण्डितान्, स्वान् = स्वकीयान् मूर्ध्न = शिरांसि, एकै एकैः करैः = हस्तैः, आदाय = गृहीत्वा, एकं शिर एकेन हस्तेन, इत्थं दशशिरांसि दशभि करैः गृहीत्वेति भाव । अ यैः अन्यै = अपरैः अपरैः एकै एकैः करै, एकेन एकं शिर, इत्थम् अपरैदशकरै दशशिरांसि, भूयः=भूयो भूयः शिवप्रसादाच्छिन्नशिर स्थानेषु पुनरपरपरा शिरसा प्रादुर्भावादिति भाव । नभसि = आकाशे, रामोपरीत्यर्थ , युगपत् = समकालमेव क्षिपन् = प्रक्षिपन्, अस्त्राणि विधायेति भाव दशविंशतिमपि = भुजविंशतिमपि, सफलयति – सफलां करोति । शिखरिणी वृत्तम ॥ ४६ ॥

अन्वय —सुविशिखै कृत्तानि अस्य रक्ष पते एतानि शिरांसि दिवौकपत भीतिपुलकै साकम् यथा यथा उद्गच्छन्ति तथा तथा कण्ठच्छेदविनोद कौतुकभरव्यग्रीभवच्चेतस रघुपते अन्त प्रमोदोर्मय उन्मीलन्ति ।

व्याख्या—सुविशिखै = तीक्ष्णशरै , कृत्तानि = खण्डितानि, अस्य रक्ष पते = रावणस्य एतानि शिरांसि = मस्तकानि, दिवौकःपते—दिवौकसाम = देवानां, पति = स्वामी, इन्द्र इत्यर्थ, तस्य भीतिपुलकै = भयजनितरोमोद्गमै, साकम = सह यथा यथा = येन येन क्रमेण उद्गच्छन्ति = उत्पद्यन्ते,

बाणों से काटे गये अपने शिरों को एक एक हाथों से लेकर दूसरे दूसरे हाथों से बारबार आकाश में (अर्थात् राम के ऊपर) (अस्त्र बनाकर) फेंकता हुआ बीसों भुजाओं को भी सफल बना रहा है ॥ ४६ ॥

(पुन कौतूहल के साथ)

तीक्ष्ण शरों से काटे गये, इस (रावण) के ये शिर इन्द्र के भयजनित

विद्याधरी—कथमद्यापि निशाचरेन्द्रबन्दीकृतसुरसुन्दरीणां दर्शनं दुर्लभं यदस्य शीर्षाणि पुनः पुनरप्युन्मीलन्ति। (कहं अज्जावि णिसाअरेन्दवन्दीकिदसुरसुंदरीणं दंसणं दुल्लहं जं इमस्स सीसाइं पुणो पुणो वि उन्मीलन्ति)

विद्याधरः—अलं तापेन। क्रीडति खलु रामः सह रावणेन। न पुनरद्यापि कुप्यति। (पुनर्विलोक्य, सकौतुकम्) प्रिये! पश्य पश्य।

अन्तः सान्द्रवसन्महेश्वरशिरःशीतांशुलेखोल्लस-
त्पीयूषद्रवशीकरव्यतिकरप्राग्भारभाजामिव।
छिन्नानामपि रामचन्द्रविशिखैर्भूयः समुद्गच्छतां
काप्यन्यैव निशाचरेन्द्रशिरसां कान्तिः समुज्जृम्भते॥४८॥

शिवप्रसादादिति भावः, तथा तथा = तेन तेन क्रमेण, कण्ठच्छेदविनोदकौतुकभरव्यग्रीभवच्चेतसः—कण्ठच्छेदे=रावणस्य शिरःकर्तने यः विनोदः=मनोरञ्जनम्, तस्मिन् यत् कौतुकम् = कुतूहलम्, तस्य भरेण = आधिक्येन, व्यग्रीभवत् = सम्भ्रमं गच्छत्, चेतः = हृदयं यस्य स तस्य, रघुपतेः = श्रीरामचन्द्रस्य, अन्तः = हृदये, प्रमोदोर्मयः = आनन्दलहर्यः, उन्मीलन्ति = प्रादुर्भवन्ति। सहोक्तिरलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ ४७॥

अन्वयः—अन्तः सान्द्रवसन्महेश्वरशिरःशीतांशुलेखोल्लसत्पीयूषद्रवशीकरव्यतिकरप्राग्भारभाजाम् इव रामचन्द्रविशिखैः छिन्नानाम् अपि भूयः समुद्गच्छताम् निशाचरेन्द्रशिरसाम् कापि अन्यैव कान्तिः समुज्जृम्भते।

व्याख्या—अन्तः = रावणस्य हृदये, सान्द्रम् = निविडम्, यथा स्यात्तथा,

रोमाञ्चों के साथ ज्यों ज्यों निकल रहे हैं, त्यों त्यों (रावण के) शिरों को काटने की प्रसन्नता से होने वाले कौतुक की अधिकता से उतावले चित्तवाले राम के हृदय में आनन्द की लहरें उठ रही हैं॥ ४७॥

विद्याधरी—आज भी रावण द्वारा बन्दी बनायी गयी सुरसुन्दरियों का दर्शन दुर्लभ होगा क्या? जो इसके (काटे गये) शिर बार-बार उत्पन्न होते जा रहे हैं।

विद्याधर—सन्ताप करने की आवश्यकता नहीं। निश्चय ही राम रावण के साथ खेल कर रहे हैं। और अब भी क्रुद्ध नहीं हो रहे हैं। (पुनः देखकर, कौतूहल के साथ) प्रिये! देखो देखो। (रावण के) हृदय में दृढ़ता से बसने

(पुन स कौतुकम् । विहस्य) अहो ! अस्य चित्तवृत्ति ।

अय यावद्यावत् पृथु हृदयपीठ रघुपति
शिरश्छेदासक्तो न दशवदनस्य व्यथयति ।
अय तावत्तावद् वहति मुदमुच्चैर्दशमुख
क्वचिदस्मिन्देवी जनकनृपतिपुत्री निवसति ॥ ४९ ॥

दृढमित्यर्थं , वसत = निवसत , महेश्वरस्य = शिवस्य, शिरसि = मस्तके या शीतांशुलता = चन्द्रकला तस्या उल्लसन् = प्रस्यन्दमान य पीयूषद्रव = अमृतरस तस्य शीकरगणाम = बिन्दूनाम् व्यतिकरस्य = सम्बन्धस्य, प्राग्भारम्= विस्तारम भजन्तीति, तेषामिव, हृदयस्थितशिवशिरःस्थचन्द्रकलास्रवदमृतबिन्दु-सम्पर्कशालिनामिवेत्यर्थ , रामचन्द्रविशिखै = रामचन्द्रबाणै , छिन्नानाम् अपि = खण्डितानामपि, भूय = पुन , समुद्गच्छताम = प्ररोहताम्, निशाचर द्रशिरसाम= रावणमस्तकानाम कापि = अनिर्वचनीया, अन्यैव = अपरैव, विलक्षणेति भाव । कान्ति = आभा, समुज्जृम्भते = उल्लसति । हृदयस्थितशिवशिर स्थचन्द्रस्य स्रवताम् अमृतबिन्दूना सम्पर्कादिव पुन प्ररूढाना रावणशिरसा कापि लोकविलक्षणैव शोभा समुल्लसतीत्यभिप्राय । उत्प्रेक्षाऽलङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥४८॥

अन्वय — शिरश्छेदासक्त अयम् रघुपति दशवदनस्य पृथु हृदयपीठम् यावत् यावत् न व्यथयति अय दशमुख 'एतस्मिन् देवी जनकपुत्री निवसति' (इति) तावत तावत् उच्चै मुदम् वहति ।

व्याख्या—शिरश्छेदासक्त —शिरश्छेदे=मस्तकखण्डने, रावणस्येति भाव , आसक्त = व्यापृत , अयम् = पुरस्थ , रघुपति = राम., दशवदनस्य =रावणस्य, पृथु = विस्तृतम्, हृदयपीठम् = वक्ष स्थलम् यावत यावत् = यावत्कालमित्यर्थं ,

वाले शिव के सिर की चन्द्रकला से निकलते हुए अमृत की बूँदों का सम्पर्क धिवय रखने वाले-से, रामचन्द्र के बाणों से खण्डित होने पर भी पुन उत्पन्न होने वाले रावण के सिरों की कोई एक दूसरी (विलक्षण) ही कान्ति समुल्लसित हो रही है ॥ ४८ ॥

(पुन देखकर, जोर से हँसकर) अहो ! इस (रावण) की कैसी (विलक्षण) चित्तवृत्ति है ! (रावण के) सिरों को काटने में लगे हुए ये

(नेपथ्ये)

अयि प्रिय राम !

किं क्रीडसि शरस्तोमैर्नन्वेकेनैव पत्रिणा ।
परिपूरय नः कामं यशसा च जगत्त्रयम् ॥ ५० ॥

विद्याधरः—नूनममी दिवौकसस्त्वरयन्ति रामचन्द्रम् । तच्छृण्वन् किमधुना वक्ष्यति रावणः ?

न व्यथयति = न पीडयति शरैरिति भावः, अयम् = पुरोवर्ती, दशमुखः = रावणः, एतस्मिन्=हृदयपीठे, देवी जनकपुत्री=जानकी, निवसति, (इति = अनेन कारणेन, हृदयावस्थितजानकी कष्टं नानुभवतीत्युत्प्रेक्ष्येत्यर्थः) तावत् तावत् = तावत्काल-मित्यर्थः, उच्चैः = सातिशयं यथा स्यात्तथा, मुदम् = हर्षम्, वहति = धारयति । किलेति सम्भावनायाम् । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४९ ॥

अन्वयः—शरस्तोमैः किं क्रीडसि ? ननु एकेनैव पत्रिणा नः कामं यशसा च जगत्त्रयम् परिपूरय ।

व्याख्या—शरस्तोमैः = शरसमूहैः, किम् = किमर्थं क्रीडसि ? ननु = हे राम ! एकेनैव पत्रिणा = शरेण, नः = अस्माकम्, देवानामित्यर्थः, कामम् = मनोरथम्, यशसा च = रावणविजयजातया कीर्त्या च, जगत्त्रयम् = त्रिलोकी, परिपूरय=पूर्णं कुरु । अत्र देवानां मनोरथस्य, जगत्त्रयस्य च परिपूरणक्रियारूपैक-धर्माभिसम्बन्धात् तुल्ययोगिताऽलङ्कारः अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ५० ॥

राम, रावण के विशाल वक्षःस्थल को जब तक (शरप्रहार से) पीडित नहीं कर रहे हैं, यह रावण 'इस (हृदय) में देवी जानकी निवास करती हैं' उन्हें कष्ट नहीं हो रहा है। ऐसा सोचकर तब तक अत्यन्त हर्ष को धारण कर रहा है ॥ ४९ ॥

(नेपथ्य में)

हे प्रिय राम ! क्या बाणों के द्वारा खिलवाड़ कर रहे हो ? अरे, एक ही बाण से हमारे मनोरथ को और यश से त्रिलोकी को परिपूर्ण कर दो ॥ ५० ॥

विद्याधर—निश्चय ही, ये देवता लोग शीघ्रता करने के लिए रामचन्द्र को प्रेरित कर रहे हैं । उसे सुनकर अब रावण क्या कहेगा ?

(नेपथ्ये)

रे रे मम भुजा !

मुक्त्वैकां हरशेखरप्रणयिनीं पीयूषभानोः कलां
दिक्पालावलिमौलिमण्डनमणीन् गृह्णीत सर्वानपि ।
तैः काञ्चीं रचितां चिराय वहतु श्रोणीतटे जानकी
गायन्ती कमनीयशिञ्जितभरैर्मद्विक्रमाडम्बरम् ॥ ५१ ॥

अन्वय —हरशेखरप्रणयिनीम् पीयूषभानोः एकां कलाम् मुक्त्वा सर्वानपि दिक्पालावलिमौलिमण्डनमणीन् गृह्णीत । तैः रचिताम् काञ्चीम् कमनीयशिञ्जितभरैः मद्विक्रमाडम्बरम् गायन्ती जानकी श्रोणीतटे चिराय वहतु ।

व्याख्या—सर्वान्तर्जयन् रावणः स्वभुजान् प्रत्याह—मुक्त्वैकामिति । हरशेखरप्रणयिनीम्—हरस्य = शिवस्य, शेखरे = मौलौ, प्रणयिनीम् = प्रणयवतीम्, शिवशिरःस्थामिति भावः, पीयूषभानोः = अमृतांशोः, चन्द्रस्येत्यर्थः, एकाम् = केवलाम्, कलाम् = लेखाम्, मुक्त्वा = विहाय, सर्वानपि = सकलानपि, दिक्पालावलिमौलिमण्डनमणीन्—दिक्पालानाम् अवलिः = श्रेणी, तस्याः मौलिषु = शिरःसु ये मण्डनमणयः = भूषणरत्नानि, तान् गृह्णीत = बलादपहरतेत्यर्थः । तैः = दिक्पालशिरोगृहीतरत्नैः, रचिताम् = निर्मिताम्, काञ्चीम् = मेखलाम्, कमनीयशिञ्जितभरैः—कमनीयानि = मधुराणि यानि शिञ्जितानि = झङ्कृतयः, तेषां भरैः = समूहैः, मद्विक्रमाडम्बरम्—मम = रावणस्य, विक्रम = पराक्रमस्य आडम्बरम् = प्रचण्डताम् गायन्ती = वर्णयन्ती, जानकी=सीता, श्रोणीतटे= नितम्बप्रदेशे, चिराय = बहुकालम्, वहतु = धारयतु । शिवस्य महाराध्यत्वात्तच्छेखरे भूषणत्वेन न्यस्तामेकां चन्द्रकलां विहाय सर्वेषामिन्द्रादीनां दिक्पालानां शिरस्सु भूषणत्वेन धृतान् मणीन् गृह्णीत । तैर्विरचिता काञ्ची नितम्बमण्डले

(नेपथ्य में)

रे रे मेरी भुजाओ !

(पूज्य होने के नाते) शङ्कर जी के सिर पर रहने वाली केवल चन्द्र की कला को छोड़ कर सभी दिक्पालों के सिरों के भूषणरत्नों को बलात् अपहृत कर लो। इन (रत्नों) से रचित करधनी को, मधुर झङ्कारों से मेरे

विद्याधरः—(विहस्य) लङ्केश्वर ! समयज्ञोऽसि यद्भुजानेव नियुक्तवानसि । अधुना हि भुजमण्डलमेव परिवारवर्गस्ते । (विलोक्य साकूतम्) अये ! कथमनेन दशाननवचनेन किंचित्कुपित इव दृश्यते जानकीकान्तः। (पुनः सहर्षविषादम्) हन्त भोः !

विकचकुसुमस्तोमाकीर्णे परागविभूषितः
शशिमणिशिलातल्पेऽनल्पे सलील-शेत यः ।
अयमयमसौ रोषारूढे क्षणं रघुनन्दने
भुवि दशमुखः शेते धूलिच्छटापरिधूसरः ॥ ५२ ॥

धारयन्ती सीता तन्मधुरशिञ्जितमुखेन मद्विक्रमप्रशस्ति गायत्विति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५१ ॥

विद्याधर इति । समयज्ञः—कालज्ञः, समयमनुसृत्य कार्यसम्पादने निपुण इति भावः । भुजानेव तत्कर्मणि नियुक्तवता त्वया स्वकालज्ञता प्रदर्शिता, यतस्ते परिवारवर्गस्तु पूर्वमेव विनाशं प्राप्तोऽधुना भुजमण्डलमेव तव किमपि साहाय्यं कर्तुं शक्नोतीति भावः । साकूतम्=साभिप्रायम् । सहर्षविषादम्=हर्षविषादाभ्यां सहितं यथा स्यात्तथा, रामस्य विजयेन हर्षः, रावणस्य दुरवस्थाविलोकनेन विषादश्च ।

अन्वयः—विकचकुसुमस्तोमाकीर्णे अनल्पे शशिमणिशिलातल्पे परागविभूषितः यः सलीलम् अशेत, अयम् अयम् असौ दशमुखः रघुनन्दने क्षणम् रोषारूढे (सति) धूलिच्छटापरिधूसरः (सन्) भुवि शेते ।

व्याख्या—विकचकुसुमस्तोमाकीर्णे—विकचानि = प्रफुल्लानि यानि कुसुमानि = पुष्पाणि, तेषां स्तोमेन = समूहेन विकीर्णे = व्याप्ते, अनल्पे=विस्तीर्णे,

पराक्रम की प्रचण्डता का गान करती हुई सीता चिरकाल तक नितम्बप्रदेश में धारण करे ॥ ५१ ॥

विद्याधर—(जोर से हँसकर) लङ्केश्वर ! (तुम) समय की पहिचान रखते हो जो भुजाओं को ही (इस कार्य के लिए) नियुक्त किये हो (क्योंकि) इस समय भुजायें ही तुम्हारा परिवार-वर्ग हैं । (देखकर, साभिप्राय) अरे ! क्या दशानन के इस वचन से जानकी नाथ (राम) कुछ कुपित से दीख रहे हैं ? (पुनः हर्ष और विषाद के साथ) हाय रे,

खिले पुष्प-समूह से व्याप्त विस्तीर्ण चन्द्रकान्तमणिशिला से रचित शय्या पर

विद्याधरी—तदिदानीमेव जनकनन्दिनी रामचन्द्रेण समं सङ्गंस्यते?
(ता दाणिं जेव्व जणअणन्दिणी रावन्देण समं सगमिस्सादि ?)

विद्याधरः—अथ किम् ?

उद्दामहेतिवलयैः परिदीपिताशं
पश्य प्रविश्य जनकेन्द्रसुता हुताशम्।
प्रत्युद्गता समधिका द्युतिमावहन्ती
प्रातर्मयूखकलिकेव दिवाकरस्य ॥ ५३ ॥

मणिमणिशिलातल्पे चन्द्रकान्तमणिशिलारचितशयने, परागविभूषितः—परागैः = पुष्परजोभिः विभूषितः = समलङ्कृतः, यः, सलीलम् = सविलास यथा स्यात्तथा, अशेत = शयितवान्। अयम् अयम् = निकटस्थ, सम्भ्रमे द्विरुक्तिः, असौ = सः दशमुखः = रावणः, रघुनन्दने = रामचन्द्रे, क्षणम् = स्वल्पकालम्, रोषारूढे = कोपाक्रान्ते (सति) धूलिच्छटापरिधूसरः—पार्थिवरजःसमूहेन मलिनः, (सन्) भुवि = भूमौ, शेते = शयनं करोति, रामबाणनिहतः सन् भूमौ पतित इति भावः। हरिणी वृत्तम् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—उद्दामहेतिवलयैः परिदीपिताशम् हुताशम् प्रविश्य जनकेन्द्रसुता प्रातः दिवाकरस्य मयूखकलिकेव समधिका द्युतिम् आवहन्ती प्रत्युद्गता (इति) पश्य।

व्याख्या—उद्दामहेतिवलयैः—उद्दामानाम् = प्रचण्डानाम्, हेतीनाम् = ज्वालानाम्, वलयैः = मण्डलैः, परिदीपिताशम् = परिदीपिता = प्रकाशिता, आशा = दिशा येन स तम्, हुताशम् = अग्निम्, प्रविश्य, जनकेन्द्रसुता = जनकराजपुत्री, सीतेत्यर्थः, प्रातः दिवाकरस्य = सूर्यस्य, मयूखकलिकेव = किरणरेखेव,

पुष्पपरागों से समलङ्कृत जो (रावण) विलास पूर्वक सोता था, यह, यह वही रावण, रामचन्द्र के क्षणभर कुपित होने पर धूलसमूह से अत्यन्त धूसर (होकर) भूमि पर सो रहा है ॥ ५२ ॥

विद्याधरी-(हर्ष के साथ) तो अभी ही जनकनन्दिनी रामचन्द्र से मिलेंगी?

विद्याधर—और क्या ?

देखो, प्रचण्ड लपटों के मण्डल से दिशाओं को प्रकाशित करने वाले अनल में

विद्याधरी—पश्य पश्य, अयमसमसमरकदर्थित प्रदेशमवतरति रामचन्द्रः । (पेक्ख पेक्ख ! इमो असमसमरकथयिदं पदेसं अवतरइ रामचन्दो)

विद्याधरः—तदेहि । कर्णामृतं पुलोमजायै निवेदयावः ।

(इति निष्क्रान्तौ)

(ततः प्रविशति रामः सीतालक्ष्मणौ सुग्रीवविभीषणौ च)

रामः—अये ! कथमुपगत एव भगवानम्बरमणिश्चरमाचलचूडाम् ।

लक्ष्मण—पश्चिमपयोधिवेशां च । नन्विदानीम्—

उद्दामदिग्द्विरदचञ्चलकर्णपूर-
गण्डस्थलोच्चलदलिस्तवकाकृतीनि ।
मीलन्नभांसि मृगनाभिसमानभांसि
दिक्कन्दरेषु विलसन्तितमां तमांसि ॥ ५४ ॥

समधिकाम् = पर्याप्ताम्, द्युतिम् = कान्तिम्, आवहन्ती = धारयन्ती, प्रत्युद्गता = निःसृता । (इति) पश्य = अवलोकय । उपमालङ्कारः । वसन्ततिलका-वृत्तम् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—उद्दामदिग्द्विरदचञ्चलकर्णपूरगण्डस्थलोच्चलदलिस्तवकाकृतीनि मीलन्नभांसि मृगनाभिसमानभांसि तमांसि दिक्कन्दरेषु विलसन्तितमाम् ।

व्याख्या—उद्दामेत्यादिः—उद्दामाः = माद्यन्तः ये दिग्द्विरदाः = दिग्गजाः,

प्रवेश कर जनकनन्दिनी प्रातःकाल सूर्य की किरण रेखा के समान पर्याप्त कान्ति को धारण करती हुई बाहर निकल आयी है ॥ ५३ ॥

विद्याधरी—देखो, देखो । यह रामचन्द्र अनुपम संग्राम से विकृत स्थान पर उतर रहे हैं ।

विद्याधर—तो आओ, (इस) कर्णामृत (श्रुतिसुखदवृत्तान्त) को इन्द्राणी से बतायें ।

(ऐसा कहकर दोनों निकल गये)

(तदनन्तर राम, सीता लक्ष्मण और सुग्रीव-विभीषण प्रवेश करते हैं)

राम—अरे ! क्या भगवान् सूर्य अस्ताचल के शिखर पर पहुँच ही गये ?

लक्ष्मण—पश्चिम समुद्र की तीर भूमि पर भी (पहुँच गये) । अरे, इस समय-मत्त दिग्गजों के (कानों की फटफटाहट से) चञ्चल कर्ण भूषणों के

राम — अये ! कथमुज्जृम्भितमेव निशाचरचक्रानुकारिणा तिमिरनिकरेण ।

विभीषण — भवितोऽपि समुन्मीलितमेव रामनाराचानुकारिणा तुहिनकरकिरणप्रकरेण ।

तेषां चञ्चले, कर्णपूरे = इतस्ततः चालिते कर्णभूषणे, कर्णाञ्चलचाञ्चल्येन कर्णपूराणामपि चाञ्चल्यमिति बोध्यम् गण्डस्थलेभ्यः = कपोलप्रदेशेभ्यः, उच्चलन्तः = उत्पतन्तः ये मलयः = भृङ्गाः, तेषां स्तबकः = गुच्छः, समुदायः इत्यर्थः, तस्येवाकृतिर्येषां तानि, मीलन्ति = मीलनं = अदृश्यतां गच्छत, नमः = आकाशं यैस्तानि मृगनाभिसमानभासि-मृगनाभिः = कस्तूरी ('मृगनाभिर्मृगमदः कस्तूरी च' इत्यमरः) तया समाना = तुल्या, भा = कान्तिर्येषां तानि, तमांसि = अन्धकाराः, दिक्कन्दरेषु = दिग्गुहासु विलसन्नितमाम् = अतिशयेन शोभन्ते, प्रादुर्भवन्तीत्यर्थः । अत्रोपमाऽलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ५४ ॥

राम इति । निशाचरचक्रानुकारिणा—निशाचराणाम् = राक्षसानाम् चक्रम् = समुदायः, तदनुकरोतीति तच्छीलेन, राक्षससमुदायसदृशेनेत्यर्थः, तिमिरनिकरेण = अन्धकारसमूहेन । उज्जृम्भितम् = विस्तारं गतम् ।

विभीषण इति । रामनाराचानुकारिणा=रामबाणसदृशेन । तुहिनकरकिरणप्रकरेण = चन्द्रकिरणजालेन, समुन्मीलितम् = प्रादुर्भूतम् । निशाचरसमूहविनाशकरामबाण इव, अन्धकारसमूहविनाशाय चन्द्रकिरणसमूहः आविर्भूत इति विभीषणोक्तेराशयः ।

कारण, (मदजल से सम्पन्न) गण्डस्थलों से उड़ने वाले भ्रमर समुदाय के समान (श्याम) आकार वाले, आकाश को आच्छन्न करने वाले, कस्तूरी के समान कान्ति वाले अन्धकार दिशारूप गुफाओं में अत्यन्त अधिकता से प्रादुर्भूत हो रहे हैं ॥ ५४ ॥

राम—अरे ! निशाचरसमूह का अनुकरण करने वाला अन्धकारसमूह क्या फैल हो गया ?

विभीषण—अरे इधर भी राम के बाणों का अनुकरण करने वाला चन्द्रकिरण समूह भी प्रकट हो गया है ।

सुग्रीवः—एवमेतत् । अमी हि—

क्षीराब्धेर्लहरीषु फेनधवलाश्चन्द्रोपलेषु स्रव-
त्पाथःशीकरिणो विकासिकुमुदक्रोडे रजःपिञ्जराः ।
उन्मीलन्ति चकोरचञ्चुगहने छिन्नप्ररूढाश्चम-
त्कुर्वन्तः प्रियविप्रयुक्तरमणीगात्रे सुधांशोः कराः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—क्षीराब्धेः लहरीषु फेनधवलाः, चन्द्रोपलेषु स्रवत्पाथःशीकरिणः, विकासिकुमुदक्रोडे रजःपिञ्जराः, चकोरचञ्चुगहने छिन्नप्ररूढाः प्रियविप्रयुक्तरमणीगात्रे चमत्कुर्वन्तः, सुधांशोः कराः उन्मीलन्ति ।

व्याख्या—क्षीराब्धेः = क्षीरसागरस्य, लहरीषु = तरङ्गेषु, फेनधवलाः = फेनोज्ज्वलाः, चन्द्रोपलेषु = चन्द्रकान्तशिलासु, स्रवत्पाथःशीकरिणः—स्रवन्तः = प्रस्पन्दमानाः, पाथसः = जलस्य, शीकराः = कणाः सन्त्येषामिति तादृशाः ('अत इनिठनौ' इतीनिप्रत्ययः) विकासिकुमुदक्रोडे = प्रफुल्लकैरवाङ्के, रजःपिञ्जराः = परागकपिशवर्णाः, चकोरचञ्चुगहने—चकोराः = चन्द्रकिरणपायिनो पक्षिविशेषाः, तेषां चञ्चुगहने = त्रोटिगह्वरे, छिन्नप्ररूढाः—आदौ मुखसङ्कोचे छिन्नाः = चकोरैः पानेन प्रणष्टाः, पश्चान्मुखव्यादाने प्ररूढाः = समुत्पन्नाः, प्रियविप्रयुक्तरमणीगात्रे—प्रियेण = वल्लभेन विप्रयुक्ता = विरहिता या रमणी = ललना, तस्याः गात्रे = शरीरे (अत्र जातावेकवचनम्) चमत्कुर्वन्तः = चमत्कारं कुर्वन्तः, शैत्यसम्पन्ना अपि सन्तापोत्पादकतया विस्मयं कुर्वन्ति इति भावः, सुधांशोः = चन्द्रस्य, कराः किरणाः, उन्मीलन्ति = उद्गच्छन्ति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५५ ॥

सुग्रीव—ठीक है । ये—

क्षीर सागर की तरङ्गों पर फेन के समान उज्ज्वल, चन्द्रकान्त शिलाओं पर प्रकट होने वाले जल के कणों से युक्त, विकसित होते हुए कुमुदों के अङ्क में पराग के समान कपिश वर्ण, चकोर पक्षियों की चोंच रूप गुफा में (पहिले चोंच बन्द करने के कारण) प्रणष्ट और (पीछे चोंच खोलने पर) उत्पन्न, प्रिय से वियुक्त ललना के शरीर पर चमत्कार करने वाली (अर्थात् शीतल स्वभाव होने पर भी सन्ताप देने के कारण विस्मयकारिणी) चन्द्रमा की किरणें प्रकट हो रही हैं ॥ ५५ ॥

विभीषण —एवमेतत् । इदानीं हि—

शङ्करार्धतनुबद्धपार्वती-
कुङ्कुमाक्तकुचकोरकाकृतिः ।
सूच्यते कमलिनीभिरुन्नमत्-
पद्मकोशकरलीलया शशी ॥ ५६ ॥

अन्वय —शङ्करार्धतनुबद्धपार्वतीकुङ्कुमाक्तकुचकोरकाकृतिः शशी कमलिनीभिः उन्नमत्पद्मकोशकरलीलया सूच्यते ।

व्याख्या —शङ्कर = शिव, अर्द्धनारीश्वररूप इत्यर्थः, तस्य अर्धतनौ = शरीरार्द्धभागे बद्धा = संश्लिष्टा या पार्वती = गौरी तस्या कुङ्कुमाक्त —कुङ्कुमेन = काश्मीरजेन, काश्मीरजद्रवेणेत्यर्थः, आक्त = लिप्त य कुचकोरक = स्तनचूचुक स्तनाग्रभाग इत्यर्थः, तस्य आकृति = आकार इव आकृति = आकारः यस्य स तादृश, शशी = चन्द्र, कमलिनीभि = कमललताभि, स्त्रीभि, उन्नमत्पद्मकोश-करलीलया = उन्नमत् = उन्नतीभवन् य पद्मकोश = कमलकुड्मल, स एव कर = हस्त, तस्य लीलया = विलासेन, इङ्गितेनेत्यर्थः, करणेन, सूच्यते = निर्दिश्यते । एतदुन्नतरक्तवर्णकमलकोरक इव शङ्करार्द्धतनुबद्धपार्वतीसम्बन्धी य एक उन्नत कुङ्कुमाक्तत्वादीषद्रक्तवर्ण कुचकोरकस्तदाकारोऽयं चन्द्र समुन्मीलतीति उन्नमत्पद्मकोशकरलीलया कमलिनीभि स्वमनोगताभिप्रायोऽभिव्यज्यते । पूर्वार्द्धे लुप्तोपमालङ्कार । उत्तरार्द्धे चोत्प्रेक्षा, सा च 'इव' पदानुपादानाद्गम्या । उत्प्रेक्षाया वाचकसमाप्त्या उपमामूलकोत्प्रेक्षा इति बोध्यम् । रथोद्धता वृत्तम् ।५६।

विभीषण—यह ऐसा ही है । सम्प्रति— ,

(अर्द्धनारीश्वर) शिव के आधे शरीर में संश्लिष्ट पार्वती के कुङ्कुमलिप्त स्तन के अग्रभाग के समान आकृति वाला चन्द्रमा कमललताओं के द्वारा उन्नत कमल कोरक रूप हाथ की लीला (अर्थात् चेष्टा अथवा इशारे) से सूचित किया जा रहा है । (अर्थात् इस उन्नत कुछ रक्तवर्ण कमलकुड्मल के समान ही शिव के आधे शरीर में संश्लिष्ट पार्वती का जो एक उन्नत एवं कुङ्कुमलिप्त होने के कारण कुछ लाल कुचकोरक है, उसी के समान आकार वाला यह चन्द्रमा उदित हो रहा है, यह अभिप्राय अपने कमलकुड्मल के इशारे से कमललतायें व्यक्त कर रही हैं ।) ॥ ५६ ॥

लक्ष्मणः—(सकौतुकम्) एवमेतत् ! अहो !

ध्वान्तौघे शितिकण्ठकण्ठमहसि प्राप्ते प्रतीचीमुखं
प्राचीमञ्चति किञ्च दुग्धलहरीमुग्धे विधोर्धामनि ।
एतत्कोकचकोरशोकरभसम्लानप्रसन्नोल्लसद्-
दृक्पातोर्मिकदम्बचुम्बितमिव त्रैलोक्यमाभासते ॥ ५७ ॥

अन्वयः—शितिकण्ठकण्ठमहसि ध्वान्तौघे प्रतीचीमुखं प्राप्ते, किञ्च दुग्धलहरीमुग्धे विधोः धामनि प्राचीम् अञ्चति, एतत् त्रैलोक्यम् कोकचकोरशोकरभसम्लानप्रसन्नोल्लसद्दृक्पातोर्मिकदम्बचुम्बितमिव आभासते ।

व्याख्या—शितिकण्ठकण्ठमहसि—शितिकण्ठः = शिवः, तस्य कण्ठः = गलः तस्य महः = कान्तिरिव महो यस्य स तस्मिन्, ध्वान्तौघे = अन्धकारसमूहे, प्रतीचीमुखम् = पश्चिमदिङ्मुखम्, प्राप्ते = आगते, किञ्च = तथा, दुग्धलहरीमुग्धे = दुग्धतरङ्गसुन्दरे, विधोः = चन्द्रमसः, धामनि = ज्योतौ, प्राचीम् = पूर्वदिशाम्, अञ्चति = गच्छति सति, प्राच्यां चन्द्रोदये सतीति भावः । (उभयत्र 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सप्तमी) एतत् त्रैलोक्यम् = त्रिलोकी, कोकचकोरेत्यादिः—कोकाः = चक्रवाकाः, चकोराः = चन्द्रकिरणपायिनः पक्षिविशेषाः, तेषां क्रमेण शोकरभसाभ्याम् = विषादहर्षाभ्याम्, म्लानप्रसन्नौ = दीनहृष्टौ यौ उल्लसन्तौ = शोभमानौ दृक्पातौ = नयनविक्षेपौ, तयोः ऊर्मिकदम्बेन = तरङ्गसमूहेन, चुम्बितमिव = युक्तमिव, आभासते = प्रतिभाति । पश्चिमदिशि तमसि, पूर्वस्यां च चन्द्रोदये जाते यथाक्रमं चक्रवाकस्य दुःखेन, चकोरस्य हर्षेण च लोकत्रयं संस्पृष्टमिव प्रतिभातीति भावः । उपमायथासंख्योत्प्रेक्षाणामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ॥ ५७ ॥

लक्ष्मण—(उत्कण्ठा के साथ) यह ऐसा ही है । अहो !—

शिव के कण्ठ के समान कान्ति वाले अन्धकारसमूह के, पश्चिम दिशा में आने पर और दूध की लहर के समान सुन्दर चन्द्रमा की द्युति के पूर्व दिशा को सुशोभित करने पर यह त्रिलोकी चक्रवाकों एवं चकोरों के (क्रमशः) शोक और हर्ष से (क्रमशः) दीन एवं प्रसन्न दृष्टिपातों के तरङ्ग समूह से युक्त-सी प्रतीत हो रही है ॥ ५७ ॥

राम —वत्स ! एवमेतत् । इदानीं हि—

शीतांशुस्फटिकालवालवलयद्रागुल्लसत्कौमुदी
वल्लीनूतनपल्लवाञ्चितमिव प्राप्य क्षणं ताम्रताम्।
चञ्चन्मत्तचकोरचञ्चुघटनाच्छिन्नाग्रकाण्डस्रुत-
क्षीरस्यन्दनिरन्तरप्लुतमिव श्वेतं वियद्भासते ॥ ५८ ॥

अन्वय —शीतांशुस्फटिकालवालवलयद्रागुल्लसत्कौमुदीवल्लीनूतनपल्लवाञ्चितम् इव क्षणम् ताम्रताम् प्राप्य चञ्चन्मत्तचकोरचञ्चुघटनाच्छिन्नाग्रकाण्डस्रुतक्षीरस्यन्दनिरन्तराप्लुतमिव श्वेतम् वियत् भासते ।

व्याख्या—शीतांशुस्फटिकेत्यादि शीतांशु –चन्द्र एव स्फटिकालवालवलय – स्फटिकमणिरचितालवालमण्डलम् तस्मिन् द्राक् – शीघ्रमेव उल्लसन्ती = समुत्पद्यमाना, कौमुदी = चन्द्रिकैव वल्ली = लता तस्याः नूतनः – अचिरोद्गतः पल्लवैः = पत्रैः अञ्चितम् = शोभितम् इव क्षणम् = स्वल्पकालम् ताम्रताम् रक्तवर्णताम् प्राप्य – आसाद्य, चञ्चन्मत्तेत्यादि –चञ्चन्तः – सञ्चरन्तः ये मत्ताः – मन्युक्ताः चकोराः चन्द्रिकापायिनः पक्षिणः, तेषां चञ्चुघटनया – त्रोटिसंयोगेन छिन्नाः – खण्डिताः अग्रकाण्डाः – लताग्रभागाः तेभ्यः स्रुताः – गलिताः ये क्षीरस्यन्दाः दुग्धप्रवाहाः तैः निरन्तरम् – निरवकाशं यथा स्यात्तथा पूर्णमिति भावः आप्लुतमिव – व्याप्तमिव, श्वेतम् धवलम् वियत् – आकाशम् भासते = द्योतते । सायङ्काले क्षणमाकाशं ताम्रवर्णं पश्चाच्च चन्द्रिकया श्वैत्यं गतमिति भावः । अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोर्मिथोऽनपेक्षया संस्थितेः संसृष्टिः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५८ ॥

राम—वत्स ! यह ठीक है । सम्प्रति—

चन्द्ररूप स्फटिकमणि से रचित थाले के घर में शीघ्र उत्पन्न हुई चन्द्रिका रूप लता के नूतन किसलयों से युक्त सा क्षण भर लाली को प्राप्त कर, इधर उधर चलने वाले मत्त चकोरों की चोंच के बन्द होने से कटे हुए अग्रभाग (फुनगी) से बहे हुए दुग्ध-प्रवाहों से पूरी तरह व्याप्त सा (अतएव) श्वेत आकाश प्रकाशित हो रहा है ॥ ५८ ॥

(पुनर्विलोक्य) (सकौतुकम्) वत्स लक्ष्मण !

पश्योदेति वियोगिनां दिनमणिः शृङ्गारदीक्षामणिः
प्रौढानङ्गभुजङ्गमस्तकमणिश्चण्डीशचूडामणिः ।
तारामौक्तिकहारनायकमणिः कन्दर्पसीमन्तिनी-
काञ्चीमध्यमणिश्चकोरपरिषच्चिन्तामणिश्चन्द्रमाः॥५६॥

लक्ष्मणः— एवमेतत् । अयमसौ—

अन्वयः— पश्य, वियोगिनां दिनमणिः शृङ्गारदीक्षामणिः, प्रौढानङ्गभुजङ्गमस्तकमणिः चण्डीशचूडामणिः तारामौक्तिकहारनायकमणिः कन्दर्पसीमन्तिनीकाञ्चीमध्यमणिः चकोरपरिषच्चिन्तामणिः चन्द्रमा उदेति ।

व्याख्या— पश्य = अवलोकय वियोगिनाम् = विरहिणाम्, दिनमणिः = सूर्यः, सूर्यवत्तापकर इति भावः, शृङ्गारदीक्षामणिः = शृङ्गारस्य = शृङ्गाररसस्य दीक्षामणिः = दीक्षारत्नम्, उद्दीपक इत्यर्थः, प्रौढानङ्गभुजङ्गमस्तकमणिः— प्रौढः = वृद्धिगतो योऽनङ्गः = काम एव भुजङ्गः = सर्पः, तस्य मस्तकमणिः = फणारत्नम्, चण्डीशचूडामणिः—चण्डीशस्य = शिवस्य चूडामणिः = शिरोरत्नम्, तारामौक्तिकहारनायकमणिः—ताराः = नक्षत्राणि एव मौक्तिकानि=मुक्ताफलानि तेषां हारः = माल्यम्, तस्य नायकमणिः=मेरुस्थानीयं रत्नम्, कन्दर्पसीमन्तिनी काञ्चीमध्यमणिः—कन्दर्पस्य = कामदेवस्य, सीमन्तिनी = पत्नी, रतिरित्यर्थः, तस्याः काञ्ची = मेखला, तस्या मध्यमणिः, चकोराणाम् परिषद् = मण्डलम्, समुदाय इत्यर्थः, तस्याश्चिन्तामणिः = चिन्तारत्नम्, अभीष्टपूरकत्वात्तत्तुल्य इति भावः, चन्द्रमाः, उदेति = उद्गच्छति । रूपकमलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५६ ॥

(फिर देख कर, उत्कण्ठा के साथ) वत्स लक्ष्मण !

देखो, विरहियों का दिनमणि (सूर्य, अर्थात् सूर्य के समान सन्तापकारी), शृङ्गार (रस) का दीक्षामणि (अर्थात् उद्दीपक), प्रौढ काम रूप भुजङ्ग का मस्तकमणि, चण्डीपति (शिव) का चूडामणि, ताराओं रूपी मोतियों की माला का मेरुस्थानीयमणि, कामवधू (रति) की करधनी का मध्यमणि, चकोर-समुदाय का चिन्तामणि अभीष्टपूरक मणि) चन्द्रमा निकल रहा है ॥ ५९ ॥

लक्ष्मण—यह ऐसा ही है। यह—

स्वैरं कैरवकोरकान् विदलयन्यूनां मनः खेदयन्
अम्भोजानि निमीलयन् मृगदृशां मानं समुन्मीलयन् ।
ज्योत्स्नां कन्दलयन् दिशो धवलयन्नुद्वेलयन् वारिधीन्
कोकानाकुलयंस्तमः कवलयन्निन्दुः समुज्जृम्भते ॥ ६० ॥

अन्वय —कैरवकोरकान् स्वैरम् विदलयन् यूनाम् मनः खेदयन् अम्भोजानि निमीलयन् मृगदृशाम् मानम् समुन्मीलयन् ज्योत्स्नाम् कन्दलयन् दिशः धवलयन् वारिधीन् उद्वेलयन् कोकान् आकुलयन् तमः कवलयन् इन्दुः समुज्जृम्भते ।

व्याख्या—कैरवकोरकान् = कुमुदकलिकाः स्वैरम् = यथेच्छम् विदलयन् = विकासयन् यूनाम् —युवतयश्च युवानश्चेति युवानस्तेषाम् (पुमान् स्त्रिया इत्येकशेषः) मनः = चित्तम् खेदयन् = पीडयन् कामोद्दीपनादिति भावः, अम्भोजानि = कमलानि निमीलयन् = सङ्कोचयन् मृगदृशाम् = मृगनयनानां रमणीनाम् मानम् = प्रियकृतापराधजन्यं कोपम् समुन्मीलयन् = विकासयन्, वदयमितरयथ चन्द्रोदये कामपीडिता युवानश्चरणपातादिभिरनुनयं करिष्यन्तीति तासां मानं समुन्मीलयन्। एवं च ज्योत्स्नाम् = चन्द्रिकाम् कन्दलयन् = अङ्कुरयन् उद्गमयन्नित्यर्थः दिशः, धवलयन् उज्ज्वलयन् वारिधीन्-सागरान् उद्वेलयन् = उत्फालयन् वेलाम् तीरभूमिमुत्क्रान्ता इत्युद्वेलाः ('अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः) उद्वेलान् कुर्वन्नित्युद्वेलयन्, ('तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच् णिजन्ताल्लटः शत्रादेशः) कोकान् = कोकाः = चक्रवाकाः = चक्राकारपक्षात् काकास्तान् चक्रवाकी चक्रवाकाश्चेत्यर्थः, रात्रौ ते परस्परं वियुज्य भृशं दुःखमनुभवन्तीति लोकप्रसिद्धिः । तमः = अन्धकारम्, कवलयन् = ग्रसमानः विनाशयन्नित्यर्थः इन्दुः = चन्द्रः समुज्जृम्भते प्रकाशते। अत्रैकस्य चन्द्रस्यानेकक्रियाभिसम्बन्धाद् दीपकमलङ्कारः तच्च कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेदिति दर्पणकारोक्तेः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६० ॥

कुमुद कलियों को यथेच्छ विकसित करता, युवकों के चित्त को (कामोद्दीपन से) पीडित करता, कमलों को सङ्कुचित करता, सुन्दरियों के मान को बढ़ाता, चाँदनी को फैलाता, दिशाओं को उज्ज्वल करता, समुद्रों को उद्वेलित करता, चक्रवाकों को आकुल करता तथा अन्धकार को विनष्ट करता हुआ चन्द्रमा (आकाश में) बढ़ रहा है ॥ ६० ॥

विभीषणः—सखे सुग्रीव ! पश्य ।

मयूखनखरत्रुटत्तिमिरकुम्भिकुम्भस्थलो-
च्छलत्तरलतारकाकपटकीर्णमुक्तागणः ।
पुरन्दरहरिद्दरीकुहरगर्भसुप्तोत्थित-
स्तुषारकरकेसरी गगनकाननं गाहते ॥ ६१ ॥

सुग्रीवः—सखे विभीषण ! पश्य ।

अन्वयः—मयूखनखरत्रुटत्तिमिरकुम्भिकुम्भस्थलोच्छलत्तरलतारकाकपटकीर्ण-मुक्तागणः पुरन्दरहरिद्दरीकुहरगर्भसुप्तोत्थितः तुषारकरकेसरी गगनकाननम् गाहते ।

व्याख्या—मयूखेत्यादिः—मयूखाः = किरणा एव नखराः = नखाः, तैः त्रुटत् = स्फुटत्, तिमिरस्य = अन्धकारस्यैव कुम्भिनः=हस्तिनो यत् कुम्भस्थलम्= गण्डप्रदेशः, तस्मात् उच्छलन् = सवेगं निःसरन्, तरलानाम् = चञ्चलानाम्, तारकाणाम् = नक्षत्राणाम्, कपटेन = छलेन यः कीर्णः = प्रसारितः, मुक्तागणः = मौक्तिकसमुदायो येन स तादृशः, पुरन्दरहरिद्दरीकुहरगर्भसुप्तोत्थितः—पुरन्दरस्य= इन्द्रस्य या हरित् = दिक् ("दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः" इत्यमरः) प्राचीत्यर्थः, सैव दरी = कन्दरा, तस्याः कुहरगर्भे=समीपाभ्यन्तरभागे पूर्वं सुप्तः पश्चादुत्थितः, तादृशः तुषारकरकेसरी = तुषारकरः = शीतांशुः, चन्द्र इत्यर्थः, स एव केसरी = सिंहः, गगनकाननम् = गगनमेव=आकाशमेव काननम्= वनम्, गाहते = प्रविशति । अत्र साङ्गरूपकमलङ्कारः । तथा च मुक्तारूपाप्रकृतस्यारोपेण तारकारूपप्रकृतस्यापह्नवात्, कपटपदार्थसामर्थ्येनैव प्रकृतप्रतिषेधस्यापि विवक्षितत्वाच्च कैतवापह्नुतिरलङ्कारः । अनयोरङ्गाङ्गिभावेन संवलनात् सङ्करः । पृथ्वी वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' । इति ।६१।

विभीषण—सखे सुग्रीव ! देखो,—

किरणनखों से तिमिरगज के विदीर्ण होते कुम्भस्थल से निकलने वाले चञ्चल, तारों के बहाने, मुक्तागणों को बिखेरने वाला, प्राचीगुहा के कुहर में सोकर उठा हुआ शीतांशुसिंह गगनवन में प्रवेश कर रहा है ॥ ६१ ॥

सुग्रीव—सखे विभीषण, देखो—

य श्रीखण्डतमालपत्रति दिश प्राच्या, स्मरक्ष्मापते
पाण्डुच्छत्रति, दन्तपत्रति वियल्लक्ष्मीकुरङ्गीदृश.।
केलिश्वेतसहस्रपत्रति रते, किञ्च क्षपायोषित
क्रीडाराजतसौधपात्रति शशी सोऽयं जगन्नेत्रति ॥ ६२ ॥

अन्वय—य प्राच्या दिश तमालपत्रति, स्मरक्ष्मापते पाण्डुच्छत्रति, वियल्लक्ष्मीकुरङ्गीदृश दन्तपत्रति, रते केलिश्वेतसहस्रपत्रति, किञ्च क्षपायोषित क्रीडाराजतसौधपात्रति, स अयम् शशी जगन्नेत्रति ।

व्याख्या—य = शशी, प्राच्या दिश = पूर्वस्या आशाया, स्त्रीलिङ्गतया नायिकारूपाया इति भाव, श्रीखण्डतमालपत्रति—श्रीखण्डस्य = चन्दनस्य तमालपत्रति = तिलकवदाचरति ("तमालपत्रतिलकचित्रकाणि" इत्यमर) लोकाह्लादकत्वादिति भाव । स्मरक्ष्मापते—स्मर = कामदेव एव क्ष्मापति = भूपति, तस्य पाण्डुच्छत्रति = श्वेतच्छत्रमिवाचरति, कामोद्दीपकत्वादिति भाव । वियल्लक्ष्मीकुरङ्गीदृश —वियत = आकाशस्य, लक्ष्मी = शोभा, सैव कुरङ्गीदृक् = मृगीनयना सुन्दरी, तस्या. दन्तपत्रति—दन्तपत्रम् = कर्णभूषणम्, तद्वदाचरति, आकाशस्य प्रकाशकत्वादिति भाव । रते = कामदेवपत्न्या, केलिश्वेतसहस्रपत्रति—केलि = क्रीडा, तस्यै श्वेतसहस्रपत्रति = श्वेतसहस्रपत्रम् = श्वेतकमलम् तद्वदाचरति, कामकेलिप्रोत्साहकत्वादिति भाव । किञ्च = तथा, क्षपायोषित—क्षपा = रात्रिरेव योषित् = रमणी, तस्या, क्रीडाराजतसौधपात्रति—क्रीडायाम = केली, यद्राजतम् = रजतनिर्मित सौधपात्रम् = मदिरापानपात्रम्, तद्वदाचरति, क्रीडाविषयकोत्साहवर्द्धकत्वादिति भाव । स = तादृश, अयम् = प्राच्यामुदित, शशी = चन्द्र, जगन्नेत्रति—जगत = लोकस्य, नेत्रम् = नयनम्, तद्वदाचरति, प्रकाशकत्वादिति भाव । अत्रोपमारूपकयो सङ्कर । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ६२ ॥

जो प्राची के लिए चन्दनतिलक के समान, काममूपाल के लिए श्वेतच्छत्र के समान, आकाशलक्ष्मी के लिए नागदन्तनिर्मित कर्णाभरण के समान, रति (कामवधू) के लिए श्वेत क्रीडाकमल के समान तथा रजनिरमणी के लिए क्रीडा में रजतनिर्मित सुरापात्र के समान आचरण करता है, वहा यह चन्द्रमा ससार के लिए नेत्र के समान आचरण कर रहा है (अर्थात् अपने प्रकाश से देखने में लोगों की सहायता कर रहा है) ॥ ६२ ॥

रामः—(निर्वर्ण्य)

सितकिरणकपोलामालिमालोकयन्ती
तिमिरविरहतापव्याकुलां व्योमलक्ष्मीम् ।
रजनिरमलताराशीकरैः सिक्तमस्याः
परिमलयति गात्रं चन्द्रिकाचन्दनेन ॥ ६३ ॥

अन्वयः—तिमिरविरहतापव्याकुलाम् सितकिरणकपोलाम् व्योमलक्ष्मीम् आलिम् आलोकयन्ती रजनिः अमलताराशीकरैः सिक्तम् अस्याः गात्रम् चन्द्रिकाचन्दनेन परिमलयति ।

व्याख्या—तिमिरविरहतापव्याकुलाम्—तिमिरविरहः = अन्धकारवियोगः, तेन यः तापः = सन्तापः, तेन व्याकुलाम्=दीनाम्, अन्धकारेऽपसृते स्फुटनक्षत्रादिकृतशोभारहितामिति भावः । सितकिरणकपोलाम्—सितकिरणः = शुभ्रांशुः, चन्द्र इत्यर्थः, स एव कपोलः = गण्डः यस्यास्ताम्, अत्र बह्वच्त्वात् 'न कोडादिबह्वचः' इति ङीपभावः । तस्मात् 'सितकिरणकपोलीम्' इति पाठान्तरं चिन्त्यम् । तादृशीम् व्योमलक्ष्मीम् = आकाशशोभाम्, आलिम् = सखीम्, आलोकयन्ती = पश्यन्ती, रजनिः = रात्रिः, अमलताराशीकरैः—अमलाः = स्वच्छाः, ताराः = तारका एव शीकराः = जलबिन्दवः, तैः, सिक्तम् = आर्द्रीकृतम्, अस्याः = व्योमलक्ष्म्याः सख्याः, गात्रम् = शरीरम्, चन्द्रिकाचन्दनेन—चन्द्रिका = ज्योत्स्ना एव यच्चन्दनम् = मलयजरसः, तेन, परिमलयति=लिप्तं करोति । प्रियविरहव्याकुलां स्वां सखीम् अन्यापि सखी जलसेकेनाश्वास्य चन्दनादिशीतलगन्धद्रव्यलेपनेन स्वस्थां करोति तथैवात्रापि तिमिरप्रियवियोगव्यथितां स्वां सखीं व्योमलक्ष्मीं सखी रजनिरमलताराजलकणैः सिक्तां कृत्वा चन्द्रिकाचन्दनरसलेपनेन स्वस्थां कर्तुं प्रयतत इति भावः । अत्र रूपकमलङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥ ६३ ॥

राम—(भली भाँति देखकर)

तिमिर के विरह सन्ताप से व्याकुल, चन्द्ररूप (श्वेत) कपोल वाली आकाशलक्ष्मी रूप सखी को देख कर रजनी निर्मलतारारूप जल के छींटों से से सींचे गये इस (आकाश लक्ष्मी) के शरीर को चन्द्रिका रूप चन्दन से लिप्त कर रही है ॥ ६३ ॥

(पुनर्विमृश्य, स्वगतम्)

इन्दुरिन्दुरिति किं दुराशया ?
बिन्दुरेष पयसो विलोक्यते ।
नन्विदं विजयते मृगदृशः
श्यामकोमलकपोलमाननम् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—इन्दुः इन्दुः इति दुराशया किम् ? एषः पयसः बिन्दुः विलोक्यते । ननु मृगीदृशः इदम् श्यामकोमलकपोलम् आननम् विजयते ।

व्याख्या—इन्दुः = चन्द्रः, इन्दुः = चन्द्रः, अयमाकाशस्थश्चन्द्रो वस्तुतश्चन्द्र एवेत्यर्थः, इति = इत्थम्, दुराशया = मिथ्याधारणया किम् = किं प्रयोजनम् ? एषः = पुरोदृश्यमानः, पयसः = जलस्य, बिन्दुः = शीकरः विलोक्यते = दृश्यते, अनेन चन्द्रमसो निकृष्टत्वं द्योत्यते । जनैर्यश्चन्द्रत्वेनावगम्यते स जलबिन्दुत्वेनैवावगन्तव्य इति भावः । कस्तर्हि यथार्थश्चन्द्र इत्यनुयोग आह—नन्विति । नन्विति निश्चये । मृगीदृशः = मृगनयनायाः सीतायाः इत्यर्थः, इदम् = एतत्, श्यामकोमलकपोलम्—श्यामः = कृष्णः, अलकसम्पर्केणेति भावः, कोमलः = स्निग्धः, कपोलः = गण्डः, यस्मिंस्तत् तादृशम् आननम् = मुखम्, विजयते = सर्वोत्कर्षेण वर्तते, सीतामुखमेव यथार्थश्चन्द्रः, आकाशस्थस्तु जलबिन्दुरेवेति भावः । अत्र सीताकपोलस्य श्यामत्वाऽसदयेऽलकयोगकल्पनापेक्षया 'कामलामलकपोलम्' इति पाठान्तरं समीचीनं प्रतीयत इति सुधीभिरवगन्तव्यम् । अत्रोपमानत्वेन प्रसिद्धस्येन्दोर्निष्कर्षाभिधानात् प्रतीपमलङ्कारः । रथोद्धता वृत्तम् ॥ ६४ ॥

(फिर विचार कर, मन ही मन)

(यह) चन्द्र (ही, वास्तविक) चन्द्र है—इस मिथ्याधारणा से क्या लाभ, (आकाश में) यह (वस्तुतः) जलबिन्दु दिखायी दे रहा है। सुन्दरी (सीता) का यह (अलक से संयुक्त होने के कारण) श्याम कोमल कपोल वाला मुख सर्वोत्कर्ष के साथ विराजमान है (अर्थात् सीता का मुख ही वास्तविक चन्द्रमा है) ॥ ६४ ॥

(पुनः सीतां प्रत्यपवार्य)

तन्वि ! त्वद्वदनस्य विभ्रमलवं लावण्यवारांनिधे-
रिन्दुः सुन्दरि ! दुग्धसिन्धुलहरीबिन्दुः कथं विन्दतु ?
उत्कल्लोलविलोचने क्षणमयं शीतांशुरालम्बता-
मुन्मीलन्नवनीलनीरजवनीखेलन्मरालश्रियम् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—तन्वि ! सुन्दरि ! दुग्धसिन्धुलहरीबिन्दुः इन्दुः लावण्यवारां निधेः त्वद्वदनस्य विभ्रमलवम् कथम् विन्दतु ? उत्कल्लोलविलोचने अयम् शीतांशुः क्षणम् उन्मीलन्नवनीलनीरजवनीखेलन्मरालश्रियम् आलम्बताम् ।

व्याख्या—तन्वि=कृशोदरि ! सुन्दरि ! दुग्धसिन्धुलहरीबिन्दुः—दुग्धसिन्धोः= क्षीरसागरस्य, या लहरी = तरङ्गः, तस्या बिन्दुः, क्षुद्रभाग इत्यर्थः, इन्दुः=चन्द्रः, लावण्यवारांनिधेः— लावण्यमेव वारि=जलानि, तेषां निधेः, सौन्दर्यसिन्धोरित्यर्थः, त्वद्वदनस्य = तव मुखस्य, विभ्रमलवम् = विलासलेशमपि, कथम्=केन प्रकारेण, विन्दतु = लभताम्, सागरे बिन्दौ च महदन्तरमिति भावः । उत्कल्लोलविलोचने— उत् = ऊर्ध्वं कल्लोलः = कान्तिमहातरङ्गः यस्य तत् यद् विलोचनम् = नेत्रम्, तस्मिन् (तवेति शेषः) त्वन्नेत्रस्य नभोगते कान्तिमहातरङ्गे इति भावः, क्षणम् = कञ्चित्कालं यावत्, अयम् = नभसि दृश्यमानः, शीतांशुः = चन्द्रः, उन्मीलन्नवनीलनीरजवनीखेलन्मरालश्रियम्—उन्मीलताम् = विकसतां नवानाम्= नूतनानाम्, नीलनीरजानाम् = नीलकमलानां या वनी = उपवनम्, तस्यां खेलतः= क्रीडतः, मरालस्य=हंसस्य श्रियम् = शोभाम्, आलम्बताम् = गृह्णातु । त्वदूर्ध्वङ्गतनेत्रकान्तिभिः नूतननीलकमलवनाभे नभसि विहरंश्चन्द्रो राजहंस-

(फिर केवल सीता को सुनाकर)

कृशोदरि ! सुन्दरि ! क्षीरसागर की लहरी का बिन्दुस्वरूप चन्द्र, सौन्दर्य के सिन्धुरूप तुम्हारे मुख के विलास के लेश को (भी) कैसे प्राप्त कर सकता है ? (तुम्हारे) ऊर्ध्वगत कान्तिमहातरङ्गवाले नेत्र के विषय में यह चन्द्रमा क्षणभर के लिए खिलते हुए नूतननीलकमलों के वन में क्रीडा करते हुए राजहंस की शोभा को प्राप्त करे । (अर्थात् तुम्हारी ऊपर की ओर उठी नेत्रकान्ति से नूतननीलकमलवन

सीता—(लज्जां नाटयति) (विलोक्य, हर्षेण) अहो ! कथमयमुन्मीलित एव ? (अहो ! कहमिमो उम्मीलिदो जेव्व ?)

मुकुलीकृतारविन्दो मानवतीमानवारणमृगेन्द्रः ।
त्रिभुवननयनानन्दो रजनीमुखचन्दनश्चन्द्रः ॥ ६६ ॥
[मुउलीकिदारविन्दो माणवईमाणवारणमइन्दो ।
तिहुअणणअणारविन्दो रअणीमुहचन्दणो चन्दो ॥

राम—सखे सुग्रीव ! पश्य पश्य ।

सादृश्यमाप्नोतु, तत् क्षणं विलोक्य चन्द्रमिति भावः । अत्रोपमातिशयोक्त्योः समृष्टिः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—मुकुलीकृतारविन्दः मानवतीमानवारणमृगेन्द्रः, त्रिभुवननयनानन्दः रजनीमुखचन्दनः चन्द्रः (कथम् उन्मीलितः एव)

व्याख्या—मुकुलीकृतारविन्दः—मुकुलीकृतानि=निमीलितानि, अरविन्दानि= कमलानि येन सः, मानवतीमानवारणमृगेन्द्रः, मानवत्या = प्रणयकोपान्वितायाः यः मानः = प्रणयकोपः एव वारणः = हस्ती तस्य मृगेन्द्रः = सिंहः, यथा सिंहं दृष्ट्वा गजः पलायते तथैव चन्द्रं दृष्ट्वा कामातुरतया मानिनीनां मानः प्रणश्यतीति भावः। त्रिभुवननयनानन्दः—त्रिभुवनस्य = त्रैलोक्यस्य, त्रैलोक्यस्य जनानामिति भावः, यानि नयनानि = नेत्राणि, तेषाम् आनन्दः = आनन्ददायकः इत्यर्थः, रजनीमुखचन्दनः—रजन्या = निशायाः, निशानायिकाया इत्यर्थः, मुखे = वदने, चन्दनः = चन्दनतिलकः इत्यर्थः, चन्द्रः (कथम् = किम्, उन्मीलितः = उदितः एव ?) आर्या जातिः ॥ ६६ ॥

के समान बने हुए आकाश में विहार करता हुआ चन्द्रमा राजहंस के समान प्रतीत हो, अतः क्षण भर के लिए मुख ऊपर उठा कर चन्द्रमा को देखो) ॥ ६५ ॥

(सीता लज्जा का अभिनय करती है। देख कर, हर्ष के साथ) अहो ! यह—

कमलों को मुकुलित करने वाला, मानिनी के मानरूप गज के लिए सिंह रूप, तीनों लोकों (के लोगों) के नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाला, निशा (नायिका) के मुख का चन्दन (तिलक) स्वरूप चन्द्र (क्या उदीत ही हो गया ?) ॥६६॥

राम—सखे सुग्रीव, देखो देखो—

इन्दोरस्य त्रियामायुवतिकुचतटीचन्दनस्थासकस्य,
व्योमश्रीचामरस्य त्रिपुरहरजटावल्लरीकोरकस्य ।
कंदर्पक्षोणिपालस्फटिकमणिगृहस्यैतदाखण्डलाशा-
नासामुक्ताफलस्य स्थगयति जगतीं कोऽपि भासां विलासः ॥६७॥

सुग्रीवः अये रघुनाथ! पुनरुक्तमिदमाचष्टे चन्द्रमसः किरणविलासः।

अन्वयः—त्रियामायुवतिकुचतटीचन्दनस्थासकस्य व्योमश्रीचामरस्य त्रिपुरहरजटावल्लरीकोरकस्य कन्दर्पक्षोणिपालस्फटिकमणिगृहस्य एतदाखण्डलाशानासामुक्ताफलस्य अस्य इन्दोः कोऽपि भासां विलासः जगतीं स्थगयति ।

व्याख्या—त्रियामायुवतिकुचतटीचन्दनस्थासकस्य—त्रियामा = रात्रिः, सैव युवतिः = तरुणी, तस्याः या कुचतटी = स्तनप्रान्तः, तस्याः चन्दनस्थासकस्य = मलयजलेपस्य, तद्रूपस्येत्यर्थः, व्योमश्रीचामरस्य—व्योमश्रीः = आकाशलक्ष्मीः (नायिका) तस्याः चामरस्य = बालव्यजनरूपस्येत्यर्थः, त्रिपुरहरजटावल्लरीकोरकस्य — त्रिपुरहरः = शिवः, तस्य जटा = केशभारः, सैव वल्लरी = लता, तस्याः कोरकस्य = तत्र वर्तमानतया कुड्मलरूपस्येत्यर्थः, कन्दर्पक्षोणिपालस्फटिकमणिगृहस्य —कन्दर्पः = कामदेवः, स एव क्षोणिपालः = राजा, तस्य स्फटिकमणिगृहस्य = स्फटिकमणिनिर्मितगृहरूपस्य, एतदाखण्डलाशानासामुक्ताफलस्य— एषा = पुरोदृश्या या आखण्डलस्य=इन्द्रस्य आशा=दिक्, प्राचीरूपा नायिकेत्यर्थः; तस्याः या नासा = नासिका, तस्याः मुक्ताफलस्य = मौक्तिकाभरणरूपस्य, अस्य इन्दोः = चन्द्रस्य, कोऽपि = अनिर्वचनीयः, भासाम् = प्रभाणाम्, विलासः = विलसितम्, जगतीम् = समस्तं भूमण्डलम्, स्थगयति = आच्छादयति, व्याप्नोतीत्यर्थः । चन्द्रस्य प्रकाशः सर्वतोऽभिव्याप्य प्रसरतीति भावः । अत्र मालारूपकमलङ्कारः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ६७ ॥

रजनी युवती के कुचप्रान्त का चन्दनलेपरूप, आकाशलक्ष्मी (नायिका) का चामर स्वरूप, शङ्कर की जटा-लता का कलीरूप, कामदेवभूपाल का स्फटिक-निर्मितगृहस्वरूप, इस प्राची (नायिका) की नासिका का मोतीरूप, इस चन्द्रमा का अनिर्वचनीय प्रभाविलास समस्त भूमण्डल को व्याप्त कर रहा है । ६७ ॥

सुग्रीव—हे रघुनाथ ! चन्द्रमा की किरणों का (यह) विलास पुनरुक्त कहने के तुल्य (व्यर्थ) है ।

राम—कथमिव ?

सुग्रीव—नन्वत एव ।

कर्पूरादपि कैरवादपि दलत्कुन्दादपि स्वर्णदी-
कल्लोलादपि केतकादपि चलत्कान्तादृगन्तादपि ।
दूरोन्मुक्तकलङ्कशंकरशिरः शीतांशुखण्डादपि
श्वेताभिस्तव कीर्तिभिर्धवलिता सप्तार्णवा मेदिनी ॥ ६८ ॥

अन्वय—कर्पूरादपि कैरवादपि दलत्कुन्दादपि स्वर्णदीकल्लोलादपि केतकादपि चलत्कान्ता दृगन्तादपि दूरोन्मुक्तकलङ्कशंकरशिरः शीतांशुखण्डादपि श्वेताभिः तव कीर्तिभिः सप्तार्णवा मेदिनी धवलिता ।

व्याख्या—कर्पूरादपि = घनसारादपि ("कर्पूरमस्त्रियाम् । घनसारश्चन्द्रसंज्ञ" इत्यमरः) कैरवादपि = कुमुदादपि, दलत्कुन्दादपि—दलत् = विकसत् कुन्दादपि = माघ्यपुष्पादपि, स्वर्णदीकल्लोलादपि—स्वर्णदी = आकाशगङ्गा, तस्याः कल्लोलादपि = महातरङ्गादपि, केतकादपि = केतकीप्रसूनादपि । चलत्कान्तादृगन्तादपि—चलत् = चञ्चलात्, कान्तायाः = रमण्याः, दृगन्तादपि= कटाक्षादपि, दूरोन्मुक्तकलङ्कशङ्करशिरः शीतांशुखण्डादपि—दूरम् = अत्यन्तं साकल्येनेति भावः, उन्मुक्तः = त्यक्तः, कलङ्कः = लाञ्छनं येन सः तादृशो यः शङ्करस्य = शिवस्य शिरसि = मस्तके शीतांशुः = चन्द्रः, तस्य खण्डः = कला, तस्मादपि, श्वेताभिः = उज्ज्वलाभिः, तव = श्रीरामचन्द्रस्य, कीर्तिभिः = यशोभिः (पूर्वमेव) सप्तार्णवा = सप्त अर्णवाः = सागराः यस्याः सा तादृशी, समस्तेति भावः, मेदिनी = पृथिवी, धवलिता = शुक्लीकृता । त्वद्यशोभिरेव धवलिता पृथिवी चन्द्रो यत् स्वकिरणैर्धवलीक्रियते तत् पुनरुक्तिवद् व्यर्थप्रायमिति भावः ।

राम—(वह) कैसे ?

सुग्रीव—इसीलिए कि—

कर्पूर से भी, कुमुद से भी, खिलते हुए कुन्दपुष्प से भी, आकाशगङ्गा की महातरङ्ग से भी, केतकी के पुष्प से भी कामिनी के चञ्चलकटाक्ष से भी, पूरे कलङ्क को त्यागने वाली (अर्थात् निष्कलङ्क) शिव के शिर की चन्द्रकला से

रामः—अलं तुच्छप्रायजल्पितेन ।

विभीषणः—देव ! तुच्छप्रायमेव जल्पितं सुग्रीवेण यदुक्तं मेदिनी धवलितेति । ननु त्रिलोकीतलमेव धवलितमिति वक्तव्यम् । सम्प्रति हि

समुन्नतघनस्तनस्तवकचुम्बितुम्बीफल-
क्वणन्मधुरवीणया विबुधलोकवामभ्रुवा ।
त्वदीयमुपगीयते हरकिरीटकोटिस्फुर-
त्तुषारकरकन्दलीकिरणपूरगौरं यशः ॥ ६९ ॥

अत्रोपमेयस्य रामयशसः, कर्पूरादिभ्य उपमानेभ्य आधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६९ ॥

अन्वयः—समुन्नतघनस्तनस्तवकचुम्बितुम्बीफलक्वणन्मधुरवीणया, विबुधलोकवामभ्रुवा हरकिरीटकोटिस्फुरत्तुषारकरकन्दलीकिरणपूरगौरम् त्वदीयम् यशः उपगीयते ।

व्याख्या—समुन्नतेत्यादिः—समुन्नतौ = उत्थिताग्रभागौ, घनौ = निबिडौ, परस्परसंश्लिष्टावित्यर्थः, यौ स्तनौ तावेव स्तवकौ = गुच्छौ, ऊर्द्ध्वमुखविकासशीलत्वादिति भावः, तौ चुम्बति = स्पृशति, इति तच्चुम्बि यत् तुम्बीफलम् = अवस्तलभागः यस्याः सा तादृशी, क्वणन्ती = शब्दायमाना, मधुरा = मधुरस्वरोपेता वीणा = वल्लकी यस्याः सा तया, विबुधलोकवामभ्रुवा—विबुधाः = देवतास्तेषां लोकस्य = स्वर्गस्य, वामभ्रुवा=रमण्या, हरकिरीटेत्यादिः—हरस्य= शिवस्य, किरीटकोटी=मुकुटाग्रभागे स्फुरन् =प्रकाशमानः, यः तुषारकरः=हिमांशुः, चन्द्र इत्यर्थः तस्य कन्दली = अङ्कुरः, कलेत्यर्थः, तस्याः किरणपूरः = मयूखसमूहः, स इव गौरम् = धवलम्, त्वदीयम् = तवेत्यर्थः, यशः=कीर्तिः, उपगीयते=

भी श्वेत आपकी कीर्तियों से, सात समुद्रों वाली (यह) पृथिवी (पहिले ही) शुभ्र की जा चुकी है ॥ ६८ ॥

राम—निरर्थकप्राय बकवास न करो ।

विभीषण—महाराज ! सुग्रीव ने बिल्कुल तुच्छप्राय बात कही, जो कि कहा—पृथिवी धवल कर दी गयी । अरे, तीनों लोक धवल कर दिये गये—ऐसा कहना चाहिये था । क्योंकि सम्प्रति ऊपर उठे हुए, परस्पर सटे स्तन-गुच्छ को

राम —अयि ! लङ्केश्वर ! भवानपि किष्किन्धानाथमतमेवानुगतः
(पुनर्विलोक्य, सहर्षं सुग्रीवं प्रति)

संरम्भोद्रिक्तनक्तं समयदशमुखोच्चण्डदोर्दण्डहेला-
कैलासः सप्तलोकीजयमुदितमनोजन्मवादित्रशङ्खः ।
लोलाक्षीगण्डपालीलवणिमजलधेरुद्गतः फेनपिण्डः
पश्य व्योमावकाशं विशति विरहिणां दत्तशङ्कः शशाङ्कः ॥७०॥

गानेन वर्ण्यते । देवाङ्गनाः स्वोन्नतस्तनमण्डले वीणाप्रवालं निवेश्य चन्द्रकिरणगौरं त्वद्यशो गायन्तीति त्वद्यशोभिस्त्रिलोकीतलमेव धवलितम्, तेन मेदिन्येव धवलितेति सुग्रीववचनं तुच्छप्रायमेवेति भावः । उपमाऽलङ्कारः । पृथ्वी वृत्तम् ॥ ६९ ॥

अन्वयः—संरम्भोद्रिक्तनक्तं समयदशमुखोच्चण्डदोर्दण्डहेलाकैलासः सप्तलोकीजयमुदितमनोजन्मवादित्रशङ्खः लोलाक्षीगण्डपालीलवणिमजलधेः उद्गतः फेनपिण्डः विरहिणाम् दत्तशङ्कः शशाङ्कः व्योमावकाशम् विशति—(इति) पश्य ।

व्याख्या—संरम्भोद्रिक्तेत्यादि—संरम्भे = आरम्भे, उद्रिक्तः = प्रकटितः, यो नक्तं समयः = रात्रिकालः स एव दशमुखः = रावणः, तस्य उच्चण्डाः = अत्युग्राः ये दोर्दण्डाः = बाहुदण्डाः, तेषां हेलायाः = क्रीडायाः कैलासः = कैलासपर्वतः, तद्रूप इति भावः । सप्तलोकीजयमुदितमनोजन्मवादित्रशङ्खः सप्तलोक्याः—सुरादिसप्तभुवनानाम् जयेन मुदितः = प्रसन्नः यो मनोजन्मा = कामदेवः, तस्य वादित्रशङ्खः = विजयोद्घोषकः वाद्यशङ्खः, लोलाक्षीगण्डपालीलवणिमजलधेः—लोलाक्षीणाम् = चञ्चलदृशां सुन्दरीणामित्यर्थः, या गण्डपाली = कपोलप्रदेशः, तस्याः यो लवणिमा = लावण्यम्, सौन्दर्यमित्यर्थः, तस्य जलधेः = समुद्रात्,

स्पर्श करने वाले तुम्बीफल से युक्त झङ्कार करती हुई मधुरवीणा वाली देवलोक की सुन्दरी, शङ्कर के मुकुट के अग्रभाग पर प्रकाशमान चन्द्रकला के किरणसमूह के समान उज्ज्वल आप के यश को गाती है ॥ ६९ ॥

राम—अयि लङ्केश (विभीषण) ! आप ने भी किष्किन्धापति (सुग्रीव) के ही मत का अनुगमन किया है। (पुनः देखकर हर्ष के साथ सुग्रीव के प्रति)

आरम्भ में प्रकट रात्रिकाल रूप दशानन के अत्यन्त उग्र बाहुदण्डों की लीला का कैलास, सातों लोकों की विजय से मुदित कामदेव का (विजयोद्घोषक)

(निर्वर्ण्य । स्वगतम्)

अयं नेत्रादत्रेरजनि रजनीवल्लभ इति
 भ्रमः कोऽयं प्रज्ञापरिचयपराधीनमनसाम् ?
सुधानामाधारः स खलु रतिबिम्बाधरसुधा-
 रसासेकस्निग्धादजनि नयनात्पुष्पधनुषः ॥ ७१ ॥

उद्गतः = उत्पन्नः, फेनपिण्डः, एवं च विरहिणाम् = वियोगिनाम्, दत्तशङ्कः— दत्ता = समर्पिता, शङ्का = जीवनसंशयः येन सः, तादृशः शशाङ्कः = चन्द्रः, व्योमावकाशम् = आकाशप्रदेशम्, विशति = प्रविशति । इति पश्य = अवलोकय। अत्र रूपकमलङ्कारः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ७० ॥

अन्वयः—अयम् रजनीवल्लभः अत्रेः नेत्रात् अजनि, प्रज्ञापरिचयपराधीन-मनसाम् अयम् कः भ्रमः ? सुधानाम् आधारः सः रतिबिम्बाधरसुधारसासेकस्निग्धात् पुष्पधनुषः नयनात् अजनि, खलु ।

व्याख्या—अयम् = एषः, आकाशे दृश्यमान इत्यर्थः, रजनीवल्लभः = निशाकान्तः, चन्द्र इत्यर्थः, अत्रेः—अत्रिनामधेयस्य महर्षेः, नेत्रात् = नयनात्, अजनि = जातः, इति प्रज्ञापरिचयपराधीनमनसाम्—प्रज्ञा = बुद्धिः, तस्याः यः परिचयः तेन पराधीनम् = परतन्त्रम्, मनः = चित्तं येषां ते, तेषाम्, प्रज्ञापरि॰ चयेनाभिनवतथ्यान्वेषणतत्पराणां ज्ञानिनामिति भावः । अयम् = एषः, कः = कीदृशः, भ्रमः = भ्रान्तिः ? अयं चन्द्रोऽत्रेर्नयनसमुत्थं ज्योतिरिति भ्रान्तिरेव प्रज्ञावतामिति भावः । तर्हि तथ्यं किमितिजिज्ञासायामाह—**सुधानामिति** । सुधानाम् = अमृतानामाधारः = आश्रयः, सः = चन्द्रः, रतिबिम्बाधरसुधारसा-सेकस्निग्धात्—रतेः = कामपत्न्याः, यो बिम्बाधरः—बिम्बम् = बिम्बफलम्,

वाले शंख, चञ्चलनयना सुन्दरियों के कपोलसौन्दर्यसिन्धु से उत्पन्न फेनपिण्ड, विरहियों को शङ्कित करने वाला, चन्द्रमा आकाश देश में प्रवेश कर रहा है—देखो ॥ ७० ॥

(भलीभाँति देखकर, मन ही मन)

'यह चन्द्रमा अत्रि के नेत्र से उत्पन्न हुआ है'—यह, प्रज्ञा के परिचय में पराधीन मन वालों का कैसा भ्रम है ? निश्चय ही अमृत का आधार वह (चन्द्र)

लक्ष्मण—आर्ये जानकि ! पश्य पश्य ।

आनन्दं कुमुदादीनामिन्दुः कन्दलयन्नयम् ।
लङ्घयत्यम्बराभोगं हनूमानिव सागरम् ॥ ७२ ॥

सीता—अये सुलक्षण लक्ष्मण ! स पुनरिदानीं क्व रघुकुलकुटुम्ब-सन्तापशमनचन्दनं पवननन्दनः । (अये सुलक्खण लक्खण ! सो उण दाणीं कहिं रहुउलकुडुम्बसन्तावसमणचन्दणो पवणणन्दणो ?)

तदिव अधर = ओष्ठ, तस्य य सुधारस = अमृतद्रव, तेन य प्रासेक = आसिञ्चनम् तेन स्निग्धात = आर्द्रीकृतात्, पुष्पधनुष = कामदेवस्य, नयनात् = नेत्रात्, भ॰नि = जात खल्विति निश्चये । रतिबिम्बाधरचुम्बितत्वेन तत्सुधा-रसाप्लावितकामदेवनयनादेव चन्द्रोत्पत्तिरीदृशकामोद्दीपकत्वादिति भावः । अत्र अप-ह्नुतिरलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः । शिख-रिणी वृत्तम् ॥ ७१ ॥

अन्वय—अयम् इन्दुः, कुमुदादीनाम् आनन्दम् कन्दलयन् हनूमान् सागर-मिव अम्बराभोगम् लङ्घयति ।

व्याख्या—अयम् = नभसि दृश्यमानः, इन्दुः = चन्द्रः, कुमुदादीनाम् = कैरवचकोरप्रभृतीनाम्, हनूमत्पक्षे कुमुदादिवानराणाम्, आनन्दम् = हर्षम् कन्द-लयन् = अङ्कुरयन्, उत्पादयन्नित्यर्थः, हनूमान् = पवनपुत्रः, सागरमिव = सिन्धु-मिव, अम्बराभोगम् = अम्बरस्य = आकाशस्य, आभोगम् = विस्तारम्, व्योम-प्रदेशमित्यर्थः, लङ्घयति = अतिक्रामति । अत्रोपमाऽलङ्कारः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥७२॥

रति के बिम्बफल सदृश अधर के अमृतरस से सीचन से स्निग्ध कामदेव के नेत्र से उत्पन्न हुआ है ॥ ७१ ॥

लक्ष्मण—आर्ये ! सीते ! देखो देखो—

यह चन्द्रमा कुमुदादि (कैरव आदि) के आनन्द को उत्पन्न करता हुआ उसी तरह आकाश प्रदेश को लाँघ रहा है जिस प्रकार कुमुदादि वानरों के आनन्द को उत्पन्न करते हुए हनूमान् ने सागर को लाँघा था ॥ ७२ ॥

सीता—सुन्दर लक्षणों से युक्त हे लक्ष्मण ! रघुकुल के कुटुम्ब के सन्ताप को मिटाने में चन्दनतुल्य वे हनूमान इस समय कहाँ हैं ?

लक्ष्मणः—आर्ये ! स एष रामचन्द्रेण वन्धुमानन्दयितुमयोध्यां प्रहितः ।

सीता—तदस्माभिः किमिति विलम्ब्यते । (ता अह्मेहिं किति विलम्बीअदि ?)

(रामो विभीषणमुखमालोकते)

विभीषणः—(निर्गत्य, प्रविश्य च) इदं तत्पुष्पकाभिधानं विमानरत्नमारुह्यताम् ।

(सर्वे विमानारोहणं नाटयन्ति)

रामः—(सकौतुकम्) अये ! तदिदं विमानरत्नं यत्किल त्रिभुवनैकवीरः कुवेरानुजः कुवेरादाजहार ।

लक्ष्मणः—(सामर्षम्) कथमयं किष्किन्धामाहिष्मतीपतिभ्यः समभागविभक्तलक्ष्मीकोऽपि त्रिभुवनैकवीर इति व्यपदिश्यते ।

राम इति । कुवेरानुजः = रावणः ।

लक्ष्मण इति । सामर्षम्—'त्रिभुवनैकवीरः' इति रामकृतरावणप्रशंसनं हि हेतुरत्रामर्षस्येति वोध्यम् । किष्किन्धामाहिष्मतीभ्यः—किष्किन्धापतिः = वाली, माहिष्मतीपतिः कार्त्तवीर्यः ताभ्याम् (अत्रादरार्थे वहुवचनम्) । समभाग-

---

लक्ष्मण—आर्ये ! वे हनूमान् रामचन्द्र के द्वारा भाई (भरत) को आनन्दित करने के लिए अयोध्या भेजे गये हैं ।

सीता—तो हम लोग क्यों विलम्ब कर रहे हैं ?

(राम विभीषण का मुख देखते हैं)

विभीषण—(बाहर जाकर और फिर प्रवेश करके) विख्यात इस पुष्पक-नामक विमानरत्न पर चढ़ा जाय ।

(सब लोग विमान पर चढ़ने का अभिनय करते हैं)

राम—(कौतुक के साथ) अरे ! यह वह विमानरत्न है जिसे त्रिभुवन के अद्वितीयवीर, कुवेर के अनुज (रावण) ने कुवेर से छीना था ?

लक्ष्मण—(अमर्ष के साथ) किष्किन्धापति (वाली) और माहिष्मतीपति (कार्त्तवीर्य) के लिए अपनी (वीरता) की लक्ष्मी को दो तुल्यभागों में बाँट देने वाला (अर्थात् दोनों से बारी-बारी हार कर दो बार में पूरी वीरता

राम —(विहस्य) एवमेतत् ।

ताद्दक्कठोरभुजयन्त्रनिपीडनेन
निःशब्दतामुपगतैर्दशकण्ठकण्ठैः ।
यत्कीर्तिघोषणमकारि चतुःसमुद्र-
वेलासु किं स वचसां विषयः कपीन्द्रः ? ॥ ७३ ॥

विभक्तलक्ष्मीकः समेन = तुल्येन भागेन विभक्ता लक्ष्मी = स्वसम्पद् येन स तादृशोऽपि । व्यपदिश्यते = कथ्यते ।

अन्वयः—तादृक्कठोरभुजयन्त्रनिपीडनेन निःशब्दताम् उपगतैः दशकण्ठकण्ठैः चतुःसमुद्रवेलासु यत्कीर्तिघोषणम् अकारि स कपीन्द्रः किम् वचसाम् विषयः ?

व्याख्या—तादृक् = जगत्प्रसिद्ध , कठोर = कठिन , भुज = बाहु , स एव यन्त्रम् = निग्रहोपकरणमित्यर्थः , तेन निपीडनम् = भुजमूलायस्तलभागे निधाय बलात् सातिशयं व्ययनम्, तेन, निःशब्दताम् = वाक्शक्तिशून्यताम्, उपगतैः = प्राप्तैः , दशकण्ठकण्ठैः = रावणगलविवरैः , चतुःसमुद्रवेलासु = समुद्रचतुष्टयतीरभूमिषु, तत्र तत्र तदवस्थरावणसहितवालिगमनेनेति भावः , यत्कीर्तिघोषणम्—यस्य = वालिनः , कीर्तेः = पराक्रमयशसः , घोषणम् = उच्चैः कथनम्, अकारि = कृतम्, सः = तादृशः , कपीन्द्रः = वानराधिपतिः , वालीत्यर्थः , किमिति काकुप्रश्ने, वचसाम् = वाचाम्, विषयः = गोचरः ? तादृशः वालिनः न कोऽपि वर्णयितुं समर्थ इति भावः । 'निःशब्दतामुपगतैः दशकण्ठकण्ठैः कीर्तिघोषणमकारि' इत्यत्रापाततो विरोधप्रतीत्या विरोधालङ्कारः । तादृक्कठोरभुजयन्त्रनिपीडनेन तत् समाधानमिति बोध्यम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ७३ ॥

की लक्ष्मी को गँवा देने वाला) भी यह रावण कैसे त्रिभुवन का अद्वितीय वीर कहा जा रहा है ?

राम—(हँसकर) यह ठीक है ।

वैसे कठोर भुजयन्त्र से (काँख में दाब कर) कस कर दबोचने से बोलने की (भी) शक्ति न रखने वाले रावण के कण्ठों ने (उसी अवस्था में वालि के साथ-साथ जाने से) जिस (वालि) की कीर्ति की घोषणा की वह वानराधिपति (वाली) क्या वचनों का विषय हो सकता है ? (अर्थात् उसका वर्णन किसी भी प्रकार से कोई नहीं कर सकता है) ॥ ७३ ॥

अपि च,

कोपप्रदीप्तनिजलोचनदीपवह्नि-
निर्भिन्नसान्द्रतिमिरे स दशाननोऽपि ।
काराकुटीरकुहरे वसति स्म यस्य
सोऽप्येष हैहयपतिर्विषयो न वाचाम् ॥ ७४ ॥

किन्तु परिभावय वत्स !

अन्वयः—सः दशाननः अपि कोपप्रदीप्तनिजलोचनदीपवह्निनिर्भिन्नसान्द्रतिमिरे यस्य काराकुटीरकुहरे वसतिस्म, सः अपि एषः हैहयपतिः वाचाम् विषयः न (वर्त्तते) ।

व्याख्या—विश्वविश्रुतः, दशाननः = रावणः अपि, का कथाऽन्येषामिति भावः, कोपेत्यादिः—कोपेन = क्रोधेन, स्वावमानजन्येनेति भावः, निजानि = स्वकीयानि, रावणसम्बन्धीनीत्यर्थः, यानि लोचनानि = नेत्राणि, तान्येव दीपाः, तेषां वह्निः = ज्वाला, तेन निर्भिन्नम् = विनाशितम्, सान्द्रम् = निबिडम्, तिमिरम् = अन्धकारः, यस्य तस्मिन्, यस्य = कार्त्तवीर्यस्य, काराकुटीरकुहरे—कारागारगह्वरे, वसति स्म = अवात्सीत्, सः = तादृशः अपि, एषः = त्वया कीर्तितः, हैहयपतिः = कार्त्तवीर्यः, वाचाम् = वचसाम्, विषयः = गोचरः, न (वर्तते) तादृशं पराक्रमशालिनं कार्त्तवीर्यमपि कोऽपि वर्णयितुं न समर्थ इति भावः । अत्रातिशयोक्तिरलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ७४ ॥

किन्त्विति । परिभावय = विचारय ।

और भी—

जगत् का अद्वितीय वीर दशानन (रावण) भी (अपमानजनित) क्रोध से प्रज्वलित अपने (रावण के) नेत्र रूप दीपकों की ज्वाला के कारण घने अन्धकार से रहित, जिस (कार्त्तवीर्य) के कारागार के भीतर रह चुका था, वैसा यह कार्त्तवीर्य भी वचनों का विषय नहीं है (अर्थात् उसका भी वर्णन नहीं किया जा सकता है) ॥ ७४ ॥

किन्तु वत्स ! विचार करें

यस्य द्राक्करवालकृत्तशिरसः कण्ठालवालस्थलीं
चूडाचन्द्रमसं निपीड्य निबिडं सिञ्चन् सुधानिर्झरैः।
स्वां मेने शशिखण्डमण्डन इति ख्यातिं कृतार्थां हरः
पन्थानं दशकन्धरः स च कथङ्कारं गिरां गाहते?॥७५॥

अन्वय—द्राक् करवालकृत्तशिरसः यस्य कण्ठालवालस्थलीम् चूडाचन्द्रमसम् निपीड्य सुधानिर्झरैः निबिडम् सिञ्चन् हरः स्वाम् शशिखण्डमण्डन इति ख्यातिम् कृतार्थाम् मेने सः दशकन्धरः च गिराम् पन्थानम् कथङ्कारम् गाहते ?

व्याख्या—द्राक् = झटिति, भक्त्यावेशादिति भावः, करवालकृत्तशिरसः—करवालेन = खड्गेन, कृत्तानि = छिन्नानि, शरीरात्पृथक्कृतानीत्यर्थः शिरांसि= मूर्धानो येन सः तस्य। यस्य = रावणस्य, कण्ठालवालस्थलीम्—कण्ठा एवालवालानि = थालाः, तेषां स्थलीम् = भूमिम्, स्थानमित्यर्थः, चूडाचन्द्रमसम् = चूडायाम् = मौलौ स्थितं, चन्द्रम्, निपीड्य = निष्पीडितं कृत्वा, सुधानिर्झरैः = अमृतप्रवाहैः, निष्पीडितचन्द्रगलितैरिति भावः, निबिडम् = सान्द्रं यथा स्यात्तथा, सिञ्चन् = आर्द्रीकुर्वन्, हरः = शिवः, स्वाम् = स्वकीयाम् शशिखण्डमण्डन— शशिखण्डम् = अर्धचन्द्रः, मण्डनम् = भूषणं यस्य सः, चन्द्रमौलिरित्यर्थः, इति = एतादृशीम्, ख्यातिम्=पदवीम् कृतार्थाम्=सफलाम् मेने=मन्यते स्म, सः =तादृशः, दशकन्धरः = रावणः, च = अपि, गिराम = वाणीनाम्, पन्थानम् = मार्गम्, कथङ्कारम् = केन प्रकारेण, गाहते = प्रविशति ? स्वशिरश्छेदेन शिवप्रसादको रावणोऽपि वर्णयितुमशक्य इति भावः। अत्र रूपकमलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥७५॥

(भक्ति के आवेश से) शीघ्र ही तलवार से (अपने) सिरों को काटने वाले जिस (रावण) के कण्ठ रूप आलवाल (थाला) की भूमि को मस्तक में स्थित चन्द्रमा को खूब निचोड़ कर अमृत के प्रवाहों से भली भाँति सींचते हुए शिव ने अपनी 'शशिखण्डमण्डन' (अर्थात् चन्द्रचूड) पदवी को सफल माना था, वह दशकन्धर (रावण) भी वाणी का विषय कैसे हो सकता है ? ॥ ७५ ॥

(निर्वर्ण्य) अये ! किमुच्यतेऽस्य खलु त्रिकूटगिरिशिखरकण्ठीरवस्य दशकण्ठस्य लोकोत्तराणि चरितानि ?

यद्दोःशायिनि चन्द्रशेखरगिरौ भारावतारोन्नम-
न्नागाधीशफणावलीमणिरुचां पूरे समुन्मीलति।
जातास्तुल्यमकालबालतपनाताम्राश्चतस्रो दिशो
देवस्यापि रुषा तुषारकिरणोत्तंसस्य तिस्रो दृशः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—चन्द्रशेखरगिरौ यद्दोःशायिनि (सति) भारावतारोन्नमन्नागाधीशफणावलीमणिरुचाम् पूरे समुन्मीलति (सति) चतस्रः दिशः, रुषा देवस्य तुषारकिरणोत्तंसस्य तिस्रः दृशः तुल्यम् अकालबालतपनाताम्राः जाताः।

व्याख्या—चन्द्रशेखरगिरौ = चन्द्रशेखरः = शशाङ्कचूडः, शिव इत्यर्थः; तस्य गिरिः = पर्वतः, कैलास इत्यर्थः, तस्मिन्, यद्दोःशायिनि यस्य = रावणस्य दोःशायिनि = करैरुत्थाप्य धृते (सति) (भावे सप्तमी)। भारावतारोन्नमन्नागाधीशफणावलीमणिरुचाम्—भारः = कैलाशपर्वतवहनायासः, तस्य अवतारेण = अपसरणेन, उन्नमन्ती = ऊर्ध्वमुत्तिष्ठन्ती या नागाधीशस्य=नागपतेः, शेषस्येत्यर्थः, फणावली = फणपङ्क्तिः, तस्याः मणीनाम् = रत्नानाम्, रुचाम् = कान्तीनाम् पूरे = प्रवाहे, समुन्मीलति = विकसति, कैलासाधिष्ठितभूभागस्थाने जातरिक्तखातमार्गेणेति भावः (भावे सप्तमी) चतस्रः दिशः = प्राच्यादयो दिशः, रुषा = क्रोधेन, स्वावासकैलासगिरिचालनजन्येनेति भावः, देवस्य = पूज्यस्य, तुषारकिरणोत्तंसस्य तुषारकिरणः = हिमांशुः, चन्द्र इत्यर्थः, उत्तंसः = शिरोभूषणं यस्य स तस्य, शिवस्येत्यर्थः, तिस्रः = त्रिसंख्यकाः, दृशः=नेत्राणि, तुल्यम्=समकालमेव, अकालबालतपनाताम्राः—अकाले = असमये, बालतपनः = अचिरोद्गतसूर्यः, स इव आ = ईषत्, ताम्राः = रक्ताभाः, जाताः = सम्पन्नाः। रावणेन करैरुत्पाट्य कैलासे धृते, कैलासभारापसरणेनोन्नतशेषफणमणिकान्तौ कैलासाधिष्ठितभूभागस्थाने जातरिक्तखातमार्गेण सर्वतः प्रसृतायां चतस्रो दिशः, कुपितस्य शिवस्य तिस्रो

(देख कर) अरे ! त्रिकूटगिरि के शिखर के सिंह इस रावण के लोकोत्तर चरितों को क्या कहा जाय ?

शिवपर्वत (कैलास) के जिस (रावण) के बाहुओं पर स्थित होने पर; भार के उतरने से ऊपर उठती हुई शेषनाग की फणपंक्ति की मणियों के कान्ति

लक्ष्मण :—आर्य !

एष मे मनसि भासतेऽधुना मूर्तिमानिव मनोरथो रथः ।
नास्ति नो यदधिरोहलीलया दूरमागतवतामपि श्रमः ॥ ७७ ॥

राम :—एवमेतत् । तथाहि—

उल्लङ्घ्य नीरधिमतीत्य च दण्डकानि
नद्यौ च मेकलकलिन्दसुते व्यतीत्य ।
प्राप्ता शिखण्डिशतखण्डितशाखिखण्ड-
मेते वयं शिखरिणं ननु चित्रकूटम् ॥ ७८ ॥

वृत्ताश्च समकालमेव बालरविरक्तवर्णाः सञ्जाता इति भावः । अत्रातिशयोक्तिरलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ७६ ॥

अन्वय :—अधुना एषः रथः मे मनसि मूर्तिमान् मनोरथः इव भासते । यत् अधिरोहलीलया दूरम् आगतवतामपि नः श्रमः नास्ति ।

व्याख्या—अधुना = इदानीम्, एषः = अयम्, रथः = यानमित्यर्थः, पुष्पकाभिधानं विमानमिति भावः । मे = मम, लक्ष्मणस्य, मनसि = चित्ते, मूर्तिमान् = सशरीरः, मनोरथः = अभिलाषः, स इव भासते = प्रतिभाति । यदधिरोहणलीलया = यदारोहणविलासेन, दूरम् = चित्रकूटम्, आगतवताम् = आगतानाम् अपि, नः = अस्माकम्, श्रमः = क्लमः, नास्ति = न विद्यते । अत्रोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । रथोद्धता वृत्तम् ॥ ७७ ॥

अन्वय :—ननु नीरधिम् उल्लङ्घ्य दण्डकानि च अतीत्य मेकलकलिन्दसुते नद्यौ च व्यतीत्य एते वयम् शिखण्डिशतखण्डितशाखिखण्डम् चित्रकूटम् शिखरिणम् प्राप्ताः ।

व्याख्या—नन्वित्यामन्त्रणे । नीरधिम् = समुद्रम्, उल्लङ्घ्य = उत्तीर्य,

समूह के चारों ओर फैलने पर चारों दिशाएँ, तथा क्रोध से चन्द्रभूषण (शिव) के तीनों नेत्र एक साथ ही असमय में ही उदित प्रातःकालीन सूर्य के समान कुछ लाल हो गये ॥ ७६ ॥

लक्ष्मण—आर्य,

मेरे मन में (तो) यह रथ सम्प्रति मूर्तिमान् मनोरथ-सा प्रतीत हो रहा है, जिस पर चढ़ने के विलास से दूर तक चले आये हुए हम लोगों को थकावट नहीं है ॥ ७७ ॥

राम—यह ठीक है । जैसे कि—

हे लक्ष्मण ! समुद्र को लाँघ कर, दण्डकारण्य को पार कर नर्मदा और

सीता—(तिर्यग् विलोक्य) अहह कलिन्दनन्दिनि ! सत्यप्रसादासि, यत्पुनरपि निजकुटुम्बस्य दत्तदर्शनासि । (अहह कलिन्दणन्दिणि ! सच्चप्पसादासि, जं पुणोवि णिअकुडुम्बस्स दिण्णदंसणासि ।)

रामः—अयि ! तदिदं निर्मुक्तविरोधश्वापदं भगवतो भारद्वाजस्याश्रमपदम् ।

लक्ष्मणः—एवमेतत् । अत्र हि—

व्याजृम्भमाणवदनस्य हरेः करेण
कर्षन्ति केसरसटाः कलभाः किलैके ।
अन्ये च केसरिकिशोरकपीतमुक्तं
दुग्धं मृगेन्द्रवनितास्तनजं पिबन्ति ॥ ७९ ॥

दण्डकानि = दण्डकारण्यानि च प्रतीत्य=अतिक्रम्य, मेकलकलिन्दसुते—मेकलसुता= नर्मदा ('रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका' इत्यमरः) कलिन्दसुता=यमुना चेति नद्यौ = नदीद्वयम्, अतीत्य = उत्तीर्य, एते वयम्=रामादयः, शिखण्डिशतखण्डितशाखिखण्डम्—शिखण्डिनाम्=मयूराणाम् शतैः=समूहैरित्यर्थः, खण्डितानि= दलितानि = शाखिखण्डानि = वृक्षसमूहाः यस्य स तम्, चित्रकूटम्=चित्रकूटाभिधानम्, शिखरिणम् = पर्वतम्, प्राप्ताः = आगताः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ७८ ॥

राम इति । निर्मुक्तविरोधश्वापदम्—निर्मुक्तः = परित्यक्तः, विरोधः = सहजविद्वेषो यैस्ते तादृशाः, श्वापदाः = हिंस्रजन्तवः, यस्मिंस्तत् ।

अन्वयः—व्याजृम्भमाणवदनस्य हरेः केसरसटाः एके कलभाः करेण कर्षन्ति किल । अन्ये च केसरिकिशोरकपीतमुक्तम् मृगेन्द्रवनितास्तनजम् दुग्धम् पिबन्ति ।

व्याख्या—व्याजृम्भमाणवदनस्य—व्याजृम्भमाणम् = विवृतम्, वदनम् =

यमुना दो नदियों को भी अतिक्रान्त कर ये हम लोग सैकड़ों मयूरों से दलित वृक्षसमूह-वाले चित्रकूट पर्वत पर आ गये ॥ ७८ ॥

सीता—(तिरछे देखकर) अहह यमुने ! सच्चे अनुग्रहवाली हो, जो कि तुमने अपने परिवार (हम लोगों को) दुबारा भी दर्शन दिया है ।

राम—अरे, भगवान् भरद्वाज का यह वह आश्रम है, जहाँ के जङ्गली हिंसक जन्तुओं ने पारस्परिक सहज वैर छोड़ दिया है ।

लक्ष्मण—यह ऐसा ही है ! यहाँ तो—

कतिपय करिशावक (अपनी) सूँड से जम्हाई लेते हुए सिंह की गरदन के

अपि च—

क्रीडन्माणवकाङ्घ्रिताडनशतैरुज्जागरस्य क्षणं
शार्दूलस्य नखाङ्कुरेषु कुरुते कण्डूविनोदं मृगः ।
चञ्चच्चन्द्रशिखण्डितुण्डघटनानिर्मोकनिर्मोचितः
किं चाऽयं पिबति प्रसुप्तनकुलश्वासानिलं पन्नगः ॥८०॥

मुखं यस्य स तस्य, हरेः = सिंहस्य, केसरसटाः — स्कन्धस्थकेशकलापान्, एके = केचित्, कलभाः = करिशावकाः, करेण = शुण्डादण्डेन कर्षन्ति = आकर्षन्ति, किलेति निश्चये । केचित्करिशावकाः सिंहस्य सटा करेण कर्षन्ति, तथापि स निर्मुक्तवैरतया न कुप्यति, अपि तु स्नेहनिर्भरमानन्दमनुभवन् व्याजृम्भमाणमुखस्तिष्ठतीति भावः । अन्ये च = अपरेऽपि कलभाः, केसरिकिशोरकपीतमुक्तम्-केसरिणाम् = सिंहानाम् किशोरकैः = शिशुभिः आदौ पीतम्, पश्चान्मुक्तम्, सिंहशावकनिपीतावशिष्टमिति भावः, मृगेन्द्रवनितास्तनजम्—मृगेन्द्राणाम् = सिंहानाम्, या वनिता, तासां स्तनजम् = कुचजातम्, दुग्धम् = पयः, पिबन्ति । अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ७९ ॥

अन्वयः—मृगः क्रीडन्माणवकाङ्घ्रिताडनशतैः उज्जागरस्य शार्दूलस्य नखाङ्कुरेषु क्षणम् कण्डूविनोदम् कुरुते । किञ्च चञ्चच्चन्द्रशिखण्डितुण्डघटनानिर्मोकनिर्मोचितः अयम् पन्नगः प्रसुप्तनकुलश्वासानिलम् पिबति ।

व्याख्या—मृगः = हरिणः, क्रीडन्माणवकाङ्घ्रिताडनशतैः—क्रीडन्तः = खेलन्तो ये माणवकाः = मुनिबालकास्तेषां अङ्घ्रिताडनानि=पादप्रहारास्तेषां शतैः = बहुभिश्चरणप्रहारैरिति भावः, शतपदस्यात्राधिक्यमात्रोपलक्षकत्वात् । उज्जागरस्य उद्गता=समुत्पन्ना जागरा=जागरणम्, यस्य स तस्य, प्रबुद्धस्येत्यर्थः, शार्दूलस्य= सिंहस्य, नखाङ्कुरेषु = नखराग्रभागेषु, क्षणम् = कञ्चित्कालम्, कण्डूविनोदम् =

वालों को खींच रहे हैं और दूसरे (करिशावक) सिंहों के बच्चों से पीकर छोड़े गये सिंह स्त्रियों के स्तनजन्य दूध को पी रहे हैं ॥ ७९ ॥

और भी—

मृग, खेलते हुए मुनि-बालकों के सैकड़ों चरण प्रहारों से जगे हुए सिंह के नखाग्रभागों में कुछ समय तक (शरीर रगड़ते हुए) खुजली दूर कर रहा है ।

रामः—अये ! कथमयं सम्प्राप्त एव चक्रवाकरमणीसंरम्भसमयः प्रभातसमयः। तथाहि—

एते केतकधूलिधूसररुचः शीतद्युतेरंशवः
प्राप्ताः संप्रति पश्चिमस्य जलधेस्तीरं जराजर्जराः।
अप्येते विकसत्सरोरुहवनीदृक्पातसंभाविताः
प्राचीरागमुदीरयन्ति तरणेस्तारुण्यभाजः कराः ॥८१॥

कायसर्पणं कुर्वन् खर्जूनिवारणं कुरुते। किञ्च = तथा, चञ्चच्चन्द्रशिखण्डितुण्डघटनानिर्मोकनिर्मोचितः—चञ्चत्=चलन्, चन्द्रः=चन्द्राकारः पुच्छवर्ती अङ्कः यस्य स तादृशो यः शिखण्डी = मयूरः, तस्य तुण्डघटनया = चञ्चुसंयोगेन, चञ्चुसाहाय्येनेति भावः, निर्मोकात्, निर्मोचितः = पृथक् कृतः, अयम् = एषः पुरोदृश्य इत्यर्थः, पन्नगः = सर्पः, प्रसुप्तनकुलश्वासानिलम् = प्रसुप्तः = निद्राणो यो नकुलस्तस्य श्वासानिलम् = नासारन्ध्रनिःसृतनिःश्वासवायुम्, पिबति। अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८० ॥

अन्वयः—केतकधूलिधूसररुचः एते शीतद्युतेः अंशवः सम्प्रति जराजर्जराः (सन्तः) पश्चिमस्य जलधेस्तीरं प्राप्ताः। विकसत्सरोरुहवनीदृक्पातसम्भाविताः तारुण्यभाजः तरणेः एते कराः अपि प्राचीरागम् उदीरयन्ति।

व्याख्या—केतकधूलिधूसररुचः—केतकस्य = केतकपुष्पस्य धूलिः=परागः, तद्वत् धूसरा = नातिश्वेतपीता रुक् = कान्तिर्येषां ते, एते = इमे, शीतद्युतेः = चन्द्रस्य, अंशवः = किरणाः, सम्प्रति = अधुना, जराजर्जराः = जरसा = वार्धक्येन स्वनियतविकाससमयावसानेनेति भावः, जर्जराः = क्षीणतमाः, (सन्तः) पश्चिमस्य = अस्ताचलसमीपगतस्येत्यर्थः, जलधेः = समुद्रस्य, तीरम् = तटम्,

तथा चञ्चल (पुच्छवर्ती) चन्द्राकारचिह्न वाले मयूर की चोंच की सहायता से केंचुली से पृथक् किया गया सर्प, सोते हुए नेवले के श्वासवायु को पी रहा है ॥ ८० ॥

राम—अरे, चक्रवाक की स्त्रियों के (पति से मिलने की) उत्कण्ठा का समय यह प्रातः कालः, क्या आ ही गया ?

केतकपुष्प-पराग के समान धूसर कान्ति से युक्त ये चन्द्र के मयूख सम्प्रति

लक्ष्मण —(सकौतुकम्)

सद्यः सघटमानकोकमिथुनव्याजेन पीनस्तन-
द्वन्द्वव्यञ्जितयौवनोज्ज्वलरुचो निर्माय दिक्कन्यका ।
दुर्दैवाक्षरमालिकामिव झगित्याकृष्य भृङ्गावलीं
लक्ष्मीमम्बुजिनीजनस्य तनुते देवस्त्विषामीश्वर ॥८२॥

मासः । सम्प्रत्यस्ताचलोन्मुखश्चन्द्र इति भाव । विकसत्सरोरुहवनीदृक्पात-सम्भाविता —विकसन्ति = विकासीभवन्ति सरोरुहाणि = कमलानि, तेषां वनी= सहृति, तस्या दृक्पातेन = कटाक्षेण, सम्भाविता = सत्कृता., तारुण्यभाज = नवा, तरणे = सूर्यस्य, एते = पूर्वस्या दिशि दृश्यमाना, करा = किरणा, अपि, प्राचीरागम् = प्राच्या. दिश, नायिकारूपाया इत्यर्थ, रागम् = लौहित्यम्, अनुरागमित्यपि च, उदीरयन्ति = वर्धयन्ति । लोकेऽपि कोऽपि स्वसमय गमयित्वा कोऽपि वृद्धो भृगुपतनमुद्दिश्य पर्वतसमीपगतगभीरजलाशयमुपयाति तथा च कोऽपि युवा कयाचित्परकीयया नायिकया सानुराग कटाक्षवीक्षितस्तस्या अनुराग वर्धयतीति तद्व्यवहारस्य पश्चिमसमुद्रोन्मुखचन्द्रकिरणेषु प्राचीतरुणतरणिकिरणेषु चारोपात् समासोक्तिरलङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ८१ ॥

अन्वय —देव, त्विषाम् ईश्वर सद्य सघटमानकोकमिथुनव्याजेन पीनस्तनद्वन्द्वव्यञ्जितयौवनोज्ज्वलरुच दिक्कन्यका निर्माय दुर्दैवाक्षरमालिकामिव भृङ्गावलीम् झगिति आकृष्य अम्बुजिनीजनस्य लक्ष्मीम् तनुते ।

व्याख्या—देव = द्योतनशील, त्विषाम् = कान्तीनाम्, ईश्वर = स्वामी, सूर्य इत्यर्थ, सद्य = तत्कालमेव, सघटमानकोकमिथुनव्याजेन = सघटमानस्य= परस्परमिलत, कोकमिथुनस्य = चक्रवाकद्वन्द्वस्य व्याजेन = छलेन, पीनस्तनद्वन्द्वव्यञ्जितयौवनोज्ज्वलरुच —पीनस्तनयो = विशालकठोरकुचयो, द्वन्द्वेन =

वृद्धावस्था से जर्जर होकर पश्चिम समुद्र के तट को पहुँच गये हैं । खिलती हुई कमलश्रेणी के कटाक्ष से सत्कृत सूर्य के ये मयूख भी प्राची दिशा के राग (१—लालिमा, २—अनुराग) को बढा रहे हैं ॥ ८१ ॥

लक्ष्मण—(उत्कण्ठा के साथ)

भगवान् सूर्य शीघ्र ही (परस्पर) मिलने वाले चक्रवाकयुगल के बहाने

सुग्रीवः—विभीषण, पश्य पश्य ।

उन्मीलन्ति निशानिशाचरवधूनिर्वासनामान्त्रिकाः
सायं सालससुप्तपङ्कजवनप्रोद्बोधवैतालिकाः ।
फुल्लत्पङ्कजकोशगर्भकुहरप्रोद्भूतभृङ्गावली-
भाङ्कारप्रणवोपदेशगुरवस्तीव्रद्युतेरंशवः ॥ ८३ ॥

युग्मेन व्यञ्जितम् = प्रकाशितम् यद्यौवनम् = तारुण्यम्, तेन उज्ज्वला=प्रकाशमाना रुक् = कान्तिर्यासां तास्तादृशीः, दिक्कन्यकाः—दिशः=आशाः, ता एव कन्यकाः,= कुमारिकाः, निर्माय = विधाय, दुर्दैवाक्षरमालिकामिव—दुर्दैवस्य = दुर्भाग्यस्य, अक्षरमालिकामिव = वर्णमालामिव, भृङ्गावलीम् = मधुपश्रेणीम्, कमलाभ्यन्तरे स्थितामिति भावः, झगिति = झटिति, आकृष्य = अपसार्य, अम्बुजिनीजनस्य = कमलिनीवृन्दस्य, लक्ष्मीम् = शोभाम्, तनुते = विस्तारयति । पूर्वार्द्धे कैतवापह्नुतिः, उत्तरार्द्धे चोत्प्रेक्षा । तयोर्मिथोऽनपेक्षया संस्थितेः संसृष्टिः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८२ ॥

अन्वयः—निशानिशाचरवधूनिर्वासनामान्त्रिकाः, सायम् सालससुप्तपङ्कजवनप्रोद्बोधवैतालिकाः, फुल्लत्पङ्कजकोशगर्भकुहरप्रोद्भूतभृङ्गावलीभाङ्कारप्रणवोपदेशगुरवः तीव्रद्युतेः अंशवः उन्मीलन्ति ।

व्याख्या—निशा = रात्रिः, सैव निशाचरवधूः = राक्षसी, कृष्णवर्णत्वादिति भावः । तस्याः निर्वासना = अपसारणा, तस्याम् मान्त्रिकाः = मन्त्रज्ञाः; मन्त्रादिप्रयोगैर्मान्त्रिका राक्षसीमिव सूर्यकरा निशां जगत अपसारयन्तीति भावः । सायम्=, सायंकालादेव, सालससुप्तपङ्कजवनप्रोद्बोधवैतालिकाः—सालसम् = आलस्यपूर्णं यथा स्यात्तथा, सुप्तम् = मुद्रितम्, निद्राणमित्यपि च, यत् पङ्कजवनम् = कमलसमूहः, तस्य प्रोद्बोधः = विकासः, जागरणमित्यपि च, तत्र वैतालिकाः =

विशाल एवं कठोर स्तनयुगल से प्रकटित यौवन से प्रकाशित कान्तिवाली दिशा रूप कन्याओं का निर्माण कर, अभाग्य की लिपिपङ्क्ति-सी मधुपश्रेणी को (भीतर से) झटपट हटाकर कमलिनीवृन्द की शोभा को बढ़ा रहे हैं ॥ ८२ ॥

सुग्रीव—विभीषण ! देखिये देखिये ।

रात्रिरूप राक्षसी को भगाने में मान्त्रिक (मन्त्रप्रयोग से भूत-प्रेत भगाने

विभीषण—एवमेतत । तथाहि—

आयान्त्या दिवसश्रिय पदतलस्पर्शानुभावादिव
व्योमाशोकतरोर्नवीनकलिकागुच्छ समुज्जृम्भते ।
आतन्वन्नवतर्षविभ्रममसावाशाकुरङ्गीदृशा-
मुन्मीलत्तरुणप्रभाकरकरस्तोम समुद्भासते ॥ ८४ ॥

स्तुतिपाठका, स्तुतिपाठेन प्रबोधकरा इति भाव । यथा सुप्त राजान वैतालिका स्तुतिपाठेन प्रबोधयन्ति तथैव सूर्यकिरणा मुद्रित कमलवन विकासयन्तीति भाव । फुल्लत्पङ्कजकोशगर्भकुहरेत्यादि—फुल्लताम् = विकसताम्, पङ्कजानाम् = कमलानाम्, कोशगर्भा = आभ्यन्तरभागा एव कुहराणि = गह्वराणि, तस्य प्रोद्भूता = निर्गता या भृङ्गावली = भ्रमरपङ्क्ति, तस्या झाङ्कार = गुञ्जितध्वनि, स एव प्रणव = ओङ्कार, तस्योपदेशे = शिक्षणे, गुरव = शिक्षका, तादृशा, तीव्रद्युते = चण्डांशो, सूर्यस्येत्यर्थ, अशव = किरणा, उन्मीलन्ति = प्रादुर्भवन्ति । अत्र रूपकमलङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ८३ ॥

अन्वय —आयान्त्या दिवसश्रिय पदतलस्पर्शानुभावादिव व्योमाशोकतरो नवीनकलिकागुच्छ समुज्जृम्भते । असौ उन्मीलत्तरुणप्रभाकरकरस्तोम आशाकुरङ्गीदृशाम् नवतर्षविभ्रमम् आतन्वन् समुद्भासते ।

व्याख्या—आयान्त्या = आगच्छन्त्या, दिवसश्रिय = दिनलक्ष्म्या, पदतलस्पर्शानुभावादिव—पदतलेन = चरणतलेन य स्पर्श = आघात इत्यर्थ, तस्य अनुभावादिव = महिम्नेव व्योमाशोकतरो—व्योम = आकाशमेवाशोकतरु = अशोकवृक्ष, तस्य, नवीनकलिकागुच्छ = अचिरोद्गतकोरकस्तबक, तद्रूप इत्यर्थ, समुज्जृम्भते = प्रादुर्भवति । असौ = आकाशतरुनवीनकलिकागुच्छरूप,

वाले) आपद्काल स ही आलस्यपूर्वक सोये (मुँदे) हुए कमल वन को जगाने (विकसित करने में) वैतालिक (प्रातः स्तव पाठ से जगाने वाले), खिले हुए कमलों के भीतरी भाग के गह्वर से निकली हुई मधुपश्रेणी के गुञ्जन शब्दरूप ओङ्कार के उपदेश में गुरु, सूर्य के मयूख प्रकट हो रहे हैं ॥ ८३ ॥

विभीषण—यह ठीक है । जैसे कि—

आती हुई दिवसलक्ष्मी के पादस्पर्श के प्रभाव से आकाशरूप अशोकवृक्ष क

रामः—प्रिये !

एतत्तर्कय चक्रवाकसुदृशामाश्वासनादायिनः
प्रौढध्वान्तपयोधिमग्नजगतीदत्तावलम्बोत्सवाः ।
दीप्तांशोर्विकसन्ति दिङ्मृगदृशां काश्मीरपङ्कोदक-
व्यात्युक्षीचतुराः सरोरुहवनश्रीकेलिकाराः कराः ॥८५॥

उन्मीलत्तरुणप्रभाकरकरस्तोमः—उन्मीलन् = उदयमानः तरुणप्रभाकरः = बालसूर्य इत्यर्थः, तस्य करस्तोमः = किरणसमूहः, आशाकुरङ्गीदृशाम् = आशाः = दिशः, प्राच्यादय इत्यर्थः, ता एव कुरङ्गीदृशः = मृगीनयनाः सुन्दर्यः, तासाम्, दिगङ्गनानामित्यर्थः, अवतंसविभ्रमम् = कर्णभूषणविलासम्, आतन्वन्=विस्तारयन्, कर्णभूषणरूपः सन्नित्यर्थः, समुद्भासते = प्रकाशते । उदिते सूर्ये दिवसश्रीः समागच्छति, तस्याः पादस्पर्शमहिम्नेवाकाशाशोकतरुः सूर्यकरप्रकररूपनवीनकलिकागुच्छोपेतः शोभते, तं सूर्यकरप्रकररूपनवीनकलिकागुच्छं च दिगङ्गनाः स्वकर्णाभरणत्वेन धारयन्तीति भावः। अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोर्मिथोऽनपेक्षया संस्थितेः संसृष्टिः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—चक्रवाकसुदृशाम् आश्वासनादायिनः प्रौढध्वान्तपयोधिमग्नजगतीदत्तावलम्बोत्सवाः, दिङ्मृगदृशाम् काश्मीरपङ्कोदकव्यात्युक्षीचतुराः, सरोरुहवनश्रीकेलिकाराः दीप्तांशोः कराः विकसन्ति, एतत् तर्कय ।

व्याख्या—चक्रवाकसुदृशाम् = चक्रवाकानां सुदृशाम् = सुन्दरीणाम्, चक्रवाकीनामित्यर्थः, आश्वासनादायिनः = आश्वासना = पतिसमागमाशया प्रोत्साहनम्, तां ददतीति तच्छीलाः, पतिमिलनाशाजन्यानन्ददायिन इत्यर्थः, प्रौढध्वान्तपयोधिमग्नजगतीदत्तावलम्बोत्सवाः—प्रौढम् = निविडं यत् ध्वान्तम् = अन्धकारस्तदेव पयोधिः = सागरः, तस्मिन् मग्ना = बुडिता या जगती = लोकः, तस्यै

नूतन कलियों का गुच्छ (यह सूर्य) प्रकट हो रहा है। यह उदित होते हुए नवीन सूर्य का किरणसमूह दिगङ्गनाओं के कर्ण भूषण के विलास को सम्पादित करता हुआ (अर्थात् कर्ण-भूषण-सा होता हुआ) प्रकाशित हो रहा है ॥ ८४ ॥

राम—प्रिये !

चक्रवाकियों को (पति मिलन की आशा से) आश्वासन (तसल्ली) देने वाले, प्रगाढ अन्धकार-सागर में डूबी पृथिवी को अवलम्बन रूप हर्ष देने वाले,

(अपवार्य) पश्य पश्य,

शिथिलयति सरागो यावदर्को नलिन्याः
कमलमुकुलनीवीग्रन्थिमुद्रां करेण ।
प्रविकसदलिमाला गुञ्जितैर्मञ्जुशब्दा
जनयति मुदमुच्चैः कामिना कामिनीव ॥ ८६ ॥

दत्त = समर्पित , अवष्टम्भ एव उत्सव = हर्ष , यैस्ते, दिङ्मृगदृशाम् = दिगङ्गनानाम्, काश्मीरपङ्कोदकव्यात्युक्षीचतुरा —काश्मीरम् = कुङ्कुमम्, तस्य पङ्कोदकेन = चूर्णमिश्रितजलेन, व्यात्युक्षी = जलक्रीडा, तत्र चतुरा. = निपुणा , सरोरुहवनश्रीकेलिकारा —सरोरुहवनस्य = कमलवनस्य श्रिया = शोभया केलिकारा. = क्रीडाविधायका , दीप्तांशो = चण्डांशो = सूर्यस्य, करा = किरणा , विकसन्ति = प्रसरन्ति, इति = एतत्, तर्कय = विचारय । सूर्योदये जायमाने पतिमिलनाशया चक्रवाकय आश्वस्ता भवन्ति, तिमिरमग्ना पृथिवी प्रकाशं लब्ध्वा प्रसन्ना जायते, दिगङ्गनास्तरुणरविकरप्रकरेण कुङ्कुमचूर्णमिश्रितजलेन मार्द्रीकृता इव लक्ष्यन्ते, प्रफुल्लकमलवदनया कमलवनश्रिया रविकरा क्रीडन्तीवेति विचारयेति भाव । अत्र प्रतीयमानोत्प्रेक्षारूपकयोर्मिथोऽनपेक्षया स्थिते संसृष्टि । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ८५ ॥

अन्वय —सराग अर्क यावत् करेण नलिन्या कमलमुकुलनीवीग्रन्थिमुद्राम् शिथिलयति (तावत्) प्रविकसदलिमाला, (किञ्च) गुञ्जितै मञ्जुशब्दा (सा) कामिनी कामिनामिव (अर्कस्य) उच्चै मुदम् जनयति ।

व्याख्या —सराग रागेण = लौहित्येन (पक्षान्तरे—अनुरागेण) सहित , अर्क = सूर्य , (पक्षान्तरे कश्चिन्नायक) यावत् = यदैवेत्यर्थ , करेण = किरणेन (पक्षान्तरे हस्तेन) नलिन्या =कमलिन्या (पक्षान्तरे कस्याश्चिन्नायिकाया)

दिगङ्गनाओं को कुङ्कुमचूर्णमिश्रित जल से क्रीडापूर्वक आर्द्र करने में निपुण, कमलवनश्री के साथ केलि करने वाले सूर्य के मयूख सर्वत्र फैल रहे हैं—ऐसा विचारो ॥ ८५ ॥

(केवल सीता को सुनाकर) देखो-देखो—

(१) लाल सूर्य, किरण से ज्यों ही कमलिनी के कमल-कुड्मलरूप नीवी-ग्रन्थि के बन्ध को खोलता (विकसित करता) है (त्यों ही कमलकोश के

सीता—(विहस्य विलोक्य च) कथमसमुन्मीलित एव। (कहं इमो उन्मीलिद जेव्व)

कमलमुकुलनीवीग्रन्थिमुद्राम्—कमलमुकुलम् = कमलकुड्मलम्, तदेव नीवीग्रन्थिः = परिधेयवस्त्रग्रन्थिः, तस्य मुद्राम् = दृढसंश्लेषम्, पत्रसङ्कोचजन्यमिति भावः, (पक्षान्तरे कमलमुकुलमिव नीवीग्रन्थिस्तस्य मुद्राम् = प्रगाढसंश्लेषम्, दृढबन्धमित्यर्थः) शिथिलयति = श्लथयति, विकासयतीत्यर्थः, (पक्षान्तरे—मोचयति) (तावत् = तदैवेत्यर्थः) प्रविकसदलिमाला—प्रविकसन्ती = बहिरागच्छन्ती अलिमाला = भ्रमरपङ्क्तिर्यस्याः सा, (पक्षान्तरे—प्रविकसन्ती = हर्षेण विकासं भजन्ती, अलिमाला = दृग्रूपा भ्रमरततिरित्यर्थः, यस्याः सा) (किञ्च) गुञ्जितैः = झङ्कारैः, तदीयैरिति भावः, मञ्जुशब्दा = मञ्जुः = मनोहरः, शब्दः = ध्वनिर्यस्याः सा (पक्षान्तरे मञ्जुः = मनोहरः शब्दः = कण्ठध्वनिर्यस्याः सा) (सा = नलिनी) कामिनी = रमणी, कामिनामिव=कामुकानामिव, (अर्कस्य = सूर्यस्य) उच्चैः = सातिशयम्, मुदम्=हर्षम्, जनयति = उत्पादयति। यथा सानुरागः प्रियो यदा पाणिना नायिकायाः नीवीग्रन्थिबन्धं शिथिलयति तदैव कामवशीभूता सती प्रसन्नतया विकसन्नयना मधुरं भणितं कुर्वती च प्रियं प्रमोदयति तथैव सरागः सूर्यः किरणेन कमलिन्याः कुड्मलरूपनीवीग्रन्थिमुद्रां शिथिलयति तदैव भ्रमरपंक्ति दृशं विकासयन्ती, तद्गुञ्जितैश्च मधुरं भणितमिव कुर्वती तस्य भृशमानन्दं जनयतीति भावः। अत्रोपमारूपकसमासोक्तीनामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः। मालिनी वृत्तम् ॥ ८६ ॥

भीतर से बाहर निकलकर, कजरारी दृष्टि के समान) उड़ती हुई (चञ्चल) भ्रमरपंक्ति से युक्त तथा (उसकी) गुञ्जनध्वनि से मधुर शब्द करने वाली (वह), कामुकों की कामिनी के समान, सूर्य को अतिशय प्रसन्न करती है। (२) अनुराग पूर्ण अर्क (नामक नायक) हाथ से ज्यों ही नलिनी (नामक नायिका) की कमलकली के समान नीवीग्रन्थि के बन्धको शिथिल करता है (त्योंही) विकसित भ्रमरपंक्ति के समान कजरारी दृष्टिवाली, मधुर शब्द (भणित) करने वाली वह, सूर्य को कमलिनी के समान, कामुकों को अतिशय प्रसन्न करती है ॥ ८६ ॥

सीता—(हँसकर और देखकर) क्या,

पूर्वगिरिपद्मराग प्रकटीकृतनयनशीतलस्वभाव. ।
कुङ्कुमकृताङ्गरागो नलिनीजनवल्लभो देवः ॥ ८७॥
पुव्वगिरिपम्मरायो पअडीकिदणअणशीअलसहाओ ।
कुङ्कुमकिअङ्गराओ णलणीजणवल्लहो देवो ॥)

राम —(प्रकाशम्) अये जानकि ! पश्य ।
तरलतरतरङ्गभङ्गहेलाबहलविलासविलोलहंसमाला ।
अमरपुरतरङ्गिणीयमम्बा सुरनरमङ्गलकारिणी न दूरे ॥ ८८॥

अन्वय —पूर्वगिरिपद्मराग प्रकटीकृतनयनशीतलस्वभाव कुङ्कुमकृताङ्गराग नलिनीजनवल्लभ देव (उन्मीलित)

व्याख्या—पूर्वगिरिपद्मराग –पूर्वगिरे उदयाचलस्य पद्मराग = पद्मरागमणितुल्य इति भाव । प्रकटीकृतनयनशीतलस्वभाव –प्रकटीकृत = प्रकाशित, नयनयो, शीतल स्वभावो येन स, प्रभातकालीनसूर्यस्य शीतलत्वादियमुक्ति, कुङ्कुमकृताङ्गराग -कुङ्कुमेन = काश्मीरजेन, तद्द्रवेणेत्यर्थं, कृत = सम्पादित, अङ्गराग = शरीरविलेपन येन स, तादृश, नलिनीजनवल्लभ –नलिनीजनस्य = कमलिनीवृन्दस्य वल्लभ = प्रिय, देव = भगवान्, (उन्मीलित = प्रकटित, एवेति पूर्वगद्यांशेन सम्बन्ध) आर्या जाति ॥ ८७ ॥

अन्वय —तरलतरतरङ्गभङ्गहेलाबहलविलासविलोलहंसमाला सुरनरमङ्गलकारिणी अम्बा इयम् अमरपुरतरङ्गिणी दूरे न वर्तते ।

व्याख्या—तरलतरेत्यादि —तरलतरा = अतिशयचञ्चला ये तरङ्गा = वीचयस्तेषा भङ्गहेला = चलनलीला तस्या बहल = प्रचुर, य विलास = विलसनम् तेन विलोला = अतिशयचपला, हंसमाला=हंसपङ्क्तिर्यस्या सा तादृशी, सुरनरमङ्गलकारिणी—सुराणाम = देवानाम, नराणा च = मङ्गलम् = कल्याण

उदयाचल के पद्मरागमणि, नेत्रो में शीतल स्वभाव प्रकट करने वाले, कुङ्कुम से अङ्गराग किये हुए, कमलिनीजन के प्रिय भगवान् (सूर्य) उदित हो ही गये ? ॥ ८७ ॥

राम—(प्रकट रूप में) हे सीते ! देखो-देखो—
अत्यन्त चञ्चल तरङ्गो के चलने की लीला में पर्याप्त विलास से साथ

(सहर्षं सीता तदेव पठति संस्कृतं प्राकृतं च)

रामः—(सहर्षम्) वत्स लक्ष्मण! इयमदूरे रघुकुलमङ्गलाङ्कुरप्ररोहकेदारधरणीतरङ्गिणी सरयूः इयं च सरयूतरङ्गशीकरशीतलीकृतपरिसरा नगरीसीमन्तमणिरयोध्या।

लक्ष्मणः—(सहर्षम्) अयमसौ भरतानुयातस्त्वदभिषेककृतमतिर्भगवानरुन्धतीपतिः।

कर्तुं शीलमस्या इति तथोक्ता, अम्बा = माता, इयम्=एषा, अमरपुरतरङ्गिणी = स्वर्णदी, गङ्गेत्यर्थः, दूरे = विप्रकृष्टदेशे, न = न (वर्त्तते)। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ८८ ॥

राम इति। रघुकुलमङ्गलेत्यादिः—रघुकुलस्य = रघुवंशस्य यन्मङ्गलम् = कल्याणम्, तस्य योऽङ्कुरः = प्रादुर्भावः, तस्य प्ररोहः=उदयः, तस्मै केदारधरणी= क्षेत्रभूमिः तस्यास्तरङ्गिणी = नदी, सिञ्चनकर्त्री, तस्माद् वृद्धिकर्त्री चेति भावः। सरयूतरङ्गेत्यादिः—सरय्वाः तरङ्गशीकरैः=वीचीजलकणैः शीतलीकृतः,=मार्द्रीकृतः, परिसरः = प्रान्तभागो यस्याः सा, तादृशी। नगरी सीमन्तमणिः—नगरीणाम्, सीमन्ते = केशविभाजकरेखायाम् मणिः = रत्नम् सर्वपुरीषु श्रेष्ठेति भावः।

लक्ष्मण इति। भरतानुयातः—भरतेन = कैकेयीपुत्रेण, अनुयातः = अनुगतः त्वदभिषेककृतमतिः—तव = श्रीरामस्य, अभिषेके कृता मतिर्येन स तादृशः, अरुन्धतीपतिः = वसिष्ठः।

अतिशय चपल हंसों की पंक्ति से युक्त, देवों और मानवों की कल्याणकारिणी यह माता गङ्गा दूर नहीं (निकट ही) है ॥ ८८ ॥

(सहर्ष सीता राम के द्वारा कहे गये उसी संस्कृत पद्य तथा अपने द्वारा कहे गये उसी प्राकृत पद्य को पढ़ती हैं)

राम—(हर्ष के साथ) वत्स लक्ष्मण! रघुकुल के कल्याण के अङ्कुर की उत्पत्ति की क्षेत्रभूमि की नदी यह सरयू पास में ही है। और यह सरयू की लहरों के जल-कणों से शीतल किये गये पार्श्व भाग वाली, नगरियों की मांग की मणि (अर्थात् नगरीश्रेष्ठ) अयोध्या है।

लक्ष्मण—(हर्ष के साथ) भरत से अनुगत तथा आप के अभिषेक में बुद्धि रखने वाले भगवान् वसिष्ठ—

दिलीपकुलमाणिक्यं सकलाशाविकासकम्।
आविर्भवन्तं भास्वन्तं भवन्तं सप्रतीक्षते॥ ८९॥

तेन पुष्पकादवतराम।

राम—वत्स! प्रतीक्षस्वेहैव तावत्सुलभसकलमण्डलालोकमाखण्डलाशामण्डनं भगवन्तं चण्डमरीचिं नमस्याम। (अञ्जलिं बद्ध्वा)

अन्वयः—दिलीपकुलमाणिक्यम् सकलाशाविकासकम् आविर्भवन्तम् भास्वन्तम् भवन्तम् सप्रतीक्षते।

व्याख्या—दिलीपकुलमाणिक्यम्—दिलीपकुलस्य माणिक्यम् = रत्नम्, दिलीपकुलश्रेष्ठम्, (राम सूर्यञ्च) सकलाशाविकासकम् = आशया सकलाना दिशा विकासकम् = प्रकाशकम्, यद्वा सकलाशानाम् = सकलमनोरथानाम् विकासकम् = पूरकम्, सूर्यपक्षे दीप्त्या सकलदिशा प्रकाशकम्, आविर्भवन्तम् = प्रकटीभवन्तम्, भास्वन्तम् = प्रकाशमान पक्षान्तरे सूर्यम्, भवन्तम् = त्वा रामम्, सम्प्रतीक्षते = प्रतिपालयति समागमायेति भाव। अत्र श्लेषोऽलङ्कार। अनुष्टुब्वृत्तम्॥ ८९॥

राम इति। वत्स = वात्सल्यभाजन लक्ष्मण! प्रतीक्षस्व = तिष्ठेत्यर्थ, इहैव = पुष्पकविमान एव। सुलभसकलमण्डलालोकम्—सुलभ, सकलमण्डलस्य= सम्पूर्णविम्बस्य, आलोक = दर्शनम्, यस्य स तम्, आखण्डलाशामण्डनम्—आखण्डलस्य = इन्द्रस्य आशा = दिक् प्राचीत्यर्थस्तस्या मण्डनम् = भूषणम्, सूर्यमिति। चण्डमरीचिम् = सूर्यम्। अवतरणात् पूर्वमेव भगवन्त सूर्यं नमाम इति धाय तिष्ठ, सूर्यनमस्कारादनन्तरमेवातरणमुचित तस्मादत्र सम्प्रति स्थेनेति भाव।

दिलीप वंश के मणि, सकल दिशाओं को प्रकाशित करने वाले उदित होते हुए सूर्य के समान आप की प्रतीक्षा कर रहे हैं॥ ८९॥

इसलिए हम लोग पुष्पक विमान से उतरें।

राम—वत्स! रुको, यहीं सर्वप्रथम सम्पूर्ण मण्डल से सुलभ दर्शन वाले (अर्थात् सम्पूर्ण रूप से दिखायी देने वाले) भगवान् सूर्य को हम प्रणाम करते हैं। (अञ्जलि-बांध कर)

प्राचीकुङ्कुमतिलकं पूर्वाचलशेखरैकमाणिक्यम् ।
त्रिभुवनगृहैकदीपं वन्दे लोकैकलोचनं देवम् ॥ ९० ॥

(नेपथ्ये)

अये रामभद्र !

रामः—अहो अद्भुतम् !

विकासयन्ती नितरां पद्मानीव मनांसि नः ।
प्रभेव भारती कापि भानुबिम्बाद्विजृम्भते ॥ ९१ ॥

अन्वयः—प्राचीकुङ्कुमतिलकम् पूर्वाचलशेखरैकमाणिक्यम् त्रिभुवनगृहैकदीपम् लोकैकलोचनम् देवम् वन्दे ।

व्याख्या—प्राचीकुङ्कुमतिलकम्—प्राच्याः = पूर्वदिशः, प्राचीनायिकाया इत्यर्थः, कुङ्कुमतिलकम् = कुङ्कुमेन = काश्मीरजेन, कृतं तिलकम् = तिलकसदृशमित्यर्थः, पूर्वाचलशेखरैकमाणिक्यम्-पूर्वाचलस्य = उदयगिरेः = शेखरे = भालस्थले, उत्तुङ्गशृङ्ग इत्यर्थः, एकम् = अद्वितीयम् माणिक्यम् = रत्नम्, तत्तुल्यमित्यर्थः, त्रिभुवनगृहैकदीपम्–त्रिभुवनमेव गृहं तस्य एकम् अद्वितीयम्, अतैलपूरमिति भावः, दीपम्, प्रकाशकत्वादिति भावः, लोकैकलोचनम् लोकस्य = संसारस्य, एकम् = अनुपमम्, लोचनम् = नेत्रम् दर्शनसामर्थ्यप्रदत्वादिति भावः। देवम्=भगवन्तं सूर्यं वन्दे=प्रणमामि । रूपकमलङ्कारः । गीतिर्जातिः ॥९०॥

अन्वयः—पद्मानीव नः मनांसि नितराम् विकासयन्ती कापि भारती प्रभेव भानुबिम्बात् विजृम्भति ।

व्याख्या—पद्मानीव = कमलानीव, नः = अस्माकम्, मनांसि = हृदयानि, नितराम् = सातिशयम्, विकासयन्ती = प्रसादयन्ती, प्रबोधयन्तीत्यपि च, कापि=

प्राची (नायिका) के केसर तिलक, उदयाचल के शिखर के अद्वितीयमणि, त्रिभुवनरूप गृह के अनुपम दीप, लोक के असाधारण नेत्र, भगवान् (सूर्य) का मैं अभिवादन करता हूँ ॥ ९० ॥

(नेपथ्य में)

हे वत्स रामभद्र !

राम—कमलों के समान हमारे मन को अत्यन्त प्रफुल्लित करती हुई

(नेपथ्ये)

यशः पूरं दूरं तनु सुतनुनेत्रोत्पलवनी-
तमस्तन्द्रा-चण्डातप ! तप सहस्राणि शरदाम् ।
इयं चास्तां युष्मद्गुणकथनपीयूषपटल-
श्रितोत्सङ्गा नन्दत्सुरनरभुजङ्गा त्रिजगती ॥ ६२ ॥

अनिर्वचनीया, भारती = वाणी, प्रभेव = कान्तिरिव, भानुबिम्बात्=सूर्यमण्डलात्, विजृम्भति = प्रकटति । यथा सूर्यमण्डलात्प्रकटन्ती प्रभा कमलानि विकासयति तथैव सूर्यमण्डलान्निर्गच्छन्ती वाणी अस्माकं हृदयानि सातिशयं प्रसादयतीति भावः । उपमालङ्कारः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—सुतनुनेत्रोत्पलवनीतमस्तन्द्राचण्डातप ! यशः पूरं दूरं तनु, शरदाम् सहस्राणि तप । इयम् त्रिजगती च युष्मद्गुणकथनपीयूषपटलश्रितोत्सङ्गा नन्दत्-सुरनरभुजङ्गा आस्ताम् ।

व्याख्या—सुतनुनेत्रोत्पलवनीतमस्तन्द्राचण्डातप—सुतनूनाम् = रमणीनाम्, नेत्राण्येवोत्पलानि = कमलानि, तेषां वनी=समुदायः, तस्यास्तमस्तन्द्रा=अन्धकार-जन्यनिमीलनम्, तत्र चण्डातप = सूर्य ! रमणीनेत्रप्रसादक रामभद्र ! इति भावः । यशःपूरम्—यशसः = कीर्तेः, पूरम् = प्रवाहम्, दूरम् = दिगन्तं यावत्, तनु = विस्तारय, यशस्वी भवेति भावः । शरदाम्=वर्षाणाम्, सहस्राणि, अपरिमितकाल यावदिति भावः, तप = विकासशीलतामाप्नुहि, राज्यं कुर्विति भावः । इयम् = एषा, त्रिजगती = त्रिलोकी, च = अपि, युष्मद्गुणकथनपीयूषपटलश्रितोत्सङ्गा—युष्माकं ये गुणाः = दयादाक्षिण्यादिसद्भावाः, तेषां कथनम् = वर्णनमेव, अमृत-पटलं = अमृतसमूहः, तेन श्रितः = अधिष्ठितः, उत्सङ्गः = मध्यमागो यस्याः सा, तादृशी, नन्दत्सुरनरभुजङ्गा—नन्दन्तः = आनन्दमनुभवन्तः सुराः = देवाः, नराः = मानवाः, भुजङ्गाः = नागाश्च, स्वर्गमर्त्यपाताललोकवासिन इत्यर्थः,

अनिर्वचनीय वाणी, प्रभा के समान सूर्यमण्डल से प्रकट हो रही है ॥ ६१ ॥

(नेपथ्य में)

रमणियों के नेत्रकमलों के अन्धकारजन्य सङ्कोच को दूर करने के लिए सूर्यरूप ! (अर्थात् सुन्दरियों के नेत्रों को प्रफुल्लित करने वाले राम !)

रामः—अनुगृहीतोऽस्मि । (पुनर्नेपथ्ये)

अन्यच्च ते किमाशास्महे ।

सुग्रीवः—अये तात दिनकर! परिपूर्णमनोरथ एव रामचन्द्रः । अनेन हि—

प्राप्ते निर्भरमुन्नतिर्निजगुणैराज्ञा पितुः पालिता
सुग्रीवश्च विभीषणश्च परमां राज्यश्रियं प्रापितौ ।
सङ्ग्रामे दशकन्धरः सुररिपुर्नीतो यशःशेषतां
दृष्टो बन्धुगणश्च हर्षविगलद्वाष्पोल्लसल्लोचनः ॥ ६३ ॥

यस्यां सा तादृशी, आस्ताम् = तिष्ठतु । अत्र वृत्त्यनुप्रासो नाम शब्दालङ्कारः, रूपकालङ्कारश्च । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—(अनेनेति गद्यभागादत्राध्याहार्यम्) निजगुणैः निर्भरम् उन्नतिः प्राप्ता, पितुः आज्ञा पालिता सुग्रीवश्च विभीषणश्च परमाम् राज्यश्रियम् प्रापितौ । सुररिपुः दशकन्धरः सङ्ग्रामे यशःशेषताम् नीतः, हर्षविगलद्वाष्पोल्लसल्लोचनः बन्धुगणः च दृष्टः ।

व्याख्या—(अनेन = श्रीरामचन्द्रेण) निजगुणैः =लोकोत्तरदयादाक्षिण्यादिस्वकीयसद्गुणैः, निर्भरम् = सातिशयं यथा स्यात्तथा, उन्नतिः = अभ्युदयः, प्राप्ता = अधिगता, पितुः = जनकस्य, दशरथस्येत्यर्थः, आज्ञा=आदेशः, पालिता= पूरिता, सुग्रीवश्च = सुग्रीवनामा सूर्यपुत्रो वानरश्च विभीषणश्च=विभीषणो नाम रावणानुजश्च, परमाम् = उत्कृष्टाम्, राज्यश्रियम् = राज्यलक्ष्मीम्, प्रापितौ = गमितौ । सुररिपुः = देवशत्रुः, दशकन्धरः = दशग्रीवः, रावण इत्यर्थः, सङ्ग्रामे=

कीर्तिसमूह को दूर-दूर तक फैलाओ, हजारों वर्षों तक राज्य करो और यह त्रिलोकी आप के गुण-वर्णनरूप अमृतसमूह से युक्त अङ्कवाली एवं सुप्रसन्न सुर-नर-नागों से सम्पन्न हों ॥ ६२ ॥

राम—अनुगृहीत हूँ। (पुनः नेपथ्य में)

और क्या आप के लिए इच्छा करें ?

सुग्रीव—अये तात सूर्य ! रामभद्र सर्वथा परिपूर्ण मनोरथ वाले हो चुके हैं। क्योंकि इन्होंने—

अपने गुणों से अत्यन्त अभ्युदय को प्राप्त किया, पिता (दशरथ) की आज्ञा

तथाऽपीदमस्तु ।

आ बालाद् वदनाम्बुजे तनुभृतां सारस्वतं जृम्भतां
देवे कौस्तुभधाम्नि चन्द्रमुकुटेऽद्वैता मतिः खेलतु ।
वाग्देव्या सह मुक्तवैरसरसा देवीव दीव्यादियं
शेषस्येव फणाञ्चलेषु सततं लक्ष्मीः सतां सद्मसु ॥ ९४ ॥

युद्धे, यश शेषताम् = यश = कीर्तिरेव शेषो यस्य स यशःशेष, तस्य भावस्तत्ता, ताम्, नीत = प्रापित, युद्धे रावणो व्यापादित इति भाव, हर्षविगलद्वाष्पलोचन — हर्षेण = मिलनजन्यानन्देन विगलत = स्रवत् यद् वाष्पम् = अश्रु तेन उल्लसती = दीप्यमाने, लोचने = नेत्रे यस्य स तादृश, बन्धुगणश्च = कुटुम्बसमुदायश्च, दृष्ट = अवलोकित । सर्वथाऽतृप्तहृदयस्य रामस्य सम्प्रति किमप्याशास्य नास्तीति भाव । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ९३ ॥

अन्वय — आ बालाद् तनुभृताम् वदनाम्बुजे सारस्वतम् जृम्भताम् । देवे कौस्तुभधाम्नि चन्द्रमुकुटे च अद्वैता मति खेलतु, वाग्देव्या सह मुक्तवैरसरसा इयम् लक्ष्मी शेषस्य फणाञ्चलेषु देवीव सताम् सद्मसु सततम् दीव्यात् ।

व्याख्या — आ बालात् = भावप्रधाननिर्देशेन शैशवादारभ्य अथवा शिशोरारभ्य वृद्ध यावदित्यर्थ, तनुभृताम् = शरीरिणाम्, वदनाम्बुजे = मुखकमले, सारस्वतम् = शास्त्रम्, वाङ्मयमित्यर्थ, सरस्वत्या इदमित्यर्थे 'तस्येदम्' इत्यण् । जृम्भताम्=वर्द्धताम्, बालेभ्य आरभ्य वृद्धान्यावत् सर्वे वाङ्मयज्ञानयुक्ता भवन्त्विति भाव । देवे = भगवति, कौस्तुभधाम्नि = कौस्तुभमणिधारिणि विष्णावित्यर्थ, चन्द्रमुकुटे = चन्द्रशेखरे शिव इत्यर्थ, च अद्वैता = द्वैतरहिता, अभिन्नेत्यर्थ, मति = बुद्धि खेलतु = क्रीडतु सर्वे शिवे विष्णौ च भेदबुद्धि परित्यज्य समान-

का पालन किया, सुग्रीव और विभीषण को भी उत्कृष्ट राज्यलक्ष्मी प्राप्त करायी, सुरारि रावण को युद्ध में कीर्तिशेष बना डाला (अर्थात मार डाला) तथा (पुनर्मिलन से उत्पन्न) हर्ष के कारण बहते हुए अश्रुजल से उल्लसित नेत्रवाले (भरतादि) बन्धुजन को भी देखा ॥ ९३ ॥

तो भी यह हो—

बालकों से लेकर (बूढ़ों तक, सभी) प्राणियों के मुखकमल में वाङ्मय वृद्धि को प्राप्त करे (अर्थात सभी लोग शास्त्रों का अध्ययन करें) भगवान् विष्णु

रामः—तदागच्छत,पुष्पकादवतीर्य गुरुं बन्धुजनं पौरांश्चानन्दयामः

(इति सर्वे पुष्पकादवतरन्ति)

जायन्तामविरामरामचरितक्रीडाभिरामाः सता-
मुन्मीलन्नवमल्लिकाविरचितस्रग्दामरम्या गिरः ।
याः कण्ठेऽपि निवेश्य पेशलधियो रोमाञ्चलीलाञ्चिताः
कान्ताबाहुलताविलासमहिमश्लेषांस्तृणं मन्वते ॥ ६५ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति श्रीपीयूषवर्षापरनामक-श्रीजयदेवकविविरचिते प्रसन्न-
राघवे नाम नाटकरत्ने सप्तमोऽङ्कः ।

भावेन द्वयोरुपासना कुर्वन्त्विति भावः । वाग्देव्या सह = सरस्वत्या सह, मुक्त-वैशसरसा = मुक्तः = परित्यक्तः, वैशसरसः = विरोधभावो यया सा तादृशी सती, इयम् = वृद्धिस्था लक्ष्मीः, शेषस्य = नागराजस्य, फणाञ्चलेषु=फणप्रान्तेषु देवी = पृथिवीव, सताम् = सज्जनानाम्, सद्मसु = भवनेषु, सततम् = नित्यम्, दीव्यात् = शोभिता भूयात् । शेषनागस्य फणप्रान्तेषु पृथिवीव सज्जनानां भवनेषु सरस्वत्या सह विरोधभावं परिहृत्य लक्ष्मीः सततं विलसतुतरामितिभावः ॥६४॥

अन्वयः—उन्मीलन्नवमल्लिकाविरचितस्रग्दामरम्याः सताम् गिरः अविराम-रामचरितक्रीडाभिरामाः जायन्ताम् । पेशलधियः याः कण्ठे निवेश्य अपि रोमाञ्च-लीलाञ्चिताः (सन्तः) कान्ताबाहुलताविलासमहिमश्लेषान् तृणम् मन्वते ।

व्याख्या—अथ भरतवाक्यत्वेन द्वितीया शुभाशंसा प्रतिपाद्यते-जायन्तामिति।

और शङ्कर में (लोगों की) अभेद बुद्धि क्रीडा करे (अर्थात् अभेद-भावना हो) सरस्वती देवी के साथ विरोध का परित्याग कर यह लक्ष्मी, शेषनाग के फणप्रान्तों में पृथिवी के समान सज्जनों के भवनों में सतत निवास करे (अर्थात् सज्जन विद्या और लक्ष्मी दोनों से सम्पन्न हों) ॥ ९४ ॥

राम—तो आओ, पुष्पकविमान से उतर कर गुरु (वसिष्ठ) बन्धुजन तथा नगर निवासियों को आनन्दित करें ।

(इस तरह सब लोग पुष्पक से उतरते हैं)

विकसित होती हुई नवमल्लिका के पुष्पों से गूँथी हुई माला की लड़ी के

उन्मालस्य – विकसितस्य या नवमल्लिका = नूतनमालिकापुष्पाणि ताभि विरचितानि = गुम्फितानि यानि स्रग्दामानि – पुष्पमाला, तानीव रम्या = मनोहरा सताम् – कवीनाम् गिर – वाण्य अविरामरामचरितक्रीडाभिरामा अविरामा = अविरता सततप्रवृत्ता रामचरितक्रीडा = श्रीरामचरितवर्णन विलासा ताभि अभिरामा – मनोहरा, जायन्ताम् = भवन्तु। पेशलधिय = पेशला दक्षा वाङ्मयग्रहणनिपुणा इत्यर्थ (चारौ दक्ष च पेशल इत्यमर) धी = बुद्धिर्येषा ते सहृदया इत्यर्थ या – कविगिर कण्ठ निवेश्यापि = गलनिधायापि अध्ययनात्वापि केवलपाठमात्रेणापीति भाव रामाञ्चलीलाञ्चिता = हर्षपुलकोद्गमविलासशोभिता (सन्त) का तावाहुलताविलासमहिमाश्लेषान् – कान्ताया = प्रियाया बाहुलताभ्याम् = भुजवल्लरीभ्याम् विलासमहिम्ना = विलासगौरवेण कृतान् परिरम्भान् = गाढालिङ्गनानि तृणम् = तृणवदुपेक्षणीयान् इति भाव मन्यते – अवगच्छन्ति। कवीना विकसन्नवमाल्लिकानिर्मितपुष्पमाला इव मृदुललिता कोमलाश्च गिरो रामचरितकीर्तन सततप्रवृत्ता सत्य साफल्यम् धिगच्छन्तु या कविगिर श्रयत अध्ययनात्वापि कवलमभ्यस्यापि सहृदया हर्षपुलकोद्गमविलासशोभिता सन्त प्रियाभुजलताविलासकृतगाढालिङ्गनान्यपि नाद्रियन्त इति भाव। अत्रोपमाऽलङ्कार। शार्दूलविक्रीडित वृत्तम्॥ ९५॥

इति विभाख्यायां प्रसन्नराघवव्याख्यायां सप्तमोऽङ्क



समान रम्य सज्जनों की वाणियाँ रामचरित की अविराम क्रीडाओं में अभिराम बनें (अर्थात् सज्जन कविवृन्द रामचन्द्र के अनन्त चरित के वर्णन में सतत प्रवृत्त रहते हुए अपनी वाणी को कृतार्थ करें) जिन (वाणियों) को (केवल) कण्ठ में रख कर भी सहृदय जन रोमाञ्च के विलास से शोभित होते हुए प्रिया की बाहुलताओं के द्वारा विलास के महत्त्व के कारण किये गये आलिङ्गनों को तृण (के समान महत्त्वहीन) समझते हैं॥ ९५॥

इस प्रकार विभा नामक प्रसन्नराघव की हिन्दी-व्याख्या में

सप्तम अङ्क समाप्त हुआ।

समाप्तश्चायं ग्रन्थ।



हिन्दी नोट्स

प्रथम अङ्क

पृष्ठ १—प्रसन्नराघवम्—प्रसन्नः = सीता प्रत्यानयनात् प्रसादयुक्तः राघवः = श्रीरामचन्द्रः, तमधिकृत्य कृतं नाटकमप्यभेदोपचारात् प्रसन्नराघवं = नाम। (लङ्का से सीता को वापस ले आने से) प्रसन्नराघव, अभेदोपचार से 'प्रसन्नराघव' को प्रस्तुत कर किया गया नाटक भी 'प्रसन्नराघवम्' कहलाता है। नाटक की संज्ञा होने से नपुं० । अथवा, 'प्रसन्नो राघवो वर्ण्यते यस्मिंस्तत् प्रसन्नराघवं नाम नाटकम् ।' अर्थात् प्रसन्न राघव वर्णित हैं जिसमें-ऐसा विग्रह कर बहुव्रीहिसमास करने से 'प्रसन्नराघवम्' नाटक का संज्ञा पद सिद्ध होता है।

श्लोक १—चत्वार इति। यह मङ्गल श्लोक है, कवि ने क्रम से तीन मङ्गल पद्य निबद्ध किये हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गल किया जाना चाहिए। यह मङ्गल तीन प्रकार का होता है—आशीर्वादात्मक, वस्तुनिर्देशात्मक और नमस्कारात्मक (आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्।) यहाँ तीनों मङ्गल श्लोकों को आशीर्वादात्मक ही जानना चाहिए। यद्यपि कवि ने अपने वाक् कौशल से वर्ण्यवस्तु की भी हलकी-सी झलक दिखा दी है किन्तु वह कवि का रचना-नैपुण्य ही समझा जाय।

पृष्ठ ६—नान्द्यन्ते = नान्दी के अन्त में अर्थात् मङ्गलाचरण की समाप्ति होने पर। **'नान्दी'** यह नाटक का पारिभाषिक शब्द है। नाटक के आरम्भ में मङ्गलाचरण के लिए निबद्ध मङ्गलश्लोक को 'नान्दी' कहते हैं। नान्दी शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'नन्दयति देवान् स्तुत्या, आनन्दयति च सभ्यान् स्तुतदेवप्रसादादिति नान्दी।' 'रङ्ग' अथवा नाट्यमण्डप की विघ्न-शान्ति या मङ्गलाशंसा के लिए नाट्यप्रयोग के पहिले 'नान्दी गायन' को नाट्याचार्यों ने अनिवार्य बताया है क्योंकि अधिकाधिक विघ्नशान्ति का सम्बन्ध 'नान्दी गायन' के ही साथ है। (तथाप्यवश्यं कर्त्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये)। नान्दी का स्वरूप अथवा लक्षण—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥
माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी ।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥

अर्थात् नान्दी' देव, द्विज नृप आदि का वह स्तुति गीति है जिसमें सामाजिकों का शुभाशंसा का अभिप्राय गर्भित रहा करता है। 'नान्दी' के लिए यह अपेक्षित है कि उसके द्वारा शङ्ख, चन्द्र, कमल, चक्रवाक कैरव आदि माङ्गलिक वस्तुओं की अभिव्यञ्जना हो जाय। 'नान्दी' द्वादशपदा भी हो सकती है और अष्टपदा भी।

प्रस्तुत नाटक में मङ्गलाचरण के लिए प्रयुक्त तीन श्लोक नान्दी के रूप में निबद्ध हैं। प्रथम और तृतीय श्लोक में भगवान विष्णु की स्तुति की गयी है और द्वितीय में उनके पाञ्चजन्य शङ्ख की ध्वनि की। तीनों पद्यों में सभ्य सामाजिकों की शुभाशंसा का अभिप्राय गर्भित है और पद्म, चन्द्र चक्र, शङ्ख आदि माङ्गलिक वस्तुओं की अभिव्यञ्जना भी है। तीन पद्यों में प्रतिपादित यह नान्दी द्वादशपदात्मिका है क्योंकि श्लोक पाद का भी पद शब्द से व्यवहार होता है (श्लोकपाद पद केचित)।

नान्दीपाठ सूत्रधार करता है या कोई अन्य नट ? इस विषय में मतभेद है। कतिपय विद्वानों का मत है कि नान्दी पाठ किसी अन्य नट का कर्त्तव्य है क्योंकि ऐसा मानने से ही 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' की सङ्गति ठीक बैठती है। नाट्याचार्य भरत का मत है कि नान्दीपाठ सूत्रधार का ही कर्तव्य है (सूत्रधार पठेन्नान्दीम्)। वस्तुतः नान्दीपाठ सूत्रधार का कर्त्तव्य है और नान्दी की समाप्ति पर कथावस्तु को अवतारणा भी वही करता है। नान्दी के पहिले उसका नाम्न ... अमङ्गल से बचने के लिए ही नहीं किया जाता है। ग्रन्थारम्भ मङ्गलाद्य में ही होना चाहिए।

सूत्रधार—नाट्य प्रकरण आदि को सूत्र कहते हैं। सूत्रं धारयतीति सूत्रधार 'कर्मण्यण्' इस सूत्र से अण् प्रत्यय। सूत्र का धारण करने वाला सूत्रधार कहलाता है। 'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते। सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो मतो बुधैः।' कुछ लोगों का मत है कि नाटकीय कथासूत्र की प्रथम सूचना देने

वाला, सूत्रधार कहलाता है। 'नाटकीयं कथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते। रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते।'

पृष्ठ ९—भाव = विद्वन्! ('भावो विद्वान्' इत्यमरः)। नाटकीय पात्रों के सम्बोधनप्रकार में आचार्यों का निर्देश है कि सूत्रधार का साथी नट उसे भाव शब्द से सम्बोधित करे। 'सूत्रधारं वदेद्भाव इति वै पारिपार्श्विकः।' इसी से यहाँ नट ने सूत्रधार को 'भाव' कहा है।

पृष्ठ १५—प्रत्यङ्क्मिति पद्यसंख्या ७ - यह श्लोक कवि की चित्रकाव्य-कला की पटुता का परिचायक है। प्रथम अक्षर को ले लीजिए, उसके बाद छः अक्षर छोड़ कर, प्रथम अक्षर के साथ सातवें-सातवें अक्षर को जोड़ते जाइए तो नाटक का नाम 'प्रसन्नराघवं नाम' स्पष्ट प्रकाशित होता है।

इस श्लोक के द्वारा प्रस्तुत रूपक की प्रशंसा कर रङ्ग-सामाजिकों को अभिनय-दर्शन के प्रति उन्मुख (अर्थात् आकृष्ट) किया गया है, अतः यहाँ 'प्ररोचना' है। 'उन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना'।

पृष्ठ २१, चन्द्रे चेति। पद्यसंख्या १०,—इस श्लोक में मध्यमणि न्याय से 'नीलोत्पलक्षुद्रकान्तो' यह विशेषण 'चन्द्रे', 'रामचन्द्रे' तथा 'दृगञ्चले' इन तीनों के साथ लगाया जाना चाहिए।

पृष्ठ २५-२६ पद्य संख्या १४—१५, इन दो श्लोकों के द्वारा कवि ने अपना परिचय दिया है जिससे पता चलता है कि कवि का गोत्र कौण्डिन्य, पिता का नाम महादेव और माता का नाम सुमित्रा एवं कवि का नाम जयदेव था। इसी प्रकार 'चन्द्रालोक' में प्रत्येक 'मयूख' के अन्त में इसके रचयिता जयदेव ने अपनी माता का नाम सुमित्रा और पिता का नाम महादेव बताया है। अतएव प्रसन्नराघवकार जयदेव और चन्द्रालोककार जयदेव एक ही हैं, ऐसा निश्चय होता है। कवि ने अपना ऐसा परिचय 'गोत्रं नाम च वक्तीयात्' के अनुरोध से दिया है।

पृष्ठ ३५, यस्याश्चोरश्चिकुरनिकर इति। पद्य संख्या २२—इस श्लोक की संस्कृत-साहित्य में बड़ी ख्याति है। इसमें कवि ने अनेक प्राचीन कवियों का भूषणों के रूप में उल्लेख कर उनसे कविता-कामिनी को अलङ्कृत कर मोहिनी रूप प्रदान किया है। 'चोर' पद से चौरपञ्चाशिका के रचयिता चोर कवि का

बोध होता है। 'मयूर' पद से सूय-शतक के रचयिता मयूर भट्ट का बोध होता है जो बाणभट्ट के समसामयिक और सम्बन्धी थे। 'भास' पद से स्वप्नवासवदत्त आदि तरह नाटकों के कर्ता महाकवि भास का बोध होता है। 'कालिदास' से कविकुलगुरु रघुवंशादि महाकाव्यों तथा अभिज्ञानशाकुन्तल आदि नाटकों के प्रणेता महाकवि कालिदास का बोध होता है। 'हर्ष' से नैषधीयचरित महाकाव्य के रचयिता श्री हर्ष का तथा 'बाण' से 'हर्षचरित तथा कादम्बरी' के कर्ता महाकवि बाण का बोध होता है।

पृष्ठ ३६ न ब्रह्मविद्येति। पद्यसंख्या २३, ब्रह्मविद्या—ब्रह्मप्रतिपादिका विद्या इति ब्रह्मविद्या, मध्यमपदलोपी समास। इसे वेदान्त भी कहते हैं।

पृष्ठ ३७ नेपथ्ये—नटवेशपरिवर्तनस्थान। नेपथ्य शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है, जैसे—(१) पर्दा (२) पर्दे के पीछे का स्थान जहाँ पात्र वेश धारण करते हैं अथवा वेश परिवर्तन करते हैं (३) सजावट (४) वेशभूषा (*विशेष कर नाटक के पात्रों की*)। *यहाँ नेपथ्य शब्द का अर्थ पर्दे के पीछे का स्थान है।*

दाल्भ्यायन—दल्भस्य गोत्रापत्यं पुमान् इति दाल्भ्य। गर्गादिगण में दल्भ शब्द का पाठ होने से दल्भ शब्द से 'गर्गादिभ्यो यञ्' इस सूत्र से यञ् प्रत्यय होने पर दाल्भ्य' पद निष्पन्न हुआ। दाल्भ्यस्य युवाऽपत्यं पुमान् इति दाल्भ्यायन। दाल्भ्य शब्द से 'यञिञोश्च' इस सूत्र से फक् प्रत्यय होने पर 'दाल्भ्यायन' पद बनता है।

प्रस्तावना—नाटक के आरम्भ का वह भाग जिसमें सूत्रधार के सहित नटी या विदूषक अथवा पारिपार्श्विक (सूत्रधार का अनुचर नट) परस्पर इस प्रकार के स्वाभिप्राय सूचक विचित्र वाक्यों द्वारा बात चीत करते हैं जिसमें प्रस्तुत नाटक का उपस्थापन होता है, प्रस्तावना या आमुख कहा जाता है।

साहित्यदर्पणकार के शब्दों में—

नटी विदूषको वाऽपि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा॥

साहित्यदर्पणकार के मत से यह प्रस्तावना पाँच प्रकार की होती है।

(१) उद्घात्य (त) क, (२) कथोद्घात, (३) प्रयोगातिशय (४) प्रवर्तक (५) अवलगित।

सूत्रधार के वाक्यश्रवण के बाद ही तत्काल पात्र (दाल्भ्यायन) का प्रवेश होता है, अतः प्रस्तुत नाटक की यह कथोद्घातरूप द्वितीय प्रकार की प्रस्तावना है—(सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा। भवेत्पात्रप्रवेशश्चेत्कथोद्घातः स उच्यते'।)

पृष्ठ ४४, घुणाक्षरन्यायः—किसी लकड़ी में घुन लग जाने से अथवा पुस्तक आदि में दीमक लग जाने से कुछ अक्षरों की आकृति से मिलने-जुलते चिह्न अपने आप बन जाते हैं अतः जब कोई कार्य अनायास या अकस्मात् हो जाता है तब इस न्याय का प्रयोग किया जाता है।

पृष्ठ ४५, विष्कम्भकः—विष्कम्भक का लक्षण साहित्यदर्पणकार के शब्दों में—

> वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
> संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः॥
> मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः।
> शुद्धः स्यात्स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः॥

सरस इति वृत्त का निबन्धन तो 'अङ्क' में हुआ करता है किन्तु नीरस (अतएव अनिबन्धनीय) इति वृत्त की भी योजना पूर्वापर-सम्बन्ध की दृष्टि से अपेक्षित होती है। ऐसे अनिबन्धनीय इति वृत्त की सूचना के पाँच उपाय हैं जिन्हें 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं। उन्हीं में एक 'विष्कम्भक' भी है। यह 'विष्कम्भक' वह अर्थोपक्षेपक हुआ करता है जो कि भूत और भावी कथा-भागों की सूचना दिया करता है और अङ्क की अपेक्षा कम विस्तार रखता है। इसकी योजना अङ्क के आदि में ही (मध्य और अन्त में नहीं) की जाती है। यह दो प्रकार का होता है—(१) शुद्ध, (२) सङ्कीर्ण। जिसमें मध्यमप्रकृति के एक पात्र अथवा दो पात्रों के द्वारा सूचना दी जाती है उसे 'शुद्ध विष्कम्भक' और जिसमें नीच और मध्यम प्रकृति के पात्रों द्वारा सूचना दी जाती है उसे 'सङ्कीर्ण' अथवा 'मिश्र' विष्कम्भक कहते हैं। 'शुद्धविष्कम्भक' में मध्यम प्रकृति के पात्र होने से

संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ करता है, जब कि सङ्कीर्ण विष्कम्भक में नीच और मध्यम प्रकृति के पात्र होने से प्राकृत और संस्कृत का क्रमशः प्रयोग होता है। प्रस्तुत विष्कम्भक 'शुद्ध' है।

पृष्ठ ६६, पद्य संख्या ३८, कवि ने यहाँ वह चमत्कार दिखाया है कि भिन्न भिन्न दो प्रकार से पदच्छेद कर अन्वय करने पर भिन्न भिन्न दो प्रकार के अर्थ निकलते हैं (१) 'अये ! अलम् केशविस्रस्तशेखरालोकनेन' इस प्रकार पदच्छेद कर 'अये ! ते केशविस्रस्तशेखरालोकनेन अलम्, समयो याति' ऐसा अन्वय करने पर अर्थ निकलता है कि अरे ! तुम्हें केश से गिरे हुए शिरोभूषण को देखने से विरत होना चाहिए (क्योंकि समय (व्यर्थ) जा रहा है। (२) 'अये लङ्केश' इस प्रकार पदच्छेद कर 'अय ! लङ्केश ! विस्रस्तशेखराल कनेन ते समयो याति' ऐसा अन्वय करने पर अर्थ निकलता है कि अरे लङ्केश ! (रावण) गिरे हुए शिरोभूषण के देखने में तेरा समय (व्यर्थ) जा रहा है। रावण यही दूसरा अर्थ ही पहिले समझ कर अपने पहचाने जाने की शङ्का कर चकित हो गया था।

पृष्ठ ६१, हैहयराजेन—हैहयराज कार्तवीर्य अर्जुन को कहते हैं। इसका नाम अर्जुन था और कृतवीय का पुत्र होने से कार्तवीर्य भी कहा जाता था। इसने रावण को बलात् पकड़ कर कारागार में बन्द कर रखा था। कार्तवीर्य अर्जुन 'सहस्रबाहु' भी कहा जाता था, क्योंकि इसके हजार भुजाएँ थीं। कार्तवीर्य अर्जुन परशुराम के द्वारा मारा गया था।

पृष्ठ ८५, तारतम्यम् = न्यूनाधिक भाव, तुलनात्मक मूल्य, अन्तर। तर = उत्कृष्टतर इत्यर्थः, तम = उत्कृष्टतम तरश्च तमश्च इति तरतमौ, तयोर्भावः तारतम्यम्, तर और तम का द्वन्द्व समास करने पर भाव में 'गुणवचन ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इस सूत्र से ष्यञ् प्रत्यय होने पर 'तारतम्यम्' पद निष्पन्न होता है।

पृष्ठ ६३, मन्दोदरीति। पद्य संख्या ५८ इन्द्र के 'नन्दन' नामक वन में मन्दार, पारिजात, सन्तान, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन ये पाँच वृक्ष अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—('पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्' ॥ इत्यमरः) देवता लोग नन्दन वन की रखवाली किया करते हैं। रावण अपने बल से देवताओं को भगा कर नन्दन वन में घुस कर 'मन्दार'

के पुष्प लाया करता था जिन्हें मन्दोदरी अपने केश कलाप में धारण करती थी। उन पुष्पों की सुगन्ध से आकृष्ट हो भौंरे उन पर बैठ कर उनका मकरन्द-पीते हुए आमोद पूर्वक गुनगुनाया करते थे, मानों वे रावण के उस पराक्रम का गान करते थे।

पृष्ठ ९६ 'जनकराजस्य निवेदयावः' यहाँ 'जनकराजस्य' में 'कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव' इस नियम से षष्ठी विभक्ति हुई है।

द्वितीय अङ्क

अङ्क—'अङ्क' नाटक का पारिभाषिक शब्द है। जैसे श्रव्यकाव्य का विह्न उसका 'सर्ग' विभाग है वैसे ही दृश्यकाव्य का विह्न उसका 'अंक' विभाग है। अंक का स्वरूपनिरूपण इस प्रकार है—

प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः।
भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः॥
नानेकदिननिर्वर्त्यं कथया संप्रयोजितः।
आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मितः॥
प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तो भावरसोद्भवैः।
अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तितः॥

अर्थात् 'अङ्क' नाटक का वह अवच्छेद या अन्तर्विभाग है जिसमें सामाजिकों की दृष्टि नायक चरित का साक्षात्कार किया करती है, जिसमें रस-भावों का अभिव्यञ्जन-सौन्दर्य स्पष्ट प्रतीत हुआ करता है। जिसके शब्द से अर्थ, और अर्थ से कवि-हृदय स्वभावतः झलका करता है और जिसमें असमस्त पदयोजना की एक मनोहारिणी छटा दिखायी दिया करती है। जिसमें ऐसी कथा की रचना नहीं हुआ करती जो कई दिनों तक चलती रहे, जिसमें नायकादि के नित्यादि कर्मों के विरुद्ध कर्मों का निरूपण नहीं किया जाया करता है। जिसमें रानी, परिजन, अमात्य, वणिक् आदि के प्रत्यक्ष मनोरञ्जक ऐसे चित्र खिंचे रहते हैं जो स्वभावतः रस-भावों के आविर्भावक लगा करते हैं और जिसके अन्त में सभी पात्र अपना-अपना अभिनय समाप्त कर रङ्गमञ्च से निकलते दिखायी देते हैं।

'रसार्णवसुधाकर' के प्रणेता की एक बड़ी सुन्दर सूझ यह भी है कि नाटक के एक एक अवच्छेद को अङ्क इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वे रस भावों के लालन पालन के लिए अङ्क (अर्थात् गोद) का काम किया करते हैं—

'रसालङ्कारवस्तूनामुपलालनकाङ्क्षिणाम् ।
जनकाङ्कवदाधार भूतत्वादङ्क उच्यते' ॥ (३।१६७)

पृष्ठ ६७—तापस—तपोऽस्यास्तीति तापस । तपस् शब्द से 'अण् च' इस सूत्र से अण् प्रत्यय होने पर 'तापस' पद की सिद्धि होती है।

पृष्ठ ६६—देवस्य दश—(दशग्रीवेति) तापस 'देव दशकण्ठ की आज्ञा है' ऐसा कहना चाहता था क्योंकि ऐसा कहने का ही उसे अभ्यास था किन्तु 'देव दश' इतना कहने ही उसे ख्याल आया कि मेरा रहस्य खुल जायगा, इस रहस्य गोपनार्थ उसने तुरन्त कहा कि देव शितिकण्ठ (महादेव) की आज्ञा है। किन्तु चूँकि 'दश' कहने से यह विदित ही हो गया कि वह 'दशकण्ठ' कहना चाहता था, अतः वाक्य का स्वरूप बदल देने पर भी रहस्य खुल ही गया।

कौशिक—विश्वामित्र । कुशिक वंश में उत्पन्न होने से विश्वामित्र कौशिक कहे जाते हैं। कुशिकस्य गोत्रापत्यं पुमान् इति कौशिक । कुशिक शब्द से 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इस सूत्र से अण प्रत्यय होने पर 'कौशिक' पद की सिद्धि होती है।

पृष्ठ १०४—प्रतिहारायितम्—प्रतिहारवत् आचरितम्। अर्थात् प्रतीहार (द्वारपाल) का काम किसने किया ? किसी राजा के नगर अथवा महल में प्रतीहार ही किसी व्यक्ति का प्रवेश कराता है। बिना उसकी प्रेरणा अथवा अनुमति के, प्रवेश नहीं कर सकता। यहाँ तापस के पूछने का अभिप्राय यह है कि ताटका यमराजपुरी को किसके द्वारा भेजी गयी ?

पृष्ठ १०४—जीवन्मुक्त इव दूर प्रक्षिप्त—जीवन्मुक्त का प्रथम अर्थ है 'निश्चेष्ट' और दूसरा अर्थ है—'ब्रह्मज्ञान' से पवित्र होकर जीवन मरण के बन्धन से मुक्त। उसके समान, दूर प्रक्षिप्त = दूरवर्त्ती स्थान पर फेंक दिया गया। दूसरे पक्ष में 'दूरवर्त्ती ब्रह्मपद को प्राप्त कराया गया' यह अर्थ हुआ। भाव यह है कि जैसे ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त, दूरवर्त्ती ब्रह्मपद को प्राप्त होता है वैसे ही राम के बाण से निश्चेष्ट मारीच दूरवर्त्ती स्थान पर भेज दिया गया अथवा टाल

दिया गया। इससे राम के बाण से मारीच की भाविनी जीवन्मुक्ति सूचित की गयी है।

सीताभिलाषशीतले—सीता विषयक पाणिग्रहण रूप मनोरथ से शीतल। कोपपरितापः—क्रोध की गर्मी। भिक्षु के कथन का आशय है कि जैसे अत्यन्त शीतल वस्तु पर अग्निकृततापका प्रभाव नहीं होता है, वैसे ही सीता के प्रति हृदय आकृष्ट होने के कारण रावण के चित्त में मारीच का सुनायी पड़ा भी चीत्कार क्रोध उत्पन्न करने में असफल रहा। इस कथन के द्वारा 'मृगरूपमारीच वध, सीताहरण के लिए उद्यत रावणकृत मारीचविषयक उपेक्षा' इस भावी-वृत्तान्त की सूचना दी गयी है।

पृष्ठ १०६, आरामरामणीयकम्—आरामस्य = उपवनस्य, रामणीयकम् = सौन्दर्यम्। उपवन के सौन्दर्य को। रामणीयकम्—रमणीयस्य भावः रामणीयकम्, 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद्वुञ्' सूत्र से वुञ् प्रत्यय करने पर 'रामणीयकम्' पद बनता है।

आर्य—छोटा व्यक्ति अपने से बड़े को 'आर्य' कहकर सम्बोधित करता है। अतः लक्ष्मण ने अपने बड़े भाई राम को 'आर्य' कहकर सम्बोधित किया है। पत्नी भी अपने पति को 'आर्य' अथवा 'आर्यपुत्र' कहकर सम्बोधित करती है।

पृष्ठ १०७, मलयशिखरादिति। पद्यसंख्या ४, इस पद्य में दक्षिणानिल के मन्द-मन्द उत्तर की ओर चलने के तीन कारणों की उत्प्रेक्षा कवि के द्वारा बहुत सुन्दर बन पड़ी है।

कामदेव दक्षिणानिल का स्वामी है। उसके आदेश से मलयपर्वत से लेकर कैलाश पर्वत तक भुवनमण्डल को जीतने के लिए चला तो, किन्तु कैलासवासी शिव का ध्यान आते ही डर गया कि मेरे स्वामी कामदेव ही जब शिव के क्रोध से भस्म हो गये तब मैं कौन हूँ, किन्तु स्वामी के आदेश का पालन भी अनिवार्य है अतः डरता-डरता धीरे-धीरे चल रहा है। डर कर मन्द-मन्द चलने का दूसरा एक कारण और है वह यह कि शिवजी 'भुजङ्गवर' हैं। सर्पों का आहार ही वायु है। वह सोच रहा है कि कहीं शिव के द्वारा धारण किये गये सर्प उसे पी न लें।

तीसरा कारण यह है शिव का नाम 'हर' है जिसकी व्युत्पत्ति है – हरति= विनाशयति शत्रूनिति हर । वह सोच रहा है कि उसके स्पर्श से सम्भव है कि शिव के मन में विकार उत्पन्न हो जाय और व कुपित होकर उसे जला कर अपनी 'हर' संज्ञा को चरितार्थ न करने लग जाय ।

पृष्ठ १०९, विश्वामित्र —'विश्वस्य मित्रम्' ऐसा विग्रह कर षष्ठी समास करने पर ऋषि की संज्ञा के अर्थ में मित्रे चर्षौ सूत्र से त्र व के अन्तिम ह्रस्व अकार को दीर्घ होने पर 'विश्वामित्र' पद बनता है, उससे भिन्न अर्थ में विश्वमित्र' होता है ।

पृष्ठ १०९, याज्ञवल्क्यस्य—यज्ञवल्क ऋषि के वंश में उत्पन्न ऋषि 'याज्ञवल्क्य' कहे जाते हैं । राजा जनक ने इन्हीं 'याज्ञवल्क्य' से ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी । याज्ञवल्क्य ने एक स्मृति ग्रन्थ भी रचा है जो 'याज्ञवल्क्य स्मृति' के नाम से प्रसिद्ध है । 'याज्ञवल्क्य' पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार है— यज्ञवल्कस्य गोत्रापत्यं पुमान्' इति याज्ञवल्क्य । 'यज्ञवल्क' शब्द से गर्गादिभ्यो यञ्' सूत्र से यञ प्रत्यय होने पर 'याज्ञवल्क्य' पद निष्पन्न होता है ।

पृष्ठ ११६ समुचितैव प्रणामपरिपाटी—प्रणाम करने की (तुम्हारी) पद्धति समुचित ही है । यहाँ सखी ने व्यङ्ग्य पूर्वक सीता से मजाक किया है कि जिन विशेषणों से गौरी देवी को सम्बोधित कर प्रणाम किया है उनसे तुमने अपना मनोरथ स्पष्ट व्यक्त कर दिया । वह यह कि हे देवि ! जिस प्रकार तू अपने पति की इतनी प्यारी है कि उनके आधे शरीर पर ही तूने अधिकार कर लिया है उसी प्रकार मैं (सीता) भी अपने पति की प्यारी बनूँ और जिस प्रकार तू अपने पति के साथ त्रिभुवनरूप भवन में नित्य वास करती है उसी प्रकार मैं (सीता) भी अपने पति के साथ सदा रहूँ—उसमें कभी मेरा वियोग न हो । सखी की व्यङ्ग्यपूर्ण इस उक्ति पर सीता प्रणयकोप से युक्त हो जाती है ।

अलमलीकजल्पितेन—सीता ने प्रणयमिश्रित क्रोध के साथ सखी को यह कह कर फटकारा कि झूठ मत बोलो । सीता ने इस प्रकार से अपनी खिसियाहट छिपाने और बात टालने की चेष्टा की है ।

पृष्ठ ११८, अयि राजहंसकन्यके इति । यह लक्ष्मण की उक्ति है जो राजहंस की कन्या और सीता दोनों के पक्ष में सङ्गत होती है । राजहंसकन्यके=

श्रेष्ठ हंस की पुत्रि ! सीतापक्ष में—राजाओं मे हंस अर्थात् श्रेष्ठ, जनक की पुत्रि ! इसी प्रकार 'कान्त.' पद से प्रिय राजहंसपुत्र और प्रिय राम दोनों का बोध होता हैं।

पृष्ठ १२२, **निजवत्स इव वात्सल्यप्रक्षालितं हृदयं वर्तते** – सीता ने लक्ष्मण को देख कर कहा है कि इसको देख कर मेरा हृदय स्नेह से युक्त हो रहा है जैसे अपने बच्चे के विषय में होता है। कवि ने सीता की इस उक्ति द्वारा लक्ष्मण के प्रति सीता के भावी पुत्रभाव को सूचित किया है; किन्तु यहाँ सीता की कौमारावस्था होने अतएव पुत्रस्नेह के अनुभूत न होने से सीता की यह उक्ति स्वाभाविक नही प्रतीत होती है।

पृष्ठ १२३, **हला ! एकं विस्मृतास्मीति**। यहाँ सीता ने राम को फिर देखने के लिए आम के वृक्ष को देखने का बहाना मात्र बनाया है। वे वस्तुतः राम को देखना चाह रही है। आम्रवृक्ष का दर्शन गौण किन्तु राम का दर्शन मुख्य है।

पृष्ठ १२४—पद्य संख्या १६,—पूर्व श्लोक में सीता जी को पार्वणशर्वरी (पूर्णिमा की रात) कहा गया है। उसी का सर्वाङ्गपूर्ण चित्रण इस श्लोक में किया गया है। सीता के नेत्र नीलकमल (जो रात में विकसित होता है) के समान, सीता का मुख पूर्णचन्द्र के समान सुन्दर, कुच किञ्चिन्मुकुलित कमल के समान, केशपाश भँवरे के समान काले है।

पृष्ठ १२८—**इयमसौ वासन्ती लतेति**। यहाँ सखी सीता से कह रही है कि भर्तृदारिके ! देखो। वही यह वासन्तीलता आम के छोटे-से वृक्ष का आलिङ्गन करने के लिए आगे बढ़ रही है। वास्तव में सखी लता के बहाने से सीता के प्रति विनोद-पूर्ण वचन कह कर मजाक कर रही हैं। उसका आशय यह है कि तुम (सीता) इस राजकुमार (राम) का आलिङ्गन करने के लिए उत्सुक हो आगे बढ़ रही हो।

पृष्ठ १३१—**हृदयमधिवसति**—'अधिवसति' इस पद के योग में उपान्वध्याङ्वसः' इस सूत्र से आधार (हृदय) को कर्मसंज्ञा होने से द्वितीया विभक्ति हुई हैं।

पृष्ठ १३२—आकारप्रकटनेनवाकार गुप्ति कृतवत्यसि—यहाँ सखी का वाक्कौशल श्लाघ्य है। सीता का मन राम में लगा है किन्तु सखी के पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया आराम (अर्थात् बगीचा) में। ऐसा कह कर सीता ने अपने अभिप्राय को छिपाने की चेष्टा की। किन्तु सखी उनसे भी अधिक चालाक ठहरी और तुरन्त सीता की चालाकी समझकर कह उठी—तुम्हारा चातुर्य आश्चर्यजनक है, क्योंकि आकार (अर्थात् 'आ') के प्रकटन से आकार (अर्थात् अभिप्राय) का गोपन तुमने किया। जिसका प्रकटन उसी का गोपन यह असम्भव है परन्तु तुमने आकार के प्रकटन से (अर्थात् राम के पहिले 'आ' जोड़कर—आराम में मन लगा है—ऐसा कह कर, आकार (अर्थात् राम में मन लगा है—इस अपने अभिप्राय) को छिपा लिया।

पृष्ठ १३७—दलदमलेनि। पद्य संख्या २७—वस्तुत सखी का यह कथन राम के विषय में है, अलिपोत (भ्रमर का बच्चा) तो बहाना मात्र है। ऐसा कह कर सखी ने सीता से एक प्रकार का मजाक किया है।

पृष्ठ १३८—स्नपयति। पद्य सं० २८—'स्ना' धातु से णिच् होने पर लट् लकार प्रथम पुरुष के एक वचन का रूप है। उपसर्गरहित 'स्ना' धातु का 'ग्लास्नावनुवमां च' इससे वैकल्पिक मित्त्व होता है। जब मित्त्व होता है तब 'मितां ह्रस्व' से ह्रस्व होकर स्नपयति होता है। जब मित्त्व नहीं होता तब ह्रस्व की प्राप्ति न होने से 'स्नापयति' ऐसा रूप होता है।

पृष्ठ १४५, पद्य संख्या ३४—चन्द्रोदय होने पर चक्रवाक और चक्रवाकी परस्पर एक दूसरे से अलग हो जाते हैं अत उनके लिए दु खदायी होने के कारण चन्द्रमा को चक्रवाकियों के हृदय का शल्य (काँटा) कहा गया है।

चकोर एक विशेष प्रकार का पक्षी है। कहा जाता है कि यह चन्द्रमा की किरणों को पीता है। उसका मुख दिन भर बन्द रहता है। रात में चन्द्रमा की किरणों को पीने के लिए ही खुलता है। इसी से चन्द्रमा को चकोर के मुखरूप कपाट को खोलने की कुञ्चिका (कुञ्जी) कहा गया है।

भगवान् शिव ने कामदेव को भस्म कर दिया था तब भी चन्द्रमा को देख कर काम की उद्दीप्ति होती है, इसी से चन्द्रमा को कामदेवरूपी वृक्ष का नूतन अङ्कुर कहा गया है।

चन्द्रोदय होने पर मानिनी स्त्रियों का मान गलने लगता है और वे मान छोड़कर अपने-अपने पति से मिलने के लिए आकुल हो उठती हैं अतः चन्द्रमा को मानरूपी गज का अङ्कुश कहा गया है अर्थात् जैसे अङ्कुश अत्यन्त मतवाले हाथी को शान्त कर वश में कर लेता है वैसे ही चन्द्रमा मानिनी स्त्रियों के मान को शान्त कर उन्हें पति की वशवर्तिनी बना देता है।

तृतीय अङ्क

प्रवेशकः—इसका लक्षण 'साहित्यदर्पण' में इस प्रकार कहा गया है—

'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥'

'प्रवेशक' भी विष्कम्भक की ही भाँति भूत और भावी घटनाओं का सूचक हुआ करता है। इसकी योजना दो अङ्कों के बीच में की जाया करती है अर्थात् पहले अङ्क के आदि में इसकी योजना निषिद्ध है। इसमें 'अनुदात्तोक्ति' अर्थात् संस्कृतभिन्न प्राकृतादि भाषा का प्रयोग रहता है जब कि विष्कम्भक की भाषा संस्कृत अथवा संस्कृत-प्राकृत होती है। सामाजिकों के हृदय में अप्रत्यक्ष अर्थो का प्रवेश कराने से इसकी प्रवेशक संज्ञा है-प्रवेशयति सामाजिकहृदयेऽप्रत्यक्षानर्थानिति प्रवेशकः।

पृष्ठ १५९, पद्यसंख्या ३—महयामि—चुरादिगण में पठित 'मह पूजायाम्' धातु से लट् लकार के उत्तम पुरुष के एक वचन का रूप है। यह धातु अकारान्त है अतः अल्लोप का स्थानिवद्भाव होने से उपधावृद्धि नहीं हुई है।

पृष्ठ १६४, पद्यसंख्या ७—वेद के छः अङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त और छन्द एवं ज्योतिष। (शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गतिः। छन्दोविचितिरित्येतैः षडङ्गो वेद उच्यते।)

राज्य के सात अङ्ग—स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना ('स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च। राज्याङ्गानि' इत्यमरः)।

योग के आठ अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। (यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि, इति पातञ्जलयोगदर्शनकारः)

पद्य संख्या ८—विश्वामित्र जाति से क्षत्रिय होकर भी तपस्या के द्वारा ब्राह्मण हुए थे। यही उनका वर्णोत्कर्ष है।

पृष्ठ १६५, राजर्षे—राजा जनक को राजर्षि कह कर सम्बोधित किया गया है। राजा चासौ ऋषिरिति राजर्षि। प्राचीन भारतीय क्षत्रिय राजा आचरण से ऋषि तुल्य ही हुआ करते थे अतः इन्हें 'राजर्षि' कहा जाता था। राजा और ऋषि की समानता का बड़ा सुन्दर प्रतिपादन अभिज्ञानशाकुन्तल में महाकविकालिदास ने किया है—

> अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये
> रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोति।
> अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
> पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः ॥' (२।१५)

पृष्ठ १६६ लक्ष्मण इति। अपवार्य—यह नाटक का पारिभाषिक शब्द है। इसी को अपवारित भी कहा जाता है। साहित्यदर्पणकार ने कहा है—

> तद्भवेदपवारितम्। रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते ॥

अर्थात् उस वचन को 'अपवारित' कहते हैं जिसे किसी के प्रति गोपनीय समझकर उससे अलग हट कर दूसरे से कहा जाता है। यहाँ लक्ष्मण ने विश्वामित्रादि के प्रति गोपनीय समझकर, उनसे अलग हटकर अपनी बात केवल राम से कही है अतः 'अपवार्य' शब्द का प्रयोग यहाँ किया गया है।

पृष्ठ १७० आङ्गिरसोचितमात्थ—बृहस्पति के समान ठीक कहते हो। आङ्गिरस बृहस्पति को कहते हैं। 'जीव आङ्गिरसो वाचस्पतिः' इत्यमरः। अङ्गिरसोऽपत्यं पुमानिति आङ्गिरसः = बृहस्पतिः 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इस सूत्र से अण् प्रत्यय। आङ्गिरसेनोचितं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषण। अथवा हे आङ्गिरस! = अङ्गिरा के वंश में उत्पन्न होने वाले शतानन्द! उचित कहते हो। यहाँ आङ्गिरस शब्द के द्वारा शतानन्द को सम्बोधित किया गया है।

पृष्ठ १७२, पद्य संख्या १४—एक बार विश्वामित्र जी इन्द्र पर क्रुद्ध होकर एक नवीन स्वर्ग की रचना करने पर उतारू हो गये। उस समय वे अपनी क्रोधारुण दृष्टि जिधर ही घुमाते थे उधर ही नये नये देवताओं की पङ्क्ति

की पङ्क्ति निर्मित होती जाती थी। उस समय उनको दृष्टि तूलिका और सूर्य एवं चन्द्र के मण्डल क्रमशः लाक्षा एवं चूने के रङ्गपात्र की तरह मालूम पड़ते थे।

पृष्ठ १८२, पद्य संख्या २४—दैत्यों को परास्त करने में राजा दशरथ ने इन्द्र की अभूतपूर्व सहायता की। सभी दैत्य विनष्ट हो गये और इन्द्र के शरीर में अस्त्र शस्त्र का एक भी घाव नहीं हुआ, यह था दशरथ के पराक्रम का प्रभाव। शत्रु दैत्यों से निश्चिन्त होकर इन्द्र अब इन्द्राणी के साथ काम-क्रीडा में आसक्त रहते थे जिससे उनके शरीर में इन्द्राणी-कृत नख-क्षत के ही घाव दीखते थे, अस्त्र शस्त्र के नहीं।

पृष्ठ १८३ पद्य संख्या २६—राजा दशरथ के पराक्रम का वर्णन करते हुए कवि की उत्प्रेक्षा है कि राजा दशरथ ने शत्रुओं को मारकर उनकी पत्नियों के नेत्रों की कज्जल-कालिमा को छीन लिया (उन्हें विधवा कर दिया) वही कज्जलकालिमा धनुष की प्रत्यञ्चा के घट्ठे के रूप में उनकी भुजा मे दीख पड़ रही है। इसी प्रकार वैधव्य के कारण शत्रु की पत्नियों ने कटि में करधनी पहनना तथा छोड़ दिया, मानों उनकी करधनी के शब्दों को राजा दशरथ की प्रत्यञ्चा ने पी लिया इसी से करधनी के शब्द अब सुनायी नहीं देते।

पृष्ठ १९१, पद्य संख्या ३०—बादलों मे इन्द्र का धनुष निकलने पर वृष्टि होती है। शिव के धनुष के उन्नत होने पर त्रिपुरासुर के वध से उसकी स्त्रियों के नेत्रों से आँसू की झड़ी लग गयी, उस समय वह शिव धनुष इन्द्र धनुष के समान प्रतीत होता था।

पृष्ठ १९८, पद्य संख्या ३७—परशुराम के परशु के द्वारा मारे गये सम्पूर्ण राजाओं की स्त्रियों ने वैधव्य के कारण नेत्रों में काजल लगाना छोड़ दिया। यही परशु के द्वारा राजाओं की स्त्रियों के नेत्रों की सम्पूर्ण कज्जल-कालिमा का पीना है।

पृष्ठ २१२, पद्य संख्या ४९—यहाँ 'कन्दुकलाञ्छनाञ्चितकरः' तथा 'कौसल्यार्पितमङ्गलप्रतिसरः' इन दो विशेषणों से राम की प्रौढता के स्थान पर बचपन ही सूचित किया गया है। इसी प्रकार 'यावत्–तावत्' इन दो पदो से हाथ के आगे बढ़ने और धनुर्भङ्ग होने की समकालता अर्थात् कार्य-कारण का एक साथ होना अभिव्यक्त किया गया है।

अथ चतुर्थ अङ्क

पृष्ठ २१६ पद्य संख्या १—यह ध्रुवा गीति है। इसका लक्षण राम-शम्बर ने ऐसा कहा है—'प्रथयति पात्रविशेषान् सामाजिकजनमनांसि रञ्जयति। अनुसन्धत्ते च रसान्नाट्यविधाने ध्रुवा गीतिः।' यहाँ 'मणिमयमङ्गलदीप' पद में 'राम' 'वन्यानिल' पद से जामदग्न्य की सूचना दी गयी है तथा 'विफलागम' पद से यह सूचित किया गया है कि उन (जामदग्न्य) का दण्डप्रदान के लिए आगमन निष्फल होगा।

पृष्ठ संख्या २१८ पद्य संख्या २—परशुराम जी के नेत्र क्रोध से लाल थे। उनमें वे अपने कुठार का दर्प रहे थे। नेत्रों की लाल कान्ति पड़ने से उनका कुठार ऐसा प्रतीत होता था कि मानो बहुत पहिले काटे गये क्षत्रियों के कण्ठ से निकली रुधिर धारा से अब भी यह कुठार रञ्जित हो रहा है।

पद्य संख्या ३—अय परशुरिह जगदजनकं विधत्ते—'यह परशु इस संसार को (अभी प्रभा) जनक (नृपति) से रहित बना देता है'—परशुराम की इस उक्ति से यह भी ध्वनित होता है कि राजा जनक से रहित होकर यह जनक (सीता) से हीन होकर सदा के लिए अनाथ हो जायगा।

पृ० २१९, पद्य संख्या ४—इस पद्य में साङ्गपरम्परितरूपक अलङ्कार है, क्योंकि एक का अभेदारोप दूसरे के अभेदारोप का कारण है। वन की आग पहिले वृक्ष की शाखाओं की परस्पर रगड़ से उत्पन्न होकर लम्बे लम्बे बाँसों को जलाती है। परशुराम का क्रोध कार्त्तवीर्य के सहस्र भुजों के काटने के लिए उत्पन्न हुआ। उसके बाद बड़े बड़े राजवंशों के समुच्छेद करने में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। पूर्ण प्रज्वलित दावानल कमलों को भस्म करने में प्रवृत्त हो तो उसका विनाश हो जाता है इसी प्रकार परशुराम का कोप तुच्छ जनक-वंश के संहार में यदि प्रवृत्त होता है तो वह अपना ही महत्त्व खोता है। परशुराम की उक्ति का यही आशय है।

पृष्ठ २२० पद्य सं० ५—सहस्र भुजाओं के कट जाने से रक्तरञ्जित सहस्रबाहु देवाङ्गनाओं का पुष्पित अशोकवृक्ष प्रतीत हुआ, जब कि अपने नगर की कुदृष्टि के लिए शोकवृक्ष बन गया—इस उक्ति से यहाँ विरोधाभास अलङ्कार

है। शोकवृत का तात्पर्य शोक उत्पन्न करने वाला है, यह विरोधाभास का समाधान है।

पृष्ठ २२१, पद्य सं० ६ येनावध्यत नर्मदाम्बुनिवहः—एक बार रावण नर्मदा नदी में अपनी रमणियों के साथ जल-क्रीड़ा कर रहा था। उस कार्तवीर्य ने अपनी हजार भुजाओं से नर्मदा की धारा ही अवरुद्ध कर दी। उसके इस व्यवहार से रावण क्रुद्ध हो कार्तवीर्य से भिड़ गया फलतः कार्तवीर्य के द्वारा बांध लिया गया। इसी कथा को लक्ष्य में रखकर इस पद्य का प्रथम पाद उपनिबद्ध किया गया है।

पृष्ठ २२२, ताण्ड्यायनः—तण्डस्य गोत्रापत्यं पुमान् ताण्ड्यः। तण्ड ऋषि के गोत्रापत्य अर्थ में 'गर्गादिभ्यो यञ्' सूत्र से यञ् प्रत्यय होने पर ताण्ड्यः पद व्युत्पन्न होता है। ताण्ड्य शब्द से युवाऽपत्य अर्थ में 'यञिञोश्च' सूत्र से फक् प्रत्यय होने पर (फकार के स्थान पर 'आयन्' आदेश होने से) ताण्ड्यायनः' पद की सिद्धि होती है।

पद्य सं० ७—भृगुमार्तण्ड—भृगुवंशियों में सूर्य के समान। भृगु एक ऋषि थे जो भृगुवंश के पूर्वपुरुष (प्रवर्तक) माने जाते हैं। भृगु ने ही ब्रह्मा, शिव और विष्णु का परीक्षण कर विष्णु को सर्वोत्तम सिद्ध किया था। यहाँ भृगु शब्द का तात्पर्य उन्हीं भृगुवंश के प्रवर्तक ऋषि भृगु से है। वैसे तो परशुराम के पिता जमदग्नि भी 'भृगु' नाम से अभिहित होते हैं अतएव परशुराम को 'भृगुनन्दनः' पद से भी अभिहित किया जाता है। जैसे—'वीरो न यस्य भगवान् भृगुनन्दनोऽपि' (उत्तररामचरित ५।३४)।

पृष्ठ २२५, पद्य सं० १०—शौण्डीर्यतः - शुण्डा = गर्वः, अस्त्यस्येति शुण्डीरः (शुण्डा+ईरन्)। शुण्डीरः एव शौण्डीरः, स्वार्थे अण् प्रत्ययः। शौण्डीरशब्दात् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति भावे ष्यञ्। ततः तसिल्।

दम्भोलेः······लज्जते। परशुराम के परशु ने कार्तवीर्य की सहस्र भुजाओं को काटा है और इन्द्र के वज्र ने पर्वतों को काटा है। वज्र को अपने इस महान् कार्य पर अहङ्कार होना स्वाभाविक है। परशुराम के परशु को वज्र के इस अहङ्कार को देख कर लज्जा उत्पन्न होती है। लज्जा इस बात पर नहीं है कि

वध्य न परशु से बढ़ कर काम किया है बल्कि लज्जा का कारण यह है कि परशु को वैसा पराक्रम दिखाने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ।

भुजा—संस्कृत में भुज (पुंलिङ्ग) और भुजा (स्त्रीलिङ्ग) दोनों का प्रयोग मिलता है। अमरकोशकार ने भुजबाहू प्रवेष्टो दोः कह कर पुंलिङ्ग का निर्देश किया है और मेदिनीकोशकार ने भुजो भुजा द्वयोर्बाहौ कर कह कर स्त्रीलिङ्ग का निर्देश किया है। भुजा – √भुज्+क+टाप्। **परेतराजसदनद्वार**—यम गृह का द्वार। क्षत्रियों का काट काट कर यमपुरी भेजने के कारण परशु को यम के घर में प्रवेश करने का द्वार (कारण) कहा गया है।

पृष्ठ २२७ पद्य सं० ११, दक्षिणस्यां ... मष्टमम्। यहाँ परशुराम ने दक्षिण समुद्र में बाण से आठवाँ कोष्ठक बनाने की बात कही है। यहाँ जान लेना चाहिए कि परशुराम ने कश्यप को समग्र भूमण्डल दान के बाद अपने रहने योग्य स्थान बनाने के उद्देश्य से आग्नेय अस्त्र के द्वारा समुद्र के कतिपय भागों को शुष्क कर सात स्थानों पर सात कोष्ठक (द्वीप) निर्मित किया था। इस बार आठवाँ कोष्ठक बनाने के लिए तुल गये।

पृष्ठ २२७ स्वस्तिवाचनिका द्विजाः—स्वस्तिवाचन करने वाले ब्राह्मण। किसी यज्ञ या माङ्गलिक कार्य के आरम्भ करते समय अथवा सम्पन्न हो जाने पर आशीर्वादात्मक वैदिक मन्त्रों स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः इत्यादि का ब्राह्मणों द्वारा पढ़ा जाना स्वस्तिवाचन कहलाता है और वे ब्राह्मण स्वस्तिवाचनिक कहे जाते हैं।

ब्रह्मबन्धो! = ब्राह्मणब्रुव! यहाँ बन्धु शब्द तिरस्कारसूचक है। इसका इस प्रकार से प्रयोग तब किया जाता है जब किसी जाति में जन्म लेकर कोई उस जाति के कर्तव्यों का पालन न करता हो। ब्राह्मण होकर भी ताण्ड्यायन ने यथार्थ बात नहीं बतायी इसी से परशुराम ने उसे ब्रह्मबन्धु कह कर सम्बोधित किया है।

भगवता भ्रान्तम् मयापि सम्भ्रान्तम्—आप भ्रम में पड़ गये और मैं भी घबड़ा गया। ताण्ड्यायन के कहने का आशय यह है कि मैंने आधी ही बात कही थी त्योंही आप ने समझा कि रावण ने शिवधनुष तोड़ा है और मैं भी डर के मारे आप की उस भ्रान्ति का प्रतिवाद न कर सका।

पृष्ठ २३१, संरब्धः=कुपितः, ये भगवान् परशुराम कुपित हैं। उपाध्यायस्य कथयामि—अपने गुरु शतानन्द से कहता हूँ। उपाध्यायः—उपेत्याधीयतेऽस्मादिति उपाध्यायः, पास जाकर जिससे लोग पढ़ते हैं उसे उपाध्याय कहते हैं। उप+अधि+√इ+घञ् ('इङश्च' सूत्र से घञ् प्रत्यय हुआ है)। मनु ने उपाध्याय का लक्षण इस प्रकार कहा है—

'एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥'

पृष्ठ २३१, अर्धमुग्धः""जल्पति। परशुराम के कहने का अभिप्राय यह है कि राम इतने सुन्दर हैं कि इन्हें 'राम' के बजाय 'काम' कहना समीचीन है। जो इन्हें वैसा न कह कर 'राम' कहते हैं वे अर्धमूर्ख हैं। यहाँ अर्धमूर्खता का कारण, शब्द 'काम' के आधे भाग "का" की जगह पर 'रा' का प्रयोग कर शब्द के अर्धभागमात्र में त्रुटि कर देना है।

पद्य सं० १४–मूर्त्तस्तत्""शृङ्गारवीराद्भुतैः ? = क्या यह बालक मूर्तिमान् शृङ्गार, वीर और अद्भुत इन तीन रसों से बना है? भाव यह है कि श्रीरामचन्द्रजी कामदेव से भी अधिक सुन्दर होने के कारण मूर्तिमान् शृङ्गार रस-सा, त्रिपुरदाहक शिव से भी अधिक पराक्रम शाली होने के कारण मूर्तिमान् वीररस सा, तथा शिवशिरोभूषण बालचन्द्र से भी अधिक मृदु होने के कारण मूर्तिमान् अद्भुत रस-सा प्रतीत होते हैं। इस प्रकार उपमानों से उपमेय के आधिक्य का वर्णन होने से व्यतिरेक अलङ्कार है।

प्रथम तीन चरण के वाक्यार्थ, चतुर्थ चरण के वाक्यार्थ की उपपत्ति के लिए निष्पादकरूप हेतुरूप से उपनिबद्ध हैं अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। दोनों की परस्पर अनपेक्षस्थिति से 'संसृष्टि' है।

पृष्ठ २३५, परमोन्नतिरमणीयपरिणामः प्रणामः। राम के कहने का अभिप्राय यह है कि आप को प्रणाम करने वाला परम अभ्युदयरूप मनोहर फल प्राप्त करता है। मैं अनुज सहित, आप को प्रणाम करता हूँ।

पृष्ठ २४०—तत् किं स्वस्ति हरकार्मुकाय—तो क्या शिवधनुप का कुशल है? कहने का भाव है कि क्या शिवधनुप भग्न नहीं हुआ है?। 'नमः

स्वस्ति स्वाहा स्वधालवषड्योगाच्च' सूत्र से 'स्वस्ति' पद के योग में 'हरकार्मुकाय' में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

पृष्ठ २४०–आः ! कथं रे चन्दन शीतलयसि ? चन्दनदिग्धम्—चन्दनेन = चन्दनद्रवेण दिग्धम् = चन्दन से लिप्त, (दिग्धम्, ✓दिह् + क्त) शीतलयसि = शीतल करोषि, शीतल करते हो। 'तत्करोति तदाचष्टे' सूत्र से णिच् करके लट् लकार का प्रयोग है। परशुराम की उक्ति है—क्यों रे ! चन्दन से लिप्त नाराच को रख कर तू मेरे हृदय को शीतल कर रहा है ? कहने का भाव है कि शिवधनुष तोड़ने के बाद विनयपूर्ण तेरी यह बात, चन्दनलिप्त नाराच के समान है।

पृष्ठ २४१, प्रवीर—प्रकृष्ट वीर इति प्रवीर 'कुगतिप्रादय' इस सूत्र से समास हुआ है। प्रवीरो भव—प्रवीर (शौर्य सम्पन्न) हो जाओ, अर्थात् युद्ध के लिए सामने हो जाओ।

पृष्ठ २४३, तृणाय मन्यसे = तृण के समान समझते हो। 'मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु' इस सूत्र से 'तृणाय' में चतुर्थी हुई है।

पृष्ठ २४५, पद्य सं० २५—यह लक्ष्मण की परशुराम के प्रति व्यङ्ग्योक्ति है। क्षत्रिय ब्राह्मणों की अपेक्षा सदैव निर्बल हैं, राम की इस सामान्य उक्ति का समर्थन भी कर रहे हैं और साथ ही साथ व्यङ्ग्यवचन से परशुराम को मर्माहत भी कर रहे हैं। उनके कहने का अभिप्राय है—महाराज ! हम क्षत्रियों का बल धनुष है किन्तु उसमें एक गुण अर्थात् प्रत्यञ्चा है—यह स्पष्ट है। आप ब्राह्मणों का बल (मन्त्र नहीं, अपितु) यज्ञोपवीत है उसमें नौ गुण अर्थात् नौ सूत्र होते हैं। इस दृष्टि से आर्य राम का कहना ठीक ही है। व्यङ्ग्य यह है कि ब्राह्मण शस्त्र विद्या क्या जानें ? वे तो यज्ञोपवीत (अर्थात् ब्राह्मणत्व) का बल रखते हैं अर्थात् उन्हें यह भरोसा रहता है कि हम ब्राह्मणों को कौन मार सकता है ? जो मारेगा वह ब्रह्महत्या का भागी होगा। बस अपनी इसी जाति-श्रेष्ठता के बल पर क्षत्रियों के सामने उद्दण्डता प्रदर्शित किया करते हैं।

पृष्ठ २४५, पद्य सं० २६—नारीकवच—सूर्यवंश में एक राम के पूर्वज हो चुके हैं—मूलकराज। ये अश्मक के पुत्र और सौदास के पौत्र थे। क्षत्रिय-विनाश के प्रसङ्ग में परशुरामजी मूलकराज का वध करने को जब उद्यत हुए तब

उनकी रानियों ने दौड़ कर अपने वस्त्रों के आँचलों से ढक कर उनके प्राणों की भीख माँगी। परशुराम को उस समय उन स्त्रियों पर दया आ गयी और 'मूलक' को छोड़ दिया। तब से उन (मूलक) का नाम ही 'नारीकवच' पड़ गया क्योंकि उनके बचाने में नारियों ने कवच का काम किया था।

परशुराम ने लक्ष्मण के व्यङ्ग्यपूर्ण वचनों से संक्षुब्ध होकर अपनी उस भूल पर यहाँ खेद व्यक्त किया है। उनके कथन का अभिप्राय है कि मेरे प्रथम परशु ने नारियों के आंचलों से ढके हुए 'मूलक' का जो वध नहीं किया था, उसी का यह फल है कि आज उसके वंशजों के दुर्वचन मेरे कानों में प्रविष्ट होकर पीडा पहुँचा रहे हैं। अन्यथा न रहता बाँस, न बजती बाँसुरी। उसी समय सूर्यवंश का उच्छेद हो गया होता तो आज यह दुर्वचन सुनने की नौबत ही न आती। मुझे क्षत्रिय वंश पर उस कृपा का खेद है। एक बार कृपा करने का यह कटुतम फल भुगत रहा हूँ, अब दुबारा ऐसी भूल न होगी।

भगवन् ! शितिकण्ठशिष्येण विशेषतः क्षन्तव्यम्—यह लक्ष्मण की प्रत्युक्ति है। परशुराम ने इन्हें 'विषकण्ठ' कहा तो लक्ष्मण ने वक्रोक्ति पूर्ण उत्तर दिया–भगवन् ! यदि मैं विषकण्ठ (अर्थात् शङ्कर) हूँ तब तो शङ्कर के शिष्य (आप) के द्वारा विशेष रूप से क्षमा की जानी चाहिए क्योंकि मैं विषकण्ठ (शङ्कर) आप का गुरु हो जाता हूँ।

पृष्ठ २५०, एतत्सत्यम्। यत् किल भवत्कुठारधाराञ्चलविलसितेन नीरेणुका भूरभूदिति। परशुराम जी ने इससे पूर्वपद्य में अपने परशु को विशेषता बताते हुए कहा कि इस (परशु) के दुर्वार धाराञ्चल से चूर्णित क्षत्रिय किशोरों के कण्ठों के रुधिरों से पृथिवी नीरेणुका (धूलि-विहीन) हो गयी। इसी कथन का वक्रोक्तिपूर्ण उत्तर लक्ष्मण ने दिया–भगवान् आप का यह कथन सत्य है। अवश्य आप के कुठार के धाराञ्चल के विलास से पृथिवी नीरेणुका (आप की माँ रेणुका से रहित) हो गयी। लक्ष्मण का अभिप्राय है कि मुझे विदित है कि आप ने अपने परशु से अपनी माँ रेणुका का वध कर स्त्रीहत्या का ही नहीं मातृहत्या का भी पाप कमाया है।

पृष्ठ २५१, अये याज्ञवल्क्यशिष्य ! परशुराम ने जनक को इस प्रकार सम्बोधित कर उनकी खिल्ली उड़ायी है। परशुराम का व्यङ्ग्य है कि तुम

(जनक) धनुर्विद्या क्या जाना ? किसी धनुर्वेदनाता के शिष्य तो कभी रहे नहीं। तुम योगशास्त्रवक्ता याज्ञवल्क्य के शिष्य हो, अतः पद्मासन ही लगाओ। परशुराम के व्यंग्य का यह क्रम अगले श्लोक तक है।

शरासनेन—शरा अस्यन्तेऽनेनेति शरासनं तेन। 'करणाधिकरणयोश्च' इस सूत्र से करण अर्थ में ल्युट (यु = अन) प्रत्यय होने से 'शरासनम्' पद की सिद्धि होती है।

पद्मासनम्—एक विशेष अङ्गविन्यास या बैठने के ढङ्ग को आसन कहते हैं। योगशास्त्र में ८४ चौरासी प्रकार के आसनों का प्रतिपादन किया गया है जिनकी सामान्यसंज्ञा योगासन है। पद्मासन भी उन्हीं आसनों में अन्यतम है। उसका लक्षण है—

> ऊर्वोरुपरि विन्यस्य सम्यक् पादतले उभे।
> *अङ्गुष्ठौ च निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमात्तथा ॥*
> पद्मासनमिति प्रोक्तं योगिनां हृदयङ्गमम्।

पृष्ठ २५३, शमदुर्गत—शान्ति के विषय में दरिद्र अर्थात् शान्तिविहीन। भगवतो गौतमाद्वा गाधिभिदा वा—यह परशुराम की शतानन्द के प्रति तीक्ष्ण व्यंग्यपूर्ण उक्ति है। शतानन्द ऋषि गौतम और अहल्या के पुत्र थे। इन्द्र ने अहल्या के साथ धोखे से व्यभिचार किया था। इसी बात की ओर सङ्केत कर शतानन्द को लज्जित करने के लिए परशुराम ने ऐसा कहा।

क्षत्रियापुत्र—परशुराम की माँ क्षत्रिय कन्या थी। शतानन्द ने परशुराम को लज्जित करने के लिए इस पद से सम्बोधित किया है।

पृष्ठ २६२ भगवन्तम्—भगानि = षडैश्वर्याणि सन्त्यस्येति भगवान्। भग + मतुप्। छः ऐश्वर्य हैं—समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य।

कतिपय विद्वानों का मत है कि लोकों की उत्पत्ति, स्थिति, अगति, गति, विद्या और अविद्या का जानने वाला 'भगवान' कहा जाता है—

> "उत्पत्तिं च स्थितिं चैव लोकानामगतिं गतिम्।
> वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥"

वस्तुतः 'भगवत्' शब्द देव, उपदेव तथा अन्य प्रतिष्ठित एवं सम्माननीय व्यक्तियों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

पृष्ठ २६७, उद्भिन्न इति । प० सं० ४३—त्रिदशपुरगतिविच्छेदकृद्मार्ग-वस्य—भगवान् विष्णु ने परशुराम को अपना धनुष देते समय कहा था कि मैं अवतार धारण कर जिस दिन इसे चढ़ा दूँगा उसी दिन से आप का स्वर्गतक बेरोक-टोक आना-जाना रुक जायगा और आप का वह तेज भी नहीं रह जायगा।

पृष्ठ २७०, कमलेति । पद्यसं० ४६—परशुराम के कथन का अभिप्राय है—समस्त देवमण्डली मुझको झुककर प्रणाम करती है, और मुझे आप ने नीचा दिखलाया। यह आप के लिए कम गौरव की बात नहीं है; अतः आप को लज्जित होने की आवश्यकता नहीं।

पञ्चम अङ्क

पृष्ठ २७४, दुर्मनायसे—खिन्न हो रही हो। दुर्मना इवाचरसि, 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इस सूत्र से क्यङ् और सकार का लोप। क्यङन्त से लट्।

विमृश्य = विचार कर। उपपन्नम् = युक्ति युक्त, ठीक। प्रसविता = जन्म देने वाला। सविता = सूर्य।

पृष्ठ २७५, वैरायितम्—'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे' इति क्यङ्। क्यङन्त से क्तप्रत्यय।

'एकामिषाभिलाषो हि बीजं वैरमहातरोः'—दो मनुष्यों का एक ही भोग्यवस्तु को चाहना वैर का बीज (कारण) होता है। वह क्रमशः बढ़ते बढ़ते विशाल वृक्ष ही जाता है—भयङ्कर रूप धारण कर लेता है। बालि और सुग्रीव के वैर का कारण ऐसा ही था।

आवर्तशतभ्रमितहृदया—आवर्त्तानाम् = जलभ्रमाणाम् शतैः भ्रमितम् = अस्थिरीकृतं हृदयं यस्याः सा। यमुना जल की भँवरों से व्याप्त रहती है—यह सर्वविदित है। उसके इसी स्वभाव की ओर सङ्केत कर गङ्गा के कहने का अभिप्राय है—चक्करदार भँवरों से तुम्हारा हृदय चकरा गया, इसी से तुमने ठीक से नहीं समझा। लोक में भी देखा जाता है कि जिस व्यक्ति का हृदय (मन) चकराता रहता है वह किसी भी बात को ठीक से समझ नहीं पाता है।

पृष्ठ २७८, ननु लज्जा"　सन्ताप इति । गङ्गा ने सरयू से पूछा कि तुम्हारा शरीर तापनिमग्न क्यों हो रहा है ? इस पर सरयू का उत्तर है कि आप उल्टा कह रही हैं अर्थात इस अङ्गसन्ताप से मुझको दुःख नहीं है । क्योंकि मैं लाज में डूबी हुई मरी जा रही थी, इसी (शोकजन्य) अङ्गसन्ताप ने थोड़ा सा सहारा देकर मुझे बचा लिया । भाव है कि शोकभाव ने लज्जाभाव के कारण को आच्छन्न कर लज्जा का ह्रास कर दिया । इसी भाव को सरयू ने अगले पद्य में सुस्पष्ट व्यक्त किया है ।

पृष्ठ २७९, 'सरयू–(गङ्गाया कर्णे) एवमेवम"—आचार्यों ने विवाह, भोजन, शाप का मिलना तथा छूटना, मृत्यु तथा सम्भोग इत्यादि का रङ्गमञ्च पर दिखाना अथवा स्पष्ट कहना निषिद्ध माना है । जैसा कि दर्पणकार के शब्दों में—

'दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः ।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यूरतं तथा ॥
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद् व्रीडाकरं च यत् ।
शयनाधरपानादि　　नगराद्यवरोधनम् ॥
स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जित　"　"　"　।'

अत सरयू ने दशरथ मरण की सूचना कान में धीरे से दी ।

पृष्ठ २८१, न खल्वप्रोषितसलिलसेकं कमलकेदारं परिशुष्यति—जलसंसर्ग मिटे बिना कमल का खेत सूखता नहीं है । सरयू के कथन का भाव है कि कमल का जीवन जल पर निर्भर है । जल का अभाव हुआ नहीं कि कमल सूख जाता है । ठीक वैसे ही दशरथ का जीवन राममय था । राम के वन जाते ही उनका जीवन समाप्त हो गया । न राम वन जाते और न दशरथ मरते ।

कथं दावानलशोषितायां तरुशाखायां कुठारमारोपयितुमिच्छसि ?—

यह गङ्गा की उक्ति है । जिस समय रामवनगमन के सम्बन्ध में सरयू कुछ कहना प्रारम्भ करती है, उसी समय गङ्गा उसे मना करने के उद्देश्य से कहती है—बस करो, बस करो । दावाग्नि से सूखी वृक्षशाखा पर क्या कुल्हाड़ा मारना चाहती हो ? भाव यह है कि दशरथ मरण का वृत्तान्त सुनकर मैं पहिले से ही अत्यन्त दुःखी हूँ, अब रामवनगमन की चर्चा से दुःख पर दुःख न दो । इस समय मुझ

तुम्हारे द्वारा रामवनगमन का सुनाया जाना दावाग्नि से सूखी हुई वृक्ष शाखा पर कुल्हाड़े से प्रहार करने के समान है।

पृष्ठ २८२, कैकेयी प्रथमं तावदिदमुक्तवती। कैकेयी—केकयस्यापत्यं स्त्री कैकेयी। केकय देश के राजा की पुत्री। केकय शब्द से 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' इस सूत्र से अञ् प्रत्यय होने पर 'केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः' इस सूत्र से इय् आदेश होकर 'टिड्ढाणञ्' इत्यादि सूत्र से ङीप् होने पर कैकेयी शब्द निष्पन्न होता है।

पृष्ठ २८४, पद्य सं० १२, सौमित्रिः—सुमित्राया अपत्यं पुमान् सौमित्रिः यहाँ 'स्त्रीभ्यो ढक्' सूत्र से ढक् प्रत्यय की प्राप्ति थी किन्तु उसे बाधित कर 'बाह्वादिभ्यश्च' इस सूत्र से इञ् प्रत्यय हुआ।

पृष्ठ २९६, सुरमुरजेति। पद्य सं० १६, कुवलयदामवधानः—पुरवासियों के नेत्रों के द्वारा बनायी गयी कमल माला को धारण करते हुए। भाव है कि पुरवासियों के देखते-देखते राम चले गये।

पृष्ठ २९७, शान्तं पापम्—यह संस्कृत का मुहाविरा है। कोई अशुभ बात किसी के मुख से निकल गयी जिसे नहीं कहना चाहिए अथवा कोई अनिष्ट विचार मन में उदित हो गया तब इसका प्रयोग होता है। अर्थ होता है—पाप शान्त हो। भाव है कि ऐसा कहना या सोचना भी पाप है। नहीं, यह कैसे हो सकता है? भगवान् करे ऐसी अशुभ या दुर्भाग्य पूर्ण घटना न घटे। हिन्दी में ऐसे अवसर पर 'राम राम!' या 'शिव शिव!' कह कर उक्त भाव को व्यक्त करते हैं।

पृष्ठ ३०२, पद्य सं० २१, सिकतिलः—सिकताः सन्त्यस्मिन् देशे 'देशे लुबिलचौ' इलच्। चादण् मतुप् च। अतएव 'सिकताः, सैकतः, सिकतावान्' ये पद भी बनते हैं।

वेतस्वती = बहुवेतसयुक्ता। प्रचुरा वेतसाः सन्त्यस्यामिति वेतस्वती। वेतस शब्द से 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' इस सूत्र से ड्मतुप्। 'उगितश्च' सूत्र से ङीप्।

पृष्ठ ३३४, पद्य सं० ४५, राक्षसपतिः—रक्षांस्येव राक्षसास्तेषां पतिः, रावण इत्यर्थः। नपुंसक लिङ्गी राक्षस् शब्द से स्वार्थ के 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इस

सूत्र से अण् प्रत्यय होने पर राक्षस शब्द निष्पन्न होता है। 'स्वार्थिका' प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्ते' इस परिभाषा से पुल्लिङ्ग हो गया।

पृष्ठ ३३५, विहङ्गराजेन जटायुना—यह शब्द षान्त (अर्थात जटायुष) और उकारान्त (अर्थात जटायु) दो रूपों में प्रयुक्त मिलता है। यहाँ कवि ने उकारान्त 'जटायु' शब्द का प्रयोग किया है।

पृष्ठ ३४२, पद्य सं० ५१ हनूमत्सयुक्ता—प्रशस्ते हनू अस्यति हनुमान्। उत्तम जबड़े वाला तात्पर्य सुग्रीव के सचिव पवनपुत्र से है। हनुमता सयुक्ता इति हनूमत्सयुक्ता। हनु शब्द से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इस सूत्र से मतुप प्रत्यय होकर 'शरादीना च' इस सूत्र से नकारोत्तरवर्ती उकार को दीर्घ होने से हनूमत शब्द की निष्पत्ति होती है।

पद्य सं ५२ नेदीयसी—अत्यन्त निकटवर्त्तिनी। अन्तिक शब्द से ईयसुन् प्रत्यय होकर 'अन्तिक बाढयोर्नेदसाधौ' इस सूत्र से 'नेद' आदेश होकर स्त्रीत्व विवक्षा में 'उगितश्च' इस सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर 'नेदीयसी' शब्द की निष्पत्ति होती है।

पृष्ठ ३४४, पद्य सं० ५३, दलितगरुत—पहले पर्वत पङ्खयुक्त होने के कारण उड़कर जहाँ बैठते वहाँ के सभी प्राणी और सारे पदार्थ विनष्ट हो जाते थे। उनके उपद्रव को शान्त करने के लिए इन्द्र ने वज्र से सबके पङ्खों को काट डाला। केवल मैनाक पर्वत के पङ्ख काटने से रह गये क्योंकि वह भागकर समुद्र में छिप गया था।

षष्ठ अङ्क

पृष्ठ ३५०, पद्य सं० ४, क्रशिमानम् = दुर्बलता को। कृश शब्द से भावार्थ में 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इस सूत्र से इमनिच् प्रत्यय होकर 'र ऋतो हलादेर्लघो' इस सूत्र से 'ऋ' के स्थान पर 'र' आदेश होकर 'क्रशिमन्' शब्द निष्पन्न होता है।

पृष्ठ ३५३, योऽयमिति। पद्य सं० ६, पारेतरङ्गिणि—तरङ्गिण्याः पार इस विग्रह में 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इस सूत्र से अव्ययीभाव समास हुआ

है और पारशब्द को एदन्तत्व का निपात हुआ है 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' से दीर्घ ईकार का ह्रस्व इकार हुआ है।

नूनमयं वल्लभाविरहविदारिहृदयो वराकश्चक्रवाकः—निश्चय ही यह बेचारा चक्रवाक प्रिया के वियोग से विदीर्ण हृदय वाला है (तभी तो इसके फटे हृदय का रक्त इसके पूरे शरीर पर फैल गया है)

चक्रवाक, शीतकाल में साइबेरिया और तिब्बत की झीलों का जल जम जाने पर हमारे देश में चले आने वाले बतख जाति के पक्षियों में से एक है। अन्य प्रवासी बतखें तो शीतकाल आरम्भ होने पर आती हैं किन्तु चक्रवाक प्रायः वर्षा ऋतु में ही यहां आ जाता है। ऐसा हिन्दी के महाकवि बिहारी के निम्न दोहा से पता चलता है—

> "पावस घन अँधियार मह, रह्यो भेद नहि आन।
> रात घौस जान्यो परत लखि चकई चकवान॥

चक्रवाक का वर्ण कुछ लाल होता है। इसी आधार पर कवियों की उत्प्रेक्षा है कि प्रिया के वियोग से इसका हृदय विदीर्ण हो गया है। वही रक्त शरीर भर में फैल गया है। इसे हमारे यहाँ इसी वर्ण-वैशिष्ट्य के कारण 'सुर्खाब' भी कहते हैं। इसके सुन्दर पंखों को लोग सिर पर धारण कर गौरव का अनुभव करते थे। आज भी लोग बात-चीत में कह ही बैठते हैं—क्या उसके सुर्खाब के पर लगे हैं ?

चक्रवाक-चक्रवाकी में अगाध प्रेम होता है। सूर्यास्त के बाद रात भर वे एक दूसरे से अलग रहते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि उन्हें ऐसा शाप है। अपने पारस्परिक प्रेम के गाम्भीर्य के कारण वे रातभर के वियोग को भी किसी भी प्रकार सहन नहीं कर पाते हैं।

पृष्ठ ३५६, निजनखेति। पद्य सं० ८, यहाँ नलिनी नायिका, कलहंस नायक, भ्रमर समूह मधुपी एवं चाटुकारो कामुक और चन्द्रमा तिरस्कृत खलनायक के रूप में चित्रित है।

पृष्ठ ३७१, कीदृशो मे रामैकचित्तायाः स्वप्ने विश्वासः—राम में ही तल्लीन चित्तवाली मेरे स्वप्न में क्या विश्वास ?

सीता के कहने का अभिप्राय है—जिसका चिन्तन रात दिन किया जाता रहे, यदि वही स्वप्न में भी दिखायी पड़े तो उस स्वप्न का विश्वास नहीं किया जाना चाहिए। ऐसा स्वप्न चिन्तास्वप्न कहलाता है।

पृष्ठ ३७३ जानाम्यार्यपुत्रोऽद्याप्यकलितवृत्तान्तो मे—मैं जानती हूँ कि आर्यपुत्र को अभी तक मेरा वृत्तान्त ज्ञात नहीं है।

सीता ने पति (राम) के लिए आर्यपुत्र शब्द का प्रयोग किया है। स्त्रियाँ पति के लिए प्राय अथवा आर्यपुत्र शब्द का प्रयोग करती हैं। आर्यपुत्र का अर्थ है—आर्यस्य = श्वशुरस्य पुत्र, ससुर का पुत्र।

पृष्ठ ३६८, मम मन्दभागिन्या कृते = मन्द भागिनी मेरे लिए।

मन्दभागिन्या —मन्दश्चासौ भाग = मन्दभाग, मन्दभागोऽस्त्यस्या इति मन्दभागिनी तस्या। यहाँ कर्मधारय समास करके तब मत्वर्थीय इति प्रत्यय किया गया है। इस प्रकार दो वृत्तियाँ करनी पड़ती हैं। इसीलिए कहा गया है कि—'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः। अर्थात् यदि बहुव्रीहि समास करने से ही उस अर्थ की प्रतिपत्ति (बोध) हो जाता हो तो कर्मधारय समास करके मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं करना चाहिए। परन्तु सीता को मन्दभाग का नित्य योग दिखलाना अभीष्ट है, इसलिए दो वृत्तियों का आश्रय लेने में दोष नहीं समझा जाना चाहिए।

सप्तम अङ्क

पुलस्त्यशिष्य —पुलस्त्यस्य शिष्य, पुलस्त्य का शिष्य। पुलस्त्य रावण के पितामह थे। इन्हीं के पुत्र विश्रवा, रावण के पिता थे।

निजचित्तवृत्तिभित्तिभूमिकानुसारीणि वाक्चित्राणि लोकस्य—कराल के द्वारा विभीषणकृत रावणोपदेश तथा उसके उत्तर में रावण का कथन सुनकर मुनि ने अपना विचार प्रस्तुत किया कि जैसे चित्र-भित्ति की भूमि अर्थात आधारशिला जैसी होती है वैसे ही उस पर चित्रित चित्र होते हैं, वैसे ही मनुष्य की जैसी चित्तवृत्ति होती है वैसी ही उसकी वाणी होती है अर्थात उसके वचन उसकी चित्तवृत्ति का परिचय देते हैं। 'उदर्कभूतिमिच्छद्भि' इत्यादि

विभीषण के वचन उसकी सात्त्विक चित्तवृत्ति के ही अनुरूप हैं और 'परस्त्रीकुचकुम्भेषु' इत्यादि रावण के वचन उसकी परस्त्री विषयक वासनामय कलुषित मनोवृत्ति का परिचय दे रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य की वार्तों से उसकी चित्तवृत्ति स्पष्ट जाहिर हो जाती है।

पृष्ठ ४१६, **लङ्केश्वरेणेति** । पद्यसं० ५, करालक द्वारा यह सुनकर कि विभीषण ने रावण को जब फटकारते हुए उसकी मनोवृत्ति पर खेद व्यक्त किया तब क्रुद्ध होकर रावण ने विभीषण को अपने पैर से प्रताडित किया, मुनि ने सखेद कहा कि नीति-धर्मसम्पन्न विभीषण को ही नहीं, अपि तु रावण ने अपने वैभव को भी पैर से मारा है। मुनि के कथन का भाव है कि रावण की इस अनीति से यही विदित होता है कि शीघ्र ही उसके वैभव का नाश होने वाला है।

अनुष्ठितं तर्हि पुलस्त्यसन्देशरहस्यं विभीषणेन—करालक द्वारा यह सुनकर कि विभीषण राम की शरण में चला गया, मुनि मन ही मन कहता है कि तब तो विभीषण ने पुलस्त्य के सन्देश की जो गोपनीय शिक्षा थी, उसे कर ही डाला अर्थात् न अब विभीषण से मिलने की ओर न ही सन्देश कहने की कोई आवश्यकता रह गयी।

पृष्ठ ४१७, **कर्तुकामः**—कर्तुं कामो यस्य सः, 'तुं काममनसोरपि' इति मलोपः।

पृष्ठ ४१८, **यादृशोऽयं शीतोपचारस्तादृश एव सीतोपचारो लङ्केश्वरस्य भविष्यतीति**—रावण के सन्ताप को शान्त करने के लिए किये जाते हुए शीतोपचार को सुनकर मुनि मन ही मन रावण का उपहास करता हुआ कह रहा है कि रावण का यह जैसा (असम्भव अत एव वृथा) शीतोपचार हो रहा है, उसका वैसा ही (वृथा) सीता को अनुकूल बनाने के लिए चाटुकारितापूर्ण अभिनन्दन एवम् उद्यम भी होगा। उसके कहने का भाव यह है कि जिस सीता के लिए रावण विरह सन्तप्त हो ऐसा निष्फल शीतोपचार करा रहा है, वह सीता उसे कदापि न मिल पायेगी; भले ही विरहसन्ताप झेले और निष्फल शीतोपचार का आयास उठा ले।

खेचरा—आकाशचारी देवता आदि। ख = आकाशे, चरन्तीति खेचरा, 'चरेष्ट' इस सूत्र से 'ट' प्रत्यय हुआ है। तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इस सूत्र से सप्तमी विभक्ति का अलुक होने पर 'खेचर' शब्द निष्पन्न होता है।

पृष्ठ ४२०, स्वगतम्—यत (वस्तु) पुनरन्यपा गोप्यतया स्वहृद्येव स्थित तत स्वगतम (आत्मगत वा) अर्थात् स्वगत' वह वृत्त भेद है जो अन्यपात्रों के लिए गोपनीय (अश्राव्य) माना जाया करता है। (अश्राव्य यद्वस्तु तदिह स्वगत मतम)।

पृष्ठ ४२३, तरङ्गमालिनमुत्तरेण—समुद्र के उत्तर। उत्तरेण यह एनपप्रत्ययान्त पद है। इस लिए इसके योग में 'तरङ्गमालिनम' में 'एनपा द्वितीया' इस सूत्र से द्वितीया हुई।

तटभवमधिशेते—तटभूभाग पर सो रहा है। 'शीङ्' धातु से पूर्व 'अधि' उपसर्ग होने से 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इस सूत्र से आधार के कर्म हो जाने पर कर्मणि द्वितीया विभक्ति हुई है।

पृष्ठ ४२४, कथमित्थमेव जानकीलाभकौतुक सोऽयमस्मानप्युपाचरिष्यति? पार करने के लिए राम जैसे समुद्र की प्रार्थना कर रहा है, क्या सीता को पाने के लिए वैसे ही हमारी भी प्रार्थना करेगा? यह रावण की व्यङ्ग्योक्ति है।

पृष्ठ ४२५, मा भव नाकपतेरिति। पद्य स० १९ नाकपते – 'क' का अर्थ सुख होता है। उसका विरोधी 'अक' दुःख का वाचक होता है। न अकम = दुःख यस्मिन् स नाक। इस प्रकार नञ् बहुव्रीहि समास करने से नाक शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ 'न लोपो नञ' इस सूत्र से नकार का लोप प्राप्त था किन्तु 'नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या' इस सूत्र से नकार का प्रकृतिभाव हो जाता है। नाकस्य-स्वर्गस्य, पति = नाकपति, इन्द्र इत्यर्थ = तस्य नाकपते। नाक का अर्थ स्वर्ग है और नाकपति इन्द्र को कहते हैं।

पृष्ठ ४४३, वक्षःस्थल इति। पद्य स० २६ **वसन्तनीलोत्पल प्रहरणम्**—प्राचीन काल में राजा धनी, मानी आदि विलासी पुरुष वसन्त ऋतु के आगमन पर अपनी रमणियों के साथ उपवन में वसन्तोत्सव के उपलक्ष्य में

क्रीडा एवम् आमोद-प्रमोद करते थे। उस प्रसङ्ग में स्त्रियां पुरुष को फूलों से मारती थीं।

पृष्ठ ४७२, रामचन्द्रेण समं सङ्गस्यते—गम् धातु के पूर्व सम् उपसर्ग होने से 'समोगम्यृच्छिस्याम्' इस सूत्र से आत्मनेपद हो गया।

पृष्ठ ४७८, पद्य सं० ५८ चकोरचञ्चुघटनाच्छिन्नाग्रकाण्ड—चकोर चन्द्रिकापान के समय बार-बार मुँह खोलते हैं और बन्द करते हैं। जब चन्द्रिका को पीने के लिए मुँह खोलते हैं तो चन्द्रिका लता का अग्रभाग उनके मुँह में दिखायी पड़ता है और जब मुँह बन्द कर लेते हैं तब दिखायी न पड़ने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रिकालता के अग्रभाग को उन्होंने अपनी चोंच से कुतर दिया।

पृष्ठ ४९७ यद्बोऽशायिनीति। पद्य सं० ७६, यहाँ कुछ लोग कवि पर दोषारोपण करते हैं कि रावण के द्वारा कैलास के उठाये जाने पर शेषनाग का भार हल्का हो गया—कवि का यह कथन नितान्त हास्यास्पद-सा प्रतीत होता है, क्योंकि रावण कैलास को उठाये हुए जमीन पर ही स्थित था, इस प्रकार कैलास सहित रावण का भार शेषनाग पर तो था ही, उसका भार कैसे हल्का हुआ ? मेरे विचार से इस सन्दर्भ में इसी अङ्क के ३६ वें श्लोक के उत्तरार्द्ध "व्योमाभोगसरोविलासिनि धने यत्पाणिपङ्केरुहा, कैलासेन शिरःस्थितेन्दुकलिकोत्तंसेन हंसायितम्"। पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट हो जाता है कि रावण कैलास को उठा कर जमीन पर खड़ा नहीं रहा, बल्कि आकाश को चला गया था, जिससे शेषनाग के भार का हल्का होना असङ्गत नहीं लगता।

पृष्ठ ५१४, आबालादिति। अद्वैता मतिः—अभेदबुद्धि। द्वयोर्भावः द्विता, द्विता एव द्वैतम् = भेदभावः, न द्वैतं यस्यां सा अद्वैता मतिः।

अन्तिम पद्य सं० ९४ तथा ९५, ये दोनों पद्य निर्वहणसन्धि के अन्तिम अङ्गभूत 'प्रशस्ति' (शुभशंसना) के रूप में उपनिबद्ध हैं। यह शुभशंसनात्मिका प्रशस्ति अभिनय की समाप्ति पर भरत (अर्थात् नट) के द्वारा समुपस्थापित होती है अतः 'भरतवाक्यम्' भी कही जाती है।